इकाई 1 दक्षिण एशिया में राष्ट्रवाद और स्वतंत्रा-संग्राम

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 दक्षिण एशिया में राष्ट्रवाद
1.3 दक्षिण एशिया में स्वतंत्रता-संग्राम
 1.3.1 भारत
 1.3.2 पाकिस्तान
 1.3.3 बांग्लादेश
 1.3.4 श्रीलंका
 1.3.5 नेपाल
 1.3.6 भूटान
 1.3.7 मालदीव
1.4 सारांश
1.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें
1.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य दक्षिण एशिया में राष्ट्र और राष्ट्रवाद की धारणा से तथा इस भूभाग के विभिन्न देशों में औपनिवेशिक शासन से मुक्ति के लिए हुए संघर्षो से आपको अवगत कराना है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- दक्षिण एशिया के विभिन्न देशों में राष्ट्रवादी चेतना के उदय को स्पष्ट कर सकें;
- स्वतंत्रता आन्दोलन में शामिल किए गए मुद्दों का वर्णन कर सकें; तथा
- इस भूभाग में उदारवाद हेतु अपनाई गई विभिन्न रणनीतियों की पहचान कर सकें।

1.1 प्रस्तावना

दक्षिण एशिया का इतिहास सात हज़ार साल पुराना अनवरत इतिहास है। इसमें उस संयुक्त संस्कृति के दर्शन होते हैं जो एक ऐसी ऐतिहासिक प्रक्रिया से विकसित हुई है जिसमें अनेकता में एकता पर ज़ोर दिया गया है। दक्षिण एशिया बार-बार विदेशी आक्रमण का शिकार होता रहा है। इस भूभाग की समृद्धि ने ही शायद चारों ओर से आक्रमणकारियों को आकर्षित किया। प्राचीन काल से ही आक्रमणों की एक के बाद एक लहर के साथ इस क्षेत्र में आर्यो, यूनानियों, शक, हूण, तुर्को-अफ़गान, मुगलों व अन्य लोगों का आगमन हुआ। आधुनिक काल में, दक्षिण एशिया में यूरोपवासी आए, यथा पुर्तगाली, हॉलैण्डवासी, फ्रांसीसी व ब्रिटेनवासी, यद्यपि

ब्रिटेनवासियों ने ही अन्ततः इस भूभाग पर अपनी पकड़ बनाई। ब्रिटिश आक्रमण पहले के आक्रमणों से गुणात्मक रूप से भिन्न थे। जबकि इससे पूर्व यहाँ आक्रमणकारी आये, बसे और देशी लोगों के साथ घुलमिल गए, ब्रिटेनवासियों अर्थात् अंग्रेजों ने इस भूभाग को अपने साम्राज्य का हिस्सा बनाया और उस पर लन्दन से शासन किया। इस क्षेत्र को औद्योगिक रूप से उन्नत अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार के साथ जोड़ा ताकि उसके प्राकृतिक संसाधनों का दोहन किया जा सके। दक्षिण एशियाई अर्थव्यवस्था एवं समाज साम्राज्यवादी राजनीतिक अर्थव्यवस्था एवं सामाजिक विकास के अधीन हो गई। यह क्षेत्र अंग्रेजों के मशीनीकृत माल के लिए बाज़ार, कच्चा-माल व खाद्य-पदार्थों के एक स्रोत, तथा पूँजी निवेश के एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में तब्दील हो गया। यूरोप और दक्षिण एशिया के बीच आर्थिक संबंधों के सम्पूर्ण प्राधार ने, जिसमें व्यापार, वित्त व्यवस्था और प्रौद्योगिकी शामिल थे, औपनिवेशिक निर्भरता और परवर्ती के अल्पविकास को लगातार बढ़ाया। अधीनता की यह नई राजनीतिक-आर्थिक प्रणाली, जिसे उपनिवेशवाद कहा गया, यूरोप के एक अग्रणी पूँजीवादी क्षेत्र के उदय के रूप में परिणत हुई जबकि उपनिवेश दुनिया के पिछड़े और अल्पविकसित क्षेत्र बना दिए गए। आने वाले समय में, इस आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभुत्व ने अनेक संघर्षों और अन्तर्विरोधों की ओर प्रवृत्त किया जो कि अन्ततः राष्ट्रवाद और औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्रतार्थ आन्दोलनों की बढ़वार में फलित हुआ।

1.2 दक्षिण एशिया में राष्ट्रवाद

मोटे तौर पर, इस क्षेत्र में औपनिवेशिक शासन के तीन प्रतिमान रहे। जबकि ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य में वह क्षेत्र आता था जिसमें वर्तमान भारत, पाकिस्तान व बांग्लादेश के गणराज्य शामिल थे, श्रीलंका एक 'ताज उपनिवेश' के रूप में शासित था। नेपाल, भूटान, मालदीव आदि छोटे देश ब्रिटिश उपनिवेश नहीं थे, अपितु 'संरक्षित राज्य' थे, यानी अपने बाह्य संबंधों की खातिर अपनी स्वायत्तता को अर्पित कर देने के बदले में, उनके स्वतंत्र अस्तित्व की अंग्रेजों द्वारा रक्षा की जाती थी। औपनिवेशिक शोषण और अधीनता के खिलाफ़ एक प्रतिक्रिया स्वरूप दक्षिण एशिया में राष्ट्रवाद के जन्म लेते ही वे क्षेत्र जो औपनिवेशिक प्रशासन के सीधे नियंत्रण में थे, वहाँ सशक्त उपनिवेश-विरोधी तथा राष्ट्रवादी आन्दोलनों का उदय देखा गया।

दक्षिण एशिया में राष्ट्रवाद का उदय और विकास औपनिवेशिक शोषण और अधीनता के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया था। राष्ट्रवाद के इस नए रूप ने, जो दक्षिण एशिया में नए राज्यों का आधार बन गया, अपनी विचारधारा और राजनीति-सिद्धांत का काफ़ी कुछ पश्चिम से ही प्राप्त किया परन्तु फिर उसे विशिष्ट परिस्थितियों एवं अनुभवों के अनुकूल कर लिया गया। इस नए राष्ट्रवाद का आधार साम्राज्यवाद व साम्राज्यवाद के प्रतीकों के प्रति एक मूल प्रवृत्तिक एवं विदेशी द्वेषपूर्ण घृणा था। यह उनके खिलाफ़ एक सहज घृणा थी जिन्होंने उनकी ज़मीन पर बलपूर्वक कब्जा किया था, बलपूर्वक ही उनकी समृद्धि का दोहन किया था, उनकी शासन-प्रणाली को नष्ट कर दिया था, और उनकी जनता को गुलाम बना लिया था। राष्ट्रवाद भी एक रचनात्मक शक्ति बन गया था जो कि एक स्वतंत्रता, स्वाधीनता, आर्थिक न्याय व राष्ट्रीयता आदि सिद्धांतों पर आधारित राष्ट्र का निर्माण किए जाने पर अभिलक्षित था। इसने न केवल लोगों को संगठित किया, अपितु राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में अपना योगदान देने हेतु उन्हें प्रेरित भी किया। इस संबध में नेतृत्व भारत द्वारा प्रदान किया गया जिसने विश्व में एक विशालतम जन-आन्दोलन को जन्म दिया। यह आन्दोलन न केवल उसे औपनिवेशिक नियंत्रण से मुक्त कराने में सफल हुआ, उसने बल्कि अपने पीछे स्वतंत्र भारत के लिए एक ऐतिहासिक रूप से विकसित, भली-भाँति सोचा-विचारा कार्यक्रम भी छोड़ा। भारत के उदाहरण ने श्रीलंका जैसे अन्य उपनिवेशों को भी प्रेरणा प्रदान की। उसने नेपाल, भूटान व मालदीव जैसे देशों में राजनीतिक चेतना भी जगाई।

1.3 दक्षिण एशिया में स्वतंत्रता-संग्राम

1.3.1 भारत

भारत में राष्ट्रवाद का उदय और विकास अनेक वस्तुपरक एवं व्यक्तिपरक शक्तियों की अन्तर्क्रिया का परिणाम था जो कि औपनिवेशिक शासन के दौरान ऐतिहासिक प्रक्रिया में उभरकर सामने आयी थीं। यद्यपि उपनिवेशवाद भारत के आर्थिक शोषण तथा उसकी कृषि एवं हस्तशिल्प की बर्बादी में परिणत हुआ, उसने भारत के राजनीतिक एवं प्रशासनिक एकीकरण की ओर भी प्रवृत किया। आधुनिक परिवहन, नई शिक्षा, समाचार-पत्र आदि के आ जाने से जुड़ा यह कारक राष्ट्रीय चेतना के उदय में परिणत हुआ। चूँकि भारत में राष्ट्रवाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद (जो कि अपने निष्कासन तक विदेशी ही रहा) के तत्त्वावधान में विकसित हुआ था, उसके विकास एवं समेकन में ढ़ेरों अवरोध पैदा हुए।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन विभिन्न चरणों से होकर गुज़रा और हर दौर के गुज़रते ही उसके सामाजिक आधार और अधिक विस्तृत हुए, उसके लक्ष्य और अधिक स्पष्ट हो गए और उसकी अभिव्यक्ति के तरीकों में विविधता आयी। राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रथम चरण भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (आई.एन.सी.) के गठन के साथ 1885 में शुरू हुआ और करीब-करीब 1905 तक चला। इस दौरान में आन्दोलन का नेतृत्व दादाभाई नौरोजी, गोपालकृष्ण गोखले, एम.जी. रानाडे, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फ़िरोज़शाह मेहता आदि उदारवादी नेताओं के हाथों में रहा। इस मुकाम पर, आन्दोलन का उद्देश्य स्वतंत्रता नहीं बल्कि राजनीतिक, प्रशासनिक एवं आर्थिक सुधार था। राजनीतिक स्तर पर इसकी माँग थी – केन्द्रीय व स्थानीय विधायी परिषदों को सुधारना ताकि भारतीय प्रतिनिधियों के लिए और अधिकार सुनिश्चित किए जा सकें (जो कि भारतीय परिषद् अधिनियम, 1892 को पारित किए जाने में परिणत हुआ)। प्रशासनिक स्तर पर, सबसे महत्त्वपूर्ण माँग थी – इंग्लैण्ड और भारत में एक साथ भारतीय लोक सेवा (आई.सी.एस.) परीक्षा के माध यम से प्रशासनिक सेवाओं की उच्च श्रेणियों का भारतीयकरण किया जाना। आर्थिक स्तर पर, यह माँग देश के उद्योगीकरण तथा भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन दिए जाने के पक्ष में थी। इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अपनाये गए तरीके उदारवादी विचारधारा द्वारा स्पष्ट रूप से नियत किए गए। संवैधानिक आन्दोलन, प्रभावशाली तर्क तथा ब्रिटिश लोकतांत्रिक चेतना व परम्पराओं का वास्ता देकर उत्साहपूर्ण अपील संघर्ष के स्वीकृत तरीके थे।

इस दौर में राष्ट्रीय आन्दोलन का आधार संकीर्ण था, जन-साधारण इसके प्रति आकर्षित नहीं हो सका। इसका प्रभाव शहरी शिक्षित वर्ग तक ही सीमित था। मुसलमानों ने आम तौर पर सर सैय्यद अहमद खान के नेतृत्व को स्वीकार किया जाना पसंद किया। 1906 में, जब मुस्लिम लीग की स्थापना हुई, मुस्लिम समुदाय अपने साम्प्रदायिक लक्षण से प्रभावित हुआ और राष्ट्रीय आन्दोलन से दूर रहने की प्रवृत्ति दर्शाई।

इसी बीच, लॉर्ड कर्जन के रोबीले कदमों की वजह से अंग्रेजों के विरुद्ध असंतोष बढ़ा, जिसने न केवल भारतीयों के अधिकारों को कम करते भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम और कलकत्ता निगम अधिनियम जैसे अनेक कानूनों को पास किया अपितु बंगाल का विभाजन भी किया, दिखाने के लिए प्रशासनिक सुविधा के लिहाज से परन्तु राजनीतिक रूप से हिन्दू-प्रधान पश्चिम बंगाल और मुस्लिम-प्रधान पूर्वी बंगाल के बीच एक दरार पैदा करने के लिए। बड़ी संख्या में राष्ट्रवादी जन नरमपंथी नेताओं की विचारधारा और तरीकों से मोहमुक्त हो गए। बालगंगाध ार तिलक, अरविन्द घोष, लाजपत राय और विपिनचंद्र पाल जैसे नेताओं के उत्कर्ष के साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन ने एक नए दौर में प्रवेश किया – अतिवादी अथवा खाड़कू दौर। इन अतिवादी नेताओं ने एक नई राजनीतिक धारणा और संघर्ष के तरीकों का इस्तेमाल किया। इनके कार्यक्रमों में शामिल थे – विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, ब्रिटिश सरकार से सभी संबंधों का विच्छेद, शिक्षा के लिए राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना, तथा स्वदेशी का प्रचार। राष्ट्रवादियों

द्वारा बहिष्कार आन्दोलन आक्रामक रूप से अंग्रेज-विरोधी था। इसमें न केवल ब्रिटेन के माल का बहिष्कार अपितु सरकारी उपाधियों व पदों का परित्याग तथा परिषदों व विद्यालयों का बहिष्कार भी शामिल था। कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन प्रदान कर यह देश के आर्थिक-पुनरुथान हेतु भी एक साधन बन गया। इन अतिवादियों ने ज़ोर देकर कहा कि भारतीय और ब्रिटिश हितों के बीच एक जन्मजात विरोध है, साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन इस विरोध का सीधा परिणाम है। खाड़कू राष्ट्रवादियों के राजनीतिक प्रचार ने भारतीय जनता के मन में राष्ट्रीय गौरव, आत्मसम्मान एवं आत्मविश्वास की भावना भर दी। उसने राष्ट्रीय आन्दोलन को निम्न मध य वर्ग, छात्रों एवं युवाओं से जोड़कर उसका आधार भी विस्तृत किया। परन्तु इस आन्दोलन ने हिन्दू धारणाओं का फिर से सहारा लिया और हिन्दू प्रतीकों का ही आह्वान किया जिसने उसके धर्म-निरपेक्ष अभिलक्षण को कमज़ोर किया। शायद यही कारण है कि यह आन्दोलन मुसलमानों के एक बड़े जन-समूह को मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक विचारधारा को अपनाने से नहीं रोक सका।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में महात्मा गाँधी के पदार्पण से एक नया दौर शुरू हुआ। प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान राजनीतिक गतिविधियाँ ठंडी पड़ गई थीं। परन्तु युद्ध समाप्त होते ही कृषि मूल्यों में गिरावट, मध्यवर्गों की बढ़ती ग़रीबी, युद्ध के कारण ऋण, मूल्य वृद्धि, मुनाफाख़ोरी आदि की वजह से लोगों के बीच भारी बदअमनी फैली। गोरी सरकार ने भारतीय जनता को भारत सरकार अधिनियम, 1919 की सौगात पेश की जिसने प्रशासन में भारतीय लोगों की भागीदारी को बढ़ा दिया। परन्तु इस अधिनियम ने भारतीय नेताओं की आशाओं को पूरा नहीं किया। ऐसी परिस्थितियों में, अंग्रेज़ों ने 1919 में रौलट एक्ट लागू करके भारत में नागरिक स्वतंत्रताओं पर बड़ा प्रतिबंध लगा दिया।

मोहनदास करमचंद गाँधी ने, जो 1914 में दक्षिण अफ्रीका से वापस लौट आये थे, रौलट एक्ट, 1919 के खिलाफ़ प्रतिरोध की अहिंसात्मक कार्यवाहियों का एक सिलसिला शुरू कर अंग्रेज़ी हुकूमत के खिलाफ़ संघर्ष छेड़ दिया। अगले ही साल गाँधी जी ने कांग्रेस का पुनर्गठन किया – यह अब राष्ट्रीय नेताओं के सालाना जमावड़े से एक जन-आन्दोलन में बदल गया, जिसमें सदस्यता-शुल्क और वांछनीयता इस प्रकार तय की गई कि उसमें भारत का ग़रीब-से ग़रीब आदमी भी शामिल हो सके। अगस्त 1920 में उन्होंने जुड़वाँ मुद्दों को लेकर एक व्यापक स्तरीय असहयोग आन्दोलन छेड़ दिया – प्रथम, जलियाँवाला बाग त्रासदी के घावों को भरा जाना तथा दूसरे, खिलाफ़त आन्दोलन। अहिंसा और सत्याग्रह के माध्यम से असहयोग आन्दोलन ने राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रकृति में क्रांति ला दी। यह एक जन-आन्दोलन में बदल गया। इसका त्रि-आयामी कार्यक्रम था – नैशनल असैम्बली, अदालतों व विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार। मोतीलाल नेहरू, चितरंजन दास, पटेल, राजेन्द्र प्रसाद व अन्य कई लोगों ने अदालतों को छोड़ दिया, छात्रों ने स्कूलों को छोड़ दिया और अध्यापकों ने स्कूलों-कॉलेजों से त्यागपत्र दे दिया। यह आन्दोलन बहिष्कार तक ही सीमित नहीं रहा, उसने कुछ सकारात्मक कार्यक्रम भी रखे, यथा राष्ट्रीय शैक्षिक संस्थाओं का खोला जाना तथा कुटीर व हथकरघा उद्योगों की स्थापना। बहरहाल, जब यह आन्दोलन चौरी-चौरा में हिंसक हो उठा तो गाँधी जी ने 1922 में असहयोग आन्दोलन समाप्त कर दिया।

इस असहयोग आन्दोलन का विशेष अभिलक्षण था – हिन्दू-मुस्लिम एकता। परन्तु आंदोलन वापस लेते ही देशभर में हिन्दू-मुस्लिम दंगे भड़क उठे। मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा दोनों ने ही युद्धकारी कदम उठाये।

1928 में राष्ट्रीय आन्दोलन में उस वक्त एक नई जान पड़ गई जब ब्रिटिश सरकार ने भारत में लोकतांत्रिक सुधारों संबंधी आगामी उपायों का अध्ययन करने हेतु सायमन आयोग नियुक्त किए जाने की घोषणा की। कांग्रेस ने उक्त आयोग का इस आधार पर बहिष्कार किया कि इस आयोग में भारतीयों का प्रतिनिधित्व नहीं किया गया था। उसने एक समानान्तर संविधान बनाना शुरू कर दिया जिसमें प्रमुख समुदायों की सहमति थी। एक सर्वसम्मति रिपोर्ट तैयार

करने के लिए मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने स्व-शासी राज्य पर आधारित एक सर्वदलीय संविधान तैयार किया। इस रिपोर्ट ने निजी और व्यक्तिगत सम्पत्ति में उपाधियों को भी मान्यता दी। समाजवादियों ने स्वतंत्रता के लक्ष्य को छोड़ देने के लिए इस योजना की आलोचना की। परन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि इस रिपोर्ट को जिन्ना और मुस्लिम लीग का समर्थन नहीं मिला, जिन्हें लगता था कि मुस्लिम हितों की रक्षा नहीं की गई। चूँकि सर्वदलीय सम्मेलन ने लीग की माँगें नहीं मानीं, जिन्ना ने कांग्रेस से किनारा कर लिया।

इस दौरान, जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस के प्रतिनिधित्व वाले भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के युवा नेतागण रियासत के दर्ज़े से संतुष्ट नहीं थे और उन्होंने संपूर्ण स्वतंत्रता का आह्वान किया। 31 दिसम्बर 1929 को कांग्रेस ने जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में 'पूर्ण स्वराज' यानी पूरी आज़ादी, के लिए एक प्रस्ताव पारित किया। सविनय अवज्ञा आन्दोलन नमक कानून तोड़कर 6 अप्रैल 1930 को शुरू हुआ। गाँधी जी ने इस आन्दोलन के लिए एक व्यापक योजना तैयार की। वह चाहते थे कि हर गाँव वर्जित नमक को जाकर लाए अथवा बनाए, महिलाएँ शराब की दुकानों, अफ़ीम के अड्डों व विदेशी वस्त्रों को लेन-देन करने वाली दुकानों पर धरना दें; बच्चे-बूढ़े सभी खादी कातें और विदेशी कपड़ा जला दें, हिन्दू जन अस्पृश्यता से परहेज़ करें, छात्र-छात्राएँ सरकारी स्कूल छोड़ दें और सरकारी कर्मचारी अपनी नौकरियों से त्यागपत्र दे दें। सरकार ने अनेक अध्यादेश जारी कर, कांग्रेस और उसकी सभी शाखाओं पर प्रतिबंध लगाकर, अखबारों एवं छापाखानों को बंद करवाकर और करीब 90,000 लोगों को गिरफ्तार कर इसका जवाब दिया। तदोपरांत हुई वार्ताएँ गाँधी-इर्विन समझौते में परिणत हुईं जिसके द्वारा सभी राजनीतिक बंदियों को रिहा कर दिया गया और गाँधी जी लन्दन में गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि बनने को सहमत हो गए। गाँधी जी ने भारत हेतु संघीय पद्धति, अल्पसंख्यकों, सेना आदि की समस्याओं पर कांग्रेस के दृष्टिकोणों को प्रस्तुत किया। उन्होंने साम्प्रदायिक विभाजन का विरोध किया। परन्तु इस सम्मेलन में विभिन्न भारतीय गुटों, यथा कांग्रेस, हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग, सिख, देशी राजाओं आदि, में मतभेद होने के कारण कोई सहमति नहीं बन सकी और गाँधी जी सम्मेलन से खाली हाथ लौट आये। इसी बीच गोरी सरकार ने साम्प्रदायिक पुरस्कार की घोषणा कर दी जिसने न केवल मुसलमानों, सिखों, ईसाइयों को, अपितु पददलित वर्गों को भी अलग-अलग निर्वाचक क्षेत्र दे दिए। गाँधी जी ने जेल में आमरण अनशन शुरू कर दिया। इसके परिणामस्वरूप पूना समझौता पर हस्ताक्षर किए गए जिसमें पृथक् निर्वाचक क्षेत्र की बजाय पददलित वर्गों के लिए सीटें आरक्षित किए जाने का प्रावधान था।

संवैधानिक सुधार अन्ततः भारत सरकार अधिनियम, 1935 के रूप में सामने आये। इस अधिनियम में ब्रिटिश भारत के प्रांतों में स्वायत्त विधायी निकायों की स्थापना, प्रांतों व राजसी राज्यों को शामिल कर एक संघीय स्वरूप की सरकार बनाने तथा मुस्लिम अल्पसंख्यकों की रक्षा किए जाने संबंधी व्यवस्था थी। 1935 के इस अधिनियम ने भारतीय संवैधानिक विकास में एक नया अध्याय शुरू किया। यद्यपि यह अधिनियम राजनीतिक दलों की आशाओं पर खरा नहीं उतरा, सभी दलों ने 1937 में प्रांतीय विधानसभाओं (असेम्बली) के लिए चुनाव लड़ने का तय कर लिया। कांग्रेस ने सात में से पाँच प्रांतों में पूर्ण बहुमत और मुम्बई में लगभग बहुमत प्राप्त कर लिया। दूसरी ओर, मुस्लिम लीग किसी भी प्रांत में सरकार नहीं बना सकी और कांग्रेस के साथ उत्तर प्रदेश व मुम्बई में गठबंधन सरकार संबंधी उसके विचार को परवर्ती द्वारा ठुकरा दिया गया। इसने जिन्ना को और अधिक विमुख कर दिया। उन्होंने मुसलमानों को एक अल्पसंख्यक वर्ग के रूप में नहीं बल्कि एक पृथक् राष्ट्र के रूप में देखना शुरू कर दिया। मार्च 1940 में जिन्ना ने 'द्वि-राष्ट्र' सिद्धांत का प्रस्ताव रखा और मुस्लिम लीग ने अपना प्रसिद्ध प्रस्ताव पारित कर दिया जिसमें भारत के पश्चिमी व पूर्वी कटिबंधों पर भौगोलिक रूप से सटे हुए भू-भागों को शामिल कर एक पृथक् मुस्लिम राज्य की माँग की गई थी।

जब द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ गया तो अंग्रेजों ने भारतीय नेताओं से सलाह किए बग़ैर ही भारत की ओर से युद्ध की घोषणा कर दी। कांग्रेस के प्रांतीय मंत्रियों ने इसके विरोध में त्याग-पत्र दे दिया। 1942 में कांगेस ने माँग की कि अंग्रेज तुरंत भारत छोड़ दें और प्रसिद्ध 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पारित कर दिया। परन्तु इससे पहले कि इस उद्देश्य को लेकर आन्दोलन छेड़ा जाता, गाँधी जी समेत सभी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया और उक्त आन्दोलन ने नेतृत्वहीन होकर एक हिंसक मोड़ ले लिया। देश भर में हड़तालें, आंदोलन और विरोध-प्रदर्शन हुए। पुलिस थानों, डाकघरों एवं रेलवे स्टेशनों पर हमले किए गए, संचार व्यवस्थाएँ ठप कर दी गईं और रेल की पटरियाँ उखाड़ दी गईं। इस दौर ने दर्शाया कि ज़रूरत पड़ने पर भारतीय जनता ब्रिटिश साम्राज्यवाद समाप्त करने के लिए हिंसा का भी सहारा ले सकती है।

इस बीच, जिस वक्त कांग्रेस के नेतागण जेल में थे, जिन्ना को खुला मौक़ा मिल गया कि मुस्लिम लीग के आधार को मज़बूत करें। लीग जल्द ही मुसलमानों की मुख्य प्रवक्ता बन गयी। 1943 के बाद एकमात्र सवाल जो रह गया वो था – भारत को सत्ता कैसे सौंपी जाये। अप्रैल 1945 में युद्ध की समाप्ति के बाद ब्रिटेन में ताज़ा चुनाव हुए और नई लेबर सरकार के सामने अनेक राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय समस्याएँ आन खड़ी हुईं। युद्ध ने ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था को कमज़ोर कर दिया था। अमेरिका और रूस जो महाशक्तियों के रूप में उभरे थे, उपनिवेशों को आज़ाद कर दिए जाने के पक्ष में थे। इसके अतिरिक्त, ब्रिटेन ने भारत जैसे एक उपनिवेश की देखरेख में परेशानी महसूस की, जो जन-आन्दोलन और भारतीय राष्ट्रीय सेना का विद्रोह देख चुका था। मार्च 1946 में गोरी सरकार ने एक कैबिनेट मिशन भारत भेजा। विभिन्न राजनीतिक दलों एवं संगठनों से लम्बे और विस्तृत विचार-विमर्श के बाद, मिशन ने देश को विभाजित करने हेतु मुस्लिम लीग़ की माँग को ठुकरा दिया और एक भारतीय संघ एवं एक संविधान सभा बनाए जाने विषयक अपने प्रस्ताव रखे। ये प्रस्ताव कांग्रेस एवं लीग दोनों द्वारा यद्यपि अनिच्छापूर्वक, स्वीकार कर लिए गए। सितम्बर 1946 में जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में एक अंतरिम सरकार बनायी गई। मुस्लिम लीग भी सरकार में शामिल हुई परन्तु उसने नए संविधान के निर्माण में भाग न लेने का तय कर लिया। 20 फरवरी 1947 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने जून 1948 के पहले-पहले भारत छोड़ देने हेतु सरकार के निर्णय के घोषणा की। लार्ड माउण्टबैटन को भारत भेजा गया ताकि सत्ता-हस्तांतरण हेतु इंतज़ाम कर सकें। इस बीच, अन्तरिम सरकार के भीतर कलहों से प्रशासन व्यवस्था के भंग होने का खतरा बना हुआ था। इन दो समुदायों के बीच शत्रुता ने भयावह रूप ले लिया था। जिन्ना इस बात पर अड़े हुए थे कि मुसलमान जन एक स्वायत्त राज्य से कम पर राज़ी नहीं होंगे। इस प्रकार भारत का विभाजन और पाकिस्तान की स्थापना दोनों ही अपरिहार्य थे। माउण्टबैटन का फ़ार्मूला यह था कि देश तो विभाजित होगा ही परन्तु पंजाब और बंगाल भी विभाजित होंगे ताकि उदित हुआ सीमित पाकिस्तान कांग्रेस एवं लीग दोनों के विचारों को कुछ हद तक संतुष्ट कर सके। विभाजन एवं स्वतंत्रता विषयक यह फ़ार्मूला भारत में सभी प्रमुख राजनीतिक दलों द्वारा स्वीकार कर लिया गया और ब्रिटिश पार्लियामॅण्ट द्वारा भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के माध्यम से उसे अंतिम रूप दे दिया गया। इस अधिनियम ने भारत और पाकिस्तान नामक दो स्वतंत्र राज्यों के निर्माण की व्यवस्था दी, बंगाल और पंजाब के विभाजन को संभव बनाया और दोनों देशों की संविधान सभाओं को अपने-अपने संविधान तैयार करने हेतु शक्ति प्रदान की। तदनुसार, 15 अगस्त 1947 को भारत ने आज़ादी हासिल कर ली और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का सपना पूरा हो गया।

1.3.2 पाकिस्तान

पाकिस्तान बनने के मूल कारण और संघर्ष स्वतंत्रता-पूर्व भारत की साम्प्रदायिक राजनीति में छिपे हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान हुई मुख्य घटनाओं में एक थी – सम्प्रदायवाद का उदय और वर्धन। विपिनचन्द्र के अनुसार, सम्प्रदायवाद में तीन पड़ाव आते हैं : i) साम्प्रदायिक विचारधारा का जन्म तब होता है जब व्यक्ति जन अथवा समूह यह मानने लगते हैं कि उस

धर्म-विशेष के लोगों के सामूहिक सामाजिक-आर्थिक हित हैं; ii) दूसरा पड़ाव तब आता है जब एक व्यक्ति या एक समूह यह मानने लगता है कि विभिन्न धर्म-आधारित समुदायों के अपने-अपने विशेष हित हैं, हालाँकि इन हितों को समंजित एवं समायोजित किया जा सकता है; और तीसरा पड़ाव तब आता है जब धार्मिक मतभेदों को धर्म-विरुद्ध मतभेदों में बदल दिया जाता है और उन्हें एक-दूसरे से असंगत होने के रूप में देखा जाता है। यही पड़ाव है जिसमें पृथक् राष्ट्र की धारणा जन्म लेती है। भारत के प्रसंग में, 1930 तक समंजन और समायोजन संबंधी साम्प्रदायिक विचारधारा प्रचलन में थी परन्तु चालीस के दशक में उसने एक पृथक् राष्ट्र की चरम अवस्था प्राप्त कर ली जो कि देश के विभाजन में परिणत हुई।

सम्प्रदायवाद ने 19वीं शती के अंत में मानो एक अखिल भारतीय आयाम लेना शुरू कर दिया। ऐसी दशा में मुस्लिम अभिजात वर्ग द्वारा शुरू किए गए सुधार आन्दोलन अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार पर अभिलक्षित थे और मूल रूप से मुसलमानों को छोटे-मोटे कार्य-व्यापार में जाने के लिए तैयार करने की मंशा रखते थे। उन्होंने अपने समुदाय को आधुनिक विचारों से अवगत कराने का शायद ही प्रयास किया हो। सुधार आन्दोलन के सांप्रदायिक अभिगम ने मुस्लिम साम्प्रदायिक दलों एवं राजनीति के उदय और विकास हेतु आधार तैयार किया। अंग्रेजों ने इस घटनाक्रम का सकारात्मक जवाब दिया और मुसलमानों के बीच पृथक्तावादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने के लिए सभी हथकण्डे अपनाये। ब्रिटिश उपनिवेशवादी पदाधिकारियों ने अपना आशीर्वाद मुस्लिम लीग को दिया जिसे दिसम्बर 1906 में एक अखिल भारतीय पार्टी का रूप दे दिया गया।

अपने प्रारम्भ से ही मुस्लिम लीग सशक्त साम्प्रदायिक अभिनति वाली एक रूढ़िवादी पार्टी रही। इसके नेतृत्व में ऐसे लोग थे जो अंग्रेजों के प्रति अपनी निष्ठा के लिए जाने जाते थे। उसने पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों तथा सरकारी नौकरी में मुसलमानों के लिए रक्षार्थ पूर्वापायों की माँग की। उसने लोगों को संघटित करने के लिए साम्प्रदायिक राजनीति एवं विचारधारा का प्रयोग किया और उन्हें दिनोंदिन ज़ोर पकड़ते राष्ट्रीय आन्दोलन से परे रखा।

1912 में जब बंगाल का विभाजन रद्द कर दिया गया तो अंग्रेजों के साथ-साथ मुस्लिम लीग भी व्याकुल एवं निराश हुई और ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर ही भारत के लिए स्वशासन की वकालत करने लगी। 1916 में उसने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ लखनऊ समझौते पर हस्ताक्षर किए, जिसके द्वारा कांग्रेस ने पृथक् निर्वाचन क्षेत्र व्यवस्था की स्वीकृति दे दी और दोनों ही पार्टियों ने भारत को अधिराज्य का दर्जा दिए जाने की दिशा में काम करने संबंधी अपनी मंशा ज़ाहिर कर दी। हिन्दू-मुस्लिम एकता असहयोग आन्दोलन के दौरान अपने शिखर पर भी। यह समझौता 1922 में असहयोग आन्दोलन वापस लिए जाने के साथ ही समाप्त हो गया। आने वाले वर्षों में हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायवाद को सर उठाते देखा गया जो देश के विभिन्न भागों में हो रहे दंगों के रूप में अपने कहानी कहता था।

सभी राजनीतिक दलों ने सायमन कमीशन का बहिष्कार किया और एक सर्वदलीय संविधान तैयार करने का फैसला किया। चूँकि मुस्लिम लीग नेता मोहम्मद अली जिन्ना द्वारा सामने रखी गई माँगें सम्मेलन में पूरी नहीं की गईं, उसने कार्यतः अपना रास्ता कांग्रेस से अलग चुन लिया। परिणामतः, सभी मुस्लिम गुटों ने हाथ मिला लिया और एक अलग दस्तावेज़ सामने रखा जिसे 'जिन्ना का 14-सूत्रीय कार्यक्रम' कहा गया और जो भारत के भविष्य हेतु किसी भी आगामी विचार-विमर्श के लिए आधार बन गया। लीग की अड़ियल प्रकृति के कारण गोलमेज सम्मेलनों के दौरान किसी भी नतीजे पर नहीं पहुँचा जा सका। आग में घी डालने का काम किया ब्रिटिश सरकार के साम्प्रदायिक पुरस्कार (Communal Award) ने, जिसमें जिन्ना के 14-सूत्रीय कार्यक्रम में की गई लगभग सभी माँगें मान ली गई थीं।

1930 के बाद से मुस्लिम बुद्धिजीवियों के एक वर्ग ने भारत में एक पृथक् स्वतंत्र मुस्लिम राज्य के लिहाज से सोचना शुरू कर दिया। मुस्लिम लीग के 1930 के सत्र की अध्यक्षता करते हुए मुहम्मद इक़बाल ने कहा – 'मैं पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रांतों, सिन्ध और बलूचिस्तान

को एक अलग राज्य में सम्मिलित देखना चाहता हूँ'। गोलमेज सम्मेलन में रहमत अली के नेतृत्व में इंग्लैण्ड में मुस्लिम छात्रों के एक गुट द्वारा एक मुस्लिम राज्य पाकिस्तान (PAKISTAN) का प्रस्ताव रखा गया (जिसमें चार प्रांतों का प्रथम अक्षर और अंतिम प्रांत का आखिरी सिरा लिया गया था)।

एक पृथक् मुस्लिम राज्य की लालसा के बावज़ूद लीग ने कांग्रेस के साथ सहयोग की नीति का अनुशीलन किया और एक संगठित भारत के भीतर प्रांतों के बीच एक निर्बन्ध संघीय संबंध की हिमायत की। तथापि, 1937 के चुनावों के बाद, जिसमें लीग ने मुसलमानों के लिए आरक्षित 485 सीटों में से मात्र 108 सीटें जीतकर बुरा प्रदर्शन किया था, लीग एक कट्टर कांग्रेस-विरोधी पार्टी बन गयी। जैसे-जैसे मुसलमानों के बीच उसका समर्थन मज़बूत होता रहा, वैसे-वैसे एक ही राष्ट्र के रूप में साथ-साथ रहने संबंधी विचार का स्थान घृणा, भय और अलगाव की राजनीति ने ले लिया। हिन्दू और मुसलमानों के हित परस्पर विरोधी एवं शत्रुवत् घोषित कर दिए गए। मार्च 1940 में लाहौर सत्र में लीग ने द्वि-राष्ट्र सिद्धांत को सामने रखा और एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें भारत के उत्तर-पश्चिमी तथा पूर्वी भागों में मुसलमानों के लिए 'स्वतंत्र राज्य' बनाये जाने की माँग की गई थी।

हालाँकि इस प्रस्ताव को उस वक्त गंभीरता से नहीं लिया परन्तु कुछ माह बीतते ही एक तीव्र परिवर्तन आया। 1943 तक आते-आते यह मुसलमानों के लिए एक आस्था की वस्तु और जीवन-मरण का प्रश्न बन गया। महत्त्वाकांक्षी राजनीतिज्ञों, विधिकर्त्ताओं एवं प्रशासकों को नए राज्य में सत्ता हेतु पर्याप्त अवसर दिखाई दिए। वकीलों, चिकित्सकों, अध्यापकों, उद्यमियों तथा उद्योगपतियों वाले व्यावसायिक वर्ग ने अपनी गतिविधियों के लिए काफी संभावना देखी। बंगाल और पंजाब के मुस्लिम किसानों के लिए पाकिस्तान को हिन्दू जमींदारों और बनियों द्वारा शोषण का अंत बताकर प्रस्तुत किया गया।

लीग ने 1945-46 का चुनाव इस आधार पर लड़ा कि 'लीग और पाकिस्तान के नाम पर वोट, इस्लाम के नाम पर वोट' होगा। मुसलमानों के लिए आरक्षित 495 सीटों में से 440 जीतकर लीग ने अपने आपको मुसलमानों के बीच एक प्रबल राजनीतिक दल के रूप में स्थापित कर लिया। जिन्ना ने घोषणा कर दी कि पाकिस्तान के मुद्दे पर कोई समझौता नहीं हो सकता। कैबिनेट मिशन योजना ने पाकिस्तान बनाये जाने को निरस्त कर दिया और एक अंतरिम सरकार बनाये जाने का आह्वान किया। प्रारम्भत: लीग सरकार में शामिल नहीं हुई, परन्तु फिर शामिल हो गयी, साथ ही यह भी घोषित कर दिया कि वह संविधान के प्रारूपण में भाग नहीं लेगी। अगस्त में जिन्ना ने पाकिस्तान के निर्माण के लिए 'सीधी कार्रवाई' करने का आह्वान किया। आने वाले महीनों में दोनों सम्प्रदायों के बीच अब तक के सबसे अधिक अपकारी दंगे देखे गए, जो बंगाल, बिहार और संयुक्त प्रांतों से आरम्भ होकर दिल्ली तक पहुँचे और पंजाब में चरम बिन्दु पर। माऊँटबेटन जिन्हें सत्ता-हस्तांतरण के लिए दिल्ली भेजा गया था, को लगा कि तत्काल कार्रवाई की आवश्यकता है और यह कार्रवाई सिर्फ सियासी हो सकती है। एक ओर माऊँटबेटन और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बीच तथा दूसरी ओर माऊँटबेटन और जिन्ना के बीच विचार-विमर्श ने भारत के विभाजन के लिए योजना की रूपरेखा तैयार कर दी। इसको भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947 में शामिल कर लिया गया जिसने दोनों अधिराज्यों के सीमाक्षेत्रों को समायोज्य बताया और सीमा आयोग के निर्णय, बंगाल और पंजाब के विभाजन एवं असम से सिलहट के संबंध-विच्छेद उपरांत पक्की सीमाएँ निर्धारित किए जाने के रूप में परिभाषित किया। इस प्रकार, साम्प्रदायिक विभाजन को अन्तत: राजनीतिक विभाजन और फिर पाकिस्तान के निर्माण की ओर मोड़ दिया गया।

1.3.3 बांग्लादेश

बांग्लादेश पाकिस्तान का हिस्सा था जो कि इस माँग को लेकर बनाया गया था कि मुसलमान एक राष्ट्र हैं; इसी कारण उनके पास एक पृथक् गृहभूमि और अपना खुद का राज्य होना

चाहिए। पाकिस्तान बनने के बाद, बहरहाल, बंगाली लोग विशिष्टता का एक वर्धमान भाव विकसित करने लगे जिसने एक पृथक् राष्ट्रीय समुदाय को विकसित होने से रोका। यह पार्थक्य ही था जो पृथक्तावादी आन्दोलन में चरमसीमा पर पहुँचा जिसके परिणामस्वरूप बांग्लादेश उसका घटक भाग नहीं रहा।

प्रथम महत्त्वपूर्ण घटना जो कि पाकिस्तान में बंगाली राष्ट्रवाद के विकास में उल्लेखनीय है, वो है – बंगाली अभिलाषाओं का सम्मान न करते हुए पाकिस्तान की राष्ट्रीय भाषा के रूप में उर्दू को लागू किए जाने हेतु पाकिस्तान की सत्तारूढ़ सरकार का फैसला। बंगालियों ने इसे सांस्कृतिक अपनी संस्कृति में अनुचित हस्तक्षेप का प्रयास माना। जनसमाज के विभिन्न स्तर इस फैसले के विरोध में उतर आये। प्रदर्शनकारी छात्रों को तितर-बितर करने के लिए पुलिस कार्रवाई ने कुछ की जान ही ले ली, जिससे पश्चिमी पाकिस्तान के खिलाफ़ बंगालियों का गुस्सा भड़क उठा। इस भाषा-आन्दोलन की चिन्गारी प्रथम राष्ट्रवादी भावना को भड़काने में काम आयी और प्रबल पश्चिमी-पाकिस्तान सरकार द्वारा बंगालियों से दण्डस्वरूप किए गए अर्थिक एवं राजनीतिक सलूक से और दृढ़ हो गयी। यह माँग फिर प्रांतीय स्वायत्तता में बदल गयी। कानूनी, रूप से बंगाली जन पाकिस्तान के नागरिक थे परन्तु आर्थिक रूप से पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान के बीच संबंध शोषणकारी था। पूर्वी पाकिस्तान की विदेशी मुद्रा आय का रुख़ पश्चिमी पाकिस्तान की ओर कर दिया गया था ताकि वहाँ की अर्थव्यवस्था विकसित हो, जबकि पूर्वी पाकिस्तान को पिछड़ा ही छोड़ दिया गया था। कुछ मात्रा में औद्योगीकरण हुआ था, मगर उसका लाभ पश्चिमी पाकिस्तान को ही मिलता था क्योंकि मालिक लोग अधिकतर पश्चिमी पाकिस्तान के ही थे। राजनीतिक रूप से, पूर्वी पाकिस्तान पाकिस्तान की राज्य संरचना में अधीनस्थ स्थिति ही रखता था। पश्चिमी पाकिस्तान को केन्द्रीय सरकार की कुर्सी मिलने के बाद मुस्लिम लीग ने पूर्वी पाकिस्तान में बंगाली नेताओं को उठने ही नहीं दिया। और तो और, उसने तत्कालीन बंगाल के ग़ैर-बंगाली नवाबों और मुस्लिम व्यापारियों के मेल के माध्यम से पूर्वी पाकिस्तान के मामलों को हाथ में लेने का प्रयास किया। यह स्थिति और बदतर हो गयी क्योंकि दफ्तरशाही के साथ-साथ सशस्त्र सेनाओं में भी पाकिस्तान के पूर्वी स्कंध की कोई महत्त्वपूर्ण भागीदारी नहीं थी। परिणामस्वरूप, बंगाली नेतृत्व को शीर्ष निर्णयन् प्राधार में देय भाग से भी काफी कम दिया गया। सरकार, नौकरशाही और सशस्त्र सेनाओं में पश्चिमी पाकिस्तान के अत्यधिक प्रभुत्व ने ही उन्हें पूर्वी पाकिस्तान के साथ चालबाज़ी करने और उस पर हावी होने की मंजूरी दी।

भाषा-आन्दोलन का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव 1954 के आम चुनावों पर पड़ा, जो सीमित मताधिकार के तहत कराये गए थे। अवामी मुस्लिम लीग जो 1949 में भाषा के नेतृत्व में उभरी थी, अन्य बंगाली पार्टियाँ एक संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए साथ आ खड़ी हुईं। अन्य माँगों के अलावा, उन्होंने पूर्वी पाकिस्तान के लिए स्वायत्तता और बंगाली को एक राजभाषा के रूप में अपनाये जाने की माँग की। उन्होंने पूर्वी पाकिस्तान में मुस्लिम लीग को निर्णायक रूप से शिकस्त दी। तथापि, मुस्लिम लीग ने छह माह के ही भीतर संयुक्त मोर्चा सरकार को बर्खास्त कर दिया और राज्यपाल शासन के नाम पर सैनिक शासन लागू कर दिया। 1959 में जनरल अयूब खान के तहत फ़ौजी तानाशाही की स्थापना के साथ ही पूर्वी पाकिस्तान के जन-संघर्ष का पहला दौर समाप्त हो गया।

अयूब खान की फ़ौजी तानाशाही का वस्तुत: उद्देश्य मध्यवर्गों एवं देशज अभिजात वर्ग को सत्ता में आने से रोकनाथा। व्यापक आधार रखने वाले राजनीतिज्ञों को अयोग्य करार दे दिया गया और औद्योगिक एवं व्यापारशील बुर्जुआ वर्ग समर्थित सेना-नौकरशाही समूह पर सशस्त्र बलों का प्रभुत्व सुनिश्चित कर दिया गया। एक द्रुत ध्रुवीकरण जो इसके बाद हुआ, ने इन दोनों स्कन्धों के बीच बढ़ते राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक भेदों के संचित प्रभाव को प्रकट किया। इसे 1966 में, अवामी लीग के नेता, मुर्ज़िबुर्रहमान द्वारा घोषित छह-सूत्रीय कार्यक्रम में अभिव्यक्ति मिली। उसकी माँग थी कि सरकार प्रकृति में संघीय और संसदीय हो, उसके सदस्य जनसंख्या

के आधार पर विधायी प्रतिनिधित्व वाले सार्वत्रिक वयस्क मताधिकार द्वारा चुने जायें; संघीय सरकार के पास केवल विदेशी मामलों एवं रक्षा विषयक मुख्य दायित्व ही हो; प्रत्येक स्कंध की अपनी ही मुद्रा हो ओर पृथक् वित्तीय खाते भी; करारोपण प्रांतीय स्तर पर किया जाये; प्रत्येक संघीय इकाई विदेश विनिमय की अपनी निजी आय पर नियंत्रण रखे; और प्रत्येक इकाई अपनी नागरिक सेना और संसदीय शक्तियों को बढ़ा सके। वह वस्तुत: एक संधि की माँग थी। भाषायी राष्ट्रवाद, स्वायत्तता, एक संतुलित आर्थिक विकास और लोकतंत्र के संघर्ष अब विलीन हो चुके थे।

1970 के चुनाव, यानी स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रथम आम चुनाव संघर्ष का तीसरा दौर था। आवामी लीग ने न केवल प्रांतीय विधानसभा मतदान में वोट बटोरे, अपितु पूर्वी स्कंध की विशाल जनसंख्या की वजह से राष्ट्रीय विधानसभा में भी उसे बहुमत हासिल करने में सफलता मिली। ऐसी परिस्थितियों में प्रत्याशित संविधान सभा मुजिब का छह-सूत्रीय कार्यक्रम अपरिहार्य रूप से विधिकृत करती। अत: राष्ट्रीय विधानसभा का संयोजन सत्तारूढ़ सैनिक अभिजात वर्ग ने स्थगित कर दिया और पश्चिमी पाकिस्तान में विपक्ष, यानी जुल्फिकार अली भुट्टो को लेकर एक गठबंधन बना लिया गया। मुजिब ने एक व्यापक सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू कर दिया, इस उम्मीद से कि याहया खान से समझौता हो जायेगा, परन्तु पाकिस्तानी शासक वर्ग ने आत्म-समर्पण में बंगालियों को डराने-धमकाने हेतु अभिप्रेत सैनिक आक्रमण के लिए तैयार होने का समय निकालने के लिए समझौतों का प्रयोग किया।

जब 25 मार्च को बंगाली राष्ट्रवादियों पर सैनिक आक्रमण शुरू हो गया तो सविनय अवज्ञा और असहयोग आन्दोलन सशस्त्र संघर्ष में बदल गया। उत्पीड़न, बलात्कार एवं बुद्धिजीवियों की हत्या के साथ हुई बर्बर सैन्य कार्रवाई ने बांग्लादेश की अवाम में पाकिस्तानी राष्ट्रीयता का नामोनिशां मिटा दिया। भारी संख्या में असैनिक हताहतों ने बंगाली लोगों के भारत की ओर अभूतपूर्व प्रवसन की ओर प्रवृत्त किया। जो कि न्यायसंगत रूप से पाकिस्तान का एक आन्तरिक मामला होना चाहिए था, तदनुसार भारत के लिए प्रमुख समस्या बन गया। भारत ने स्वतंत्रता सेनानियों को आश्रय स्थल और प्रशिक्षण सुविधाएँ मुहैया कराईं। इसके अलावा, उसने एक व्यापक कूटनीतिक आक्रमणकारी रवैया अपना लिया ताकि बांग्लादेश में नरसंहार और उसका मुक्ति संघर्ष दुनिया की नज़र में आये। आखिरकार, पाकिस्तान ने 3 दिसम्बर को भारत पर युद्ध थोपकर अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार ली। यह सशस्त्र संघर्ष 16 दिसम्बर 1971 को समाप्त हुआ जब पाकिस्तानी फ़ौज ने ढाका में बांग्लादेश मुक्ति सेना और भारतीय सेना की संयुक्त कमान के समक्ष घुटने टेक दिए। बांग्लादेश एक संप्रभु स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उभरा।

1.3.4 श्रीलंका

श्रीलंका, जिसको पहले 'सीलोन' नाम से जाना जाता था, के राजनीतिक इतिहास का संबंध तीसरी शताब्दी ईसापूर्व से जोड़ा जा सकता है। शुरुआती वर्षों में यह द्वीप छोटी-छोटी रियासतों में बँटा था। रोहण के एक राजकुमार, दत्तागामिनी ने इस द्वीप को एक करने का प्रयास किया परन्तु सम्पूर्ण एकीकरण लम्बे समय तक दूर की आशा ही रहा। तीसरी शताब्दी ईसापूर्व से ही शुरुआत करने पर, श्रीलंका ने दक्षिण भारत से समय-समय होने वाले आक्रमणों को झेला और ग्यारहवीं शती ईसापूर्व में उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र चोल राज्य का एक प्रांत बन गया। 12वीं शताब्दी में सिंहल राजा पराक्रमबाहु प्रथम ने सारे देश को एक कर दिया। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद, देश गड़बड़ी और अव्यवस्था में डूब गया जिसने दक्षिण भारत से आने वाले आक्रमणकारियों का ध्यान अपनी ओर खींचा। इन्हीं आक्रमणों के कारण ही इस द्वीप के उत्तर में जाफना प्रायद्वीप में एक तमिल राज्य निर्माण का उत्कर्ष हुआ। जब 16वीं शती-अंत में पुर्तगाली यहाँ आये तो श्रीलंका तीन स्वतंत्र राज्यों में बँट गया : दो सिंहली – एक कोट पर बसा जिसका नियंत्रण दक्षिणी और पूर्वी द्वीप पर था, और दूसरा कैण्डी पर बसा जिसका शासन केन्द्रीय पहाड़ी प्रदेशों पर था; तथा तीसरा तमिल राज्य था जिसका नियंत्रण उत्तर और पूर्व पर था। इसने उन्हें

पर्याप्त अवसर दिए कि श्रीलंका की राजनीति में हस्तक्षेप करें और तटीय क्षेत्र में अपने उपनिवेश बनायें। 17वीं शताब्दी में उनके स्थान पर डच अर्थात् हॉलैण्डवासी आ गये जिनका सिंहलियों ने साथ दिया। डच लोगों ने तटीय श्रीलंका पर एक सौ वर्षों से भी अधिक राज किया जिस दौरान काफी अभ्यंतर भाग कैण्डीयन राजाओं के अधीन स्वतंत्र ही रहा। 1796 में डच लोगों के स्थान पर अंग्रेज आ गए। 1802 में उन्होंने पृथक् तमिल राज्य को समाप्त कर उसे एक 'ताज उपनिवेश' बना दिया। 1815 में कैण्डीयन राज्य के भीतर आंतरिक झगड़ों का लाभ उठाकर अंग्रेज नयक्कर वंश को उखाड़ फेंकने में सफल रहे। उन्होंने कैण्डीवासियों को उनके विशेषाधिकारों व अधिकारों तथा प्रथागत कानूनों, संस्थाओं व धर्म की रक्षा किए जाने का आश्वासन दिया। हालाँकि कैण्डी अलग से प्रशासित था, उसके अभिजातों व भिक्खुओं का दर्जा घटाने की प्रवृत्ति असंदिग्ध थी; इसने 1818 में ब्रिटिश नियंत्रण के खिलाफ़ एक जन-विद्रोह की ओर प्रवृत्त किया। यह महाविद्रोह कुचल दिया गया और कैण्डीयन प्रांत बाकी देश के साथ मिला दिया गया।

सम्पूर्ण श्रीलंका के प्रभावशाली शासक बन ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने तुरंत ही एक सुधार प्रक्रिया आरंभ कर दी। उन्होंने न्यायिक प्राधिकरण के देशज पदाधिकारियों को काम से छुट्टी दे दी, वेतन नकद भुगतान किए और 'राजकार्य' नामक अनिवार्य श्रम वाली परम्परागत व्यवस्था में ढील दे दी। भूमि के यूरोपीय स्वामित्व पर प्रतिबंध भी उठा लिए गए। कृषि को प्रोत्साहन दिया गया। कोलब्रूक कैमरन आयोग ने न्याय घोषणा-पत्र, 1833 के माध्यम से इन शुरुआती परिवर्तनों को सुव्यवस्थित किया। अंग्रेजों ने पूरे द्वीप के लिए एक एकात्मक प्रशासनिक एवं न्यायिक प्रणाली अपनायी। उन्होंने गवर्नर की निरंकुश शक्तियाँ कम कर दीं और सरकार के काम में अधिकार प्रयोग में साझेदारी निभाने के लिए कार्यकारी एवं विधायी परिषदें स्थापित कर दीं। अंग्रेजी को राजकाज की भाषा तथा स्कूलों में शिक्षण का माध्यम बना दिया गया।

आर्थिक क्षेत्र में, अंग्रेजों ने सभी राज्य एकाधिकारों को समाप्त कर दिया, 'राजकार्य' प्रणाली को खत्म कर दिया, और मुक्त व्यापार को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने 'ताज' अधीकृत भूमि को सस्ते में बेचकर बाग़ान खेती को बढ़ावा दिया। परिणामतः, दालचीनी, कालीमिर्च, गन्ना, कपास और कॉफी का उत्पादन फला-फूला। कॉफी बाग़ानों में काम करने वाले श्रमिक मुख्य रूप से आप्रवासी भारतीय ही थे। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, चाय, रबड़ व नारियल बाग़ान जैसी व्यापारिक फसलें श्रीलंकाई अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण की उत्प्रेरक बन गईं।

यह बात, बहरहाल, ध्यान देने योग्य है कि पूँजीवादी उद्यम शहरी क्षेत्रों और बाग़ान के तहत आने वाले क्षेत्रों तक ही सीमित था। बाकी देश परम्परागत तरीकों को इस्तेमाल करता भरण-पोषण कृषि के अधीन ही बना रहा, हालाँकि गाँवों का पार्थक्य सड़कों एवं रेलमार्गों के माध्यम से कुछ कम हो गया था।

श्रीलंका में राष्ट्रीय चेतना और आधुनिक राष्ट्रवाद का उद्गम धार्मिक पुनर्जागरणवाद में तलाशा जा सकता है, जो कि ईसाई धर्म-प्रचार उद्यम के प्रति एक परिवर्तन विरोध ही था। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बौद्धधर्म और हिन्दू धर्म में पुनर्जागरणवादी आन्दोलनों ने अपनी संस्थाओं को आधुनिकीकृत करने और ईसाइयत से असंकरित पाश्चात्य शिक्षा प्रदान करने के लिए स्कूल स्थापित कर ईसाइयत के खिलाफ अपनी रक्षा करने का प्रयास किया। यह चेतना धीरे-धीरे राजनीति के रणक्षेत्र में छा गयी। अनेक क्षेत्रीय एवं साम्प्रदायिक संस्थाओं ने, जो देश के शैक्षिक रूप से उन्नत भागों में सामने आयीं, औपनिवेशिक संविधान के भीतर राजनीतिक सुधारों की माँग शुरू कर दी। उन्होंने कार्यकारी शाखा में श्रीलंकाई भागीदारी, विधायिका में अधिक व्यापक प्रतिनिधित्व, और नामांकन के स्थान पर चयनात्मक सिद्धांत अपनाये जाने की बात की। औपनिवेशिक शासन ने इस माँगों को ठुकरा दिया क्योंकि ये समन्वित अथवा दमदार आवाज़ वाली नहीं थीं। 1910 के संवैधानिक सुधारों ने पुरानी संरचना को बरकरार रखा, जिसमें एक नियुक्त अधिशासी और एक नियुक्त बहुमत वाली विधायी शाखा होती थी। इस चयनात्मक सिद्धांत को 'शिक्षित श्रीलंकाई' नामक निर्वाचक दल बनाकर एक हद तक मान्यता

दे दी गई ताकि वे विधान परिषद् हेतु एक सदस्य चुन सकें। अन्य श्रीलंकाई सदस्य सांप्रदायिक आधार पर नामज़द किए जाने थे।

राष्ट्रवादी ताकतों को प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान गति मिली। राष्ट्रीय राजनीतिक चेतना के विकास में राजनीतिक दमन से मदद मिली, जो कि 1915 में जन-उपद्रवों के चलते किया गया था। उस समय एक छोटे से साम्प्रदायिक दंगे के दौरान जब अंग्रेजों ने प्रमुख सिंहली नेताओं को गिरफ्तार किया तो सभी समुदायों के नेता इस कार्रवाई के विरोध में उठ खड़े हुए। यह इस द्वीप पर सबसे पहला राजनीतिक आन्दोलन बन गया। अपने राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को ज़ाहिर करने के लिए एक आम मंच की आवश्यकता महसूस करते हुए, 1919 में सिंहली और तमिल संगठन राष्ट्रीय कांग्रेस के गठन के लिए एकजुट हो गए। कांग्रेस के बजट पर नियंत्रण, विधानमण्डल में निर्वाचित बहुमत और कार्यकारी शाखा के व्यवहार्य नियंत्रण की माँग की।

ब्रिटिश सरकार जो प्रथम विश्व-युद्ध पश्चात् विश्व-व्यापार वृद्धि में गिरावट, खाद्य पदार्थों समेत आयातित वस्तुओं की कीमतों में उछाल और कामगार वर्ग की बढ़ी हलचल की वजह से पहले ही दबाव में थी, ने 1920 में एक नए संविधान की घोषणा कर दी। इसमें विधानमण्डल में एक निर्वाचित बहुमत, क्षेत्रीय रूप से चुने हुए सदस्यों की संख्या में बढ़ोत्तरी और साम्प्रदायिक प्रतिनिधियों के चुनाव हेतु व्यवस्था दी गई थी। इस प्रकार, श्रीलंका में एक प्रतिनिधि सरकार अस्तित्व में आ गई। कार्यपालिका, तथापि, गवर्नर और औपचारिक कार्यकारी परिषद् के अधीन ही रही।

इन सुधारों के बाद सिंहली और तमिल हित-सामंजस्य में रुकावट आ गयी। यद्यपि सिंहली नेता चाहते थे कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व समाप्त हो और क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व सर्वव्यापी बने, अल्पसंख्यकों की इच्छा थी कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व कायम रहे ताकि उनके सम्प्रदायों हेतु सत्ता सुरक्षित रहे। इस प्रसंग में, तमिलों ने अपने आप को अल्पसंख्यक समुदाय मानना शुरू कर दिया। सिंहलियों और तमिलों के बीच अनबन और परस्पर अविश्वास बढ़ने के साथ ही अल्पसंख्यक वर्ग कांग्रेस से टूटकर अलग हो गए ताकि अपने खुद के संगठन बना सकें।

1931 में बनाए गए एक नए संविधान ने श्रीलंकाई नेताओं को अवसर प्रदान किए कि वे राजनीतिक सत्ता का प्रयोग कर सकें और संभावित स्व-शासन लाने की दृष्टि से प्रशासनिक अनुभव प्राप्त कर सकें। इसने एक राज्य परिषद् की व्यवस्था दी जिसमें विधायी और कार्यकारी प्रकार्यों को सम्मिलित किया गया था। क्षेत्रीय रूप से एक निर्वाचित सदस्यों के अत्यधिक बहुमत वाली विधान परिषद् होने के अलावा, राज्य परिषद् अधिशासी कार्य हेतु सात समितियों में बाँटा गया था (प्रत्येक का प्रमुख एक मंत्री अथवा अध्यक्ष होता था)। इस संविधान का शायद सबसे महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण यह था कि सार्वभौमिक मताधिकार प्रदान कर यह राजनीतिक प्रक्रिया में सभी श्रीलंकाइयों को ले आया।

भारत में वर्धमान राष्ट्रीय आन्दोलन और वयस्क मताधिकार शुरू किए जाने से श्रीलंका में राष्ट्रीय आन्दोलन तेज हो गया। समाज-कल्याण हेतु आन्दोलनों में वृद्धि हुई। कामगार वर्ग आन्दोलन को मार्क्सवादी राजनीतिक दल की स्थापना से प्रेरणा मिली। सार्वभौमिक मताधिकार की शुरुआत ने भी धार्मिक राष्ट्रवाद के पुनर्प्रकोप की ओर प्रवृत्त किया, यथा बौद्ध पुनरुत्थान एवं उससे संबद्ध सांस्कृतिक विरासत से राष्ट्रवाद बँटा। इस बात की अभिव्यक्ति एस.डब्ल्यु.आर. डी. भण्डारनायके द्वारा उसकी 'सिंहला महासभा' के माध्यम से दी गई। द्वितीय राज्य परिषद् (1936-47) के दौरान इस सार्वभौमिक मताधिकार ने संविधानवादी नेताओं पर भी दबाव डाला कि वे राष्ट्रवाद के पुनरुत्थान संबंधी सामाजिक व आर्थिक पहलुओं की दिशा में अधिक सक्रिय हों, खासकर स्वास्थ्य, शिक्षा एवं खाद्य परिदानों के क्षेत्र में।

उग्र आन्दोलनों के जवाब में, ब्रिटिश सरकार ने संवैधानिक समस्याओं पर सूक्ष्म दृष्टि डालने के लिए 1944 में सोलबरी आयोग गठित किया। इस आयोग ने आंतरिक स्वदेशी शासन की सिफ़ारिश की, जिसके अधिकार क्षेत्र में ब्रिटिश नियंत्रण के अन्तर्गत ही रक्षा एवं विदेश मामले

हों। श्रीलंकाई उग्रपंथी तत्त्वों ने तथापि, सम्पूर्ण आज़ादी पर ज़ोर दिया। इसी बीच भारतीय की स्वतंत्रता का सपना साकार हुआ। इस नई स्थिति के प्रसंग में ग्रेट ब्रिटेन पर दबाव डाला गया कि वह 1974 में कराये गए आम चुनावों में नए संविधान के प्रावधानों के अनुसार चुने गए जन-प्रतिनिधियों को 4 फरवरी 1948 को सम्पूर्ण सत्ता हस्तांतरित कर दे।

श्रीलंका में सत्ता-हस्तांतरण सहज और शांतिपूर्ण रहा, जो कि देश के राष्ट्रीय आंदोलन में प्रबल सूत्र के एक संतुलित स्वर की अभिव्यक्ति था। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय न कोई कड़वाहट थी, न ही दरार, जैसा कि भारत के मामले में था। इसने समग्र प्रक्रिया को निस्संदेह सौम्य बना दिया था। स्वतंत्रता ऊपर से प्रदान की गई थी और इसमें राष्ट्रवाद की सक्रिय चेतना का अभाव था।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

1) भारत में अतिवादी नेताओं द्वारा अपनाए गए राजनीतिक सिद्धांत एवं पद्धतियों की चर्चा करें।

....

....

....

2) पूर्वी पाकिस्तान में बंगालियों की मुख्य शिकायतें क्या थीं?

....
......

....

....

....

3) सिंहलियों तथा तमिलों के बीच मतभेद कब और किस मुद्दे को लेकर पैदा हुए?

....
......

....

....

....

1.3.5 नेपाल

अपने प्रारंभिक इतिहास में नेपाल अनेक स्वतंत्र रियासतों में बँटा रहा। 18वीं शती-मध्य में पृथ्वीनारायण शाह, गुरखा रियासत का मुखिया, ने समग्र नेपाल को एकीकृत किया और शाहवंश चलाया। नेपाल की वर्तमान सीमाएँ 1814 में ब्रिटिश शासकों के साथ युद्ध के बाद ही अस्तित्व में आयीं। नेपाल ने ब्रिटिश भारत को काफी मात्रा में राज्यक्षेत्र गँवाया, परन्तु उसने अपनी संप्रभुता संबंधी ब्रिटिश मान्यता हासिल की। यह सत्य है कि नेपाल पर अंग्रेजों द्वारा कभी कब्जा नहीं किया गया, परन्तु वह अपनी सम्पूर्ण स्वतंत्रता की अधिकार-माँग करने की स्थिति में भी विरला ही रहा। जब भारत आज़ाद हो गया तो नेपाल ने भी अपनी स्वतंत्र स्थिति घोषित कर

दी।

चूँकि पृथ्वीनारायण के बाद उसके उत्तराधिकारी अल्पायु ही रहे, प्रधानमंत्रियों ने असीम राजनीतिक सत्ता का प्रयोग आरम्भ कर दिया। इसके परिणाम हुए – दुरभिसन्धियाँ, कपटसन्धियाँ, वध-प्रतिवध तथा अस्थिरता। यह स्थिति 19वीं शती-मध्य तक जारी रही जब जंग बहादुर राणा ने सभी प्रतिद्वंद्वी राजनीतिक दलों को समाप्त कर दिया और राजा को नाममात्र का मुखिया बना दिया। शाह शासक, जो कि राजमहल की चारदीवारी में समाज से कटा रहता था, को एक संसद (शाही आदेश) जारी करने के लिए कहा गया, जिसमें जंग बहादुर को नागरिक एवं सैन्य प्रशासन तथा विदेश संबंधों में परम सत्ता सौंप दी जानी थी।

यह संसद जिसने अनन्त काल के लिए राणाओं को प्रधानमंत्री का पद सौंप दिया था, उसने देश में राणा परिवार के शासन हेतु कानूनी आधार भी प्रदान किया।

चूँकि राणा प्रधानमंत्रियों की सत्ता राजा एवं उसके कल्पित अवतार द्वारा उत्तरदायित्वों के परित्याग पर आधारित, अन्ततोगत्वा विधि विरुद्ध ही थी, राणा शासन स्वेच्छाचारी और परिवर्तन-विरोधी हो गया ताकि अपने प्राधिकार के प्रति किसी भी चुनौती से बचा जा सके। इस प्रक्रिया में वे नेपाल को उन अनेक परिवर्तनों से महरूम रखने में सफल रहे जो कि पूरी दुनिया में, यहाँ तक कि पड़ोसी देश भारत में भी, हो रहे थे।

नेपाल, बहरहाल, पूर्ण पार्थक्य में नहीं रहा। भारत में सुधार आन्दोलनों और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तत्त्वावधान में राष्ट्रीय आन्दोलन ने मध्यवर्गों को गहरे प्रभावित किया। शिक्षित वर्गों की आधुनिकतावादी आकांक्षाओं का राणा शासन द्वारा दमन किए जाने से एक राणा-विरोधी आन्दोलन का जन्म हुआ। नेपाली निर्वासितों तथा वे जो शिक्षार्थ भारत आये थे, संस्थाएँ खड़ी कर लीं, जिनका उद्देश्य था – नेपाल में एक जन-आन्दोलन को जन्म देना और राणातंत्र के स्थान पर एक लोकतांत्रिक व्यवस्था लाना। 1930वें दशक में भारत में रहने वाले निर्वासित नेपाली लोगों द्वारा बनाए गए कुछ संगठन, जैसे नेपाली नागरिक अधिकार समिति, प्रचण्ड गोरखा, प्रजा परिषद्, आदि ने माँग की कि नेपाल में तत्काल राजनीतिक सुधार हों और राणा शासन का अन्त हो। इसने नेपाल में आंतरिक उपद्रवों को जन्म दिया। नेपाल में ये घटनाएँ इस उपमहाद्वीप से अंग्रेजों के वापस जाने की तैयारियों के साथ ही घटीं। उल्लेखनीय है कि राणा तंत्र को भारत में उन ब्रिटिश शासकों द्वारा समर्थन और सातत्य प्राप्त था जो राणाओं में एक कार्यकर और चापलूस सखा की झलक पाते थे। देश के भीतर का माहौल राणाओं के पक्ष में नहीं था। स्पष्ट कारणों से राजा राणा-विरोधी ताकतों से जा मिला था। इसके अतिरिक्त, राणाओं में स्वयं आंतरिक विरोध जन्म ले चुके थे जिनकी वजह थी – परिवार में विस्तारित और अव्यवस्थित वंश की विभिन्न श्रेणियाँ। तदनुसार, पारिवारिक पदानुक्रम और वंश की निम्न पदस्थिति वाले (कम शुद्ध विवाह-संबंध से जन्मे) अनेक राणाजन या तो सीधे-सीधे राणा-विरोधी आन्दोलन में ही शामिल हो गए या फिर अप्रत्यक्ष रूप से शासक गुट का विरोध करने लगे क्योंकि उक्त पतित प्रणाली में उनकी कोई हिस्सेदारी नहीं रही थी। राणा शासकों में इस बात को लेकर भी विचारधारा और कार्यप्रणाली संबंधी तीखे मतभेद थे कि परिवर्तन-समर्थक ताकतों से किस तरह पेश आया जाये। ऐसी परिस्थितियों में, तत्कालीन राणा प्रधानमंत्री पद्म शमशेर ने लोकतांत्रिक आन्दोलन के नेताओं के साथ समझौता करने की बात सोची। प्रवृत्ति में इस परिवर्तन ने नेपाल में राजनीतिक सुधारों और संवैधानिक विकास आदि के लिए एक राह गढ़ी।

1948 में राणा मोहन शमशेर ने नेपाल के प्रथम लिखित संविधान की घोषणा की। इसमें आम जनता को मौलिक अधिकार दिए गए थे और राणाओं की पारम्परिक शक्तियों को छेड़े बगैर परम्परागत पंचायत व्यवस्था को फिर से जीवित किया गया था। जब राणा प्रधानमंत्री ने नेपाली राष्ट्रीय कांग्रेस को कानूनी आश्रय से वंचित कर दिया और नए संविधान को लागू करने में कोई रुचि नहीं दिखाई तो अगस्त 1948 में कलकत्ता में नेपाल लोकतांत्रिक कांग्रेस का गठन करने के लिए राणा-विरोधी ताकतें एकजुट हो गयीं। इस दल ने किसी भी तरीके से राणाओं को मिटा

डालने की सिफ़ारिश की, बेशक सशस्त्र विद्रोह ही करना पड़े। उसने जनवरी 1949 और जनवरी 1950 में सैन्य राज्य-विप्लवों को भड़काने का प्रयास भी किया परन्तु असफल रहा। अक्तूबर 1948 में जब राणा सरकार ने बी. पी. कोइराला व अन्य संगठनकर्त्ताओं को बन्दी बना लिया और शासन-विरोधियों को कठिन परिथितियों में रखा व जेल में घोर यंत्रणा भी दी, तो उसके लोकतांत्रिक विरोधी एक बार फिर उसके खिलाफ हो गए।

राष्ट्रवादियों का सवेरा 1950 में हुआ जब राजा त्रिभुवन ने सपरिवार भारत में शरण माँगी। नेपाली कांग्रेस के झण्डे तले तब एकजुट अनेक राणा-विरोधी संगठनों ने राणा शासन के खिलाफ़ एक सशस्त्र संघर्ष छेड़ दिया। जब उसकी सेनाओं ने राणाओं से छीनकर तराई के काफी हिस्से पर कब्ज़ा कर लिया तो नेपाली कांग्रेस ने वीरगंज के सीमा नगर में एक अंतरिम सरकार कायम कर दी। ऐसी स्थिति में भारत ने, जिसने नेपाल में राणा शासन को हाल ही में मान्यता दी थी और 1950 में शांति और मित्रता संधि को समाप्त कर दिया था, कोई सौहार्दपूर्ण हल निकालने के लिए हस्तक्षेप करने का फैसला कर लिया। इस संकटपूर्ण स्थिति में भारत ने नेपाली राजनीति के तीन खण्डों के बीच मध्यस्थता की – राणाजन, जन-प्रिय नेतागण तथा राजा अर्थात् नेपाल नरेश, ताकि कोई निबटारा हो सके। भारत का नज़रिया यह था कि नेपाल कोई बीच का रास्ता अपनाये जिसमें पारम्परिक अभिजात वर्ग की रक्षा हो और साथ ही लोकतंत्र की दिशा में कुछ प्रगति की जाये। फरवरी 1951 में नई दिल्ली में सम्पन्न समझौते में राणाओं व नेपाली कांग्रेस की एक गठबंधन सरकार की परिकल्पना की गई, साथ ही लोकतंत्र की प्रतिष्ठा और सत्ता को फिर से कायम करने की भी। पाँच राणाओं तथा नेपाली कांग्रेस पार्टी के पाँच ही सदस्यों को लेकर मोहन शमशेर के नेतृत्व में एक अंतरिम मंत्रालय को काठमाण्डू से नरेश के लौटने पर उक्त माह ही शपथ दिला दी गई। नरेश ने एक 'लाल मोहर' जारी की, तदनुसार राणा परिवार के सभी परंपरागत अधिकार और विशेषाधिकार वापस ले लिए गए। इस प्रकार, एक ऐसी शासन प्रणाली जो कि 104 वर्षों तक चली, 104 दिनों में ही ढेर हो गयी।

1.3.6 भूटान

17वीं शताब्दी तक भूटान अनेक छोटी-छोटी रियासतों में बँटा रहा। पूर्वी भूटान में एक तिब्बती राजकुमार जो नौवीं शताब्दी ईस्वी में अन्यत्र जा बसा, के वंशजों द्वारा एक शासक-गृह की स्थापना की गई। पश्चिमी भूभाग अनेक जागीरों में बँटा था, जिनका नियंत्रण विभिन्न बौद्ध मठवासीय घरानों के हाथ में होता था। राजकुमार अबोत-शाब्द्रुंग नवांग नांग्याल भूटान में 1616 में एक शरणार्थी के रूप में आया। बौद्धधर्म संबंधी उसके घराने से संबंधित विद्यमान मठों की मदद से उसने भूटान को एकीकृत करने के लिए संघर्ष शुरू कर दिया। इस संघर्ष में शाब्द्रुंग ने प्रतिद्वंद्वी घरानों को हरा दिया, और साथ ही तिब्बत की ओर से बार-बार आने वाले आक्रमणकारियों को पीछे खदेड़ दिया और देश को एक कर दिया। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद भूटान में फिर हलचल शुरू हो गई। इस हलचल से उभरे उग्नेन वांग्चुक जिन्होंने 1907 में भूटान में व्यवस्था और शांति बहाल की और वर्तमान परम्परागत शासक-गृह स्थापित किया।

18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब ब्रिटेन द्वारा बंगाल प्रेसीडेन्सी की स्थापना की गई तो उसकी सीमाएँ भूटान राज्यक्षेत्र को छूती थीं। इससे अंग्रेजों और भूटानियों के बीच आये दिन झड़पें होने लगीं। इसने अन्ततोगत्वा 1864-65 में बड़े पैमाने पर आंग्ल-भूटानी युद्ध की ओर प्रवृत्त किया जिसने सीमा निर्धारित कर दी। इसके बाद, चीन और तिब्बत की कीमत पर भूटान में ब्रिटिश प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ गया। 1910 में, चीनी विरोध के बावज़ूद, उग्नेन वांग्चुक ने भारत के अंग्रेज शासकों के साथ एक संधि पर हस्ताक्षर किए जिसमें वह "अपने विदेश मामलों के संबंध में अंग्रेज सरकार की सलाह पर चलने होने के लिए सहमत हो गया"। बदले में, अंग्रेज सरकार ने भूटान के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया।

अगले ही वर्ष भूटान नरेश ने प्रसिद्ध 'दिल्ली दरबार' में शिरकत की और उसने इस तथ्य को

जाना और स्वीकार किया कि दरबार में भाग लेने का हक सामन्ती मुखियाओं के सिवाय किसी का नहीं था। अंग्रेजों ने, बहरहाल, भूटान को कोई भारतीय राज्य नहीं माना और उन नीतियों को नहीं अपनाया जो सामान्यतया देशी राजाओं पर लागू होती थीं, जैसे – उत्तराधिकार को मान्यता देना और नियमित करना, राज्य पर ख़तरा अथवा व्यापक अराजकता होने की स्थिति में हस्तक्षेप करना।

जब भारत स्वतंत्रता के द्वार पर था तो भूटानी सरकार को भय हुआ कि कहीं नई भारतीय सरकार भूटान के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न शुरू कर दे और एक प्रति-संतुलन के रूप में लंदन में ब्रिटिश सरकार के साथ कुछ संबंध बनाने चाहे। तथापि, जब भूटानी शिष्टमण्डल नई भारतीय सरकार के साथ एक गतिरोध संधि पर हस्ताक्षर करने नई दिल्ली आया तो वह नई भारतीय शासन-व्यवस्था की निष्कपटता से काफी प्रभावित हुआ। भूटान सरकार और सिक्किम स्थित राजनीतिक अधिकारी ने अगस्त 1949 में दार्जिलिंग में भारत-भूटान संधि, 1949 पर हस्ताक्षर किए। इस संधि में स्पष्ट तौर पर कहा गया कि भूटान एक संप्रभु सत्ता है। भारत ने भूटान के आंतरिक प्रशासन में हस्तक्षेप न करने का फैसला किया जबकि भूटान अपने विदेश संबंधों में भारत की सलाह पर चलने के लिए राज़ी हो गया। संधि लागू करने में विवाद उठने की स्थिति में भारत के संघीय उच्च न्यायालय जजों के बीच एक भारतीय, एक भूटानी प्रतिनिधि और भूटान द्वारा नामांकित किए जाने वाले अध्यक्ष के साथ मध्यस्थता नियम-संग्रह की भी परिकल्पना की गई। इन समझौता-शर्तों में दोनों ही संविदाकारी पक्षों की संतुष्टि के लिए काम किया गया है।

1.3.7 मालदीव

मालदीव का प्रारंभिक इतिहास अज्ञात है। यहाँ के आदि उपनिवेशक संभवत: दक्षिणी भारत से आये। उनके बाद भारतीय-यूरोपीय भाषाएँ बोलने वाले यहाँ चौथी और पाँचवीं शती ईसापूर्व में श्रीलंका से आये। 12वीं शताब्दी ईस्वी में पूर्वी अफ्रीका और अरब देशों से नाविक इस द्वीपसमूह पर आये। मालदीवी नृजातीय पहचान इसी कारण इन संस्कृतियों का एक मिश्रण है जिसको धर्म और भाषा से मज़बूती मिली।

मूल रूप से बौद्ध मालदीवी जन 12वीं शती-मध्य में सुन्नी इस्लाम में धर्मान्तरित हो गए। तभी से मालदीव का शासन अपने इतिहास के अधिकांश भाग इस्लामी सल्तनत के रूप में ही रहा है। यह तटीय भारत में कन्नानौर के राजा की सामन्तिक अधीनता के अन्तर्गत आता था। अपने इतिहास में पहली बार मालदीव विदेशी सत्ता के सीधे नियंत्रण में तब आया जब 1553 में उत्तरी द्वीपों पर पुर्तगालियों ने कब्ज़ा कर लिया। 15 वर्षों के भीतर ही पुर्तगालियों को योद्धा-देशभक्त, मोहम्मद बोदू ताकुरु कि नेतृत्व में जनता द्वारा खदेड़ दिया गया। सुल्तान ने तत्पश्चात् पुर्तगाल के साथ एक संधि कर ली जिसने उनकी स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगा दिया और श्रीलंका में पुर्तगालियों को एक तयशुदा सालाना नज़राना भेजे जाने पर दबाव डाला।

जब हॉलैण्डवासियों और फिर ब्रिटेनवासियों ने श्रीलंका पर अपनी पकड़ मज़बूत कर ली तो मालदीव के सुल्तान ने वहाँ यूरोपीय गवर्नरों को उक्त वार्षिक भेंट भेजे जाने की प्रथा जारी रखी, जो कि २०वीं शती के पूर्वार्ध तक चलती रही। यूरोपवासियों ने मालदीव की स्थानीय सरकार आंतरिक मामलों को अपने हाल पर छोड़ दिया।

द्वीप समूह के सामरिक महत्त्व को जानने के साथ-साथ ब्रिटिश जनता द्वारा किए जाने वाले कारोबार को बचाने के लिए भी, 1887 में श्रीलंका के गवर्नर ने सुल्तान के साथ एक करार पर हस्ताक्षर किए। इस समझौते के मार्फ़त ग्रेट ब्रिटेन ने मालदीव को अपने संरक्षित राज्य की मान्यता दे दी। समझौते की शर्तों के अनुसार, सुल्तान की मान्यता प्रदान करने और यथाविधि ा अधिकार देने और देश के रक्षा व विदेश संबंधों का नियंत्रण ग्रेट ब्रिटेन के न्यायगत थे। बदले में, द्वीपवासियों को आंतरिक मामले निबटाने की आज़ादी दे दी गई थी।

मालदीव एक के बाद एक सुल्तान के अधीन रहता आया। 1932 तक सुल्तान वंशागत रहे फिर सल्तनत को चयनात्मक बनाने का प्रयास किया गया, जिससे सुल्तान की निरंकुश शक्तियों की सीमा में बाँधा जा सके। मालदीव 1953 तक एक ब्रिटिश-ताज संरक्षित राज्य रहा, जब सल्तनत को बर्खास्त कर दिया गया और मुहम्मद अमीन दीदी की अध्यक्षता में प्रथम गणतंत्र की घोषणा कर दी गई। सल्तनत को बहरहाल अगले ही वर्ष बहाल कर दिया गया। तभी से मालदीव में राजनीतिक घटनाचक्र पर इस द्वीपसमूह में ब्रिटिश सैन्य उपस्थिति का प्रभाव रहा है।

1956 में ब्रिटेन ने गन द्वीपसमूह पर अपना युद्धकाल हवाई क्षेत्र और हिताद्दू द्वीपसमूह पर एक रेडियो स्टेशन पुनर्स्थापित करने की इजाज़त ले ली। मालदीव ने अंग्रेजों को गन 100 वर्ष के पट्टे पर दे दिया जिसके लिए उन्हें प्रतिवर्ष 2000 पौण्ड दिए जाने थे। इससे पहले कि यह करार मंजूर होता, नए प्रधानमंत्री इब्राहिम नसीर ने पट्टे की अवधि घटाये जाने और वार्षिक भुगतान बढ़ाये जाने के पक्ष में समझौते पर पुनर्विचार किए जाने का आह्वान किया। परन्तु 1959 में नसीर को दक्षिणी प्रवाल द्वीपों में एक स्थानीय पृथक्तावादी आन्दोलन द्वारा चुनौती पेश की गई, जिनको कि गन पर ब्रिटिश विद्यमानता से आर्थिक लाभ पहुँचता था। उसने ब्रिटेन को तीस वर्ष की अवधि के लिए गन व हिताद्दू दोनों ही सुविधाएँ प्रयोग करते रहने की इजाज़त दी दी, जिसके बदले में मालदीव के आर्थिक विकास के उद्देश्य से 1960 से 1965 की अवधि तक साढ़े सात लाख पौण्ड का भुगतान किया जाना था।

26 जुलाई 1965 को मालद्वीप ने ब्रिटेन के साथ एक समझौते पर हस्ताक्षर कर आज़ादी हासिल कर ली। ब्रिटिश सरकार ने गन और हिताद्दू सुविधाओं का प्रयोग जारी रखा। मार्च 1968 में एक राष्ट्रीय जनमत-संग्रह द्वारा सल्तनत समाप्त कर दी गई। इसी वर्ष नवम्बर में इब्राहिम नसीर की अध्यक्षता में मालदीव एक गणतंत्र बन गया।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

1) नेपाल में राणातंत्र के खत्म हो जाने में किन कारकों का योगदान रहा?

....

....

....

2) .... को आधुनिक भूटान का संस्थापक माना जाता है।

3) मालदीव ने आज़ादी दिनांक .... को पायी।

1.4 सारांश

जैसा कि उपर्युक्त से स्पष्ट है, दक्षिण एशियाई क्षेत्र में राष्ट्रवाद और स्वतंत्रता हेतु संघर्ष पश्चिमी राष्ट्रों के उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का प्रत्यक्ष परिणाम थे। इस दिशा में भारत सबसे आगे चला, जिसने न केवल साठ से भी अधिक वर्षों तक की कालावधि तक छाये रहे सबसे शक्तिशाली मुक्ति आन्दोलन का नेतृत्व किया अपितु इस भूभाग के अन्य देशों को भी सीधे या परोक्ष रूप से प्रभावित किया।

यद्यपि स्वतंत्रतार्थ संघर्ष साम्राज्य-विरोधी था, फिर भी लोगों के बीच आदि राष्ट्रीय निष्ठाएँ – धार्मिक, नृजातीय अथवा अन्य बातों में एक अवरोध ही सिद्ध हुई, न कि राष्ट्रीय चेतना अथवा

राष्ट्रीय एकता में कोई योगदान। सम्प्रदायवाद को बढ़ावा देकर राष्ट्रवादियों के विरुद्ध इसको साम्राज्यवादी आकाओं द्वारा इसको शीघ्र ही सुलभ बना दिया गया। असली नतीज़ा रहा – भारत का विभाजन और पाकिस्तान का बनना। सम्प्रदायवाद, भारत का परिणामी विभाजन और पाकिस्तान का निर्माण राष्ट्रीय आन्दोलन की जटिलताओं की अपवृद्धि थे। मूलत: सम्प्रदायवाद उन विभिन्न आस्थाओं से संबंधित निहित स्वार्थों के बीच संघर्ष की छद्म अभिव्यक्ति था, जिन्होंने उस संघर्ष को एक साम्प्रदायिक रूप दे दिया था। साम्प्रदायिक प्रश्न का कोई धार्मिक मुद्दा नहीं था। यह विभिन्न धर्मों से संबंध रखने वाले व्यवसायी वर्गों के विभिन्न हिस्सों के बीच संघर्ष का सवाल था।

पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान के बीच सांस्कृतिक और भौगोलिक पार्थक्य ने, जो सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक कारकों में भिन्नताओं से जुड़ा था, राष्ट्रवाद की दूसरी लहर के लिए मंच तैयार किया जो कि बांग्लादेश के निर्माण में परिणत हुआ। यह राष्ट्रवाद के लिए एक ऐसा संघर्ष था जो 'राष्ट्र के भीतर राष्ट्र' वाला था। 'द्वि-राष्ट्र सिद्धांत' यथा हिन्दू और मुस्लिम अलग-अलग राष्ट्रीयताओं का निर्माण करें, ग़लत सिद्ध हुआ।

श्रीलंका में स्वाधीनता संघर्ष एक शान्तिपूर्ण, क्रमिक और संवैधानिक तरीके से विकसित हुआ। दक्षिण एशिया के अन्य भागों से तुलना किए जाने पर, 1948 में श्रीलंका स्थिरता, शान्ति और व्यवस्था का नखलिस्तान था। सत्ता-हस्तांतरण सहज और शांतिपूर्ण रहा जो कि देश के राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रबल सूत्र के नरमपंथी रुख का प्रकटीकरण था, शायद ही कोई कड़वाहट या दरार थी।

नेपाल के मामले में, समस्या आंतरिक थी, यानी शाही परिवार और प्रतिक्रियावादी एवं निरंकुश राणा प्रणाली के बीच एक सत्ता-संघर्ष। राणा-विरुद्ध लोकतांत्रिक आन्दोलन प्रथम विश्व-युद्ध पश्चात् शुरू हुआ, जो कि 1947 में भारत की आज़ादी के उपरांत तेज हो गया। नेपाली कांग्रेस ने 1950 में राणा शासन के खिलाफ एक सशक्त आन्दोलन छेड़ दिया। भारत ने इस आन्दोलन को एक अनुक्त समर्थन दिया जो कि समय के साथ एक हिंसक सशस्त्र संघर्ष में बदल गया और फरवरी 1951 में एक संवैधानिक राजतंत्र हेतु मार्ग प्रशस्त किया।

भूटान में ब्रिटिश हित बहुत ही सीमित था। भारत की आज़ादी तक भूटान और ब्रिटिश सरकार के बीच संबंध मैत्रीपूर्ण बने रहे। गलती से भी ब्रिटेन ने भूटान के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की नहीं सोची, सिवाए उसके विदेश संबंधों पर नियंत्रण रखने के। यह परम्परा भारत और भूटान के बीच 1949 की संधि के मार्फ़त स्वतंत्र भारत द्वारा जारी रखी गई।

मालदीव के मामले में, किसी भी पश्चिमी औपनिवेशिक शक्ति ने सीधे-सीधे मालदीव पर शासन नहीं किया, सिवाए पुर्तगालियों के जिन्होंने बहुत कम समय तक उस पर नियंत्रण स्थापित करने का जुगाड़ कर लिया था। 1887 व 1965 के बीच वह ग्रेट ब्रिटेन का एक संरक्षित राज्य रहा। आंतरिक मामलों एवं घरेलू राजनीति के व्यवहार में मालदीव स्थूलत: बेरोकटोक ही रहा। और यद्यपि संवैधानिक स्तर पर, कुछ निश्चित अर्थ में छोड़कर, उसने शान्ति अथवा सामाजिक संरचनाओं के प्रतिमान को कतई प्रभावित नहीं किया।

1.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चन्द्र, विपिन (1989), *इण्डिया'ज़ स्ट्रगल फ़ॉर इण्डिपेण्डेन्स*, दिल्ली

सरकार, सुमित (1983), *मॉडर्न इण्डिया 1885-47*, दिल्ली

वर्मानी, आर.सी. (2000), *कोलोनियालिज़्म एण्ड नैशनालिज़्म इन इण्डिया*, दिल्ली

दास, मित्रा (1981), *फ्रॉम नेशन टु नेशन*, मिनर्वा एसोशिएट्स, कलकत्ता

बनर्जी, सुब्रता (1981), *बांग्लादेश,* नई दिल्ली

डि सिल्वा, के. एम. (1977), *श्रीलंका – ए सर्वे*, लंदन

फड़निस, उर्मिला (1985), *मालदीव्ज़ – विण्ड्स ऑफ़ चेन्ज इन ऐन अटॉल स्टेट*, नई दिल्ली

सिन्हा, ए. सी. (2001), *हिमालय किंगडम ऑफ़ भूटान*, दिल्ली

1.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) ये अतिवादी उग्र रूप से ब्रिटिश-विरोधी थे और देश के आर्थिक पुनरुत्थान को लक्ष्य मानते थे। उनके कार्यक्रमों में शामिल थे – विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, ब्रिटिश सरकार के साथ सभी संबंधों को तोड़ लेना, शिक्षार्थ राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना करना, और 'स्वदेशी' का प्रचार। उनके राजनीति-सिद्धांत ने लोगों में राष्ट्रीय गौरव, आत्म-सम्मान एवं आत्म-विश्वास का भाव जगाया। उन्होंने इसके साथ निम्न मध्यवर्ग, छात्रों व युवाओं को जोड़कर राष्ट्रीय आन्दोलन का आधार भी विस्तृत किया।

2) उर्दू को कार्यालयी भाषा के रूप में शुरू कर बंगालियों के बीच राष्ट्रवादी भावना को पाकिस्तानी सरकार द्वारा भड़काया गया। प्रभुत्वसम्पन्न पश्चिमी पाकिस्तान की सरकार द्वारा बंगालियों के साथ किए गए आर्थिक एवं राजनीतिक सलूक ने भी बंगाली पहचान को मज़बूती प्रदान की। आर्थिक रूप से, पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान के बीच संबध शोषणकारी था। राजनीतिक रूप से, पूर्वी पाकिस्तान की पाकिस्तान की राज्य संरचना में एक निम्नपदस्थ स्थिति थी। राजनीतिक एवं प्रशासनिक दोनों ही क्षेत्रों में बंगालियों को बाहर ही छोड़ दिया गया था।

3) सिंहलियों और तमिलों के बीच राजनीतिक मतभेद 1920 वें दशक में उभर कर आये। 1920 के संवैधानिक सुधारों ने, जो तदोपरांत 1924 में संशोधित किए गए, साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था दी। सिंहली नेतागण साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को समाप्त करना चाहते थे और क्षेत्रीय हमने प्रतिनिधित्व को सार्वभौमिक बनाना। तमिल जिन्होंने अपने आप को अल्पसंख्यक मानना शुरू कर दिया था, साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को बनाए रखना चाहते थे ताकि उनके समुदायों हेतु सत्ता सुरक्षित रहे।

बोध प्रश्न 2

1) मूलतः, चूँकि राणा प्रधानमंत्रियों की सत्ता नाज़ायज थी, राणा शासन निरंकुश और प्रतिक्रियावादी था। आधुनिक लोकतांत्रिक आकांक्षाओं ने राणा-विरुद्ध आन्दोलन को बढ़ावा दिया। 1940 वें दशक में, भारत से अंग्रेजों के चले जाने के बाद राणा शासकों ने उनका समर्थन गँवा दिया। जब निचले दर्ज़े के राणा परिवार के कुछ सदस्य राणा-विरोधी आन्दोलन में शामिल हो गए तो राणा शासन और अधिक कमज़ोर हो गया। राणा शासन को अंतिम झटका उस वक्त लगा जब नेपाल नरेश ने अपने सर्वसत्तात्मक दायित्वों को स्वीकार कर लेने में तत्परता दिखाई।

2) उग्नेन वांग्चुक

3) 26 जुलाई, 1965

इकाई 2 मानव विकास का पार्श्व-चित्र

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 मानव विकास क्या है?

2.2.1 मानव विकास के आयाम

2.2.2 मानव विकास और नव-उदारवाद

2.3 दक्षिण एशिया का आर्थिक आधार

2.4 दक्षिण एशिया में मानव विकास

2.4.1 ज्ञान : दक्षिण एशिया में शिक्षा

2.4.2 दीर्घ जीवन : स्वास्थ्य, आहार और स्वास्थ्य-रक्षा

2.4.3 शालीन जीवन-स्तर

2.4.4 लिंगभेद विवेचना

2.5 उत्तम शासन का प्रश्न

2.6 सारांश

2.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप पढ़ेंगे दक्षिण एशिया से संबंधित सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दे, यानी मानव विकास के बारे में। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- मानव विकास संबंधी संकल्पना के उद्‌गम एवं विवर्धन का पता लगा सकें;
- मानव विकास की अवधारणा को परिभाषित कर सकें और उसको दक्षिण एशिया के संदर्भ में देख सकें;
- दक्षिण एशिया के संदर्भ में मानव विकास के अभिलक्षणों की चर्चा कर सकें;
- दक्षिण एशिया में मानव विकास का वर्तमान परिस्थिति का वर्णन कर सकें; और
- मानव विकास में सुधार लाने में शासन की भूमिका को पहचान सकें।

2.2 प्रस्तावना

मानव विकास की अवधारणा ने उस परम्परागत विकास संकल्पना के एक विकल्प के रूप में जन्म लिया जो अधिक विकास पर ज़ोर देती थी। समस्त आर्थिक या सामाजिक विकास का उद्देश्य मानव कल्याण होता है, पर लम्बे समय से, अधिकांश पाठ्य सामग्री एवं अन्तरराष्ट्रीय बहसों में, विकास को आर्थिक विकास के साथ पहचाना और किसी समाज की कुल आय अथवा प्रतिव्यक्ति आय के लिहाज से आँका जाता रहा है। समाज में आय-वितरण, सामाजिक विकल्पों की उपलब्धता तथा लोगों की क्षमता बढ़ाने के अवसरों का ध्यान नहीं रखा जाता। इन खामियों को दूर करने के प्रयास, विकास हेतु एक वैकल्पिक अभिगम को जन्म देने में फलित हुए। यही

वो मानव विकास प्रतिमान है जो मानव जीवन के पूर्वकालिक मात्रात्मक सुधार पर दबाव से खिसककर गुणात्मक सुधार पर आ गया। प्रख्यात अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन के विचारों तक पहुँच बनाते हुए, मानव विकासवाद ने विकास की परिभाषा ''लोगों के विकल्पों को बढ़ाने की प्रक्रिया'' के रूप में की।

इस विचारधारा ने आय को उन मानव विकल्पों व क्षमताओं को बढ़ाने के एक साधन के रूप में लिया, जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे – एक दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन जीने, शिक्षित होने और एक शालीन जीवन-स्तर हेतु आवश्यक संसाधनों तक पहुँच। 1990 में देशों की प्रगति का मूल्यांकन करने के लिए संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम द्वारा मानव विकास निर्देशिकाओं को अपनाये जाने के बाद, मानव विकास की अवधारणा को व्यापक पहचान मिल गयी। इसने एक विचारमात्र से विकसित हो एक बौद्धिक आन्दोलन का रूप ले लिया। यह इकाई मानव विकास के लिहाज से दक्षिण एशियाई देशों की प्रगति का खाका प्रस्तुत करती है। इकाई का प्रथम पाठांश विकास हेतु इस नए अभिगम के अभिलक्षणों एवं आयामों का परिचय एवं स्पष्टीकरण प्रस्तुत करता है।

2.2 मानव विकास क्या है?

विकास का विषय द्वितीय विश्वयुद्ध से ही सामाजिक विज्ञान में केन्द्रिक रहा है। जैसे ही युद्ध से ध्वस्त हुई अपनी अर्थव्यवस्थाओं को फिर खड़ा करने हेतु राष्ट्रों ने प्रयास आरम्भ किए और जैसे ही एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमेरिका के उदयीमान देशों ने सदियों के औपनिवेशिक शासन द्वारा पैदा की गई अपनी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं में खींचातानी को दूर करना शुरू किया, विकास सिद्धांतों की बाढ़-सी आ आयी। आमतौर पर इन सिद्धांतों ने विकास को भौतिक कल्याण और भौतिक संसाधनों पर अधिकार के एक संकीर्ण मात्रात्मक अर्थ में देखा। तदनुसार, किसी समाज में उत्पादित समस्त माल और सेवाओं का मूल्य, यानी सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी.एन.पी.), अथवा उसका कोई वैकल्पिक रूप किसी समुदाय के समग्र कल्याण के एक संकेतक के रूप में प्रयोग होता रहा।

1970 के दशक में समदृष्टि विचारों ने विकास की धारणा को ध्वस्त करना शुरू कर दिया। उदाहरण के लिए, 'बुनियादी आवश्यकता अभिगम' ने अपना ध्यान समाज में ग़रीब व अलाभांवितों की ज़रूरतों की ओर मोड़ लिया। यहाँ तक कि विश्व बैंक ने भी विकास संबंधी अपनी धारणा को विस्तृत किया और समग्र विकास के साथ-साथ ग़रीब एवं अल्प-संसाधन समूहों पर भी ज़ोर देना शुरू किया। विकास संबंधी ऐसी धारणाओं में समाज के सभी सदस्यों की जीवन-दशाओं को सुधारने और उनके कल्याण की इच्छा निहित थी, लेकिन विकास के मूल संकेतक किसी-न-किसी किस्म के आय मानदण्ड ही बने रहे। निष्कर्षत: यह दावा किया गया कि वास्तविक आय में वृद्धि ही मुख्य लक्ष्य है।

इस बात पर अमर्त्य सेन, पॉल स्ट्रीटन एवं महबूब-उल-हक़ जैसे प्रख्यात् अर्थशास्त्रियों में वाद-विवाद हुआ, जो यह मानते थे कि बढ़ी हुई आय मानव-कल्याण में सुधार लाने हेतु एक साधन मात्र होनी चाहिए, न कि अपने-आप में कोई लक्ष्य। उन्होंने तर्क रखा कि आय को मानव विकल्पों को बढ़ाने और मानवीय क्षमताओं (उन कामों की श्रृंखला जो कि लोग कर सकते हैं अथवा जो वे बन सकते हैं) को मज़बूती प्रदान करने के एक साधन के रूप में लिया जाना चाहिए। आखिरकार, विकास लोगों से उनके कल्याण, उनकी आवश्यकताओं, विकल्पों एवं आशाओं से ही तो संबंधित है। लोगों को ध्यान में रखने वाली विकास विषयक इस नई सोच को ही 'मानव विकास अभिगम' के रूप में जाना जाने लगा है।

इस नई सोच के अनुसार, मानव विकास मानवीय क्षमताओं की निर्माण-प्रक्रिया ही है, जैसे – एक दीर्घ और स्वस्थ जीवन व्यतीत करना, शिक्षा, सूचना एवं ज्ञान प्राप्त करना, जीवनयापन हेतु अवसरों पर अख़्तियार रखना, एक शालीन जीवन हेतु प्राकृतिक संसाधनों तक पहुँच रखना,

सतत विकास कायम रखना, व्यक्तिगत एवं सामाजिक सुरक्षा पाना, समानता हासिल करना और मानवाधिकारों का उपभोग, सामुदायिक जीवन में भागीदारी रखना, जिम्मेदार सरकार एवं उत्तम शासन पाना, आदि।

परम्परागत रूप से, विकास सिद्धांतों का दावा रहा है कि आय में वृद्धि का परिणाम मानव-कल्याण में ही दिखाई देगा। मानव विकास के पक्षधरों ने इस दावे पर विवाद किया। उनका तर्क है कि आर्थिक विकास की गुणवत्ता और वितरण का महत्त्व उतना ही है जितना कि मानव विकल्पों को बढ़ाने के लिए आर्थिक विकास की मात्रा का। आय किसी समाज में असमान रूप से वितरित हो सकती है, ऐसी स्थिति में आय तक सीमित अथवा बिल्कुल नहीं पहुँच रखने वाले लोग बहुत थोड़े-से विकल्पों के साथ ही खत्म हो जाएँगे। अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि लोगों को उपलब्ध विकल्पों की शृंखला किसी समाज अथवा शासकों की राष्ट्रीय प्राथमिकताओं पर निर्भर करती है – बन्दूकें या बटर (मक्खन), अभिजात-वर्गवादी अथवा एक समतावादी विकास, राजनीतिक सत्तावाद अथवा राजनीतिक लोकतंत्र, एक नियंत्रित अर्थव्यवस्था अथवा सहभागितापूर्ण विकास...। प्रतिव्यक्ति आय की तुलना शिक्षा एवं स्वास्थ्य मानक संकेतकों से करते हुए इन अर्थशास्त्रियों ने दर्शाया कि ज़रूरी नहीं कि उच्चतर प्रतिव्यक्ति आय वाले देशों के शिक्षा एवं स्वास्थ्य मानक भी बेहतर ही हों। अमर्त्य सेन ने, उदाहरण के लिए, देखा कि श्रीलंका में औसत आयु-प्रत्याशा 70 वर्ष थी, जबकि ब्राज़ील में यह 64 वर्ष से अधिक नहीं थी, बावजूद इसके कि परवर्ती की प्रतिव्यक्ति आय श्रीलंका की प्रतिव्यक्ति आय से कहीं चार गुना अधिक थी।

मानव विकास अभिगम को आधार मिल गया जब संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यू.एन.डी.पी.) ने 1990 में प्रथम ह्यूमन डिवैलॅपमण्ट रिपोर्ट में मानव विकास संबंधी एक व्यापक अवधारणा प्रस्तुत की। महबूब-उल-हक़ के दिशानिर्देशन में तैयार इस रिपोर्ट में मानव विकास को मानवीय क्षमताओं एवं कार्यकलापों को बढ़ाकर लोगों की विकल्प-शृंखला को विस्तार देने संबंधी एक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया गया था। तदोपरांत वार्षिक मानव विकास रिपोर्टों में मानव विकास प्रतिमान की और अधिक व्याख्या की गई है।

विश्व के सभी देशों की मानव विकास संबंधी रूपरेखा को आगे लाने के लिए यू.एन.डी.पी. ने मानव विकास निर्देशिका (एच.डी.आई.) की अवधारणा को जन्म दिया। यह निर्देशिका मानव विकास के सभी स्तरों पर वांछित तीन अनिवार्य मानवीय विकल्पों की संचयी परिमाप है – दीर्घ जीवन, ज्ञान और शालीन जीवन-स्तर। दीर्घ जीवन एक लम्बी और तंदुरुस्त ज़िंदगी जीने का विकल्प है। यह जीवन-प्रत्याशा (वर्ष) के लिहाज से मापा जाता है। ज्ञान साक्षरता – सूचना प्राप्त करने संबंधी एक विकल्प है। इसको शैक्षिक कुशलता प्रतिशत द्वारा मापा जाता है, जो कि विभिन्न स्तरों पर संयुक्त सकल सदस्यता अनुपात होता है। शालीन जीवन-स्तर जीवन की गुणवत्ता और मानक का उपभोग करने संबंधी एक विकल्प है। यह राष्ट्रीय आय अथवा अमेरिकी डॉलर में क्रय-शक्ति सममूल्यता (पी.पी.पी. यू.एस. $) में प्रतिव्यक्ति आय से मापा जाता है।

किसी देश का दर्ज़ा मानव विकास के इन्हीं तीन मूल आयामों में कुल उपलब्धि से निर्धारित होता है। उक्त निर्देशिका देशों को एक-दूसरे के संबंध में श्रेणीबद्ध करती है ताकि यह जानकारी मिल सके कि कोई देश मानव विकास के मार्ग पर कितना आगे निकल चुका है। इस प्रकार, यह निर्देशिका मानव-विकास स्तरों की ही सूचक है, न कि विकास संबंधी सम्पूर्ण परिमाप की।

2.2.1 मानव विकास के आयाम

मानव विकास प्रतिमान के चार अनिवार्य घटक हैं। पहला है समदृष्टि अर्थात् अवसरों हेतु समान पहुँच। मानव विकास सभी लोगों के विकल्पों को विस्तार प्रदान करने से संबंध रखता है। समदृष्टि के बिना विकास अनेक व्यक्तियों के विकल्पों को रोक देता है। दूसरा है सातत्य अर्थात् निरन्तरता। मानव विकास सभी प्रकार की पूँजियों – भौतिक, मानवीय, वित्तीय एवं पर्यावरणीय – की निरन्तरता पर बल देता है, ताकि भावी पीढ़ियाँ अपने कल्याणार्थ वही अवसर प्राप्त कर

सकें जिसका कि वर्तमान पीढ़ी लाभ उठाती है। तीसरा है उत्पादकता। मानव विकास लोगों में निवेश करने में विश्वास करता है ताकि वे अपनी अधिक-से-अधिक कार्यक्षमता अर्जित कर सकें। इसका अर्थ यह नहीं कि लोगों को महज मानव संसाधनों, बेहतर आर्थिक कुशलता के एक साधन के रूप में देखा जाता है। लोग ही विकास प्रक्रिया के परम लक्ष्य हैं। अंततः, सशक्तीकरण। मानव विकास उन लोगों द्वारा विकास पर ध्यान केन्द्रित करता है, जिन्हें अवश्य ही उन गतिविधियों, घटनाक्रमों एवं प्रक्रियाओं में भागीदार होना चाहिए जो उनके जीवन को आकार प्रदान करती हैं।

समय के साथ, मानव विकास की अवधारणा एक बहुआयामी अभिगम में विकसित हो चुकी है। मानव विकास की अवधारणा धीरे-धीरे सामाजिक विकास के मूल रूप से सभी क्षेत्रों में फैला दी गई है। आय एवं कल्याण के बीच खोये संबंध विषयक मूल केन्द्र में ये बातें जोड़ी गई हैं – सामाजिक ढाँचे एवं उन सेवाओं के प्रावधान हेतु विशेष ध्यान, जो सभी नागरिकों हेतु एक समान आधार पर उपलब्ध करायी जाती हैं; लिंगभेद समानता पर विशेष ज़ोर; और राजनीतिक एवं आर्थिक निर्णयन् में भागीदारी हेतु समान अवसर। परवर्ती को एक शक्तिदायी वैध एवं संस्थागत ढाँचे के साथ-साथ नागरिकों एवं समाज संगठनों के सशक्तीकरण की भी अपेक्षा होती है ताकि वे अधिकारियों तक पहुँचने में सक्षम रहें।

उक्त अवधारणा के कुछ अनुयायियों ने सातत्य पर और अधिक खास ज़ोर दिया, अथवा इसी कल्याण के लाभ उठाने का अवसर भावी पीढ़ियों को मिले। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यू.एन.डी.पी.) की अनेक वार्षिक रिपोर्टें सामाजिक विकास के क्षेत्रों तक मानव विकास के विस्तार को दर्शाती हैं। 1995 की मानव विकास रिपोर्ट (एच.डी.आर.) में, उदाहरण के लिए, लिंगभेद समानता पर ध्यान केन्द्रित किया गया था। इस रिपोर्ट में एक लिंगभेद-संबंधित विकास निर्देशिका (जी.डी.आई.) शामिल की गई थी ताकि लिंगभेद संबंधी पूर्वाग्रह को इन तीन केन्द्रिक मानवीय क्षमताओं में सीमाबद्ध किया जा सके। महबूब-उल-हक़ विकास केन्द्र जो दक्षिण एशिया में मानव विकास संबंधी रिपोर्टों (ह्यूमन डिवैलॅपमण्ट इन साउथ एशियन रिपोर्ट्स) को प्रकाशित करता रहा है, ने यह इंगित करने के लिए कि इस क्षेत्र में सरकारें अपने नागरिकों की सेवा के लिहाज से किस प्रकार सफल हो रही हैं एक नई निर्देशिका – द ह्यूमन गवर्नेंस इण्डेक्स, शुरू की।

इस बात पर, बहरहाल, ध्यान दिया जाना चाहिए कि मानव विकास एक अभिगम है, न कि कोई सिद्धांत या उपदेश। वह व्यवहार में लाने के लिए कोई निश्चित कार्य-योजना अथवा सिद्धांत प्रस्तुत नहीं करता। कितनी भागीदारी हो, किस हद तक असमानता हो, सत्ता-असंतुलनों को कम करने हेतु क्या बंदोबस्त किया जाये, कौन-सी मानवीय क्षमताओं को सशक्त किये जाने के लिए कितने सरकारी समर्थन की आवश्यकता है, आदि इसी प्रकार के अन्य विषय हैं जिनके संबंध में कोई स्पष्ट दिशानिर्देश नहीं हैं। वे लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रक्रिया द्वारा ही तय किए जाने चाहिए। मानव विकास अभिगम विचारने और समझने हेतु विषयों व प्राथमिकताओं की एक व्यवस्था प्रदान करता है, न कि लिए जाने वाले निर्णयों की कोई जाँच-सूची।

2.2.2 मानव विकास और नव-उदारवाद

मानव विकास की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए, इसकी तुलना आर्थिक चिन्तन की प्रबल विचारधारा – नव-उदारवाद – से करना उपयोगी होगा। मानव विकास विचारधारा एवं नव-उदारवाद, दोनों की ही सैद्धान्तिक जड़ें उस उदारवादी आर्थिक परम्परा में स्थित हैं जो वैयक्तिक विकल्पों के बुनियादी महत्त्व तथा इन विकल्पों को व्यवहार में लाने हेतु व्यक्तियों को सक्षम बनाने के लिए सुचारू रूप से क्रियाशील बाज़ारों की महत्ता पर ज़ोर देती है। हालाँकि, मानव विकास नव-उदारवाद से कई भाँति भिन्न है।

मानव विकास एवं नव-उदारवाद अभिगमों के बीच कुछ भिन्नताएँ नीचे तालिका में सारांश रूप से बतायी गई हैं। इन दोनों के बीच ठीक-ठीक अर्थ निर्धारित करता भेद यह है कि जहाँ पूर्ववर्ती मानव-जीवन की बेहतर गुणवत्ता एवं संतुष्टि पर अभिलक्षित हैं अर्थात बहु-विषयी है, परवर्ती

अनन्य रूप से आर्थिक कल्याण के आधिक्यीकरण पर अभिलक्षित है अर्थात अर्थ-संबंधी है। जबकि ये दोनों अभिगम कुछ नीतियों के विषय में एक ही आधार रखते प्रतीत होते हैं, यथा शिक्षा एवं स्वास्थ्य पर, इनके तर्क का आधार भिन्न है। मानव विकास शिक्षा एवं स्वास्थ्य को मानव अधिकार के रूप में देखता है, जबकि नव-उदारवाद उन्हें आर्थिक विकास हेतु लागत के रूप में लेता है। मानव विकास में सारे विश्लेषण और नीति का केन्द्र-बिन्दु जनसमाज होता है, न कि बाज़ार।

	मानव विकास	**नव-उदारवाद**
उद्देश्य	मनुष्य के अवसरों व क्षमताओं का विस्तार	आर्थिक कल्याण का आधिक्यीकरण
विषय-केन्द्र	जन-साधारण	बाज़ार
निर्देशक सिद्धांत	समदृष्टि व न्याय	आर्थिक विकास
बलाधार	लक्ष्य	साधन
रुझान-केन्द्र	ग़रीबी घटाना	आर्थिक कारगरता
अभाव की परिभाषा	बहुआयामी दूषण में आबादी	न्यूनतम आय-सीमा से नीचे आबादी
मुख्य संकेतक	एच.डी.आई., जी.डी.आई., जी.ई.एम. व एच.पी.आई. का प्रतिशत	जी.एन. पी., जी.एन.पी. -वृद्धि व आय-अभाव सीमा से नीचे प्रतिशत

नव-उदारवाद की तुलना में, जो कि एक अल्पतम राज्य का प्रस्ताव रखता है, मानव-विकास विचारधारा राज्य हेतु एक सक्रिय भूमिका के बारे में सोचती है। जैसा कि हमने देखा, मानव-विकास विचारधारा का तर्क है कि आय-वृद्धि एवं मानव-कल्याण के बीच संबंध उन सरकारी नीतियों के माध्यम से सचेत रहते हुए बनाना पड़ता है जो सभी नागरिकों हेतु यथासंभव समदृष्टि रखते हुए सेवाएँ एवं अवसर प्रदान करने पर अभिलक्षित होती हैं। अनेक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में राज्यीय कार्रवाई अनिवार्य होती है : समग्र जन-समाज की मानवीय क्षमताओं को मजबूती प्रदान करने में; आय के उचित वितरण द्वारा अवसरों का एक निष्पक्ष वितरण सुनिश्चित किए जाने में; समदृष्टि और कुशलता के साथ बाज़ार कार्य सुनिश्चित करने हेतु क्रियात्मक नीतियाँ तैयार करने में; और उन स्थानीय संस्थाओं के निर्माण अथवा दृढ़ीकरण को प्रोत्साहन देने में जो गतिविधियों एवं सेवाओं की एक संपूर्ण शृंखला में भागीदारी एवं सशक्तीकरण के लिए अवसर मुहैया कराती हैं।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

निम्नलिखित कथन ध्यानपूर्वक पढ़ें और रिक्त स्थान भरें :

1) परम्परागत रूप से, कल्याण को .... के समानार्थक के रूप में लिया गया और .... में मापा गया।

2) मानव विकास के चार अनिवार्य घटक हैं : ...., ..., ...और ....।

3) मानव विकास निर्देशिका मनुष्य के तीन अनिवार्य विकल्पों की संचयी परिमाप है :

i) ....

ii) .... और

iii) ....

4) मानव विकास के दृष्टिकोण से राज्य की क्या भूमिका है?

....

....

....

....

2.3 दक्षिण एशिया का आर्थिक आधार

दक्षिण एशिया के सात देशों की भौगोलिक स्थिति एवं जनसंख्या का विस्तार उनकी अर्थव्यवस्थाओं से सीधा सम्बन्ध रखते हैं। इस भूभाग में भारत ही जनसंख्या और क्षेत्रफल के लिहाज से सबसे बड़ा देश है। वर्ष 2000 में इसकी जनसंख्या एक अरब (100 करोड़) का आँकड़ा पार कर चुकी है और विश्व में, जनसंख्या विस्तार में, उसका स्थान चीन के बाद है। इस भूभाग में मालदीव सबसे छोटा देश है, जनसंख्या के साथ-साथ क्षेत्रफल के लिहाज से भी। भूटान और नेपाल चारों ओर ज़मीन से घिरे देश हैं जबकि मालदीव और श्रीलंका चारों ओर पानी से घिरे हैं। भारत और पाकिस्तान ही इस भूभाग में ऐसे देश हैं जहाँ स्थल और जल पर्याप्त रूप से उपलबध है। मात्र 300 वर्ग कि.मी. भूमि और 2,76,000 जनसंख्या (वर्ष 2000 में) वाला मालदीव हिन्द महासागर में एक नन्हा-सा द्वीप है। भूटान, हालाँकि क्षेत्रफल के लिहाज से अपेक्षाकृत बड़ा है (यथा 47,000 वर्ग कि.मी.), दुर्गम भूभाग वाला है। अधिकांश पर्वत-शृंखलाएँ बर्फ़ से ढकी रहने के कारण बहुत ही दुर्गम हैं। नेपाल भी हिमालय की पहाड़ियों में स्थित है और इसका इलाका बाह्य रूप से बड़ा प्रतीत होता है परन्तु यह अधिकांशत: पर्वतीय है।

मूल संकेतक

देश	क्षेत्रफल (1000 वर्ग कि.मी.)	वर्ष 1990 में करोड़	वर्ष 2000 में करोड़	**जनसंख्या** औसत वार्षिक % वृद्धि (1980-90)	औसत वार्षिक % वृद्धि (1990 -2000)	वर्ष 2000 व्यक्ति प्रति वर्ग कि.मी. सघनता
बांग्लादेश	144	10.7	13.0	2.2	1.6	997
भूटान	47	140 ('000)	800 ('000)	2.6	2.9	17
भारत	3288	85.0	101.6	2.1	1.8	342
मालदीव		214 ('000)	276 ('000)	3.2	2.6	उपलब्ध नहीं
नेपाल	141	1.9	2.4	2.6	2.4	167
पाकिस्तान	796	11.2	13.8	3.1	2.5	179
श्रीलंका	66	1.7	1.9	1.4	1.3	300
विश्व	उपलब्ध नहीं	उपलब्ध नहीं	60.7	1.7	1.4	47

स्रोत : i) विश्व बैंक ''वर्ल्ड डवलॅपमेण्ट रिपोर्ट'', प्रासंगिक अंक, वाशिंगटन, डी.सी.

ii) संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यू.एन.डी.पी.), ''ह्यूमन डवलॅपमण्ट रिपोर्ट'', प्रासंगिक अंक, संयुक्त राष्ट्र, जिनेवा

नोट : भूटान एवं मालदीव के जनसंख्या आँकड़े हज़ार में हैं।

इस भूभाग में रहने वाली विश्व की एक-बटे-पाँच आबादी वाले दक्षिण एशिया में संसार के सबसे अधिक ग़रीब लोग हैं। जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा जीवन-निर्वाह कृषि पर ग्रामीण क्षेत्रों में रहता है। जिनेवा-स्थित संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम ने दक्षिण एशिया भूभाग के चार देशों अर्थात भूटान, बांग्लादेश, मालदीव तथा नेपाल, को अल्प-विकसित देशों (एल.डी.सी.) की श्रेणी में रखा है। गत तीन से लेकर पाँच दशकों में, इस भूभाग के देशों ने निम्न औद्योगीकरण एवं व्यापक ग़रीबी से जुड़ी कुछ समस्याओं से निबटने के लिए नियोजित प्रयास किए हैं। परिणामस्वरूप, उनके आर्थिक ढाँचे में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। अपनी-अपनी अर्थव्यवस्थाओं के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय में विभिन्न क्षेत्रों की भागीदारी, में भी परिवर्तन आ रहा है।

इस भूभाग के आर्थिक ढाँचों में परिवर्तन गत दो दशकों, यथा 1980 से 2000, में द्रुतगामी रहा है। पाकिस्तान को छोड़कर कृषि का योगदान द्रुतगति से घटा है और भूटान को छोड़कर सेवाओं का योगदान सभी अर्थव्यवस्थाओं में बढ़ा है जबकि औद्योगिक क्षेत्र सुस्त रहा है। यद्यपि सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) में कृषि का योगदान 1980 में 40 प्रतिशत से 2001 में 25 प्रतिशत तक गिर गया, कृषि अब भी दक्षिण एशिया में आधे से अधिक नियोजित लोगों को रोज़गार प्रदान करती है।

दूसरी ओर सेवा-क्षेत्र, जी.डी.पी. में एक महत्त्वपूर्ण अंशदायक के रूप में उभरा है। श्रमिक बल के 22 प्रतिशत से कुछ अधिक को रोज़गार प्रदान कर जी.डी.पी. में सेवा-क्षेत्र का योगदान बढ़ गया है। बांग्लादेश, पाकिस्तान व श्रीलंका में सेवा-क्षेत्र जी.डी.पी. के पचास प्रतिशत से भी अधिक का योगदान कर रहा है। यह उछाल खासकर 1990 के दशक में आया जब इन देशों ने अपनी अर्थव्यवस्थाएँ निजी एवं विदेशी निवेशकों के लिए खोल दीं।

जी.डी.पी. में विनिर्माण क्षेत्र का योगदान गत दो दशकों के दौरान 25 प्रतिशत पर न्यूनाधिक स्थिर रहा है। विनिर्माण एवं उद्योग क्षेत्र में गिरावट या मंदी बुनियादी ढाँचे में अन्तर्निहित कमज़ोरी को दर्शाती है। यह एक चिन्तनीय विषय है क्योंकि इस प्रकार की गिरावट न सिर्फ़ इस क्षेत्र की रोज़गार-जनन क्षमता को क्षीण कर देती है बल्कि अन्ततोगत्वा सतत विकास पर भी प्रतिकूल प्रभाव डालती है। विडम्बना ही है कि सूचना प्रौद्योगिकी (आई.टी.) एवं सेवाओं की गरम बाज़ारी के युग में भी विकसित पश्चिम एवं पूर्वी देश विनिर्माण एवं उद्योग क्षेत्र में उच्च विकास-दर कायम रखे हैं। उदाहरण के लिए, गत बीस वर्षों में अमेरिकी विनिर्माण योगदान उसकी राष्ट्रीय आय में लगभग 25 से 30 प्रतिशत रहा जिसने अपेक्षाकृत लम्बे समय तक विकास को बढ़ावा देने हेतु उसकी अर्थव्यवस्था को यथेष्ट शक्ति प्रदान की। विनिर्माण एवं उद्योग क्षेत्र में उच्च विकास-दर को अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों को विस्तार प्रदान करने में एक अनिवार्य तत्त्व के रूप में देखा जाता है। दक्षिण एशिया में विनिर्माण एवं उद्योग क्षेत्र में गति-वेग के अभाव ने रोज़गार पैदा करने में गिरावट ला दी है और अन्ततः ग़रीबी के बढ़ते दबाव की ओर प्रवृत्त किया है।

2.4 दक्षिण एशिया में मानव विकास

वर्ष 1990 में जबसे संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम में प्रथम मानव विकास रिपोर्ट प्रकाशित की है, मानव विकास अभिगम एक बड़ी संख्या में विभिन्न आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में लागू और श्रम-सम्पादित किया गया है। पिछले दशक के दौरान, 135 से अधिक देशों ने विभिन्न राष्ट्रीय प्रसंगों में मानव विकास के पहलुओं का विश्लेषण करते हुए लगभग 300 रिपोर्टें तैयार की हैं। दक्षिण एशिया, अफ्रीका, मध्य अमेरिका एवं प्राान्त द्वीपों के लिए क्षेत्रीय रिपोर्टें भी तैयार की गई हैं। दक्षिण-एशिया क्षेत्र के लिए, 1995 में स्थापित महबूब-उल-हक़ विकास केन्द्र दक्षिण एशिया में मानव विकास संबंधी वार्षिक रिपोर्टें प्रकाशित करता रहा है। आगे दिया गया विश्लेषण खासकर इन्हीं रिपोर्टों से लिया गया है।

जैसा कि हमने देखा, मानव विकास निर्देशिका (एच.डी.आई.) राष्ट्रों की प्रगति की एक संग्रथित विषय-सूची है जो आर्थिक एवं सामाजिक विकास दोनों को सम्मिश्रित करती है। जब हम परम्परागत आर्थिक विकास अभिगम की भाँति आय को मानदण्ड मानकर देखते हैं तो यह लगता है कि विकास प्रक्रिया दक्षिण एशिया एवं अन्य विकासशील देशों में विफल रही है, क्योंकि ये देश अभी निचले पायदान पर ही हैं। तथापि, जब हम मानव विकास को वास्तविक (सामाजिक) सूचकों को शामिल करके इन देशों को मूल्यांकन करते हैं, तब हम पाते हैं कि इनमें से अधिकांश देशों ने उल्लेखनीय प्रगति की है। महबूब-उल-हक़ की गणना के अनुसार, औसत जीवन-प्रत्याशा 16 वर्ष बढ़ गई है, साक्षरता में 40 प्रतिशत और प्रतिव्यक्ति पोषण-स्तर में 20 प्रतिशत से भी अधिक वृद्धि हुई है। वस्तुतः, विकासशील देशों ने गत 30 वर्षों में इस प्रकार की वास्तविक मानव प्रगति हासिल कर ली है जो कि औद्योगीकृत देशों ने सम्पादित करने में लगभग एक सदी लगाई। जबकि औद्योगीकृत एवं विकासशील देशों के बीच फ़ासला, आमदनी के लिहाज से, काफ़ी बड़ा है (विकासशील देशों की आय औद्योगीकृत देशों का मात्र 6 प्रतिशत है), इंसानी फ़ासला घटता रहा है। विकासशील देशों में औसत जीवन-प्रत्याशा औद्योगीकृत देशों के औसत का 80 प्रतिशत है, प्रौढ़-साक्षरता 66 प्रतिशत और पोषण 85 प्रतिशत है।

ये देश मानव विकास में किस प्रकार सफल रहते हैं? मानव प्रगति के लिहाज से अन्य विकासशील क्षेत्रों के मुकाबले दक्षिण एशिया कहाँ खड़ा है? इस पाठांश में हम तीन अतिमहत्त्वपूर्ण मानव विकल्पों पर ध्यान देते हुए मानव प्रगति के इन तथा अन्य आयामों पर सूक्ष्म दृष्टि डालने का प्रयास करेंगे – दीर्घ जीवन, ज्ञान और जीवन-स्तर।

2.4.1 ज्ञान : दक्षिण एशिया में शिक्षा

शिक्षा को अब व्यक्ति की उपलब्धि नहीं माना जाता बल्कि उसके अस्तित्व का आधार माना जाता है। इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि शिक्षा अनेक सामाजिक हितों की ओर प्रवत्त करती है, जैसे कि आरोग्य-पालन मानकों में सुधार, शिशु एवं बाल मृत्युदर में कमी, जनसंख्या वृद्धि में गिरावट, आदि। शिक्षा, इसी कारण, मानव विकास के समग्र ढाँचे में एक अहम स्थान रखती है और ज्ञान के एक अधिकार-प्राप्त प्रतिनिधि के रूप में प्रयोग की जाती है।

शिक्षा इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि वह आर्थिक विकास में सीधे योगदान देती है। द्रुतगति से भूमण्डलीकृत होते विश्व के वर्तमान प्रसंग में शिक्षा (ज्ञान और कौशल) विश्व-बाज़ारों में प्रतिस्पर्धा के लिए भी आवश्यक है। इस संदर्भ में दक्षिण एशिया अंधकारमय तस्वीर प्रस्तुत करता है। विश्व के लगभग आधे प्रौढ़ निरक्षरों वाला दक्षिण एशिया ही विश्व में सर्वाधिक अशिक्षित भूभाग है।

गत तीन दशकों में प्रौढ़-साक्षरता दर 1970 में 32 प्रतिशत से 2001 में 54 प्रतिशत तक बढ़ी है। उक्त क्षेत्र ने इस अवधि में अपने नागरिकों को शिक्षा प्रदान करने में उल्लेखनीय प्रगति की है और सकल भर्ती दरों के साथ-साथ माध्यमिक स्तरों पर भर्तियों ने भी एक तेज़ रफ़्तार तरक्की दर्ज की है।

इसी अवधि में इस क्षेत्र में निरक्षरों की सही-सही संख्या 36-6 करोड़ से बढ़कर 60 करोड़ से ऊपर चली गई है जो यह दर्शाता है कि साक्षरता दर जनसंख्या वृद्धि दर के संग-संग नहीं बढ़ी। दक्षिण एशिया में अब भी विश्व की सबसे बड़ी अशिक्षित आबादी है। इसके अतिरिक्त, इस भूभाग के देशों के बीच विभिन्नताएँ हैं, मालदीव एवं श्रीलंका ने हमेशा अच्छा प्रदर्शन किया है, प्रौढ़ साक्षरता दरों को 90 प्रतिशत से काफ़ी ऊपर दर्ज करके, नेपाल व बांग्लादेश 40 प्रतिशत वाली निम्न साक्षरता दरों के साथ पिछड़े हुए हैं।

इस भूभाग में नारी-शिक्षा की दिशा में व्यापक उदासीनता मानव विकास में सबसे बड़ी खामियों में से एक है। साठ प्रतिशत से भी अधिक अशिक्षित नारी-जनसंख्या वाले दक्षिण एशिया में, अरब राज्यों को मिलाकर प्रौढ़ स्त्रियों की संख्या सबसे अधिक है। 1990 के दशक में इस वैषम्य को

दूर करने के लिए किए गए प्रयासों से भी लड़कियों और लड़कों के बीच शैक्षिक भेद कम नहीं हुए। प्राथमिक स्तर पर लड़कियों की भर्ती में सुधार आया है, लेकिन शिक्षा के माध्यमिक स्तरों पर उनके स्कूल छोड़ने की दर बहुत ऊँची बनी ही है। यह दर्शाता है कि प्राथमिक शिक्षा पाने के बाद अधिकतर लड़कियों की (खासकर ग्रामीण अथवा ग़रीब परिवारों में जन्मीं) या तो शादी हो जाती है या फिर वे बाल-श्रमिक के रूप में काम करती हैं जो उन्हें शिक्षा छोड़ देने पर मज़बूर करता है। केवल श्रीलंका और मालदीव के लिए बालिका माध्यमिक विद्यालय भर्ती-दर कुछ-कुछ सम्मानजनक है, पर सौ प्रतिशत वो भी नहीं है। माध्यमिक स्तर पर लड़कियों द्वारा स्कूल छोड़े जाने की दर एक महत्त्वपूर्ण रूप से मानव-विकास प्रक्रिया को ख़तरे में डालती है। ग़रीबी से सम्बद्ध अधिकांश समस्याएँ नारी-निरक्षरता से सीधे जुड़ी हैं।

मानव संसाधन विकास (HRD) रिपोर्टें दर्शाती हैं कि विश्व के अन्य विकासशील क्षेत्रों के मुकाबले दक्षिण एशिया में शिक्षा में सरकारी लागत का स्तर निम्न है और मुश्किल से ही बढ़ती जनसंख्या के माफ़िक रहा है। 1990 के दशक में भारत, श्रीलंका एवं नेपाल में शिक्षा पर सरकारी व्यय सकल घरेलू उत्पाद के तीन प्रतिशत से कुछ ही ऊपर रहा, जबकि बांग्लादेश में यह दो प्रतिशत और पाकिस्तान में दो प्रतिशत से भी कम रहा।

तमाम दक्षिण-एशियाई देशों में शिक्षा पर सरकारी खर्च का विश्लेषण दर्शाता है कि पाकिस्तान ने सबसे अधिक शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर खर्च किया, बांग्लादेश ने माध्यमिक शिक्षा पर और नेपाल ने तृतीय स्तर पर। मई 2003 में, 'सबके लिए शिक्षा' विषम पर दक्षिण एशिया के एक मंत्रीय सम्मेलन में इस भूभाग के देशों ने आबंटन को बढ़ाकर अपने सकल घरेलू उत्पाद के चार प्रतिशत तक करने का वचन दिया है।

2.4.2 दीर्घ जीवन : स्वास्थ्य, आहार और स्वास्थ्य-रक्षा

मानव जीवन ही सर्वाधिक मूल्यवान है और दीर्घ जीवन सभी मानवीय उपलब्धियों में अमूल्य है। यह साधन के साथ-साथ साध्य भी है। दीर्घ जीवन स्वच्छ पेयजल पर्याप्त आहार, उत्तम स्वास्थ्य एवं व्यक्तिगत सुरक्षा के साथ निकट से जुड़ा है। मानव विकास निर्देशिका (एच.डी. आई.) की गणना में, जन्म के समय जीवन-प्रत्याशा को इसीलिए दीर्घ जीवन हेतु एक प्रतिनिधि के रूप में प्रयोग किया जाता है।

दक्षिण एशिया में जीवन-प्रत्याशा निम्न है, इससे ऊपर सिर्फ़ उप-सहाराई अफ्रीका ही है। तथापि, जन्म के समय जीवन-प्रत्याशा में क्रमिक बढ़ोत्तरी हुई है। दक्षिण एशियाई लोगों से उम्मीद की जाती है कि थोड़ी-सी अधिक जिंदगी जीयेंगे क्योंकि इस भूभाग के देशों जीवन-प्रत्याशा श्रीलंका में 72 वर्ष से लेकर नेपाल में 59 वर्ष तक पायी जाती है। जबकि इसके लिए कारण विभिन्न हैं, इस क्षेत्र के स्वास्थ्य सिद्धांतों में आम सुधार एक प्रमुख कारक है। मानव विकास रिपोर्ट (एच.डी.आर.) द्वारा एकत्रित आँकड़े दर्शाते हैं कि यद्यपि स्वास्थ्य सेवाओं पर सरकारी खर्च में कोई वृद्धि नहीं हुई (स्वास्थ्य पर जी.डी.पी. का मात्र एक प्रतिशत खर्च किए जाने के साथ), आबादी के 75 प्रतिशत से अधिक हेतु स्वास्थ्य सेवाएँ सुलभ थीं। स्वास्थ्य सेवाओं की बेहतर सुलभता बाल प्रतिरक्षण कार्यक्रमों के विस्तार और प्रचार में उल्लेखनीय वृद्धि में प्रकट हुई। जबकि 1980 के दशक में इस भूभाग में आबादी की महज एक छोटी-सी प्रतिशतता ही टीकाकरण का लाभ उठा सकी, क्षेत्र में सभी देशों ने तपेदिक और काली खाँसी जैसी भयानक बीमारियों के खिलाफ़ प्रतिरक्षण कार्यक्रमों में उल्लेखनीय प्रगति की।

स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार शिशु-मृत्यु दर में कमी में भी दिखाई देता है – 1990 में प्रति हज़ार मौतों से वर्ष 2000 में 67 शिशु-मृत्यु। पाँच वर्ष से कम आयु के बच्चों में भी मृत्यु दर प्रति हज़ार 147 से गिरकर 95 मौतों पर आयी हैं। तथापि, बच्चा जनने के समय माँओं की मौतें इस क्षेत्र में काफ़ी अधिक हैं। इसके लिए मुख्य कारण हैं – नारी-साक्षरता के निम्न स्तर, महिलाओं की कम विवाह-योग्य आयु, लड़का पैदा होने को तरजीह और ग़रीबी। बच्चा जनने के समय पर्याप्त स्वास्थ्य सुविधाओं की अनुपलब्धता, खासकर दूरवर्ती ग्रामीण इलाकों में, भी

माताओं की मृत्यु की गंभीरता को बढ़ाती है। अधिकांश जन्म (80 प्रतिशत से अधिक) कुशल स्वास्थ्य-कर्मियों की सहायता के बग़ैर होते हैं। केवल श्रीलंका और मालदीव में ही प्रसवकाल के लिए प्रशिक्षित स्वास्थ्य-कर्मियों की पर्याप्त संख्या मौजूद है। प्रसव के समय स्त्रियों तथा पाँच वर्ष से कम आयु के बच्चों की उच्च मृत्यु-दर कुपोषण, प्रसव के पहले और बाद में अस्वस्थकर लड़कियों की उपेक्षा, आदि से ताल्लुक रखती हैं।

भारत, पाकिस्तान एवं श्रीलंका में प्रति व्यक्ति दैनिक कैलॉरी खपत संतोषजनक है, परन्तु शेष देशों में यह मानदण्ड से नीचे है। कुल मिलाकर, इस क्षेत्र में 2379 की दैनिक कैलॉरी आपूर्ति 2663 पर विकासशील देशों हेतु औसत से कम है। कैलॉरी की खपत में कमी लोगों की कार्यक्षमता, दैहिक एवं मानसिक दोनों, पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। पूरे भूभाग में आबादी का एक खासा हिस्सा अल्प-पोषित है, यानी वे या तो अपर्याप्त भोजन पर जीवित रहते हैं अथवा (खाये जाने वाले) भोजन की गुणवत्ता मानक से नीचे होती है। अल्प-पोषण और कुपोषण लोगों की कार्योपयोगिता में बाधा डालते हैं। निम्न कार्योपयोगिता निम्न उत्पादकता एवं निम्न आय से जुड़ी है जो ग़रीबी के दुष्चक्र को तीव्र करती है।

स्वास्थ्य से जुड़ा एक अन्य क्षेत्र है जनता के लिए सुरक्षित (पेय) जल एवं मलव्ययन की सुलभता। दक्षिण एशिया के अधिकतर ग्रामीण इलाकों में रहने वाली आबादी के लगभग 12 प्रतिशत को सुरक्षित जल सुलभ नहीं है। कई बार सुरक्षित जल की अनुपलब्धता जल-जनित बीमारियाँ फैलाती है और महामारी, खासकर बरसात के दिनों में, का कारण बनती है।

ग्रामीण जनता के लिए पर्याप्त मल-व्ययन सुविधा की उपलब्धता दशा सुरक्षित जल के मुकाबले बदतर है। आबादी के मात्र 37 प्रतिशत को ही मल-व्ययन सुविधाएँ सुलभ हैं। भारत में यह मात्र 15 प्रतिशत है। केवल श्रीलंका एवं भूटान में ही अधिकांश ग्रामीण के लिए पर्याप्त मल-व्ययन सुविधाएँ उपलब्ध हैं। पर्याप्त मल-व्ययन सुविधाओं का अभाव लोगों के स्वास्थ्य पर ख़तरा उत्पन्न करता है और महिलाएँ सबसे बुरी तरह पीड़ित होती हैं।

2.4.3 शालीन जीवन-स्तर

लोगों को उपलब्ध विकल्पों को तय करने में आय एक महत्त्वपूर्ण मानदण्ड है। शिक्षा एवं स्वास्थ्य समेत भूटान को संसाधनों पर अधिकार पाने के लिए पर्याप्त आय ज़रूरी है। यह न सिर्फ़ लोगों को अधिक उत्पादनशील बनाती है, बल्कि उन्हें अपना जीवन सुधारने के लिए अवसरों की सुलभता भी प्रदान करती है। लोगों के अधिकार में संसाधनों एवं उन्हें उपलब्ध विकल्पों को रखे जाने के एक प्राय: ठीक मानदण्ड के रूप में क्रयशक्ति-समंजित प्रतिव्यक्ति जी.डी.पी. इसी कारण प्रयोग की जाती है।

इस संदर्भ में, दक्षिण एशिया में लोगों के पास सीमित विकल्प हैं क्योंकि लोगों की क्रय-शक्ति के आधार पर आकलित प्रतिव्यक्ति जी.डी.पी. निम्न है : वर्ष 2000 में यह मात्र 2238 डॉलर थी, यानी 3783 डॉलर पर विकासशील देशों हेतु औसत के मुकाबले काफ़ी कम। एकमात्र भूभाग जो दक्षिण एशिया से ज़्यादा ग़रीब है, वो है उप-सहाराई अफ्रीका। तथापि, दक्षिण एशिया क्षेत्र के अन्दर आय-स्तरों में विभिन्नताएँ व्याप्त हैं। नई सहस्राब्दि के आरम्भ में मालदीव एवं श्रीलंका के आय-स्तर ऊँचे थे ($4485 व $3530) और नेपाल, भूटान व पाकिस्तान की आमदनियाँ निम्नतम (क्रमश: $1327, $1412 व $1928)। महत्त्वपूर्ण रूप से, 1990 के दशकारंभ में पाकिस्तान के मुकाबले भारत के आय-स्तर कम थे। परन्तु दशक के अंत तक, एक उन्नत और सतत आर्थिक विकास के चलते भारत के वास्तविक जी.डी.पी. प्रतिव्यक्ति-स्तर ($2358) पाकिस्तान के जी.डी.पी. प्रतिव्यक्ति-स्तर ($1928) से ऊपर चले गए।

जैसा कि पहले कहा गया, जी.डी.पी. प्रतिव्यक्ति लोगों को उपलब्ध विकल्पों का एक रफ़ पैमाना पेश करता है। समान रूप से ही यह भी महत्त्वपूर्ण है कि आय किस प्रकार वितरित है। यहाँ, इस भूभाग का प्रदर्शन निराशाजनक रहा है, 1990 के दशक में अमीर और ग़रीब के बीच चौड़ी होती

खाई की वज़ह से। वर्ष 2002 के लिए दक्षिण एशिया में मानव विकास ने ग़ौर किया कि "दक्षिण एशिया के औसतन सभी देशों की आबादी के सम्पन्नतम 20 प्रतिशत लोगों का आय में लगभग 41 से 46 तक प्रतिशत हिस्सा था, जबकि आबादी के दरिद्रतम 20 प्रतिशत लोगों का आय में हिस्सा स्थूलतः आठ से दस प्रतिशत ही था।''

दक्षिण एशिया में आय के लिहाज से स्त्री-पुरुष में काफ़ी विषमता देखी जाती है। यहाँ के सरकारी आँकड़े महिलाओं की आर्थिक भागीदारी को पुरुष की आर्थिक भागीदारी के अंश मात्र रूप में ही दर्शाते हैं। चूँकि दक्षिण एशियाई महिलाओं का बड़ा हिस्सा अनियमित क्षेत्र में काम करता है और अवैतनिक परिवार सहायकों के रूप में, राष्ट्रीय लेखांकन प्रणालियों में उनका काम उपेक्षित ही गिना जाता है। 874 अमेरिका डॉलर पर दक्षिण एशियाई महिलाओं की वास्तविक जी.डी.पी. प्रति व्यक्ति विश्व में किसी भी अन्य क्षेत्र, उप-सहाराई अफ्रीका समेत, के मुकाबले कम ही है।

2.4.4 लिंगभेद विवेचना

महिलाओं से, लिंगभेद के आधार पर, विश्व के लगभग सभी समाजों में हमेशा भेदभाव किया जाता रहा है। परन्तु, दक्षिण एशिया में महिलाओं के खिलाफ़ होने वाला पक्षपात अधिकांश दूसरे विकासशील देशों में रहने वाली महिलाओं के मुकाबले कहीं ज़्यादा बदतर हालत में है और पुरुष-प्रधान समाज व्यवस्था में गहरे घुसकर कायम है। जैसा कि हमने गत पाठांशों में देखा, महिलाओं को उनके बालकाल से ही शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा, पोषण, और यहाँ तक कि जीवकोपार्जन संबंधी मौलिक आर्थिक अधिकार हेतु समान पहुँच से भी वंचित रखा जाता है।

वर्ष 2000 की दक्षिण एशिया में मानव विकास संबंधी रिपोर्ट के अनुसार, दक्षिण एशियाई महिलाओं के खिलाफ़ भेदभाव जन्म, अथवा उससे भी पहले, से ही शुरू हो जाता है। मादा भ्रूण-हत्या व शिशु-वध, स्वास्थ्य की उपेक्षा, भारी कार्य-बोझों के साथ-साथ लिंगभेद पूर्वाग्रहग्रसित खुराक आदि प्रथाएँ – सभी बेटा-पसंद एवं पितृसत्तात्मक प्राधारों की अभिव्यक्तियाँ है जो इस क्षेत्र भर में व्याप्त हैं। दक्षिण एशिया का लिंग-अनुपात विश्व भर के सर्वाधिक विकृत लिंग-अनुपात में से एक है – यहाँ हर 1000 पुरुषों के लिए मात्र 940 स्त्रियाँ हैं। (विश्व-औसत 1060 स्त्रियाँ प्रति 1000 पुरुष है)।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

1) दक्षिण एशिया में नारी-शिक्षा की स्थिति का विश्लेषण करें।

....

....

....

....

2) दक्षिण एशिया में स्वास्थ्य, पोषण एवं स्वच्छता की वर्तमान दशा कैसी है?

....

....

....

....

2.5 उत्तम शासन का प्रश्न

जैसा कि हमने देखा, मानवीय विकल्पों का विवर्धन महज़ आर्थिक विकास पर नहीं बल्कि, अधिक महत्त्वपूर्ण रूप से, उस विकास की गुणवत्ता एवं वितरण पर निर्भर करता है। शासन-शक्तियों को सभी नागरिकों को यथासंभव समान रूप से सेवाएँ एवं अवसर प्रदान करने पर अभिलक्षित सरकारी नीतियों के माध्यम से आय-वृद्धि एवं मानव-कल्याण के बीच संबंध कायम करना पड़ता है। इस प्रकार, उत्तम शासन के साथ ही साथ होने वाला आर्थिक विकास, यथा जन-कल्याण हेतु सरकारी नीतियाँ एवं उनका कार्यान्वयन, सतत मानव विकास हेतु निर्णायक होता है।

सतत मानव विकास में जो निर्णायक भूमिका उत्तम शासन निभा सकता है वह दक्षिण एशियाई देशों के अनुभव से बिल्कुल स्पष्ट है। आय के स्तरों के बावजूद श्रीलंका ने व्यापक कल्याण पर अभिलक्षित सतर्क सरकारी नीतियों द्वारा मानव विकास का एक सम्मानजनक आदर्श स्थापित किया। दूसरी ओर पाकिस्तान, द्रुत आर्थिक विकास के बावजूद भी निम्न सामाजिक खर्चों एवं असमान आय-वितरण की वजह से मानव विकास में पिछड़ गया।

मानव विकास के परिमापन के दो महत्त्वपूर्ण निर्देशक – प्रौढ़ साक्षरता दर और जीवन-प्रत्याशा – शिक्षा एवं स्वास्थ्य सेवाओं को दी गई प्राथमिकता पर निर्भर करते हैं। शिक्षा एवं स्वास्थ्य दोनों अर्ध-सरकारी कल्याण कार्य हैं जिनको हर एक देश की अपनी सरकार द्वारा आर्थिक सहायता देकर समर्थित किया जाता है। इस परिदान का प्रावधान शिक्षा एवं स्वास्थ्य के विकास को प्राथमिकता दिए जाने के साथ-साथ आर्थिक-विकास स्तर (यथा, इन दोनों आर्थिक-सहायताप्राप्त कल्याण-कार्यों को वित्त प्रदान करने की क्षमता) पर भी निर्भर करता है। शिक्षा, स्वास्थ्य, आदि जैसे सरकारी कार्यक्रमों पर राष्ट्रीय आय को आबंटित करने में दक्षिण एशियाई सरकारों का रिकार्ड अनियमित ही रहा है। इस भूभाग में सरकारों की आयात-प्रतिस्थापन रणनीतियाँ थीं और उत्पादन एवं व्यापार में अत्यधिक तत्परता दिखाई थी। उन्होंने अपनी अर्थव्यवस्थाओं को कुछ ज़्यादा ही नियमित कर दिया था जो उन्हें अकुशलता और भ्रष्टाचार की ओर ले गया। 1990 के दशक में दक्षिण एशियाई देश उदारीकरण एवं निजीकरण अपनाकर निर्यातोन्मुखी विकास रणनीति की ओर चले गए। सार्वजनिक क्षेत्रों से उपलब्ध विनिवेश ने, तथापि, सामाजिक क्षेत्र पर अधिक ज़ोर दिए जाने की ओर प्रवृत्त नहीं किया है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि महबूब-उल-हक़ पाते हैं, विद्यमान सामाजिक क्षेत्रों तक में, ‘‘अकुशलता एवं असमानताओं के बहुत सारे उदाहरण मौजूद हैं : सभी के लिए प्राथमिक स्वास्थ्य-रक्षा की बजाय कुछ विशेषाधिकारप्राप्त लोगों के लिए नगरीय अस्पताल; विश्वविद्यालयों के लिए अत्यधिक परिदान जबकि बुनियादी शिक्षा लक्ष्यों को बजट की लाइन में लगकर अपनी बारी का इंतजार करना पड़ता है; जन-साधारण के लिए जगह-जगह नल लगाने की बजाए उच्च-आय वर्गों के लिए घर-घर पानी पहुँचाना ... यह विडम्बना ही है कि अनेक देशों में सम्पन्न लोग बहुत सस्ते में अच्छी सेवाएँ प्राप्त करते हैं जबकि ग़रीब लोग ऊँचे दाम देकर भी पर्याप्त सेवाएँ नहीं पाते।’’

अदक्ष शासन तथा संसाधनों का आबण्टन किसी भी अर्थव्यवस्था के लिए, एक विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए अपेक्षाकृत अधिक गंभीर प्रभाव रखते हैं। घरेलू संसाधनों की कमी से बचने के लिए दक्षिण एशिया के लगभग सभी देशों ने बाहर से ऋण प्राप्त किए हैं। ब्याज मिलाकर ऋण-राशि का पुनर्भुगतान ही हर वर्ष इन देशों के लिए एक बड़ा बोझ रहता है। जैसा कि नीचे दी गई तालिका दर्शाती है, पाकिस्तान, श्रीलंका एवं मालदीव भारी कर्ज तले दबे देश हैं और उनका ऋण-सेवा प्रभार उनकी काफ़ी राष्ट्रीय आय खा जाता है। जन-कल्याण एवं सामाजिक विकास हेतु कुछ ही पूँजी कोष रह जाते हैं।

राजकीय व्यय में सरकारों की प्राथमिकताएँ

	शिक्षा पर सरकारी खर्च (जी.एन.पी. के % रूप में)		स्वास्थ्य पर सरकारी खर्च (जी.एन.पी. के % रूप में)		सामरिक व्यय (जी.एन.पी. के % रूप में)		कुल ऋण (जी.डी.पी. के % रूप में)	
	1985-87	1995-97	1990	2000	1990	2000	1990	2000
बांग्लादेश	1-4	2-5	0-7	1-5	1-0	1-3	2-5	1-7
भूटान	3-7	5-2	1-7	3-7	NA	NA	1-8	1-4
भारत	3-2	4-1	0-9	0-9	2-7	2-4	2-6	2-2
मालदीव	5-2	3-9	3-6	6-3	NA	NA	4-4	3-6
नेपाल	2-2	3-7	0-8	1-6	0-9	0-9	1-9	1-8
पाकिस्तान	3-1	1-8	1-1	0-9	5-8	4-5	4-8	4-6
श्रीलंका	2-7	3-1	1-5	1-8	2-1	4-5	4-8	4-5

स्रोत : ह्यूमन डवलॅपमण्ट इन साउथ एशिया 2003] पूर्ववर्ती वर्ष.

दक्षिण एशिया में सरकारी खर्चों का आबण्टन शासन-शक्तियों में परिवर्तन अथवा आन्तरिक सुरक्षा, युद्ध, आदि जैसी असामान्य परिथितियाँ पैदा होने से बीच में ही रुक जाता है। भूटान और मालदीव को छोड़कर, शेष दक्षिण एशियाई देशों को आतंकवादी गतिविधियों, धार्मिक कट्टरता, सीमा-पार के आतंकवाद, आदि से अपनी आन्तरिक शान्ति एवं सुरक्षा को ख़तरा महसूस होता है। इसका परिणाम हुआ है सेना पर अधिक खर्च। 1990 के दशक में श्रीलंका का सैन्य बज़ट बढ़कर राष्ट्रीय आय का 4-5 प्रतिशत हो गया है। जैसा कि उपर्युक्त तालिका दर्शाती है, भारत और पाकिस्तान मसला कोई भिन्न नहीं है। 1999 में दोनों के बीच हल्के विवाद और उन्नत सैनिक और नाभिकीय साज़ो-सामान जुटाने की होड़ ने उनके सामरिक व्ययों में एक तेज उछाल की ओर प्रवृत्त किया है। सेना के लिए ये ऊँचे-ऊँचे आबण्टन जन-कल्याण विषयक खर्च को निगल जाते हैं। उदाहरण के लिए, 1990 के दशक में पाकिस्तान में शिक्षा एवं स्वास्थ्य विषयक सरकारी खर्च घटा है। पाकिस्तान का सामरिक व्यय इन दिनों शिक्षा एवं स्वास्थ्य विषयक संयुक्त व्यय से अधिक है। पाकिस्तान जैसी सीमित अर्थव्यवस्था के लिए अनुत्पादक मद (यानी, सेना) पर एक बड़ा व्यय किसी भी राष्ट्र पर बोझ है और जल-कल्याण एवं समाज-कल्याण के अभाव जैसा ही है।

अंशत: आयात-प्रतिस्थापन विकास रणनीति के परिणामस्वरूप और अंशत: सुरक्षा मामलों, यानी सुरक्षा पर आंतरिक और बाहरी ख़तरों, पर ध्यानमग्नता के कारण दक्षिण एशिया में उच्च रूप से केन्द्रीकृत राज्य प्राधार विद्यमान हैं। परिणामस्वरूप, इन स्थानीय संस्थाओं में कमी आयी है जो गतिविधियों एवं सेवाओं की एक सम्पूर्ण शृंखला में भाग लेने के लिए अवसर प्रदान करने में निर्णायक होती हैं। इसके अतिरिक्त, इस क्षेत्र के लगभग सभी देशों में स्थानीय संस्थाएँ उच्च रूप से राजनीतिकृत हैं और प्राय: उन पर समाज के सम्पन्न वर्गों का ही आधिपत्य होता है। तदनुसार, ये संस्थाएँ सामाजिक स्तरीकरण की पारम्परिक व्यवस्था को कायम रखने में सहायक बन जाती हैं। आर्थिक उदारीकरण एवं निजीकरण कार्यक्रम इन स्थानीय संस्थाओं पर कोई सकारात्मक प्रभाव डाल पाएँगे, यह अभी तक स्पष्ट नहीं है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

1) किसी देश में मानव विकास में सुधार लाने के लिए सरकारों की क्या भूमिका होती है? उदाहरण प्रस्तुत करें।

....

....

....

....

....

2.6 सारांश

हमने देखा कि मानव विकास की अवधारणा उन परम्परागत विकास सिद्धांतों के एक विकल्प के रूप में सामने आयी जो आर्थिक विकास के मामले में संकीर्णमना थे। आम जनता, उसकी भलाई, उसकी ज़रूरतों, पसंदों और उम्मीदों पर ध्यान खींचते हुए मानव विकास तरक्क़ी की तरफ जाता एक ऐसा रास्ता है जिसमें इंसान को ही अहम् मानकर चला जाता है। इस कसौटी ने, जिसे पिछले दशक या उसके आसपास ही पूरी तौर से मंजूरी मिली, तरक्की के मायनों को आर्थिक विकास से परे ले जाकर लोगों के बीच फैलाया। आज विकास को एक गणनात्मक परिवर्तन के साथ-साथ गुणात्मक विकास की प्रक्रिया के रूप में भी देखा जाता है।

किसी देश में मानव विकास को परखने के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषणाहार एवं स्वच्छता, वास्तविक जी.डी.पी. वृद्धि जैसे कारकों को विचारार्थ लिया जाता है। जैसा कि हमने देखा, दक्षिण एशिया में, श्रीलंका को छोड़कर बाक़ी देशों में, मानव विकास निराशाजनक है, दक्षिण एशिया विश्व के सबसे घनी आबादी वाले क्षेत्रों में एक बना ही हुआ है। यह भूभाग प्रधानत: कृषिक है जहाँ 70 फ़ीसदी आबादी ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है। ग्रामीण लोग या तो सिर्फ़ रोटी-कपड़ा लायक खेती पर टिके हैं या फिर यों ही किसी नौकरी-चाकरी पर। इस क्षेत्र की 35 फ़ीसदी से ऊपर आबादी ग़रीबी की हालत में रह रही है। हर तरफ हावी प्रौढ़ निरक्षता, प्राथमिक स्वास्थ्य एवं स्वच्छता का अभाव, जिंदगी के हर पहलू में जनाना आबादी को ग़ैर मानकर चलना, घूसखोर या नाक़ाबिल सरकारें मानव विकास से मताल्लिक इस घटिया कामयाबी की कुछ वजहें हैं। इंसानी तरक्क़ी के रास्ते पर तेज़ कदम बढ़ाने के लिए इस भूभाग में सबसे पहले आदमी-औरत से जुड़े सवालों को हल की जरूरत है (यानी, जनाना आबादी के बारे में)। इसी प्रकार आर्थिक विकास दर को ऊँचा उठाने की फ़ौरन ज़रूरत है।

2.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

एशियन डवलॅपमण्ट बैंक, एशियन डवलॅपमण्ट आउटलुक, प्रासंगिक वर्षों के वार्षिक अंक, मनीला, फिलीपीन्स

महबूब-उल-हक़, ह्यूमन डवलॅपमण्ट सैण्टर, ह्यूमन डवलॅपमण्ट इन साउथ एशिया, विभिन्न सालों के वार्षिक अंक, कराची, पाकिस्तान

नेशन्ज़ डवलॅपमण्ट प्रोग्राम, ह्यूमन डवलॅपमण्ट रिपोर्ट, प्रासंगिक वर्षों के वार्षिक अंक, संयुक्त राष्ट्र संघ, जिनेवा, स्विट्ज़रलैण्ड

सेन, अमर्त्य, 2000, डवलॅपमण्ट ऐज़ फ्रीडम, रैण्डम हाउस, न्यूयार्क

हक़, महबूब-उल-, 1995 रिलैक्शन्स ऑन ह्यूमन डवलॅपमण्ट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, न्यूयार्क

2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भौतिक कल्याण और प्रतिव्यक्ति अथवा समग्र आय के लिहाज से।

2) समदृष्टि, निरन्तरता, उत्पादकता, और सशक्तीकरण।

3) लम्बी ज़िंदगी, ज्ञान और शालीन जीवन-स्तर।

4) मानव विकास में राज्य की एक निर्णायक भूमिका होती है। उसे समस्त साधारण की मानवीय क्षमताओं को सबल करने पर अभिलक्षित नीतियाँ लागू करनी होती हैं। अवसरों का निष्पक्ष वितरण सुनिश्चित करने में उसकी भूमिका अहम् है। इसके अतिरिक्त, राज्य को सक्रिय नीतियाँ बनाने में भाग लेना पड़ता है ताकि विपणन कार्य सम-दृष्टि अपनाये जाने के साथ-साथ कुशलतापूर्वक निबटाया जाना सुनिश्चित हो; और उन स्थानीय संस्थाओं को खड़ा करने अथवा मज़बूती प्रदान करने को बढ़ावा देने में भी जो गतिविधियाँ एवं सेवाओं की एक पूरी शृंखला में भागीदारी एवं सशक्तीकरण हेतु अवसर प्रदान करती हों।

बोध प्रश्न 2

1) अन्य विकासशील भूभागों के मुकाबले, दक्षिण एशिया के पास शिक्षा में निवेश के स्तर कम हैं। नारी-शिक्षा इस भू-भाग में एक उपेक्षित क्षेत्र है। जहाँ साक्षरता का समग्र स्तर 54 प्रतिशत है, नारी-साक्षरता के स्तर 40 प्रतिशत से भी कम हैं। 1990 के दशक में प्राथमिक स्तर लड़कियों की भर्ती में सुधार आया, परन्तु माध्यमिक स्तरों पर उनके स्कूल छोड़ देने की दर काफ़ी ऊँची बनी ही हुई है। श्रीलंका एवं मालदीव में हालाँकि माध्यमिक स्कूलों में भर्ती हुई लड़कियों की संख्या सम्मानजनक रही। माध्यमिक स्तर पर काफ़ी बड़ी संख्या में स्कूल छोड़ देने की दर मानव विकास की प्रक्रिया को दाँव पर लगा देती है। ग़रीबी से जुड़ी अधिकतर समस्याएँ नारी-निरक्षरता से सीधे जुड़ी हैं।

2) दक्षिण एशिया में समस्त स्वास्थ्य दशाएँ और पोषणाहार व स्वास्थ्य-रक्षा का स्तर बहुत प्रोत्साहनकारी नहीं है। यहाँ प्रजनन-दर ऊँची है साथ-ही-साथ मृत्युदर भी। अधिकतर प्रसव उचित चिकित्सा सुविधाओं के अभाव में होते हैं। कुपोषण के मामले बढ़ते ही जा रहे हैं। खासकर ग्रामीण दक्षिण एशिया में स्वास्थ्य की दशा बहुत निराशाजनक है। पोषणाहार एवं चिकित्सीय देखभाल के मामले में लड़कियों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता है। लड़के की ओर तरफदारी और लड़की की ओर लापरवाही पूरे भूभाग में प्राय: हर जगह देखी जाती है। स्वास्थ्य-रक्षा सुविधाओं एवं सुरक्षित पेय जल की पहुँच शहरी क्षेत्र में सुधरी है परन्तु ग्रामीण क्षेत्र उपेक्षित है। इसका मतलब है कि इस भूभाग की लगभग 70 प्रतिशत (ग्रामीण) जनता पर्याप्त बुनियादी सहुलियतों के अभाव में जीती है।

बोध प्रश्न 3

1) मानव विकास को आगे बढ़ाने में सरकारों की भूमिका अहम् होती है। सार्वजनिक कल्याण पर अभिलक्षित सरकारी नीतियाँ महत्त्व रखती हैं। इसके अतिरिक्त, वे आय का समान वितरण सुनिश्चित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। सेना जैसे अनुत्पादक मोर्चों पर ऊँचे खर्चे सामाजिक क्षेत्र के उपलब्ध धनकोष को खा जाते हैं। पाकिस्तान में सरकारी खर्च सेना पर ज़्यादा है और स्वास्थ्य एवं शिक्षा पर कम। इस असंतुलन को टालने के लिए सुधारकारी कदमों को उठाए जाने की तत्काल आवश्यकता है। इसके अलावा, कामकाज में पारदर्शिता, यानी प्रदूषण रहित परिवेश, का भी महत्त्व है।

इकाई 3 भारत विश्व सत्ता ढाँचे में

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 भूमंडलीय सत्ता संरचना

3.3 भारत की भू-राजनीतिक स्थिति

3.4 भारत की सत्ता क्षमताएँ

3.5 भारत: एक उभरती हुई शक्ति

3.6 सारांश

3.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

विश्व सत्ता संरचना में भारत की स्थिति स्पष्ट नहीं हैं। इसका इस तथ्य से पता चलता है कि भारत अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में न तो कोई अधीनस्थ भूमिका निभाता है और न ही यह कोई लघु सत्ता है। इस इकाई में विश्व सत्ता संरचना में भारत की बदलती हुई स्थिति का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित बातों के बारे में जान पाएँगे:

- विश्व सत्ता संरचना के लक्षणों की पहचान;
- राष्ट्रीय सत्ता के मौलिक संघटकों की पहचान;
- विश्व सत्ता संरचना में परिवर्तन;
- एक प्रमुख शक्ति के रूप में भारत की स्थिति और क्षमता।

3.1 प्रस्तावना

अन्तरराष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था, 17वीं शताब्दी में इसकी शुरुआत से, राज्यों की संप्रभुता समानता के सिद्धांत पर आयोजित की गई है। वास्तविक प्रचलन में, सत्ता संरचना की यह पदानुक्रमता राज्यों की इस समानता को एक कथा का रूप देती है। तथापि, सत्ता क्षमताओं के कुछ घटकों, अर्थव्यवस्था और समाज में निरन्तर परिवर्तन हो रहें हैं। सत्ता पदानुक्रम में राज्य की स्थिति परिवर्तनाधीन है। एक ऐसा राष्ट्र जो एक समय गुलामी में जकड़ा हुआ देश था, दूसरे समय में एक प्रमुख शक्ति के रूप में उभर सकता था। इस इकाई में, विश्व संरचना में देश की सुदृढ़ और सौम्य क्षमताओं की जाँच करके भारत की स्थिति का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। ऐसा करने से पहले, विश्व सत्ता संरचना के लक्षणों की पहचान करना उपयोगी होगा।

3.2 भूमंडलीय सत्ता संरचना

अन्तरराष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि यह अन्तरराष्ट्रीय प्रमुख शक्तियों का लगभग पदानुक्रम रहा है। सभी अन्य शक्तियाँ (लघु शक्तियाँ) प्रमुख शक्तियों के निर्णय

की उद्देश्यात्मक भूमिका के प्रति न्यस्त है। यद्यपि विश्व आर्थिक व्यवस्था राज्यों के समानता के सिद्धांत पर आयोजित है, वास्तविक प्रचलन में, राज्यों की अपनी सत्ता क्षमताओं के आधार पर राज्यों का पदानुक्रम है। सत्ता राज्य की ऐसी शक्ति अथवा क्षमता है जो अन्य राज्य अथवा राज्यों पर अपना प्रभाव छोड़ती है। राज्य की शक्ति आमतौर पर उसकी सैनिक क्षमता, आर्थिक शक्ति और अन्तरराष्ट्रीय मत को अपने पक्ष में करने के लिए उसकी इच्छा और क्षमता द्वारा न्याय-निर्णीत होती है।

तथापि, विभिन्न सत्ता घटकों के सापेक्ष महत्त्व पर कोई सामंजस्य नहीं है। जोसेफ एस नाये का सुझाव है कि सुदृढ़ और सौम्य संसाधनों में सत्ता घटकों का एक व्यापक वर्गीकरण किया जाए। सुदृढ़ सत्ता संसाधनों में सेवा, आर्थिक, प्रौद्योगिकीय और जनसांख्यिकी संसाधन शामिल हैं। ये मूर्त्त संसाधन हैं जो बल प्रयोग और नियंत्रण की क्षमताएँ मुहैया कराते हैं। दूसरी तरफ, सौम्य सत्ता संसाधन अमूर्त्त होते हैं। इनमें मानदण्ड, अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं में नेतृत्व की भूमिका, संस्कृति, राज्य क्षमता, रणनीति तथा राष्ट्रीय नेतृत्व शामिल हैं। सौम्य संसाधन आम राय (सहमति) की प्रेरणा देने तथा मिलकर कार्य करने (समान लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए दूसरों को सहयोग देने को तैयार करना) के लिए राज्य को सक्षम बनाते हैं। सौम्य सत्ता स्वरूप से कम निग्रही होती है। कुछ सौम्य सत्ता संसाधन जैसे राज्य की क्षमता, रणनीतिक एवं राजनीतिक शक्ति तथा राष्ट्रीय नेतृत्व की गुणवत्ता राज्य की अन्तर्निहित क्षमताओं को वास्तविक शक्ति में बदलने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रमुख सत्ताधारकों के पास शक्ति के सभी घटक होते हैं जो उन्हें संघर्ष अथवा सहयोग के समय, अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था का स्वरूप और उसके भावी विकास को अवधारित करने की शक्ति प्रदान करते हैं। उनके पास अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्थाओं में सभी राज्यों को प्रभावित करने की शक्ति होती है क्योंकि उनके पास शक्ति को भूमंडलीय तौर पर प्रक्षेपित करने तथा अपने क्षेत्रों के पार आक्रामक और रक्षात्मक क्रियाकलापों के संचालन की क्षमता होती है। प्रकारात्मक तौर पर, प्रमुख सत्ताधारकों के भूमंडलीय अथवा महाद्वीपीय हित होते हैं तथा उनके सुरक्षा लक्ष्य सीमाओं से परे होते हैं और उनमें अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था के तहत सत्ता संतुलन और व्यवस्था बनाए रखना शामिल है। जिन राज्यों के पास इन संसाधनों की कमी होती है, वे लघु सत्ताधारक होते हैं तथा प्रमुख सत्ताधारकों के दबावों से पराजेय रहते हैं।

प्रमुख सत्ताओं और लघु सत्ताओं के बीच ऐसे राज्यों का वर्ग होता है जो सत्ता (अथवा राज्यों को प्रभावित करने वाली व्यवस्था) के स्वतंत्र केन्द्र हैं जिनके पास कुल मिलाकर अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्थाओं को प्रभावित करने का लीवर ही नहीं होता अपितु विदेश नीति स्वायत्तता की विशिष्ट स्थिति को बनाए रखने की पर्याप्त क्षमताएँ तथा विशेष रूप से सुरक्षा के क्षेत्र में, उनके अपने निजी क्षेत्र में, अवांछित निर्णयों के अनुप्रयोग का विरोध करने की क्षमता होती है। प्रमुख सत्ताओं, जिनके पास भूमण्डलीय अथवा व्यापक प्रभाव वाला तंत्र होता है, से भिन्न, सत्ता के ये स्वतंत्र केन्द्र कतिपय क्षेत्र में प्राय: वर्चस्व अथवा आधिपत्य वाले होते हैं। मार्टिन राइट के अनुसार, इनका अधिकांशत: प्रमुख और लघु सत्ताओं के बीच अवस्थित उनकी प्रास्थिति के दृष्टिगत महान् क्षेत्रीय शक्तियों अथवा मध्यम सत्ताधारकों के रूप में होता है।

अन्तरराष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था का एक अन्य महत्त्वपूर्ण लक्षण है उसकी गतिशीलता अर्थात् निरन्तर परिवर्तन। यह मात्र इसलिए नहीं है कि सत्ताओं के कुछ घटक (जैसे नीचे चर्चा की गई है) परिवर्तनाधीन हैं परन्तु यथार्थ में इंगित करते हैं कि प्रमुख शक्तियों के बीच निरन्तर संघर्ष का कारण भी होता है। चूँकि 16वीं शताब्दी का यूरोप अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था में शामिल हुआ, यह प्रमुख शक्तियों के उत्थान और पतन की साक्षी है। यह प्रक्रिया प्रमुख युद्धों के माध्यम से व्यापक तौर पर अपनाई गई तथा इसने अनेक देशों को विश्व के विभिन्न नाटकघरों में पहुँचा दिया। युद्ध के बाद हुए समाधानों में आवश्यक सैनिक और आर्थिक सम्पन्नता वाले विजेताओं को प्रमुख सत्ता की प्रास्थिति मंजूरी मिली जबकि अधिकांश मामलों में ऐसी प्रास्थिति पूर्णरूपेण लुप्त हो गई। इस प्रकार, 18वीं शताब्दी में, स्पेन, पुर्तगाल और नीदरलैंड युद्धों में अपनी पराजय अथवा उपनिवेशी साम्राज्यों के समाप्त होने के बाद वे अपनी प्रमुख सत्ता प्रास्थिति से वंचित हो गए। ऑस्ट्रिया –

हंगरी ने प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अपनी प्रमुख सत्ता स्थिति गवाँ दी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी और जापान प्रमुख सत्ता के रूप में चीन द्वारा प्रतिस्थापित हुए। संयुक्त राज्य, सोवियत संघ, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन, जो उस युद्ध में विजेता के रूप में उभरे, को प्रमुख सत्ता प्रास्थिति मंजूर की गई तथा वे संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य बन गए। प्रतिबन्धात्मक तौर पर, शीतयुद्ध अवधि के दौरान मात्र दो महाशक्तियाँ, संयुक्त राज्य और सोवियत संघ, प्रमुख सत्ताओं के रूप में माने गए। अन्य तीन, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन, जो कभी भी महाशक्तियों की विश्व दौड़ में शामिल नहीं हुए, संक्षेप में, द्वितीय स्तर की प्रमुख सत्ताएँ थीं।

युद्ध के बाद के वर्षों में, विश्व सत्ता संरचना में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। आरंभ में, दो महाशक्तियों के बीच शीतयुद्ध संघर्ष ने द्वि-ध्रुवीय सत्ता संरचना को बढ़ावा दिया। अधिकांश राष्ट्रों के पास एक अथवा दोनों महाशक्तियों के साथ शामिल होने अथवा उन्हें छोड़ देने का किंचित विकल्प था। तथापि, ऐसी स्थिति लम्बे समय तक नहीं रही क्योंकि संयुक्त राज्य ने लम्बे समय तक वियतनाम के साथ युद्धरत होने के कारण अपनी स्थिति कमजोर कर ली थी। विश्व सत्ता संरचना संयुक्त राज्य, सोवियत संघ, यूरोप, जापान और चीन के वर्चस्व वाली बहु-ध्रुवीय व्यवस्था की ओर अग्रसर होने लगी। तथापि, इस प्रबंधन के समेकन से पहले, सोवियत संघ का विघटन हो गया। संयुक्त राज्य एकमात्र ऐसे राज्य के रूप में उभरा जो 'एकल महाशक्ति' की उपाधि का पात्र था और जिसके पास योजनाबद्ध और प्रभावकारी क्षमताएँ थीं। इस भूमिका के लिए अन्य संभव प्रतिद्वन्द्वी सामान्यत: या तो अपूर्ण सत्ता (रूस, चीन और जापान) बने रहे अथवा संयुक्त राज्य के अधीनस्थ सैनिक सहायक (जापान, यूरोप) बन गए। आज की स्थिति में उनका सामरिक महत्त्व, महाशक्तियों के रूप में उनके संभाव्य प्रकटीकरण में अन्तर्निहित है जो अधिक दूर नहीं हैं।

3.3 भारत की भू-राजनीतिक स्थिति

आधुनिक राज्य के रूप में इसकी शुरुआत के ठीक बाद, भारत ने स्वयं को एक संभाव्य प्रमुख सत्ता के रूप में देखा है। इसकी इस प्रकार की तस्वीर मात्र इस तथ्य से नहीं उभरी है कि भारत एक ऐतिहासिक सभ्यता का स्थल रहा है अपितु ऐसा इसकी संभाव्य आर्थिक और सैनिक शक्ति को मान्यता तथा इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण भ-ूराजनीतिक घटकों के कारण हुआ है। इसमें उसकी विदेश नीति के लिए महत्त्वपूर्ण निहितार्थ अन्तर्ग्रस्त था।

भारत भारतीय उपमहाद्वीपीय क्षेत्र में अवस्थित है, जो एकमात्र भूराजनीतिक किलेबन्दी करता है। यह उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में हिन्द महासागर से घिरा हुआ है। इसके अतिरिक्त, यद्यपि दक्षिण एशिया सात राज्यों में विभाजित है, उपमहाद्वीप कुछ सीमा तक एकमात्र सभ्यता का जटिल शैल संघ है। यह यूरोप की तुलना में, व्यापक आयामों वाला एक भू-राजनीतिक क्षेत्र है। हिन्द महासागर के आर-पार स्थित तथा फारस की खाड़ी और मलक्का के जलडमरूमध्य से रक्षित इसकी अवस्थिति क्षेत्र को सामरिक महत्त्व प्रदान करती है।

दक्षिण एशिया क्षेत्र, कुल मिलाकर, मात्र इस अर्थ में प्रत्यक्षत: भारत-केन्द्रिक नहीं है कि भारत इस क्षेत्र के लगभग तीन-चौथाई भूमि क्षेत्र और आबादी पर आधिपत्य बनाए हुए है। क्षेत्र के भीतर भारत, एकमात्र तौर पर, क्षेत्र की भूराजनीति के मध्य में है जबकि क्षेत्र के अन्य देश आपस में एक-दूसरे के साथ नहीं बल्कि इसके साथ सीमाओं को सहयोजित करते हैं।

भारत की व्यापक तौर पर सुपरिभाषित आधिपत्य स्थिति तथा स्वत: स्पष्ट भारत केन्द्रिक भूराजनीतिक क्षेत्र का यह तात्पर्य भी था कि इसकी सुरक्षा को खतरा क्षेत्र के बाहर प्रमुख सत्ताओं से था न कि दक्षिण एशियाई क्षेत्र के भीतर अन्य शक्तियों से। परिणामस्वरूप, पश्चिमी गोलार्द्ध में संयुक्त राज्य की तरह भारत राष्ट्रीय सुरक्षा की धारणा से अधिनेतृत्व की स्थिति में हैं जिसके लिए उपमहाद्वीप से बाहरी ताकतों के निष्कासन की आवश्यकता है। सहज तौर पर, सुरक्षा की इसकी धारणा मात्र, राष्ट्रीय न होकर भू-राजनीतिक और क्षेत्रीय भी है। तथापि, सुरक्षा की ऐसी धारणा

अवश्यमेव एक प्रमुख शक्ति के रूप में अन्य क्षेत्रों के साथ अन्तर्क्रिया को अपरिहार्य बनाती है; विश्व मानचित्र पर इसकी भूमिका का विस्तार इस प्रकार क्षेत्र में भारत के वर्चस्व में अन्तर्निहित है।

एक प्रमुख सत्ता के रूप में भारत की तस्वीर, जिसे भारतीय संभ्रांत लोगों द्वारा सहयोजित किया गया था, जवाहरलाल नेहरू द्वारा 1948 में निर्वाचन सभा को यथासूचित "भारत की अपरिहार्यता" से अभिप्रेत थी "जो अपनी विशाल सशक्तता के कारण तथा इस तथ्य के कारण एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था कि वह आबादी के संदर्भ में सबसे बड़ी राजनीतिक इकाई है तथा ऐसा उसके संसाधनों के कारण भी संभव है।" नेहरू और उनके उत्तराधिकारियों ने अधीनस्थ की भूमिका के पक्ष में प्रमुख शक्तियों के लक्ष्य के रूप में भारत के लिए प्रास्थिति को नकार दिया।

संभाव्य प्रमुख सत्ता के रूप में भारत की छवि तथा घरेलू और विदेश नीतियाँ, जिनका उद्देश्य एक पुनरीक्षणवादी भूमिका में भारत की संभावनाओं को महसूस करना है, अन्तर्निहित पूर्वानुमान के तौर पर यह है कि कुछ के वर्चस्व वाली विद्यमान भूमण्डलीय सत्ता संरचना कतिपय सीमा तक स्वीकार्य नहीं है क्योंकि यह भारत की स्वतंत्रता का अतिक्रमण करती है। यह पूर्वानुमान नेहरू तथा उनके उत्तराधिकारियों द्वारा दृढ़ता के साथ महसूस किया गया था भले ही इसके बारे में कुछ नहीं कहा गया। यह उस विकास रणनीति में घरेलू और विदेशी दोनों नीतियों से स्पष्ट था कि जिसने आत्म-विश्वास पर बल दिया था तथा सुदृढ़ शक्ति क्षमताओं को मजबूत किया था और गुट-निरपेक्ष विदेश नीति में उसने विश्व कार्यों में स्वतंत्रता और सक्रियतावाद पर बल दिया था। यह प्रमुख शक्तियों के आधिपत्य को स्वीकार करने से इसके इंकार तथा इसके उस विरोध में स्पष्ट है जिसमें प्रमुख शक्तियों द्वारा अप्रसार संधि और इसी प्रकार की अन्य सुरक्षा व्यवस्थाओं में शामिल होने से मना करके परमाणु शक्ति के रूप में उभरने के लिए अपने विकल्प पहले ही बन्द करने के प्रयास किए गए हैं।

तथापि, भारत ने अपनी पुनरीक्षणवादी भूमिका को पूर्णरूपेण विद्रोही सत्ता की भूमिका ग्रहण करने के बिन्दु तक नहीं पहुँचाया है। वह प्रमुख शक्तियों के साथ प्रत्यक्ष टकराव से बचा है तथा उसने प्रमुख शक्तियों को उनकी निजी अभिकल्पना के अनुसार विश्व को संगठित करने के उनके प्रयासों को कमोबेश सीमित चुनौती प्रस्तुत की है। इस प्रकार, भारत एक सुधारवादी तथा आम सत्ता के मध्य में रहा है चाहे वह घर पर हो अथवा विदेश में।

ठीक उसी तरह जहाँ भारत की तरफ से प्रमुख सत्ता की भूमिका प्राप्त करने के लिए सुस्पष्ट आग्रहपूर्ण आन्दोलन है, वहीं इसके प्रति विद्यमान प्रमुख सत्ताओं, प्रमुखत: संयुक्त राज्य और हाल के वर्षों में, चीन की तरफ से समान रूप से शक्तिपूर्ण विरोध है। आरंभिक वर्षों में, यह चिन्ता थी कि भारत की सक्रियतावादी भूमिका विकासशील सत्ता पर अपने प्रभाव का परिगमन करेगी, संयुक्त राज्य ने भारत के क्षेत्रीय परिरोधन की नीति अपनाई। इस परिरोधन नीति में पाकिस्तान को सैनिक शक्ति से विभूषित करना तथा उसे दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय संघर्ष में उलझाए रखना शामिल था। इसमें उस सामग्री और प्रौद्योगिकीय सहायता के लिए इन्कार भी शामिल था जो भारत की सुदृढ़ शक्ति क्षमताओं में योगदान देते। 1970वें दशक से, विशेष रूप से भारत द्वारा 1974 में अपनी नाभिकीय युक्ति (Device) का विस्फोट करके अपनी परमाणु क्षमता का प्रदर्शन किए जाने के बाद, एक व्यवस्था लागू है जिसका उद्देश्य उन प्रौद्योगिकियों पर रोक लगाना है जो भारत की परमाणु और प्रक्षेपास्त्र क्षमताओं में योगदान की स्थिति पैदा करें। शीत-युद्ध के बाद की अवधि में, संयुक्त राज्य ने परमाणु अप्रसार संधि को लागू करने के लिए अपने प्रयासों को आगे बढ़ाया जो पाँच प्रमुख सत्ताओं का परमाणु एकाधिकार सुरक्षित रखता था तथा भारत जैसी उभरती हुए सत्ताओं पर उसकी रोक लगाता था। भारत के प्रति चीन की नीति भी एक प्रकार के परिशोधन की नीति रही है। 1963 से, चीन ने पाकिस्तान के भारत के साथ संघर्ष में सक्रियता से पाकिस्तान का पक्ष लिया है तथा पाकिस्तान को प्रौद्योगिकी, संघटकों और सामग्री की आपूर्ति करके उसकी परमाणु और प्रक्षेपास्त्र क्षमताओं के निर्माण में सहयोग दिया है।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

1) सौम्य शक्ति संसाधन क्या हैं?

....

....

....

....

....

2) एक प्रमुख सत्ता की चारित्रिक विशेषताओं की पहचान करें। मध्यवर्गीय शक्तियाँ उनसे किस प्रकार भिन्न हैं?

....

....

....

....

....

3) प्रमुख शक्तियों ने भारत की शक्ति प्रक्षेपण क्षमताओं पर रोक लगाने के लिए किस प्रकार प्रयास किए हैं?

....

....

....

....

....

3.4 भारत की सत्ता क्षमताएँ

विश्व सत्ता संरचना में भारत की स्थिति संदिग्ध है। यह इस तथ्य से प्रकट होता है कि भारत एक मध्यस्तरीय शक्ति है। यह उन प्रमुख शक्तियों से सम्बन्ध नहीं रखता जो अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था के भाग्य और प्रारब्ध के बारे में सजीव निर्णय लेती हैं। यह उन लघु शक्तियों में से नहीं है जो सीमित विदेश नीति के स्वायत्तता वाले प्रमुख शक्तियों के निर्णयों का लक्ष्य हो। भारत की वस्तुपरक प्रास्थिति क्या है? यह विद्यमान प्रमुख सत्ताओं (संयुक्त राज्य, रूस, चीन, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस) तथा प्रमुख आर्थिक सत्ताओं (जापान और जर्मनी) के मुकाबले कहाँ खड़ा है?

सौम्य क्षमताओं के क्षेत्र में, भारत की परम्परागत क्षमताओं का प्रमुख सत्ताओं की उसी प्रकार की क्षमताओं से कोई [illegible] नहीं है, यद्यपि इसके पास चीन और संयुक्त राज्य के बाद, तृतीय

विशालतम सशस्त्र सेनाएँ हैं। तथापि, लम्बी दूरी और त्वरित नियोजन की इसकी क्षमताएँ पाँच प्रमुख सत्ताओं की तुलना में सीमित हैं। भारत की शक्ति प्रक्षेपण क्षमताएँ दो मुकाबलों पर सक्रिय रक्षा मुहैया कराने की आवश्यकता द्वारा सीमित कर दी गई है – एक अपेक्षाकृत लघु परन्तु दृढ़ निश्चयी विरोधी, पाकिस्तान तथा दूसरा उत्तर में प्रमुख सत्ता, चीन है।

आर्थिक सम्पन्नता के संदर्भ में, भारत, जैसा कि इसने नई सहस्राब्दी में प्रवेश किया, विश्व में क्रय शक्ति संतुलन में मात्र संयुक्त राज्य, चीन और जापान के बाद चौथी विशालतम अर्थव्यवस्था के रूप में उभरा है। तथापि, इसका सकल घरेलू उत्पाद 450 बिलियन डॉलर तथा प्रति व्यक्ति आय मात्र 450 डॉलर है, भारत किसी भी प्रमुख सत्ता के मुकाबले नीचे क्रम में जाता है। इसकी लगभग 30 करोड़ आबादी जो कुल आबादी का लगभग 30 प्रतिशत है, गरीबी रेखा से नीचे निर्वाह करती है। आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा के मुकाबले में भी, वर्ष 2000 में, भारत 49वें क्रम पर था। भारत की कमजोर आर्थिक नीति शोचनीय है क्योंकि सत्ता के अन्य घटक जैसे सैन्य क्षमता और आबादी की उत्पादनशीलता आर्थिक प्रगति के साथ व्यापक तौर पर वृद्धि की ओर उन्मुख हैं।

आबादी के आकार के संदर्भ में, भारत चीन के बाद दूसरे स्थान पर है। परन्तु भारत के लिए आबादी एक परिसम्पत्ति और अभिशाप दोनों है। इसके उत्तर प्रदेश राज्य (17.6 करोड़) की आबादी अधिकांश प्रमुख सत्ताओं, रूस (14.7 करोड़), ग्रेट ब्रिटेन (5.9 करोड़) तथा फ्रांस (5.9 करोड़) की आबादी से अधिक है। भारत का मध्य वर्ग, जो विश्व में तृतीय विशालतम स्थान पर है, निश्चित रूप से एक परिसम्पत्ति है, क्योंकि सभी प्रमुख सत्ताएँ (चीन को छोड़कर) भारतीय मानव संसाधनों पर निर्भर हैं। ऐसा घटती हुई जन्म दरों और बढ़ती हुई उम्र वाली आबादी के कारण है। तथापि, भारत की विशाल अकुशल और अशिक्षित जनता देश की शक्ति क्षमता के लिए एक अभिशाप है।

सौम्य शक्ति सूचकांकों के संबंध में तुलना करना कठिन है क्योंकि ये अमूर्त होते हैं। सौम्य शक्ति संसाधन सुदृढ़ शक्ति संसाधनों के पूरक हैं और अधिकाधिक अन्तर्निभर विश्व में, बाह्य तौर पर राज्य की शक्ति के अनुप्रयोग और संरक्षण के लिए कम लागत वाले उपाय के रूप में उनका महत्त्व महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है।

प्रमुख सत्ताएँ अपनी अन्तरराष्ट्रीय प्रास्थिति को वैध बनाने के लिए मानदण्ड प्रयोग करती हैं। इस संबंध में, भारत का नियामक प्रभाव विकासशील विश्व में यौक्तिक आधार पर उत्कृष्ट रहा है। भारत ने विकासशील देशों की तरफ से निरन्तर आवाज उठाई है। गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का नेता होने के नाते, यह भूमंडलीय समानता और नई अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का विजेता बन चुका है। यह उदाहरण अन्तरराष्ट्रीय व्यापार वार्ता और संयुक्त राष्ट्र फोरम जैसे संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास सम्मेलन (UNCTAD) में भारत की स्थिति को स्पष्ट करता है। अतिरिक्त लोकतंत्र के रूप में भारत का अपना पिछला रिकॉर्ड इसकी नियामक शक्ति का भी संवर्द्धन करता है।

प्रमुख शक्तियाँ अपनी स्थिति की वैधता के लिए संस्थाओं का प्रयोग करती हैं। इस संदर्भ में, भारत अनेक अंतरराष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं और शासनों का सक्रिय सदस्य रहा है। इसने समय-समय पर, जी-77, जी-20 और गुट-निरपेक्ष ग्रुप में अपने नेतृत्व के माध्यम से संस्थागत शक्ति का प्रयोग किया है। 1950वें दशक के प्रारंभ से संयुक्त राष्ट्र शान्तिपूर्ण प्रयासों में इसका योगदान भी इसके संस्थागत प्रभाव में वृद्धि करता है।

तथापि, भारत शक्ति के अन्य स्रोतों जैसे राज्य की क्षमता, रणनीति और राष्ट्रीय नेतृत्व, में निचले क्रम पर है। भारतीय राज्य अपनी आबादी के बीच वफादारी और अनुशासन पैदा करने तथा पर्याप्त शक्ति का विकास करने में असमर्थ रहा है। 1960वें दशक में, भारत का उसके द्वारा अधिनियमित नीतियों को लागू करने में विफलता के कारण एक 'सौम्य राज्य' के रूप में वर्णन किया गया। रणनीति और राजनीति के क्षेत्र में, भारत का रिकार्ड अस्तव्यस्त है। जहाँ इसके राजनय के वर्चस्व विरोधी प्रकरण ने तृतीय विश्व की एकता को नकली आवरण देते हुए भूमंडलीय संस्थाओं में भूमिका निभाने में तथा उत्तर और दक्षिण मुद्दों पर सौदेबाजी में सहायता की, वहीं इसने संयुक्त राज्य

पर काबू पाने और संतुलन बनाए रखने का प्रयास किया। राष्ट्रीय नेतृत्व भी जो अन्य शक्ति संसाधनों को अन्तरराष्ट्रीय प्रभाव में बदलने के लिए महत्त्वपूर्ण था, एक गड्ड-मड्ड थैले के रूप में रहा है। स्वतंत्रता के बाद आरंभिक वर्षों में, भारत का अन्तरराष्ट्रीय प्रभाव प्रमुखतः जवाहरलाल नेहरू के नियंत्रणकारी नेतृत्व के कारण रहा है। यद्यपि 1962 में चीन-भारत युद्ध के उत्क्रमणों के बाद भारत आभ्यान्तरिक तौर पर सोचने लगा। श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने भी समुद्रपारीय देशों पर अपना कुछ प्रभाव छोड़ा।

3.5 भारतः एक उभरती हुई शक्ति

शीत युद्ध के बाद की अवधि में, दो महत्त्वपूर्ण कारणों से भारत को एक उभरती हुई शक्ति के रूप में देखा गया है। प्रथमतः, इसकी सुदृढ़ शक्ति क्षमताएँ, जहाँ प्रमुख शक्तियों की क्षमताओं से पिछड़ रही हैं, अन्य क्षेत्रीय शक्तियों जैसे ब्राजील, इण्डोनेशिया, ईरान, पाकिस्तान, नाइजीरिया और मिश्र, की क्षमताओं से पर्याप्त उत्कृष्ट हैं। 30 करोड़ का भारतीय मध्य वर्ग इंडोनेशिया (20.7 करोड़) और ब्राजील (16.8 करोड़), जो दो विशालतम क्षेत्रीय शक्तियाँ हैं, की आबादी से काफी अधिक है। इन क्षेत्रीय शक्तियों में से किसी के भी पास भारत के मुकाबले सकल कच्ची सैन्य क्षमताएँ नहीं है। आर्थिक क्षेत्र में, भारत के पास ब्राजील के अलावा विशालतम अर्थव्यवस्था है, यद्यपि प्रति व्यक्ति डॉलर आय के संदर्भ में, सभी क्षेत्रीय शक्तियाँ, नाइजीरिया और पाकिस्तान को छोड़कर, भारत से ऊपर हैं।

दूसरे, भारत तेजी से बदल रहा है और सुदृढ़ शक्ति क्षमताओं के लगभग सभी सूचकांकों में अपनी स्थिति को मजबूत कर रहा है, यद्यपि सुधार का स्तर एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में परिवर्तनशील है। 1990 वें दशक के आरंभ में, नकदी संकट से ग्रस्त भारत ने अपने बाज़ार मुक्त कर दिए और विश्व अर्थव्यवस्था के साथ एकता कायम की। तदोपरान्त, इसकी औसत वार्षिक विकास दर 6 प्रतिशत से ऊपर रही है। चूँकि इसके फैलते हुए बाज़ार विदेशी निवेशकों और निर्यातकों के लिए आकर्षक स्थल बन चुके हैं, भारत में कम से कम आला क्षेत्र जैसे सूचना प्रौद्योगिकी, जैव प्रौद्योगिकी और सम्बन्धित क्षेत्रों, में एक प्रमुख आर्थिक शक्ति के रूप में उभरने में आत्मविश्वास की विशाल स्थिति प्राप्त कर ली है। भारत ने उपमहाद्वीप में और उसके परे क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देने के लिए आधार के रूप में अपने विशाल और विस्तृत बाज़ार की ओर देखना आरंभ कर दिया है। 1990 वें दशक में, दक्षिण एशियाई क्षेत्र के भीतर निकटतर आर्थिक सम्बन्धों को बढ़ावा देने के अपने प्रयास में, भारत ने 'अन्योन्यता से अधिक' मनोभाव से अपने पड़ौसियों के साथ आर्थिक सहयोग में अन्योन्यता की धारणा को प्रतिस्थापित कर दिया है। भारत की महत्त्वाकांक्षा दक्षिण एशिया क्षेत्र से परे पहुँच चुकी हैं और यह 1997 में भारतीय सामुद्रिक परिधीय क्षेत्रीय सहयोग संघ (IOR&ARC) का एक सक्रिय समर्थक बन गया। यह एशियान क्षेत्रीय फोरम का एक पूर्ण संवाद-लेखन भागीदार भी बन गया। जहाँ ये हलचलें स्थिति निर्धारण में प्रमुखतः आर्थिक हैं, वही लम्बी दौड़ में उनमें सामरिक निहितार्थों के होने की संभावना है।

सैन्य क्षेत्र में, भारत की क्षेत्र से परे शक्ति प्रक्षेपण क्षमताएँ समेकित प्रक्षेपास्त्र विकास कार्यक्रम, जो 1980वें दशक के आरंभ में चलाया गया था, को विभिन्न सरकारों द्वारा दिए गए अनवरत समर्थन के परिणामस्वरूप तेजी से बढ़ रही हैं। इस कार्यक्रम के परिणामस्वरूप प्राक्षेपिक प्रक्षेपास्त्रों का दायरा बढ़ा है जिनमें 1990वें दशक में 1500 कि.मी. तक मारक क्षमता वाला अग्नि-1 प्रक्षेपास्त्र भी शामिल है। इस कार्यक्रम में अग्नि प्रक्षेपास्त्र की अधिक मारक क्षमता तथा प्राक्षेपिक प्रक्षेपास्त्रों के विकास की योजनाएँ हैं। इनके साथ, भारत की सैन्य क्षमता विकास की ओर तत्पर है जिससे सुदूर पूर्व पश्चिम एशिया और मध्य एशिया तथा आस्ट्रेलिया को प्रभावित किया जा सके। भारत और रूस ने सफलतापूर्वक क्रूस प्रक्षेपास्त्रों का उत्पादन किया है। अब तक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विकास में, जिसने विश्व सत्ता संरचना में भारत की स्थिति में वृद्धि की है, मई 1998 में परमाणु सम्पन्न होने का [illegible] गया है।

सामरिक क्षेत्र में चुनौतियों पर काबू पाने के अपने प्रयास-सोवियत संघ के विघटन और इसी के साथ विशेष भारत-सोवियत सम्बन्ध, नाभिकीय हथियारों के ऊपर अपना एकाधिकार कायम रखने के लिए अप्रसार संधि को मजबूती प्रदान करने तथा नाभिकीय विकल्प का अभ्यास कर रहे भारत को प्रतिबंधित करने के लिए प्रमुख शक्तियों के गहन प्रयासों तथा चीन द्वारा पाकिस्तान को परमाणु और प्रक्षेपास्त्र उपस्कर तथा प्रौद्योगिकी के अन्तरण की संयुक्त राज्य द्वारा अनदेखी से भूमिगत नाभिकीय परीक्षण करके अपने निर्णय से प्रमुख शक्तियों की भारत द्वारा अवज्ञा हुई और भारत परमाणु अस्त्र सम्पन्न राज्य के रूप में उभरा। प्रमुख शक्तियों ने भारत की इस घोषणा से कि वह अपनी आवश्यक संयतता के कारण भले ही सीमित दायरे में, उनके वर्चस्व के लिए एक चुनौती के रूप में परमाणु अस्त्र सम्पन्न राज्य के रूप में था, परमाणु परीक्षणों को सही-सही महसूस किया।

प्रमुख शक्तियों की प्रथम प्रतिक्रिया नाभिकीय परीक्षणों की निन्दा करना था। उनमें से कईयों ने भारत का राजनीतिक रूप से बहिष्कार करने तथा उसे, अनुशास्तियों, आर्थिक सहायता के निलम्बन और अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं से कर्जे की माँग की। इस विश्वास के साथ कि इसकी अर्थव्यवस्था आर्थिक दबावों को बरदाश्त करने के लिए स्थिति-स्थापन में सक्षम थी, भारत ने उसका कठोरता से प्रतिकार किया। प्रमुख शक्तियों के बीच शीघ्र ही सतही मतभेद उभरे कि चुनौती, से किस प्रकार निपटा जाए। रूस और फ्रांस ने, अनुशास्तियों और राजनीतिक बहिष्कार के विरोध के माध्यम से, अपने विभिन्न समाजों में वचन और कर्म से कोई संदेह नहीं छोड़ा। फ्रांस की स्थिति विश्व को एक सहकारी विविध-ध्रुवीय दिशा में पुनर्गठित करने की उसकी विशाल रणनीति से उभरकर सामने आई। इन परिस्थितियों में, संयुक्त राज्य ने भारत के साथ एक सामरिक वार्ता की पहल की। परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य की तरफ से भारत को यथार्थतः एक परमाणु सम्पन्न राज्य के रूप में मानने के लिए भले ही औपचारिक तौर पर एक मौन और आंशिक समझौता हुआ संयुक्त राज्य परमाणु अप्रसारण के अपने अन्तिम लक्ष्य के प्रति कायम रहा। चीन को छोड़कर, अन्य प्रमुख शक्तियों ने भारत के साथ सामरिक वार्ता शुरू कर दी है। अब तक परमाणु अस्त्र सम्पन्न शक्ति के रूप में भारत के उत्थान से चीन प्रतिकूल तौर पर सर्वाधिक प्रभावित हुआ है क्योंकि इस उत्थान से एशिया के ऊपर चीन के एकमात्र और अबाधित वर्चस्व के दावे के अवमूल्यन की संभावनाएँ प्रकट हुई हैं। इसने भारतीय परीक्षणों की सर्वाधिक आलोचना की और संयुक्त राज्य की भारत के साथ वार्ता पर उत्तेजना प्रकट की परन्तु यह भी भारत के साथ सामान्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अग्रसर हुआ है तथा इसने भारत के साथ सुरक्षा वार्ता भी की है। इस प्रकार, परीक्षणों के दो वर्षों के भीतर, प्रमुख शक्तियों द्वारा भारत के साथ व्यवहार में भारी परिवर्तन देखा गया। परमाणु परीक्षणों ने अन्य प्रमुख शक्तियों के साथ भारत की राजनीतिक और राजनयिक सौदेबाजी क्षमता में वृद्धि की है जैसा उन सामरिक वार्ताओं से स्पष्ट है जो इसने सभी प्रमुख शक्तियों के साथ आगे बढ़ने के लिए आरंभ की है। अब भारत प्रमुख शक्ति प्रास्थिति के लिए उम्मीदवार के रूप में, भले ही सार्वत्रिक तौर पर न हो, गंभीरता से लिया जाता है।

अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में स्वयं को मध्यस्तरीय शक्ति से प्रमुख शक्ति वाले उम्मीदवार के रूप में पुनर्स्थापित करके भारत संयुक्त राष्ट्र संघ की पुनर्गठित सुरक्षा परिषद् में स्वयं के लिए स्थायी सदस्यता प्राप्त करने के लिए कार्य कर रहा है। अब कुछ समय से, संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के पुनर्गठन की माँग हो रही है जिससे विश्व सत्ता संरचना में परिवर्तनों को प्रतिबिम्बित किया जा सके। इस संदर्भ में, सुरक्षा परिषद् में स्थायी सदस्यता की अधिप्राप्ति से विश्व सत्य संरचना में भारत की सत्ता स्थिति में सुधार होगा। जैसा कि हमने पहले उल्लेख किया है, संस्थाएँ सौम्य-सत्ता क्षमताओं की स्रोत बन गई हैं। प्रतिष्ठारोपित संस्थाएँ प्रायः अपनी स्थिति को वैधता प्रदान कराने के लिए संस्थाओं का प्रयोग करती हैं। उभरती हुई शक्तियाँ जैसे चीन अपनी सत्ता महत्वाकांक्षाओं के और अधिक विस्तार के लिए संस्थाओं का अधिकाधिक प्रयोग कर रही हैं। भारत ने भी पहले जी-77, जी-20 और गुट निरपेक्ष ग्रुप में अपने नेतृत्व के माध्यम से आंतरिक तौर पर संस्थागत शक्ति का प्रयोग किया है। संयुक्त राष्ट्र शान्ति स्थापना प्रयासों में भारत के योगदान ने उसे कुछ संस्थागत प्रभाव मुहैया कराया है। सदस्यता के लिए किसी भी निर्देशन में संयुक्त राष्ट्र पद के लिए भारत का दावा

जापान, जर्मनी, इण्डोनेशिया, संयुक्त अरब अमीरात-ब्राजील आदि जैसे प्रतिद्वंद्वियों में सबसे मजबूत है।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

1) भारत को उभरती हुई प्रमुख शक्ति के रूप में क्यों माना गया है?

....

....

....

....

....

....

....

3.6 सारांश

हमने देखा है कि अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था राज्यों की संप्रभु समानता के सिद्धान्त पर आधारित है यद्यपि व्यावहारिक तौर पर सत्ता में विभेदन पर आधारित कुलीन तंत्र राजनीतिक संरचना पर वर्चस्व रखता है। तथापि, अन्तरराष्ट्रीय सत्ता संरचना गतिशील है क्योंकि सत्ता के घटक निरंतर परिवर्तनशील हैं। विश्व सत्ता संरचना में भारत की स्थिति के बारे में अस्पष्टता इस तथ्य से प्रकट होती है कि भारत एक मध्यस्तरीय शक्ति है जिसके पास अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था को प्रभावित करने वाले पर्याप्त सुदृढ़ और सौम्य शक्ति संसाधन नहीं है अपितु इसी के साथ अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में उद्देश्य के प्रति इन संसाधनों की कोई कमी नहीं है।

जैसा कि हमने देखा है कि भारत ने समय के साथ-साथ अपने सुदृढ़ शक्ति संसाधनों जैसे आर्थिक, सैन्य तथा प्रौद्योगिकीय संसाधनों, का विकास किया है। इन संसाधनों की सौम्य शक्ति क्षमताओं से पूर्ति करते हुए भारत स्वयं को प्रमुख सत्ता उम्मीदवार के रूप में पुनर्स्थापित करने में सफल रहा। तथापि, भारत को प्रमुख सत्ता प्रास्थिति के दावे के लिए कुछ आंतरिक और बाह्य बाधाओं पर काबू पाना है। आन्तरिक तौर पर इसे अभी आर्थिक बाधाओं पर काबू पाना है तथा अपने समाज को समेकित करना है। बाह्य तौर पर उसे प्रमुख शक्तियों के परिरोधन प्रयासों से सफलतापूर्वक निपटना है तथा शासन की अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं में एक वैध स्थिति प्राप्त करनी है।

3.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बाजपाई, कान्ति एंड अमिताभ मट्टू (सं.) 1996, *सिक्योरिंग इंडिया: स्ट्रैटेजिक थकौट एंड प्रेक्टिस*, नई दिल्ली: मनोहर प्रकाशन।

हैरिसन, एस. सेलिग एंड जॉफरी केम्प (सं.) 1993, *इंडिया एंड अमेरिका आफर कोल्ड वार*, वाशिंगटन डी सी: कारनेजी इनडवमेंट फॉर इंटरनेशनल पीस।

नायर आर. बलदेव एंड टी. वी. पॉल, 2003, *इंडिया इन द वर्ल्ड आर्डर: सर्चिंग फॉर मेजर पावर स्टेटस,* केम्ब्रिजः केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

परकोविच, जार्ज, 1999, *इंडियाज न्यूक्लियर बमः द इम्पैक्ट आन ग्लोबल प्लोरीफरेशन,* बर्कलेः यूनिवर्सिटी ऑफ कैलीफोर्निया प्रेस।

पूलोस, टी. टी., 1996, द *सीटीबीटी एंड द राइज ऑफ न्यूक्लियर नेशनलिज़्म इन इंडिया,* नई दिल्ली. लॉरेनर्स बुक्स।

सरदेसाई, दामोदर एंड राजू जी. सी. थॉमस (सं.) 2002, *न्यूक्लियर इंडिया इन ट्वेंटीफस्ट सेंचुरी,* न्यूयार्क, पालग्रेव।

सिंह, जसवंत, 1998, *डिफेण्डिंग इंडिया,* न्यूयार्क, सेंट मार्टिन'स प्रेस।

3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) सौम्य सत्ता संसाधन अमूर्त संसाधन हैं जैसे मानदण्ड, अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं में नेतृत्व की भूमिका, संस्कृति, राज्य की क्षमता, रणनीति, और राष्ट्रीय नेतृत्व। सौम्य शक्ति क्षमताएँ कम निग्रही होती हैं तथा राज्य को आम राय (समझौता) की ओर प्रेरित करने तथा सहयोजन करने (समान उद्देश्यों के सहयोजन के लिए दूसरों को तैयार करना) में सक्षम बनाती हैं।

2) प्रमुख सत्ताएँ सत्ता के अधिकांश, यदि सभी न हो, घटकों पर नियंत्रण रखती हैं। उनके पास अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था के स्वरूप को अवधारित करने की इच्छा और क्षमताएँ होती हैं। दूसरे शब्दों में, उनके भूमंडलीय अथवा महाद्वीपीय हित होते हैं तथा उनके सुरक्षा उद्देश्य क्षेत्रीय रक्षा से परे होते हैं तथा उनमें अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था में शक्ति और व्यवस्था को बनाए रखना शामिल होता है। मध्यस्तरीय शक्तियाँ, दूसरी तरफ, कतिपय क्षेत्र में प्रायः वर्चस्व अथवा उत्कृष्टता प्राप्त होती है। कुल मिलाकर उनके पास अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था को प्रभावित कराने के लिए कोई यंत्र नहीं होता अपितु प्रमुख शक्तियों के अवांछनीय निर्णयों का विरोध करने के लिए उनके पास पर्याप्त क्षमताएँ होती हैं।

3) मध्यस्तरीय शक्तियाँ प्रमुख शक्तियों के वर्चस्व को संभाव्य चुनौती प्रस्तुत करती हैं। अतः प्रमुख शक्तियाँ मध्यस्तरीय शक्तियों के प्रभाव को क्षेत्र तक सीमित रखने की माँग करती हैं। प्रमुख सत्ता प्रास्थिति के लिए भारत की महत्त्वाकांक्षाओं पर संयुक्त राज्य और चीन द्वारा अपनाई गई परिरोधन नीतियों से नियंत्रण लगा है। इन दोनों शक्तियों ने पाकिस्तान की सैन्य क्षमताओं का निर्माण हीं नहीं किया है अपितु दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय संघर्ष में उसका पक्ष भी लिया है। इसके अतिरिक्त, संयुक्त राज्य ने अप्रसार शासन को मजबूती प्रदान करने के छद्म वेश में भारत की सैन्य और औद्योगिक क्षमताओं की वृद्धि पर नियंत्रण की माँग की।

बोध प्रश्न 2

1) भारत को दो महत्त्वपूर्ण कारणों से उभरती हुई शक्ति के रूप में देखा जाता है। प्रथम, प्रमुख शक्तियों की सुदृढ़ शक्ति क्षमताओं के मुकाबले इसकी सुदृढ़ शक्ति क्षमताएँ अन्य क्षेत्रीय सत्ताओं की तुलना में पर्याप्त रूप से अधिक हैं। दूसरे, भारत सुदृढ़ शक्ति क्षमताओं के लगभग सभी सूचकांकों में अपनी स्थिति को मजबूत कर रहा है यद्यपि सुधार का स्तर एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बदल जाता है।

इकाई ४ भारत विश्व आर्थिक व्यवस्था में

इकाई की रूपरेखा

४.० उद्देश्य

४.१ प्रस्तावना

४.२ संरक्षण की राजनीति

४.३ वैश्विक व्यापार से विकास

४.४ भारत का वैश्वीकरण

४.५ उदारीकरण

४.६ भारत में उदारीकरण की उपलब्धियाँ

४.७ भारत में उदारीकरण की चुनौतियाँ

४.७.१ आंतरिक चुनौतियां

४.७.२ बाहरी चुनौतियां

४.८ सारांश

४.९ कुछ उपयोगी पुस्तकें

४.१० बोध प्रश्नों के मानक उत्तर

४.० उद्देश्य

इस अध्याय में भारतीय आर्थिक नीति से जुड़ी राजनीति की चर्चा की गई है। भारत ने आयात आधारित औद्योगीकरण की नीति को अपनाया था। इसके तहत माल के उत्पादन के लिए उनमें प्रयोग में आने वाले कच्चे माल का आयात करना होता है। भारी सीमा शुल्क और शुल्क के अलावा अन्य अवरोधों के चलते भारतीय बाजार सुरक्षित बना रहा। लेकिन १९९१ के बाद भारत निर्णायक तौर पर निर्यात आधारित विकास नीति की राह पर चल पड़ा। इस नीति के अंतर्गत भारतीय निर्यात को बढ़ावा दिए जाने के प्रयास किए गए और विदेशी माल के भारत में आने के रास्ते और आसान हो गए। इस अध्याय के अध्ययन के बाद आपको निम्नलिखित प्रश्नों का वर्णन करने में सक्षम होना चाहिए:

- भारत में आयात आधारित औद्योगीकरण की नीति;
- विस्तार से बताएँ कि अंतरराष्ट्रीय व्यापार से देशों को कैसे फायदा हुआ;
- विस्तार से बताएँ कि भारत ने १९९१ के बाद निर्यात संवर्द्धन की ओर क्यों कदम बढ़ाए;
- भारत में आर्थिक उदारीकरण के तत्वों का वर्णन करें; और
- वैश्विक अर्थव्यवस्था में भारत की हिस्सेदारी से पैदा हुई चुनौतियों की पहचान करें।

४.१ प्रस्तावना

आयात आधारित औद्योगीकरण (आईएसआई) की नीति को उन देशों ने अपनाया जिनका औपनिवेशिक अतीत था। आईएसआई की रणनीति इस तर्क पर आधारित थी कि इन देशों में उद्योग अभी भी

शैशवावस्था में हैं। यह माना गया कि भारतीय उद्योगपतियों के लिए देश के बाजार को बचाए रखना बहुत अनिवार्य है। इस तरह के संरक्षण के बगैर संभव था कि भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया सस्ते आयातों के कारण चौपट हो जाती। भारत सरकार के पास दो रास्ते थे। या तो वह विकास के लिए निर्यातों के रास्ते पर चलती, जिसमें वस्त्रा निर्यात को बढ़ावा देने जैसे कुछ कदम थे, अथवा आयात के रास्ते देश में ही माल उत्पादन के लिए कच्चे माल का आयात करती। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में दूसरे रास्ते को चुना गया। आईएसआई मॉडल से हालांकि औद्योगिक और तकनीकी आधार देश में काफी विस्तृत हुआ, लेकिन इसके साथ जल्द ही समस्याएं खड़ी होने लगीं जब आर्थिक विकास की दर ३.५ पर आकर स्थिर हो गई। विकास के आईएसआई मॉडल की सीमाओं ने भारत सरकार को निर्यात पर आधारित विकास के रास्ते को चुनने पर मजबूर कर दिया। प्रस्तुत अध्याय में इस बात की पड़ताल की गई है कि आईएसआई मॉडल की सीमाओं को पार करने के भारत सरकार के प्रयासों ने किस प्रकार से उसे निर्यात संवर्द्धन की नीतियों की ओर धकेल दिया। इन कदमों से किस प्रकार अर्थव्यवस्था में अनियमितताएँ पैदा हुईं तथा वैश्विक अर्थव्यवस्था के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था का एकीकरण हुआ। भारतीय अर्थव्यवस्था के समक्ष प्रस्तुत चुनौतियों की भी इस अध्याय में जांच की गई है।

४.२ संरक्षण की राजनीति

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के बाद अपनाई गई आईएसआई रणनीति का मुख्य उद्देश्य देसी बाजार को उच्च सीमा शुल्क के सहारे तैयार माल के लिए बचाना था। विनिमय की दर ऊँची बनाए रखने के कारण आयात सस्ता हो गया लेकिन निर्यात महंगा हो गया। मसलन, मान लें कि बाजार के मुताबिक विनिमय दर ५० रुपए बराबर एक डॉलर है, लेकिन भारत ने रुपए का मूल्य जानबूझ कर बढ़ाए रखने के लिए जो दर तय की वह थी १० रुपए बराबर एक डॉलर। ऐसी स्थिति में १०० डॉलर की एक मशीन का पहले मामले के अनुसार दाम होगा ५००० रुपए और दूसरी दर के मुताबिक दाम होगा सिर्फ १००० रुपए। यानी दूसरे मामले में डॉलर की तुलना में रुपए के मूल्यवर्द्धन के कारण मशीन का दाम काफी कम हो जाएगा, बनिस्बत पहले मामले के जहाँ रुपए का मूल्यांकन बाजार की दर से किया गया है। भारी मशीनरी का आयात भारत के लिए आवश्यक था चूंकि ये मशीने भारत में नहीं बन सकती थीं। विनिमय दर में रुपए के मजबूत होने के कारण इस किस्म के आयातों में फायदा हुआ। सस्ते आयातों की बाढ़ पर लगाम कसने के लिए आयात अनुज्ञप्तियों का उपयोग किया गया। जहां आयातित माल एक अनिवार्यता थे, वहां इस प्रणाली का उपयोग नहीं किया गया।

निजी उद्योगों को औद्योगिक लाइसेंसों द्वारा नियंत्रित किया जाने लगा। इस तरह से कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में जिन उद्योगपतियों के पास लाइसेंस थे वे ही माल का उत्पादन कर सकते थे। उदाहरण के तौर पर, अगर एक औद्योगिक घराने के पास कार निर्माण का लाइसेंस है, तो वह सिर्फ कार का ही उत्पादन कर सकता है। इससे भी कहीं आगे, विदेशों में जिन बहुराष्ट्रीय कंपनियों का मुख्यालय था, उन्हें भारत में अपना काम शुरू करने के लिए हतोत्साहित किया गया।

इस व्यवस्था से ऐसी स्थिति आ गई जिसने भ्रष्टाचार और घूसखोरी को बढ़ावा दिया। इसे लगान वसूली का भी नाम दिया जाता है। बाजार की ताकतों के ठीक उलट सरकारी नियमों की वजह से संस्थानों को सरकारी पक्ष प्राप्त करने में बहुत खर्चा करना पड़ता। मसलन, यदि एक उद्योगपति किसी मशीन का आयात करना चाहता, तो उसे लाइसेंस की जरूरत पड़ती। अगर वह किसी वस्तु का उत्पादन करना वाहता तो उसे फिर से एक और लाइसेंस की जरूरत पड़ती। इन सभी लाइसेंसों को आसानी से प्राप्त करने का सबसे आसान तरीका किसी राजनीतिक दल, नेता या सरकारी मुलाजिम की खिदमत करना था। इस खुशामद में जो भी खर्च आता, उसका उपयोग अन्यथा अपने माल को बेहतर बनाने या सस्ता बनाने में लगाया जा सकता था। भारतीय अर्थव्यवस्था में अधिकांश धनराशि लगानों के रूप में बहा दी जा रही थी जिसका निवेश अगर माल की उत्पादकता में किया

जाता तो भारतीय माल विश्व बाजार को चुनौती दे सकता था। इस पूरी प्रक्रिया में संसाधनों का बँटवारा कुछ इस तरह होता कि नई दिल्ली के कई चक्कर लगाने के बाद वहां एक कार्यालय स्थापित करना होता, फिर अधिकारियों को पैसा खिलाना पड़ता। इसमें आने वाला खर्च लाइसेंस के आकार पर निर्भर करता। एक अध्ययन के मुताबिक भारत में सार्वजनिक निवेश, आयात, माल नियंत्राण, राशन प्रणाली और रेलवे से आने वाले लगान की कुल राशि १९६४ में करीब १५०० करोड़ थी।

सरकारी नियमों और नियंत्राण के कारण निजी संस्थानों को फायदा हुआ। सार्वजनिक क्षेत्रा की कंपनियों ने सरकारी अनुदान की मदद से निजी क्षेत्रा के लिए आवश्यकता की वस्तुएँ मुहैया करानी शुरू कर दीं। अगर सार्वजनिक क्षेत्रा इन वस्तुओं का उत्पादन नहीं करता, तो भी इनका आयात रुपए के बढ़े हुए मूल्य के आलोक में आयात अनुज्ञप्तियों की मदद से सस्ते में किया जा सकता था। भारतीय औद्योगिक वित्तीय निगम जैसी सरकारी वित्तीय संस्थाओं ने निजी क्षेत्रा के संस्थानों को भारी अनुदान दिया। कभी-कभार ऐसा हुआ कि कुछ प्रभावकारी औद्योगिक घरानों ने अपनी लाइसेंस क्षमता से ज्यादा उत्पादन किया, लेकिन सरकारी नियंत्राण रखने वाली एजेंसियों ने सामान्यत: इन पर ध्यान नहीं दिया। इन सभी कामों के लिए उद्योगपतियों से राजनीतिज्ञ और सरकारी अधिकारियों तक लगानों और घूसखोरी की एक लंबी श्रृंखला का होना जरूरी था।

भारत में संसदीय चुनावों के लिए आवश्यक धनराशि के लिए राजनेता घरेलू से लेकर विदेशी निगमों पर आश्रित हो गए। इससे राजनेताओं, नौकरशाही और उद्योगपतियों के बीच परस्पर आवश्यकता पर आधारित संबंध बनते चले गए। सरकार की ओर से मिलने वाली चुनाव के लिए आवश्यक धनराशि की सीमा बहुत कम होती है। हालांकि १९९६ के बाद राजनीतिक दलों ने करों पर रिटर्न दाखिल करना शुरू कर दिया, इसके बावजूद दिखाई गई राशि इतनी कम थी कि शंका पैदा होना जायज था। १९८० के बाद से सार्वजनिक क्षेत्रा और रक्षा उपकरणों के सौदे चुनाव अनुदानों का एक महत्वपूर्ण स्रोत बन कर उभरे हैं। वर्तमान समय में रक्षा और इसी किस्म के अन्य क्षेत्राों तथा निजीकरण के क्षेत्रा जैसे दूरसंचार आदि राजनीतिक दलों के संसाधन जुटाने के महत्वपूर्ण स्रोत बन गए हैं।

भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने वाली आईएसआई रणनीति ने भारतीय उत्पादकता और प्रतियोगिता पर प्रतिकूल प्रभाव छोड़ा। एक अध्ययन के मुताबिक किसी अमुक क्षेत्रा में श्रमिकों और उद्योगों का घनत्व उस क्षेत्रा में संरक्षण को तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। सरकार ने दीवालिया हो चुकी ऐसी औद्योगिक इकाइयों को अनुदान दिया जो कभी मुनाफा कमाने की हालत में नहीं थीं। एक अध्ययन में पाया गया कि औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड द्वारा अनुदानित ऋणों के माध्यम से २३ में से १७ दीवालिया हो चुकी औद्योगिक इकाइयों को जबर्दस्ती जिंदा रखा गया। इन सभी कारकों ने भारत की उत्पादकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। विश्व मानकों पर भारतीय माल की गुणवत्ता कम रही और दाम तुलनात्मक रूप से अधिक थे। सभी विकासशील देशों के बीच उत्पाद निर्यात में भारत की हिस्सेदारी १९६२ में २२.१ फीसदी से घट कर १९९० में ३.४ फीसदी पर आ गई। दुनिया के पैमाने पर यह हिस्सेदारी १९६२ में ०.८४ फीसदी की तुलना में गिर कर १९९१ में ०.५४ फीसदी ही रह गई।

१९८० में आर्थिक विकास की दर कम रहने, चुनाव में हुई हार और व्यापार में चीन की सफलता के मद्देनजर प्रधानमंत्राी इंदिरा गांधी को निर्यात संवर्द्धन की आवश्यकता महसूस हुई। भारत के विकास के लिए निर्यात को बढ़ावा देने संबंधी सरकार ने कई कमेटियों का गठन किया। लेकिन औद्योगिक रुचियों के मुताबिक आईएसआई ही अभी भी बेहतर विकल्प बना हुआ था। भारतीय वाणिज्य और उद्योग परिसंघ (फिक्की) ने आवश्यक वस्तुओं जैसे अखबारी कागज, सीमेंट और कॉस्टिक सोडा पर शुल्क कम कर दिया लेकिन वह अभी भी नवस्थापित मुक्त व्यापार क्षेत्राों में सौ फीसदी निर्यात आधारित इकाइयों के पक्ष में तैयार नहीं हो सका था। घरेलू उपभोग के लिए निम्न गुणवत्ता वाले उत्पादों को तैयार करने वाले उद्योगों का अंतरराष्ट्रीय ब्रांडों के समतुल्य उत्पादन करने वाली इकाइयों में परिवर्तन बहुत कठिन था।

प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने १९८४ में सत्ता में आते ही सरकारी नियंत्राण के खिलाफ संघर्ष करने का निर्णय लिया। कड़े राजनीतिक विरोध के कारण उनके द्वारा चलाई गई आर्थिक सुधार की प्रक्रिया को बहुत कम सफलता मिल सकी। हालांकि इससे एक फायदा हुआ कि नौकरशाही और राजनेताओं का एक तबका इस बात से सहमत हो गया कि नीतियों में परिवर्तन की जरूरत है। राजीव गांधी ने मोंटेक सिंह अहलुवालिया को विश्व बैंक से प्रधानमंत्री कार्यालय बुला लिया। १९९० में अहलुवालिया ने एक पर्चा पेश किया जिसमें भारतीय निर्यातों को प्रतियोगी बनाने और भारतीय उपभोक्ताओं की स्थिति सुधारने के लिए सीमा शुल्क घटाने, विदेशी निवेश के निशुल्क प्रवेश और कई कदमों के पक्ष में तर्क दिया गया था। भारत को अब नीतियों में परिवर्तन करने के लिए राजनीतिक अवरोधों को दूर करने के रास्ते खोजने थे।

४.३ वैश्विक व्यापार से विकास

१९४७ में भारत से भी पिछड़े कई पूर्वी एशियाई देश अंतरराष्ट्रीय व्यापार में अपनी हिस्सेदारी कर भारत से भी तेज विकास कर रहे थे जिससे उनके नागरिकों के जीवनस्तर में सुधार आ रहा था। तुलनात्मक तौर पर छोटे दक्षिण कोरिया और ताइवान पूर्वी एशिया में आयात आधारित नीतियां छोड़ कर व्यापार संवर्द्धन नीतियों को लागू करने में अगुवा रहे। इन देशों के बाजारों का आकार भारत की तुलना में बहुत छोटा था इसलिए उसका दोहन करके वे व्यापार को आगे बढ़ा सकने में अक्षम थे। इसीलिए ये देश अपने उत्पादों की बिक्री के लिए विदेशी बाजार पर बहुत ज्यादा निर्भर थे। दक्षिण कोरिया ने बड़े निगमों को बढ़ावा देने का जापान का रास्ता अपनाया जिससे उसके अंतरराष्ट्रीय व्यापार में काफी इजाफा हुआं। ताइवान ने छोटे उद्यमों को बढ़ावा दिया। दोनों देशों की व्यापार पर निर्भरता बहुत बढ़ गई और यहां विकास की दर में आश्चर्यजनक बढ़ोतरी हुई। एक ओर जहां भारत १९७० के दशक में ३.५ फीसदी की सालाना दर से बढ़ रहा था वहीं इन देशों ने सालाना सात फीसदी की विकास दर अर्जित की।

चीन इस मामले में सबसे बड़ा आश्चर्य रहा। चीन और सोवियत संघ उन दो साम्यवादी देशों में से थे जिनकी विकास नीति खासकर पूंजीवादी विश्व के बरक्स पूरी तरह व्यापार के विरोध में खड़ी थी। लेकिन १९७० के अंत तक चीन के लिए इन नीतियों में परिवर्तन आया। चीन ने इस तथ्य को महसूस किया कि उसने ताइवान और दक्षिण कोरिया की तरह निर्यात संवर्द्धन के माध्यम से बाजार का दोहन करने की बजाय यह दशक गंवा दिया है। इसके बाद से चीन की विकास नीति भी वैश्विक हो चली। चीन ने अब भारी मात्राा में निर्यात आधारित विदेशी निवेशों को आकर्षित किया और पश्चिमी बाजारों के लिए उसने निम्न तकनीक वाले उत्पादों का निर्यात चालू कर दिया। इस विकास नीति की मदद से चीन में विकास दर काफी लंबे समय से सात फीसदी पर ही बनी हुई है और उसने अमेरिका के साथ काफी व्यापार कर मुनाफा कमाया है।

१९९१ में सोवियत संघ के पतन और १९८० के दशक में लातिन अमेरिकी देशों पर ऋ़ण संकट ने विकास के एक वैकल्पिक रास्ते के रूप में वैश्विक व्यापार के तर्क को और मजबूती दी। अमेरिका को पूरी दुनिया में सैन्य चुनौती देने की क्षमता रखने वाले इकलौते देश सोवियत संघ ने विकास के एक सशक्त मॉडल के रूप में आईएसआई के औचित्य को स्थापित किया था। १९८० के दशक में गंभीर आर्थिक समस्याओं के कारण सोवियत संघ के पतन ने आईएसआई मॉडल में देशों की रुचि को कम कर दिया। लातिन अमेरिकी देशों ने आईएसआई के एक विभिन्न संस्करण को अपनाया था। इन्हीं नीतियों के कारण इन देशों को भारी मुद्रास्फीति का सामना करना पड़ा और इनके सामने ऋ़ण का संकट खड़ा हो गया। आईएसआई मॉडल में घटती रुचि और विश्व मुद्रा कोश के इन देशों पर अपनी अर्थव्यवस्थाओं को खोलने के दबाव के चलते कई लातिन अमेरिकी देशों का झुकाव व्यापार की तरफ बढ़ने लगा।

४.४ भारत का वैश्वीकरण

१९९१ में भारत ने आईएसआई से अपने कदम व्यापार आधारित विकास की ओर बढ़ाए। कार्यपालिका ने १९९१ के ऋण संकट का हवाला देकर आर्थिक नीतियों में व्यापार समर्थक सुधारों को अंजाम दिया। कांग्रेस पार्टी के प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंहराव और वित्त मंत्री मनमोहन सिंह ने इस नीतिगत संक्रमण की आर्थिक रणनीति को आकार दिया। उन्होंने भारत की व्यापार, औद्योगिक और वित्तीय नीतियों में परिवर्तन की लहर उस वक्त चलाई जब उदारीकरण के प्रति उद्योगों का प्रतिरोध न्यूनतम था। खाड़ी युद्ध के कारण तेल की कीमतों में अस्थायी उछाल आ गया था। सरकारी व्यय उससे कहीं ज्यादा था जितना कि सरकार वहन कर सकती थी। इन्हीं सब कारकों का परिणाम यह हुआ कि भारत का विदेशी मुद्रा भंडार खाली होने के कगार पर आ गया। १९९० के शुरुआती दशक में भारत के पास सिर्फ दो सप्ताह के लिए आयात किए जा सकने लायक संसाधन शेष थे।

भारत में बगैर आयात के उद्योग अपने काम को आगे बढ़ाने में अक्षम थे। आईएसआई के लिए अनिवार्य तात्कालिक माल आपूर्ति के लिए उन्हें विश्व मुद्रा कोष के संसाधनों की मदद की दरकार थी। भारतीय उद्योगों ने विदेशी निगमों को भी हलके में लिया और औद्योगिक अनुज्ञप्ति में अनियमितताओं का आकलन बढ़ा-चढ़ा कर किया। इसका नतीजा यह हुआ कि १९९१ से १९९३ के बीच उदारीकरण को भारतीय उद्योगों का भारी समर्थन हासिल हुआ। भारतीय उद्योगों द्वारा बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रवेश का विरोध और व्यापार के लिए समान अवसरों की मांग की बात १९९३ में उठी। लेकिन तब तक महत्वपूर्ण व्यापार संवर्द्धन नीतियों को लागू कर दिया गया था। मजदूर संगठनों ने अक्षम श्रमिकों की आसानी से छंटनी किए जाने संबंधित विश्व मुद्रा कोष द्वारा प्रवर्तित नीति का सफलतापूर्वक विरोध किया, चूंकि यही श्रमिक औद्योगिक पुनर्संरचना के सूत्राधार हैं। उन्होंने लेकिन आयातों के उदारीकरण और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रवेश तथा उद्योगों में लाइसेंस खत्म करने का विरोध नहीं किया।

व्यापार समर्थक कार्यपालिका इस अवसर का फायदा उठाते हुए आईएसआई की राजनीति का भी अतिक्रमण कर गई। डॉ. सिंह के १९९१ में दिए गए बजट अभिभाषण में स्पष्ट तौर पर निवेशों की कम उत्पादकता का जिक्र है जिससे सरकार को बजट और व्यापार में काफी घाटा उठाना पड़ा। एक ओर डॉ. सिंह ने आर्थिक प्रबंधन की कमान अपने हाथ में ली, वहीं प्रधानमंत्री राव ने राजनीतिक परिस्थितियों को बड़ी सक्षमता से नियंत्राण में रखा। इन दोनों के नेतृत्व में भारत का तमाम आर्थिक परिवर्तनों से साक्षात्कार हुआ। इनमें सीमा शुल्क में महत्वपूर्ण कटौती, विदेशी संस्थानों और व्यक्तियों द्वारा निवेश को प्रोत्साहन, उद्योगों में लाइसेंस व्यवस्था की समाप्ति, रुपए का अवमूल्यन और चालू खाते पर रुपए की पूर्ण परिवर्तनीयता आदि शामिल थे।

व्यापार समर्थित नीतियों को भारतीय जनता पार्टी ने भी आगे ही बढ़ाया जो १९९६ में सत्ता में आई। भाजपा की अराजनीतिक, विचारधारात्मक और सांस्कृतिक संस्था राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के काडरों के आने से उम्मीद की गई कि अर्थव्यवस्था में व्यापार समर्थक रूझान का अब खात्मा होगा। चूंकि वे स्वदेशी यानी आर्थिक प्रबंधन के लिए स्वदेशी सिद्धांतों के प्रवर्तक थे १९९८ में पेश किए गए बजट में आईएसआई की ओर हलकी वापसी के संकेतों से इन आशंकाओं को बल मिला। हालांकि प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी और वित्त मंत्री यशवंत सिन्हा ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और स्वदेशी जागरण मंच जैसे स्वदेशी का प्रचार करने वाले संगठनों के खिलाफ जाते हुए भाजपा के उदार चेहरे का प्रतिनिधित्व किया। उन्होंने आर्थिक उदारीकरण की गति को यथावत बनाए रखा।

१९९८ के बजट के बाद पोकरण परमाणु विस्फोट के आलोक में तीन राज्यों के विधानसभा चुनावों में भाजपा की हार ने आईएसआई के समर्थकों को निराश करने का काम किया। जसवंत सिंह को विदेश मंत्री बनाए जाने का कदम प्रधानमंत्री वाजपेयी की उदार छवि का ही परिचायक था। १९९८ में राजनीतिक झटके के बाद यशवंत सिन्हा इस बात से सहमत हो गए कि देश के विकास के लिए व्यापार आधारित आर्थिक प्रणाली की ही आवश्यकता है। वित्त मंत्री जसवंत सिंह द्वारा पेश किए

गए २००३-०४ के आम बजट में व्यापार समर्थक नीतियों की ही झलक मिली। नीतिगत स्तर पर भाजपा की उपलब्धियों में सभी मात्राात्मक प्रतिबंधों का हटाया जाना, बीमा और दूरसंचार के क्षेत्रा का अनियमित किया जाना, आयात शुल्क में कटौती और सार्वजनिक क्षेत्रा की इकाइयों के विनिवेश की शुरुआत को गिनाया जा सकता है।

बोध प्रश्न १

नोट : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग करें।

ख) अध्याय के अंत में दिए गए मानक उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान करें।

१) भारत में आयात आधारित औद्योगीकरण (आईएसआई) की व्याख्या करें।

....

....

....

....

....

२) आईएसआई से भारत की प्रतिद्वंद्विता को कैसे नुकसान हुआ?

....

....

....

....

....

....

....

....

३) भारतीय अर्थव्यवस्था का वैश्विक अर्थव्यवस्था से एकीकरण कैसे हुआ?

....

....

....

....

....

४.५ उदारीकरण

१९९१ के बाद भारत की आर्थिक नीति में उदारीकरण को लागू कर दिया गया। उदारीकरण का सामान्य अर्थ सरकारी हस्तक्षेप को कम करना तथा राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर बाजार की ताकतों को खेलने के लिए और अधिक आजादी मुहैया कराना है। इस खंड में औद्योगिक नीति, शुल्क

कटौती, मात्राात्मक प्रतिबंधों की समाप्ति और चालू खाते पर रुपए की पूर्ण परिवर्तनीयता के संदर्भ में हुए परिवर्तनों के बारे में चर्चा की गई है। भारत ने ई-कॉमर्स और सेवाओं के मामले में भी उदारीकरण को लागू किया। विदेशी पूंजी को आकर्षित करने के लिए विदेशी प्रत्यक्ष निवेश, पोर्टफोलियो निवेश, और उद्यमी पूंजी में भी उदारीकरण लागू किया गया।

औद्योगिक लाइसेंस

उद्योगों में लाइसेंस राज को समाप्त कर नीति निर्माताओं ने रिश्वतखोरी के अवसरों को ही समाप्त कर दिया। औद्योगिक अनुज्ञप्तियां यह सुनिश्चित करने के लिए बनाई गई थीं कि सरकार यह तय करे कि भारत जैसे बड़े घरेलू बाजार के लिए कौन सी कंपनी कौन से माल का उत्पादन कितनी मात्राा में करेगी। घरेलू उत्पादकों की रुचि लाइसेंस प्राप्त कर अपनी उत्पादक क्षमताओं को बढ़ाने में भी थी। यह दोनों ही काम राजनेताओं और सरकारी अफसरों को रिश्वत खिला कर निकाले जा सकते थे। भारतीय औद्योगिक उत्पादन में नयापन और दक्षता नहीं थी, चूंकि अफसर और नेता लगान वसूली कर बाजार से अपना फायदा निकालते थे।

शुल्क, कोटा और रुपए की परिवर्तनीयता

भारत ने विश्व व्यापार संगठन द्वारा तय की गई सीमा से दो साल पहले ही ३१ मार्च २००१ को सभी मात्राात्मक प्रतिबंध समाप्त कर दिए। भारतीय व्यापार नीति में यह एक महत्वपूर्ण घटना है। मात्राात्मक प्रतिबंधों के तहत किसी अमुक देश के साथ व्यापार के लिए एक निश्चित मात्राा तय होती है चाहे मांग कितनी भी रहे। अगर जापान से फोटोकॉपी मशीनों के भारत निर्यात पर १००० मशीनों का मात्राात्मक प्रतिबंध लागू है, तो भारतीय कुल मिला कर सिर्फ १००० फोटोकॉपी मशीन ही जापान से खरीद सकते हैं। विश्व व्यापार संगठन की विवाद निपटारा कार्रवाई में अमेरिका ने भारत के मात्राात्मक प्रतिबंधों को सफलतापूर्वक चुनौती दी थी। दिसंबर १९९८ में भारत की इस मामले में हार हुई और अंतरराष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं के चलते भारत को घरेलू बाजार में सुधारों को लागू करना पड़ा। मात्राात्मक प्रतिबंधों के हटाए जाने से भारत में खुदरा व्यापार में भारी बढ़ोतरी होगी। ए.टी. केर्नी का अनुमान था कि इससे भारत में खुदरा व्यापार का संगठित बाजार ३७ अरब डॉलर का होगा।

भारतीय शुल्क में अचानक भारी कटौती की गई। भारतीय उद्योगपति अभी तक अपने माल की कम गुणवत्ता और उत्पादकता से बचाव के लिए उच्च सीमा शुल्क पर निर्भर थे। औसतन देखा जाए तो १९९०-९१ में सामान्य शुल्क १२५ फीसदी से गिरकर १९९७-९८ में ३५ फीसदी पर पहुंच गया। इसी अवधि के दौरान आयात शुल्क ८७ फीसदी से गिर कर ३० फीसदी पर पहुंच गया। भारत ने सूचना प्रौद्योगिकी समझौते पर दस्तखत किए हैं जिसके मुताबिक २००५ तक सूचना प्रौद्योगिकी से जुड़े उपकरणों पर शुल्क समाप्त हो जाएगा।

१९९५ में भारत ने अमेरिका और यूरोपीय संघ के साथ वस्त्रा व्यापार से संबंधित समझौते पर दस्तखत किए। इस तरीके से प्रतिबंधों की सूची में से फाइबर, यार्न और औद्योगिक वस्त्राों को हटा दिया गया। २००५ तक अधिकतर अमेरिकी और यूरोपीय वस्त्रा निर्यातकों को भारत में निशुल्क प्रवेश मिल जाएगा। बदले में अमेरिका इस बात के लिए तैयार हो गया कि वह भारतीय उत्पादों को अपने बाजार में और ज्यादा पहुंच की सुविधा देगा और २००५ तक कोटा प्रणाली समाप्त कर देगा। यूरोपीय संघ इस बात से सहमत हो गया कि वह भारतीय हथकरघा उत्पादों पर से सारे प्रतिबंध हटा लेगा और अपने कोटे में ३ अरब राशि की बढ़ोतरी करेगा तथा २००४ तक कोटा प्रणाली समाप्त कर देगा।

विदेशी मुद्रा पर नियंत्राण में अब थोड़ी छूट दी गई। १९९१ के बाद चालू खातों पर रुपए की पूर्ण परिवर्तनीयता को धीरे-धीरे अनुमति दी गई और यह प्रक्रिया १९९४ तक पूर्ण हो गई। अब रुपए और डॉलर के बीच विनिमय दर को अमूमन बाजार ही तय करता है। पहले, भारतीय उद्योगपति विनिमय की मूल्यवर्द्धित दर पर निर्भर थे। इससे उन्हें कच्चे माल का आयात सस्ता पड़ता लेकिन वे आयात लाइसेंस और भारत सरकार द्वारा अनुदान में दी जाने वाली विदेशी मुद्रा पर बहुत ज्यादा निर्भर रहते थे। १९९४ के बाद अधिकांशत: बाजार द्वारा नियंत्रित रुपए की विनिमय दर के कारण

आयात महंगे हो गए और निर्यात सस्ते हो गए। विनिमय दर के अवमूल्यन से भारतीय निर्यातों की प्रतिद्वंद्विता में बढ़ोतरी हो गई।

भारत में विदेशी निवेश से रोजगार सृजन हो सकता है, प्रौद्योगिकी तक पहुंच बनेगी और उत्पादों की गुणवत्ता में बढ़ोतरी होती। १९९० के दशक में अमेरिका में कम ब्याज दरों की वजह से उभरते हुए बाजारों में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश औसतन १९८५-९० के दौरान १४२ अरब डॉलर सालाना से दोगुना होकर १९९६ में ३५० अरब डॉलर सालाना पर पहुंच गया। १९९० के दशक में सरकार के विदेशी निवेश के प्रति रवैये में बदलाव के चलते भारत में प्रत्यक्ष विदेशी निवेशों की आमद शुरू हो गई। भारत में विदेशी निवेशों के उदारीकरण के लिए १९७३ के विदेशी मुद्रा नियमन कानून में संशोधन किया गया। ४८ क्षेत्रों में ५१ फीसदी तक विदेशी हिस्सेदारी को अपने आप मंजूरी देने का प्रावधान बनाया गया। कई क्षेत्रों में तो ७४ फीसदी विदेशी हिस्सेदारी की मंजूरी दे दी गई और ढांचागत क्षेत्रों जैसे बंदरगाह और सड़कों के मामले में १०० फीसदी हिस्सेदारी की अनुमति दे दी गई। बीमा क्षेत्रा, बैंकिंग, दूरसंचार और नागरिक उड्डयन को विदेशी निवेशों के लिए खोल दिया गया। भारत ने इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी और मलयेशिया जैसे देशों के साथ द्विपक्षीय संधियों पर दस्तखत किए हैं। साथ ही उसने अमेरिका के साथ डबल टैक्सेशन संधि को भी मंजूरी दी है। १९९२ से भारत को विश्व बैंक बहुपक्षीय निवेश प्रत्याभूति एजेंसी की सदस्यता मिल गई।

वित्त मंत्री यशवंत सिन्हा ने सिलिकॉन वैली से भारत के तार जोड़ने के उद्देश्य से उद्यमी पूंजी पर लगने वाले कर को उदार बनाया। वाणिज्यिक विकास की आरंभिक अवस्था में युवा उद्यमियों को बगैर कोई मुनाफा कमाए वित्तीय और ढांचागत मदद देने का प्रावधान किया गया। २००१ के बजट के बाद उद्यमी पूंजी को सेबी की मंजूरी दिए जाने की अनिवार्यता को समाप्त कर दिया गया।

सॉफ्टवेयर के क्षेत्रा में बढ़ती प्रतिद्वंद्विता के कारण भारतीय कंपनियों को विदेशी अनुदान लेने और विदेशी परिसंपत्तियों के अधिग्रहण संबंधी प्रक्रिया को आसान किया गया। भारत सरकार ने भारतीय कंपनियों को अमेरिकन डिपोजिटरी रिसीप्ट और ग्लोबल डिपोजिटरी रिसीप्ट से अपने संसाधन जुटाने की पूरी छूट दी हुई है। इन कंपनियों को छूट है कि ये विदेशी कंपनियों के अधिग्रहण में जुटाए गए संसाधनों के ५० फीसदी हिस्से का इस्तेमाल कर सकें।

पोर्टफोलियो में निवेश की नीति को उदारीकृत किया गया। पोर्टफोलियो में निवेश का संबंध अमीर देशों के उन अनुदान प्रबंधकों के निवेश से है जो मुनाफा कमाने के लिए अमीर देशों के नागरिकों की बचत का दुनिया भर में निवेश करते हैं। २००० से पहले विदेशी संस्थागत निवेशकों को छूट थी कि वे किसी भी भारतीय कंपनी की २४ फीसदी हिस्सेदारी में निवेश कर सकें। इसे ३० फीसदी की सीमा तक बढ़ाया जा सकता है। इसके लिए जरूरी है कि कंपनी के निदेशक बोर्ड की इसे अनुमति प्राप्त हो तथा कंपनी की जीबीएम में इससे संबंधित एक प्रस्ताव पारित किया जाए। २००१ के आम बजट में पोर्टफोलियो निवेश में हिस्सेदारी की सीमा को ४० फीसदी तक रखा गया, बशर्ते उसे कंपनी के निदेशक बोर्ड की मंजूरी प्राप्त हो।

सितंबर २००१ में रिजर्व बैंक ने एक प्रावधान किया जिसके तहत किसी भी क्षेत्रा में विदेशी संस्थागत निवेशक की हिस्सेदारी की सीमा उतनी ही रहेगी जितनी कि उस क्षेत्रा में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की सीमा है। किसी भी कंपनी में २४ फीसदी से ज्यादा हिस्सेदारी के लिए कंपनी के निदेशक बोर्ड की मंजूरी अनिवार्य है। इसका अर्थ यह है कि विदेशी संस्थागत निवेशक ऊर्जा, पेट्रोलियम, दवाओं, सॉफ्टवेयर और होटल के क्षेत्रा में सिद्धांततः १०० फीसदी तक निवेश कर सकते हैं।

४.६ भारत में उदारीकरण की उपलब्धियाँ

भारत में उदारीकरण के परिणाम काफी प्रभावकारी रहे हैं। १९९३ से २००० के बीच औसतन छह की सालाना विकास दर के हिसाब से भारत दुनिया में सबसे तेजी से विकास करने वाली

अर्थव्यवस्थाओं में एक रहा है। मुद्रास्फीति को पांच फीसदी से नीचे नियंत्रित रखा गया। पिछले दशक के अंत तक भारत का विदेशी मुद्रा भंडार तकरीबन ४० अरब डॉलर था जो अगले नौ महीने तक आयात का बोझ उठाने में सक्षम था। ऐसी स्थिति कम से कम खाड़ी युद्ध के समय तेल के दामों में आए उछाल को झेलने में पर्याप्त सक्षम थी।

भारत एक प्रमुख सॉफ्टवेयर निर्माता और विश्व के अग्रणी आउटसोर्सिंग के ठिकाने के रूप में उभर रहा था। विदेशी कंपनियों ने भारत में शोध और विकास के कार्यो के लिए उपलब्ध सस्ते और तकनीकी रूप से दक्ष श्रम का फायदा उठाया। १९८० के दशक की तुलना में १९९० के दशक में भारत से आभूषण और मणिकों के निर्यात में भारी तेजी आई। भारत द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में आभूषणों ने अपना विशिष्ट स्थान बनाए रखा।

विदेशी निवेश

तालिका १: भारत में विदेशी निवेश

(अरब डॉलर में कुल राशि)

	१९९१	१९९२	१९९३	१९९४	१९९५	१९९६	१९९७	१९९८	१९९९	२०००
निवेश										
प्रत्यक्ष	०.०७३	०.२७६	०.५५०	०.९७३	२.१४३	२.४२६	३.५७७	२.६३४	२.१६८	२.३१५
पोर्टफोलियो	०.००४	०.२८३	१.३६९	५.४९१	१.५९०	३.५९८	२.५५५	-०.६०१	२.३१७	१.६१९
कु ल	०.७७४	०.५५९	१.९१९	६.४६४	३.७३३	६.०२	६.१३२	२.०३३	४.४८५	३.९२४

उदारीकृत सत्ता को विदेशी निवेशों की ओर से अनुकूल जवाब मिला। १९९० में विदेशी निवेश का कुल योग करीब दो अरब डॉलर था। १९९७-९८ में आए ६.१ अरब डॉलर के विदेशी निवेश से ६.५ अरब डॉलर के विदेशी मुद्रा कोष के घाटे की भरपाई संभव हो सकी। १९९० के शुरुआती दशक में धन की आमद अधिकांशत: पोर्टफोलियों निवेश के माध्यम से ही हुई थी। १९९५ के बाद प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को रफ्तार मिली। पूर्वी एशिया में आर्थिक संकट के दौरान जब पोर्टफोलियो निवेश कमजोर पड़ने लगा, तो प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में तेजी आई और पोर्टफोलियो निवेश एक बार फिर से उभरा।

पूर्वी एशियाई देशों की पूंजी को आकर्षित करने की क्षमता की तुलना में भारत की सफलता बहुत फीकी है। १९९६ में विदेशी निवेश के माध्यम से विकासशील देशों की कुल आय १३० अरब डॉलर रही। इसमें अकेले चीन की हिस्सेदारी ४२ डॉलर अरब की थी। चीन की कुल पूंजी के निर्माण में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश से आए धन का योगदान २५ फीसदी है जबकि भारत के मामले में यह पांच फीसदी से भी कम है। तुलनात्मक तौर पर देखा जाए तो भारत में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश से आने वाली धनराशि सालाना दो से तीन अरब डॉलर है। इससे भी बड़ी बात यह है कि भारत में जितने प्रत्यक्ष विदेशी निवेशों को मंजूरी मिली है, उनमें से मात्रा २० फीसदी से ही वास्तविक आय हुई है।

आईएसआई द्वारा तैयार किए औद्योगिक और तकनीकी आधार पर भारतीय अर्थव्यवस्था को खोलने और उसके वैश्विक अर्थव्यवस्था में एकीकरण ने भारत को दुनिया में एक सशक्त आर्थिक ताकत का रूप दे दिया। विश्व मुद्रा कोष के मुताबिक भारत आज दुनिया की चौथी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है। भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास दर दुनिया में दूसरी और तीसरे स्थान पर आती है। खासकर सूचना प्रौद्योगिकी, दूरसंचार, और बिजनेस प्रॉसेस आउटसोर्सिंग में यह विकास दर काफी तेज रही है। गोल्डमैन सैश की एक रिपोर्ट (ड्रीमिंग विद बीआरआईसी: दि पाथ टु २०५०) के मुताबिक ब्राजील, रूस, भारत और चीन के बीच भारत अगले तीस से पचास वर्षो के दौरान सबसे तेजी से विकास करेगा। ऐसा वह अपनी जनांकिकीय अवस्थिति और निरंतर विकास के माध्यम से करेगा।

वर्तमान विकास दर के मुताबिक भारत में धीरे-धीरे बुर्जुआ होता बाजार खुद में हर वर्ष एक ऑस्ट्रेलिया को पैदा करेगा और प्रत्येक साढ़े तीन वर्ष में एक फ्रांस पैदा करेगा। वैश्विक व्यापार में भले ही भारत की हिस्सेदारी तुलनात्मक तौर पर बहुत कम हो, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वह प्रगति के रास्ते पर नहीं है।

४.७ भारत में उदारीकरण की चुनौतियाँ

४.७.१ आंतरिक चुनौतियाँ

उदारीकरण के सामने प्रमुख घरेलू चुनौतियां अभी भी बरकरार हैं। व्यापार और प्रतियोगिता देश में ढांचागत अवयवों जैसे सड़क, बंदरगाह और ऊर्जा की गुणवत्ता पर निर्भर होती है। भारत इन सभी मामलों में अभी भी बहुत गरीब है। भारत में श्रम कानूनों ने उत्पादन क्षेत्रा पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव डाला है। भारत में राजकोषीय घाटा और ब्याज दरों पर उसके प्रभाव का ढांचागत तथा अन्य क्षेत्राों में निवेश पर बहुत बुरा असर पड़ सकता है। १९८० के दशक की तुलना में भारत के राज्यों के बीच १९९० के दशक बाद से आर्थिक संदर्भों में असमानता बढ़ी है।

उत्पादन में प्रतिद्वंद्विता

बाजारवादी रूझान का अधिक से अधिक फायदा उठाने के लिए यह जरूरी है कि बाजारों को आपस में अच्छे तरीके से जोड़ा जाए। भारत में सड़कों, हवाई अड्डों और बंदरगाहों को नवीनीकरण तथा विस्तारीकरण की सख्त दरकार है। दूसरे, बिजली की दुर्व्यवस्था और खराब गुणवत्ता के कारण उत्पादन क्षेत्रा को घाटा उठाना पड़ता है। भारत को ऊर्जा निर्माण की क्षमता बढ़ा कर दस लाख मेगावाट करने की आवश्यकता है। सरकार द्वारा बिजली की खराब आपूर्ति से निराश बड़े औद्योगिक घरानों ने खुद ही ऊर्जा का उत्पादन आरंभ कर दिया है जिससे उनकी जरूरतें पूरी हो सकें। बिजली की चोरी जोरों पर है और यह निशुल्क मिलती है। इसका भुगतान सरकार खुद करदाताओं की जेबों से करती है। इससे उन लोगों के लिए ऊर्जा के उत्पादन की गुणवत्ता और मात्राा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है जो उसके बदले में शुल्क देने को तैयार हैं। एक स्वतंत्रा और सशक्त नियामक संस्था के गठन की मदद से ऊर्जा के उत्पादन और वितरण में राजनीतिक हस्तक्षेप को कम करने का सवाल अभी भी प्रासंगिक और मजबूत है।

तीसरा, भारत में जो श्रम कानून हैं, उनके मुताबिक संगठित क्षेत्रा में किसी भी श्रमिक की छंटनी आज के हालात में भी बहुत कठिन कार्य है। भारत में मजदूर संगठन देश के दक्ष और प्रशिक्षित श्रमिकों के करीब ८.५ फीसदी का प्रतिनिधित्व करते हैं। असंगठित क्षेत्रा में काम करने वाले नब्बे फीसदी से अधिक श्रमिकों का रोजगार सुरक्षित नहीं है। रोजगार की सुरक्षा का सीधा संबंध संस्था के आकार से है। १९९१ के बाद लागू आर्थिक उदारीकरण अभी तक कुछ विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्तियों के रोजगारों की सुरक्षा पर कुठाराघात नहीं कर सका है। इन्हीं कुछ अल्पसंख्यक श्रमिकों के रोजगार सुरक्षित होने की वजह से उत्पादन के क्षेत्रा में उत्पादन की दर बहुत कम होकर रह गई है। इसने निर्यात आधारित उत्पादन क्षेत्रा में घरेलू के साथ-साथ अंतरराष्ट्रीय निवेश को भी प्रतिकूल तरीके से प्रभावित किया है।

केंद्र और राज्यों के राजकोषीय घाटे को मिला दिया जाए तो कुल घाटा सकल घरेलू उत्पाद का करीब १० से ११ फीसदी बैठता है। यह खतरे की घंटी है। सरकार द्वारा अर्जित कर और पूंजीगत अनुदानों के योग में से सरकारी खर्चे को निकाल देने से राजकोषीय घाटे का आकलन होता है। १९९२-९३ से यह घाटा लगातार बढ़ता ही जा रहा है। इससे ऋण की मात्राा बढ़ सकती है, ब्याज भुगतानों में बढ़ोतरी संभव है और स्वास्थ्य, शिक्षा तथा ढाँचागत क्षेत्राों के विकास के लिए मुहैया कराई जाने वाली राशि में भारी गिरावट आने की संभावना बन सकती है। यह एक खतरनाक दुश्चक्र का रूप ले सकता है। भौतिक और मानवीय संसाधनों पर सरकारी खर्चे में गिरावट से भारत की विश्व बाजार में प्रतिद्वंद्विता पर प्रतिकूल असर पड़ सकता है।

क्षेत्रीय असमानता

आर्थिक उदारीकरण के चलते भारत ने राज्यों को यह स्वतंत्राता दे दी है कि वे अपने विकास के लिए संसाधन खुद जुटा सकें। इस प्रकार से राज्यों को संसाधन मुहैया कराने की केंद्र की भूमिका में गिरावट आई है। अब राज्य खुद निजी निवेश के लिए होड़ में संलग्न हो गए हैं। बेहतर प्रशासन वाले कुछ राज्यों जैसे कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, गुजरात और महाराष्ट्र अपने यहां अधिक निवेशों को आकर्षित करने में सफल रहे हैं। लेकिन सवाल यह उठता है कि बिहार और उत्तर प्रदेश जैसे उन राज्यों का क्या होगा जहां प्रशासन अभी भी बदहाली की स्थिति में है और इस कारण से उदारीकरण के इस दौर में भी निवेशों को आकर्षित नहीं कर पा रहा है।

निजी पूंजी को आकर्षित करने की कुछ राज्यों की इस क्षमता ने बेहतर प्रशासन और बदहाल प्रशासन वाले राज्यों के बीच घोर असमानता पैदा कर दी है। १९८० के दशक में सबसे तेज विकास दर वाले राज्य की दर सबसे कम विकास वाले राज्य से दोगुना थी। १९९० के दशक में एक ओर जहां बिहार जैसे पिछड़े राज्य में विकास दर २.७ फीसदी सालाना थी, वहीं गुजरात की विकास दर ९.६ फीसदी प्रति वर्ष थी। अगर प्रति व्यक्ति विकास दर का आकलन करें, तो राज्यों के बीच यह असमानता की तस्वीर और भयावह दिखाई देगी। पिछड़े राज्यों जैसे मध्य प्रदेश और राजस्थान में १९९० के दशक के दौरान विकास करने की क्षमता प्रति वर्ष ६ फीसदी की दर से भी ज्यादा थी। आर्थिक उदारीकरण के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती बदहाल प्रशासन वाले राज्यों जैसे बिहार और उत्तर प्रदेश की हालत में काफी सुधार करना है, जिससे असमानता के कारण राज्यों के बीच विद्वेष की भावना न पैदा हो सके।

४.७.२ बाहरी चुनौतियाँ

अगर भारत में उदारीकरण को सफल होना है, तो उसे विदेशी बाजारों तक अपनी पहुंच बनानी होगी। औद्योगिक देशों में संरक्षणवाद जोरों पर है। वे विकासशील देशों को सस्ते श्रम से उपजे निर्यातों से मिलने वाले फायदों से डरते हैं। विश्व व्यापार संगठन ने वस्त्रा व्यापार के उदारीकरण को सुनिश्चित किया है, लेकिन औद्योगिक देश अभी भी अपने बाजार तक विकासशील देशों की पहुंच कायम करने के कोई संकेत नहीं दे रहे हैं। दूसरे, श्रम और पर्यावरण व्यापार में नए अवरोधों के रूप में उभर रहे हैं जो शुल्क रूपी अवरोध से बुनियादी तौर पर भिन्न हैं। अगर भारत में आयात के उदारीकरण का फायदा विदेशी बाजारों तक भारतीय माल को पहुंचाने में नहीं उठाया गया, तो यह भारतीय व्यापार और भारत में उदारीकरण की सफलता की राह में एक बहुत बड़ा झटका होगा।

वस्त्र

अंतरराष्ट्रीय व्यापार में मल्टीफाइबर समझौता दोहरे मानदंडों का एक अप्रतिम उदाहरण है। यह देशों के बीच में भेदभाव बरतता है। शुल्क की तुलना में कोटा प्रणाली व्यापार को कहीं ज्यादा हानि पहुंचाती है। व्यापार पर पड़ने वाले खतरों के मामले में कोटा प्रणाली शुल्क की तुलना में कम पारदर्शी है। भारत से निर्यात किए जाने वाले वस्त्राों के खरीदार के रूप में अमेरिका और यूरोपी संघ की हिस्सेदारी ७३ फीसदी है। एक अध्ययन के मुताबिक भारत से वस्त्रा निर्यात के मामले में यूरोपीय संघ की तुलना में अमेरिका ज्यादा प्रतिबंधों को लागू करता है। अगर सिर्फ अमेरिका की बात करें, तो १९९३ की तुलना में अमेरिका ने १९९९ में भारतीय वस्त्रा आयात के मामले में ज्यादा संरक्षणवादी रवैये का परिचय दिया। यूरोपीय संघ के लिए भी यह बात उतनी ही सही थी।

व्यापार और श्रम

भारत की यह आपत्ति कि श्रम मानकों के मामले में निर्णय लेने का अधिकार विश्व व्यापार संगठन की बजाय अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन के पास होना चाहिए, बहुत न्यायसंगत है। भारत को इस बात की आशंका है कि व्यापार में श्रम मानक कहीं एक नए अवरोध के रूप में न सामने आ जाएँ। अमीर देशों का तर्क है कि गरीब देशों में काम करने की स्थितियाँ बहुत खराब होती हैं और वहाँ श्रम का मूल्य भी कम होता है। इससे अमीर देशों में बेहतर मेहनताने पर काम कर रहे श्रमिकों को

नुकसान उठाना पड़ता है। उनका यह भी तर्क है कि श्रमिकों को एक न्यूनतम जीवनस्तर का अधिकार होना चाहिए।

प्रोफेसर पॉल क्रुगमैन ने इस बात पर जोर दिया है कि व्यापार का आय पर सकारात्मक प्रभाव होता है। औद्योगिक देशों को व्यापार के आधार पर आय में बढ़ोतरी की बात करनी चाहिए, न कि विकासशील देशों पर व्यापार करने की पूर्व शर्त के तौर पर यह दबाव डालना चाहिए कि वे अपने यहां श्रमिकों की अधिक आय सुनिश्चित करें और कार्य स्थितियाँ को बेहतर बनाएँ। क्रुगमैन के तर्क से यह समझ में आता है कि एक निश्चित क्षेत्रा में ही कम वेतन अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिता को बढ़ावा दे सकता है। इस प्रकार की प्रतियोगिता से जब निर्यात में बढ़ोतरी होती है और उत्पादन में सुधार होता है, तो इसका सकारात्मक असर उन गरीब देशों पर पड़ता है जहां श्रमिकों को कम वेतन दिया जाता है।

भारत जैसे गरीब देश कम वेतन के आधार पर प्रतियोगिता में फायदा उठा सकते हैं। हालांकि कम वेतन का लक्षण अल्पजीवी ही है चूंकि निर्यात संवर्द्धन से गरीब देशों में वेतन में बढ़ोतरी होगी। पूर्वी एशियाई देशों ताइवान और दक्षिण कोरिया की सफलता की कहानियां इस तर्क की अभिपुष्टि करती हैं। इन देशों में तानाशाही सत्ताओं ने उद्योगों के साथ मिल कर श्रमिकों के अधिकारों का हनन किया। इसके बावजूद वे श्रमिकों के वेतन में बढ़ोतरी पर लगाम नहीं कस सके चूंकि ये देश तब तक निर्यात आधारित व्यापार में अपनी हिस्सेदारी कर उत्पादकता को बढ़ा चुके थे। अमेरिका की आर्थिक नीति के ढांचे में इन आर्थिक अवधारणाओं के लिए अभी भी स्थान है। हालांकि, अगर अमेरिका और यूरोप में श्रमिक संगठन कुछ नौकरियों को बचाने के लिए इस नीति को अपना लेते हैं, तो यह विकासशील और विकसित देशों दोनों के अहित का कारण बनेगा।

श्रमिक अधिकारों में, खासकर महिलाओं और बच्चों के संदर्भ में मानव पूंजी निर्माण में अधिक निवेश की मांग करते हैं। यह बेहतर स्वास्थ्य और शिक्षा के माध्यम से ही हो सकता है। श्रमिक अधिकारों के नाम पर व्यापार प्रतिबंधों को लागू करने के कदम से अमेरिका में उपभोक्ता वस्तुओं के दामों में बढ़ोतरी होगी और इससे भारत जैसे विकासशील देशों में बेरोजगारी को बढ़ावा मिलेगा।

व्यापार और पर्यावरण

भारत ने इस बात पर आपत्ति जताई है कि पर्यावरणीय मानक भी व्यापार के लिए बाधा बन कर उभर सकते हैं। व्यापार में उदारीकरण के फायदे तब तक महसूस नहीं किए जा सकते जब तक अमेरिका में झींगा मछली के निर्यात में भारत की विशेष रुचि कछुए छानने वाली मशीनों की आड़ में छुपी हो। बंगाल की खाड़ी में झींगा पकड़ने वाली मशीन से कछुओं को नुकसान पहुँचता था। चूंकि बंगाल की खाड़ी में कछुओं के जीवन के प्रति अमेरिका संवेदनशील था। दूसरी ओर अमेरिकी उद्योग जायकेदार भारतीय झींगे से मिलने वाली चुनौती से भयभीत थे, इसलिए भारतीय निर्यातों की पड़ताल के लिए पर्यावरणीय मानकों का उपयोग किया गया। अगर व्यापार में पर्यावरणीय सरोकारों को सिर्फ संरक्षणवादी कदमों के रूप में प्रयोग के अतिरिक्त अपनी औचित्यपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना है, तो उसे विश्व व्यापार संगठन से तुरंत अलग कर देना चाहिए। एक विशुद्ध वैज्ञानिक और वैश्विक स्तर की किसी पर्यावरण संस्था को इस उद्देश्य से दुनिया को जागृत करना होगा और बताना होगा कि व्यापार से पर्यावरण को होने वाले नुकसान क्या-क्या हैं।

बोध प्रश्न २

नोट : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग करें।

ख) अध्याय के अंत में दिए गए मानक उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान करें।

१) विदेशी निवेश, पोर्टफोलियो निवेश और उद्यमी पूंजी के क्षेत्रा में कौन से नीतिगत परिवर्तन किए गए?

....

....

....

....

....

....

२) देश के अंदर ढांचागत कमियाँ भारत की प्रतिद्वंद्विता को किस तरीके से चोट पहुँचा रही हैं?

....

....

....

....

....

....

४.८ सारांश

आयात आधारित औद्योगीकरण के रास्ते के चुनाव ने भारत के राजनीतिज्ञों, व्यापारियों और सरकारी अधिकारियों को बंद अर्थव्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में सरकारी कंट्रोल पर आधारित अवसरों को भुनाने का अच्छा मौका दिया। एक संरक्षित बाजार के अंदर सरकारी कंट्रोल का फायदा उठा कर व्यापारियों ने अपनी जेबें भरीं और बदले में नेताओं को फायदा पहुंचाया। इस व्यवस्था ने यथास्थिति के पक्ष में माहौल बनाने का काम किया। एक ओर जहाँ भारत बंद अर्थव्यवस्था के अंदर काम कर रहा था, पूर्वी एशिया के कई देश जैसे दक्षिण कोरिया, ताइवान और चीन निर्यात को बढ़ावा दे रहे थे और तेजी से विकास कर रहे थे। इसी दौरान सोवियत संघ और लातिन अमेरिका में आयात आधारित इकाइयों का भी पतन हो गया।

१९९१ में प्रधानमंत्री नरसिंहराव और डॉ. मनमोहन सिंह ने विदेशी मुद्रा भंडार पर छाए संकट का उपयोग कर राजनीतिक अवरोधों को पीछे धकेलते हुए भारत में उदारीकरण की नींव रखी और भारत का बाजार की ओर रूझान बढ़ाने का काम किया। उदारीकरण के दौरान तेज विकास, निम्न मुद्रास्फीति और निर्यात में बढ़ोतरी हुई। सॉफ्टवेयर, आईटी, आभूषण तथा शोध और विकास के क्षेत्रों में तेजी आई। विदेशी निवेशों की आमद में पहले की तुलना में उछाल आया।

बुरी खबर यह है कि उत्पादकता और प्रतियोगिता की राह में अभी भी कई घरेलू अड़चनें हैं। भारत में भौतिक और ढांचागत व्यवस्था बदहाली की स्थिति में है। सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों के निजीकरण के मामलों में आंतरिक नौकरशाही और राजनीतिज्ञों के बीच संघर्ष जाहिर हुए। ये संघर्ष उदारीकरण समर्थक अधिकारियों और दलाली खाने वाले नेताओं के बीच रहा जो यथास्थिति के पक्ष में हैं। भारत का राजकोषीय घाटा इतना बढ़ गया कि वह खतरे की घंटी था। उदारीकरण ने विकास की कई परियोजनाओं को राज्यों के हवाले छोड़ दिया है। इसका नतीजा यह हुआ है कि राज्यों के बीच असमानता बढ़ी है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो राष्ट्रीय एकता के खिलाफ जाती है।

भारत के उदारीकरण की राह में अगर बाहरी माहौल उसके खिलाफ रहा तो इससे संरक्षणवाद और प्रतिबंधों को बढ़ावा मिलेगा। विश्व व्यापार संगठन के फैसले के बावजूद मात्रात्मक प्रतिबंध अभी भी वस्त्र व्यापार पर लागू हैं। अगर विकासशील देशों के संदर्भ में वस्त्र व्यापार और अन्य उपभोक्ता

वस्तुओं के उदारीकरण में श्रम और पर्यावरणीय मानक अवरोध के रूप में उभरते हैं, तो व्यापार से होने वाले फायदों के तर्क से सहमत होना कठिन है। भारत जैसे विकासशील देश को मुक्त व्यापार शासन की आवश्यकता है जहाँ विश्व के महत्वपूर्ण व्यापारियों को वह करने की आवश्यकता है जिनकी वे शिक्षा देते हैं। भारत के लिए सबसे बेहतरीन बाहरी माहौल ऐसा होना चाहिए जिसमें बहुपक्षीय और नियमबद्ध व्यवस्था हो जहाँ संरक्षणवाद के लिए न्यूनतम स्थान हो।

४.९ कुछ उपयोगी पुस्तकें

प्रणब बर्द्धन, १९८४. *पॉलिटिकल इकानॉमी ऑफ डवेलपमेंट इन इंडिया* (बेसिल ब्लैकवेल, न्यू यॉर्क)।

जगदीश भगवती, १९९३. *इंडिया इन ट्रांजिशन* (क्लैरेंडान प्रेस, १९९३)।

अमित भादुड़ी और दीपक नैयर, १९९६. *दि इंटेलिजेंट पर्सन्स गाइड टु लिबरलाइजेशन* (नई दिल्ली, पेंग्विन)।

ग्लोबल बिजनेस रिव्यू, २००२ (सेज, नई दिल्ली) खंड २, अंक ३ (जुलाई-दिसंबर २००२)।

४.१० बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न १

१) आईएसआई की रणनीति का उद्देश्य तैयार माल के आयात का घरेलू उत्पादन से स्थानांतरण था। इसे घरेलू उद्योगों को बचाने और सशक्त बनाने के उद्देश्य से लागू किया गया था। उच्च सीमा शुल्क से घरेलू बाजार की रक्षा करने तथा लाइसेंस के माध्यम से निजी उद्योगों को बचाने की बातें इसमें शामिल थीं।

२) बाजार की ताकतों से चूंकि सरकारी प्रतिबंधों का विरोध था, इसलिए औद्योगिक घरानों को सरकार से फायदा निकालने के लिए काफी खर्चे उठाने पड़ते थे। नेताओं के चुनावी खर्चों में बढ़ोतरी के साथ ही उनके, उद्योगपतियों और नौकरशाही के बीच आवश्यकता जनित संबंध स्थापित हुए जिससे भ्रष्टाचार का बोलबाला हो गया।

३) नरसिंह राव सरकार ने सुधारों की शुरुआत करने के लिए विदेशी मुद्रा भंडार के संकट का फायदा उठाया। आयातों की आवश्यकता के कारण उद्योग उदारीकरण के कार्यक्रम का विरोध नहीं कर सके। मजदूर संगठनों ने भी आयात के उदारीकरण और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रवेश का विरोध नहीं किया।

बोध प्रश्न २

१) १९७३ के विदेशी मुद्रा नियमन कानून में संशोधन विदेशी हिस्सेदारी को ४८ क्षेत्रों में ५१ फीसदी तक बढ़ाने के लिए किया गया। ढांचागत क्षेत्रों जैसे बंदरगाह और सड़क के निर्माण में १०० फीसदी विदेशी हिस्सेदारी को मंजूरी दी गई। इसी तरह उद्यमी पूंजी को मंजूरी देने की प्रक्रिया और करों को उदार बनाया गया। विदेशी संस्थागत निवेशकों को २४ फीसदी हिस्सेदारी की मंजूरी देने, और बाद में ३० फीसदी तक इसे बढ़ाने का फैसला कर पोर्टफोलियो निवेश को भी उदार बनाया गया। हालांकि ये निवेश कंपनी के निदेशक बोर्ड द्वारा मंजूरी पर निर्भर हैं।

२) उद्योगों को बाजार के विस्तारीकरण के लिए यातायात और संचार की आवश्यकता पड़ती है। उन्हें ऊर्जा संसाधनों की भी जरूरत पड़ती है। इन्हीं क्षेत्रों में क्षमता वृद्धि, न्यूनतम राजनीतिक हस्तक्षेप के द्वारा तकनीक के नवीनीकरण और स्वतंत्रा नियामक अधिकरणों के गठन की आवश्यकता है।

इकाई ५ भारत और उसके पड़ोसी

इकाई की रूपरेखा

५.० उद्देश्य
५.१ प्रस्तावना
५.२ पाकिस्तान- भारत का सबसे महत्वपूर्ण पड़ोसी
५.३ भारत और श्रीलंका
५.४ भारत और नेपाल
५.५ भारत और बांग्लादेश
५.६ सारांश
५.७ संदर्भ
५.८ बोध प्रश्नों के लिए उत्तर

५.० उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य भारत और उसके दक्षिण-एशियाई पड़ोसियों पाकिस्तान, नेपाल, श्रीलंका और बांग्लादेश के बीच संबंधों की आलोचनात्मक पड़ताल करना है। इन देशों के साथ भारत के संबंधों की जांच राजनीतिक, आर्थिक और अन्य द्विपक्षीय मुद्दों समेत अलग-अलग परिप्रेक्ष्य में की गई है। इस पाठ से गुजरने के बाद आप निम्नलिखित कार्यों में सक्षम होंगे:

- अपने पड़ोसी देशों के साथ भारत की नीति का आलोचनात्मक विश्लेषण;
- भारत और उसके पड़ोसी देशों के बीच द्विपक्षीय संबंधों को प्रभावित करने वाले प्रमुख मुद्दों की पहचान।

५.१ प्रस्तावना

दक्षिण-एशिया में राज्यों की वर्तमान स्थिति भारतीय उपमहाद्वीप से अंग्रेजी राज की समाप्ति का ही परिणाम है। भौगोलिक रूप से एक-दूसरे से सटे ये सभी देश जिस एक भौगोलिक इकाई का हिस्सा हैं वह भारतीय उपमहाद्वीप है। यहाँ तक कि समुद्री विस्तार के कारण इस इकाई से भिन्न जान पड़ने वाले मालदीव और श्रीलंका भी दूसरे कारणों से भारतीय उपमहाद्वीप से संबद्ध हैं- जैसे समान सभ्यता और विरासत, जातीयता, धार्मिक और भाषाई सामीप्य। इसके अलावा भौगोलिक निकटता तथा क्षेत्रीय ध्रुव, भारत से सान्निध्य के कारण परस्पर करीबी और टिकाऊ संवाद भी इसमें अहम भूमिका अदा करता है।

इस संवाद का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण यह रहा है कि उपमहाद्वीप में भारत की केंद्रीय स्थिति और वर्चस्व की वजह से पड़ोसियों के साथ उसके संबंधों में हमेशा विषमता रही है। ऐसा सिर्फ इसलिए नहीं है कि भारत अपने पड़ोसियों की तुलना में भौगोलिक दृष्टि से विशाल और अधिक आबादी वाला देश है। ऐसा इसलिए भी नहीं है कि सैन्य और प्रौद्योगिकी के क्षेत्रा में भारत की उपलब्धियाँ पाकिस्तान समेत अन्य देशों से कहीं ज्यादा हैं। बल्कि इस क्षेत्राीय संवाद की यह अभिलाक्षणिकता

रही है कि पड़ोसियों के साथ द्विपक्षीय संबंधों को तय करने में भारत को मानक के तौर पर लिया जाता है, न कि संबंधों में एकरूपता की बात होती है।

क्षेत्राीय संघर्ष और तनाव भी इस क्षेत्रा के देशों के द्विपक्षीय संबंधों के बीच बहुत मायने रखते हैं। इनका कारण वही विषमतापूर्ण संवाद है। इसके अलावा इन देशों के बुनियादी रणनीतिक दृष्टिकोण में भारी फर्क भी तनाव को बढ़ावा देता है। ब्रिटिश राज की उपमहाद्वीपीय सामरिक दृष्टि भारत को विरासत में मिली है जो इस क्षेत्रा के देशों के बीच भौगोलिक सान्निध्य पर आधारित है। लेकिन इसके ठीक उलट, भारत के पड़ोसी भारत के प्रति भयबोध की भावना से ग्रसित रहते हैं और उसे एक ऐसी इकाई के रूप में देखते हैं जिसके खिलाफ सामरिक सुरक्षा अनिवार्य है।

इन राज्यों को कुछ समस्याएँ तो सीधे ब्रिटिश राज से वसीयत में मिली हैं। उसके अतिरिक्त कुछ इनकी अपनी नीतियों के कारण भी हैं। पहली कोटि में जो समस्याएं रखी जा सकती हैं, वे हैं अपरिभाषित सीमाएं, इन पड़ोसी राज्यों में रह रहे भारतीयों की संवैधानिक अवस्थिति और इससे जुड़ी आव्रजन की समस्याएँ इत्यादि। दूसरी कोटि में वे समस्याएं आती हैं जो इन राज्यों द्वारा स्वतः प्रसूत हैं। मसलन, पाकिस्तान में चुने गए प्रधानमंत्रियों की बर्खास्तगी के बाद सरकारों का लगातार बदलना और फिर सैन्य तख्तापलट। श्रीलंका जातीय समस्याओं से ही जूझ रहा है, जिसके कारण वहां गृह युद्ध की सी स्थिति पैदा हो गई है। नेपाल में शाही परिवार का खात्मा १ जून २००१ को हो गया। नेपाली कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा चलाए जा रहे हिंसक आंदोलनों के परिप्रेक्ष्य में इन राजनीतिक हत्याओं को अंजाम दिया गया। १९९० में वहां लोकतंत्रा की बहाली के बाद अब तक दस सरकारें बदली जा चुकी हैं। बांग्लादेश में अत्यधिक हिंसा तथा बदहाल कानून व्यवस्था के साये में २००१ में चुनाव करवाए गए थे। भूटान में वहां रह रहे नेपालियों के असंतोष और उत्तर-पूर्व में भारतीय सीमा पर अलगाववादी आंदोलनों के मद्देनजर नई चुनौतियाँ सिर उठा रही हैं। इस प्रकार से देखा जाए तो पिछले कई वर्षों के दौरान भारत को उसके पड़ोसियों के साथ एक स्थायी और व्यावहारिक संबंध कायम रखने में कई जटिल चुनौतियों का सामना करना पड़ा है। खासकर, ऐसा इसलिए भी है क्योंकि प्रत्येक पड़ोसी देश के साथ भारत के कुछ ऐसे मुद्दे हैं जिनका हल अभी तक ढूंढा नहीं जा सका है चाहे वह कश्मीर का सवाल हो, गैरकानूनी घुसपैठ की समस्या या बांग्लादेश के साथ कुछ परिक्षेत्राों पर अधिकार का मामला हो।

५.३ पाकिस्तान: भारत का सबसे महत्वपूर्ण पड़ोसी

भारत के विभाजन के बाद भारत-पाकिस्तान के परस्पर संबंधों के इतिहास का विश्लेषण उन समस्याओं और विवादों के चरित्रा की समीक्षा के माध्यम से ही किया जा सकता है, जिन्होंने दोनों देशों को युद्ध के दौरान और बाद में भी तनावपूर्ण, आक्रामक और संघर्षपूर्ण संवादों में जकड़े रखा है। इन प्रतिकूल संबंधों की परिणति अब तक चार युद्धों के रूप में हो चुकी है और भारत अभी भी पाकिस्तान द्वारा कश्मीर में चलाए जा रहे उस छद्म युद्ध की चुनौती का सामना कर रहा है, जिसका उद्देश्य कश्मीर को शेष भारत से अलग करना है। जनता की नजर में, और खासकर हमारी सेनाओं की नजर में पाकिस्तान की पहचान अभी भी एक शत्राु के रूप में की जाती रही है, हालांकि इतिहास, संस्कृति, भाषा, धर्म तथा भूगोल के मामले में दोनों देशों के बीच तमाम समानताएं हैं।

एक ओर जहां भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक-सांस्कृतिक समानताओं तथा जातीय और भाषाई संबद्धता के चलते दोनों देशों के बीच संघर्षपूर्ण के बजाय सौहार्दपूर्ण संबंध होने चाहिए, आखिर क्या वजह है कि भारत और पाकिस्तान के बीच अभी भी प्रतिकूल परिस्थितियाँ कायम हैं? आइए, इस सवाल को हम समझने की कोशिश करें।

दोनों देशों की एक दूसरे के प्रति असहमति के कारणों में संवादहीनता, परस्पर आशंका की स्थिति और इन आशंकाओं को सायास बढ़ावा देने वाले कदमों को गिनाया जा सकता है। पहले पाकिस्तान की आशंकाओं को समझ लेना बेहतर होगा। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा विभाजन के विरोध के

फलस्वरूप मुस्लिम लीग के समक्ष जो चुनौती पैदा हुई, उसकी कड़वी स्मृतियाँ अभी भी पाकिस्तानियों के मन में बसी हुई हैं। इसका नतीजा यह हुआ कि मुस्लिम लीग अपनी आकांक्षाओं के मुताबिक जिस भौगोलिक परिक्षेत्रा में पाकिस्तान का गठन चाहती थी, वह नहीं हो सका। इतिहास की विडम्बनाओं में से एक यह है कि पाकिस्तान में रहने वाले कई लोग अभी भी दो राष्ट्रों के सिद्धांत से सहमत नहीं हैं। पाकिस्तान के पक्ष में खड़े किए गए आंदोलन की मुख्य ताकत बंगाल और उत्तर-मध्य भारत के मुस्लिम थे। यह समर्थन भी मुस्लिम जनता की ओर से नहीं था, बल्कि मुस्लिम अभिजात्य वर्ग का था। हमें यह याद रखना चाहिए कि जिन्ना को तब हिंदू-मुस्लिम एकता का प्रतीक माना जाता रहा जब तक कि महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता के रूप में उनकी छवि को नुकसान नहीं पहुंचाया। पाकिस्तान का अब भी यही दृष्टिकोण है कि लॉर्ड माउंटबैटन और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की मिलीभगत ने एक ऐसा पाकिस्तान बनने की राह में अवरोध पैदा किया जहां भारत की सारी मुस्लिम आबादी रहे। यह कड़वाहट आज भी पाकिस्तानी सत्ता और उसकी संरचना की मानसिकता पर व्याप्त है।

जम्मू-कश्मीर, हैदराबाद और जूनागढ़ में भारत के कठोर कदमों ने इस कटुता को बढ़ाने का ही काम किया। इससे भी महत्वपूर्ण यह कि इन कदमों ने ऐसी आशंका पैदा कर दी कि भारत विभाजन के प्रभाव को समाप्त करने के लिए पाकिस्तान की वर्तमान स्थिति को नष्ट कर देगा, चाहे उसे तोड़ कर अथवा उसके प्रांतों का वापस उस हिंदू योजना में विलय कर, जिसे पाकिस्तानियों ने 'अखंड भारत' का नाम दिया था। सामरिक संसाधनों के वितरण और विदेशी मुद्रा भंडार पर भारत के पक्ष ने पाकिस्तान की इस आशंका को मजबूत किया कि भारत की योजनाएँ विघटनकारी हैं। दोनों देशों के आकार, आबादी और संसाधनों में असमानता ने इन आशंकाओं में ईंधन का काम किया।

बांग्लादेश के मुक्ति आंदोलन में भारत की भूमिका ने पाकिस्तान की इस भयाक्रांत मानसिकता को और बल दिया। लेकिन अगर ऐसा है, तो फिर १९४८ और १९६५ में पाकिस्तान ने भारत के खिलाफ सैन्य कार्रवाइयाँ क्यों कीं? इसका जवाब संभवत: उस अर्धचेतन इच्छा में तलाशा जा सकता है जो विभाजन से पैदा हुई अव्यवस्था को नए सिरे से दुरुस्त करना चाहती थी। १९७१ के संघर्ष ने भारत के संदर्भ में भी पाकिस्तान का रूझान सैन्य कार्रवाइयों की ओर कर दिया। पाकिस्तानी सत्ता की वही मानसिकता आज भी यथावत है।

भारत-पाक संबंधों से जुड़े उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में आइए उन महत्वपूर्ण घटनाओं की पड़ताल करें जो दोनों देशों के बीच घटीं। विभाजन की शुरुआती समस्या के अलावा पाकिस्तान की इच्छा के विपरीत जूनागढ़, हैदराबाद और कश्मीर के प्रांतों का भारत में विलय तथा रावी, सतलुज और ब्यास के जल बँटवारे की समस्या भी रही, जिसका समाधान १९ सितंबर १९६० को दोनों देशों के बीच हुए एक शांतिपूर्ण समझौते से हो गया। लेकिन दोनों देशों के बीच संबंधों में खटास पैदा करने वाली मुख्य समस्या कश्मीर से जुड़ी है। इसलिए यह जरूरी है 'कश्मीर विवाद' की विस्तार से चर्चा की जाए, चूंकि दोनों देशों के बीच यही इकलौती विवाद की हड्डी है।

कश्मीर विवाद

८६,०२४ वर्ग मील के क्षेत्रा वाले तत्कालीन जम्मू-कश्मीर राज्य की आबादी में मुस्लिमों का वर्चस्व था और वहां एक हिंदू राजा महाराजा हरि सिंह का शासन था। १५ अगस्त १९४७ को मिली आजादी के पहले और ठीक बाद भी उन्होंने राज्य के परिग्रहण संबंधी कोई भी निर्णय नहीं लिया था। महाराजा की योजना थी कि वह अपने राज्य को एक स्वतंत्रा राष्ट्र घोषित करें। महाराजा के इस ढुलमुलपन का फायदा पाकिस्तान ने उठाया और उसने उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत के कबीलाई लोगों की मदद से राज्य पर हमला बोल दिया। २२ अक्टूबर १९४७ को किए गए इस हमले के सिर्फ पांच दिन के भीतर ही हमलावर श्रीनगर से २५ मील दूर बारामूला तक आ पहुंचे। इस हमले से अतिविस्मित हरि सिंह ने भारत से मदद लेने का निर्णय किया और भारत सरकार से विनती कि राज्य की रक्षा करने के एवज में वे परिग्रहण के कागजात पर दस्तखत करने को तैयार हैं। २७ अक्टूबर १९४७ तक जम्मू-कश्मीर के परिग्रहण की प्रक्रिया पूरी हो गई और सेना को हमलावरों

से क्षेत्रा खाली कराने की अनुमति दे दी गई। जम्मू-कश्मीर का परिग्रहण करने के वक्त भारत ने कहा था कि राज्य को हमलावरों से खाली कराने के बाद जनता की राय क्या है, इसे सुनिश्चित किया जाएगा। पाकिस्तान ने इस परिग्रहण को स्वीकार नहीं किया और इसे भारत का आक्रमण माना। इस दौरान पाकिस्तान ने आक्रमणकारियों द्वारा कब्जाए गए परिक्षेत्रा में आजाद कश्मीर नामक सरकार की स्थापना कर दी। इस मुद्दे पर भारत ने अनुच्छेद ३५ के अंतर्गत सुरक्षा परिषद का दरवाजा खटखटाया। वास्तव में, जम्मू-कश्मीर की जनता की राय जानने के लिए नेहरू सरकार द्वारा जनमत संग्रह करवाने का निर्णय एक ऐसी गंभीर गलती थी, पाकिस्तान जिसका फायदा उठाकर अभी तक इस विवाद को खींचने में कामयाब रहा है।

सुरक्षा परिषद ने इस मसले पर कई फैसले किए। सबसे पहले २० जनवरी १९४८ को एक तीन सदस्यीय आयोग का गठन किया गया। बाद में इसका विस्तार होता रहा और इसका नामकरण किया गया भारत और पाकिस्तान के लिए संयुक्त राष्ट्र आयोग (यूएनसीआईपी)। आयोग ने दोनों देशों के प्रतिनिधियों से मुलाकात और जाँच के बाद अंततः ११ दिसंबर १९४८ को अपनी रिपोर्ट जमा की। इस रिपोर्ट में दोनों देशों के बीच कटुता को समाप्त करने और जनमत संग्रह के संबंध में निम्नलिखित सिफारिशें की गई थीं। सर्वप्रथम, संघर्ष विराम के बाद पाकिस्तान अपनी सैन्य टुकड़ियां जम्मू-कश्मीर से जल्द से जल्द हटाए तथा उन कबीलाई और पाकिस्तानी नागरिकों को वापस बुलाए जो जम्मू-कश्मीर के निवासी नहीं हैं। दूसरे, पाकिस्तानी टुकड़ियों द्वारा खाली किए गए क्षेत्रों का प्रशासन आयोग की देखरेख में स्थानीय अधिकारी करें। तीसरे, इन दो शर्तों के पूरी हो जाने और भारत को इसकी सूचना दिए जाने के बाद वह भी अपनी अत्यधिक सैन्य टुकड़ियों को वहाँ से हटा ले। अंतिम सिफारिश थी कि अंतिम समझौते के तहत भारत सीमित संख्या में वहाँ अपनी टुकड़ियां स्थापित करे जो सिर्फ कानून और व्यवस्था को बनाए रखने के लिए पर्याप्त हों। शुरू में आनाकानी करने के बाद पाकिस्तान ने इन प्रस्तावों को मंजूर कर लिया और दोनों देशों के सैन्य प्रमुखों ने जनवरी १९४९ को आधी रात में एक संघर्ष विराम पर दस्तखत किए। युद्ध समाप्त हो गया और संघर्ष विराम लागू हो गया। यहाँ यह बात ध्यान देने वाली है कि संघर्ष विराम ऐन उस वक्त लागू हुआ जब भारतीय सेनाएं घुसपैठियों को बाहर खदेड़ने और पूरे राज्य को मुक्त करा पाने की स्थिति में थीं।

जिस स्थान पर युद्ध समाप्त हुआ, वहीं पर संघर्ष विराम रेखा (अब नियंत्राण रेखा) खींच दी गई। २७ जुलाई १९४९ को कराची में संघर्ष विराम रेखा पर एक समझौता हुआ। इसके मुताबिक जम्मू-कश्मीर का ३२००० वर्ग मील परिक्षेत्रा पाकिस्तान के कब्जे में ही रखा गया, जिसे पाकिस्तान आजाद कश्मीर पुकारता है। इसके बाद संयुक्त राष्ट्र ने कई आयोगों का गठन किया और प्रस्ताव पारित किए, लेकिन इनमें से किसी से भी कश्मीर समस्या का हल नहीं हो सका। इस दौरान वयस्क मतदान के आधार पर चुनी गई एक संविधान सभा ने ६ फरवरी १९५४ को भारत सरकार द्वारा राज्य के परिग्रहण पर मुहर लगा दी। १९ नवंबर १९५६ को स्वीकृत राज्य के संविधान में जम्मू-कश्मीर को भारत का अभिन्न हिस्सा घोषित किया गया। भारत का पक्ष है कि सीधे चुनी गई कश्मीर की संविधान सभा द्वारा राज्य के परिग्रहण की अभिपुष्टि से राज्य की जनता की इच्छा का सम्मान किया गया है। भारत ने इस परिग्रहण को २६ जनवरी १९५७ को अंतिम मंजूरी दी।

कश्मीर मुद्दे को पाकिस्तान द्वारा कई बार संयुक्त राष्ट्र और अंतरराष्ट्रीय मंचों पर समय-समय पर उठाया गया है। कश्मीर को पाकिस्तान का अंग बनाए जाने के पीछे उसका तर्क वहाँ की बहुसंख्य आबादी की समान धार्मिकता है। लेकिन भारत का मानना है कि राजनीतिक कार्रवाइयों का आधार धर्म को नहीं बनाया जा सकता। पाकिस्तान लगातार सीमा पार आतंकवाद में संलग्न है और वह कश्मीर में निर्दोष लोगों की हत्या को अंजाम दे रहा है। भारत द्वारा द्विपक्षीय संबंधों को सामान्य बनाने के हरसंभव बेहतरीन प्रयासों के बावजूद पाकिस्तान राजनीतिक प्रतिशोध के चलते अब तक चार युद्ध थोप चुका है।

५.३ भारत और श्रीलंका

भारत का एक और महत्वपूर्ण पड़ोसी दक्षिण में श्रीलंका है। श्रीलंका हिंद महासागर में स्थित एक द्वीपीय गणराज्य है। श्रीलंका ४ फरवरी १९४८ को अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त हुआ। भारत की ही भाँति श्रीलंका भी उसके स्थापना वर्ष १९६१ से गुट निरपेक्ष आंदोलन का सक्रिय सदस्य रहा है। वह दक्षेस का भी सदस्य है और संयुक्त राष्ट्र तथा विश्व शांति की अवधारणा में उसकी पूर्ण आस्था है। इस तरह भारत का यह दक्षिणी पड़ोसी भारत से इतना साम्य रखता है कि एक बार विश्वास नहीं होता कि दोनों देशों के बीच विवाद का कोई मुद्दा भी हो सकता है।

भारत और श्रीलंका के संबंध सामान्यत: सौहार्दपूर्ण रहे हैं, हालांकि दोनों देशों के बीच तनावों का मुख्य कारण भारतीय मूल के लोगों-खासकर श्रीलंका में रहने वाले तमिलों और सिंहलियों के बीच जातीय संघर्ष रहा है। सामान्यत: एक छोटा देश बड़े पड़ोसी के प्रति आशंकित रहता है। लेकिन भारत ने कभी भी बड़ा पड़ोसी होने के नाते वर्चस्व जताने का प्रयास नहीं किया। भारतीय विदेश नीति हमेशा अपने पड़ोसियों से मित्राता पर आधारित रही है। श्रीलंका की जातीय समस्याओं के बावजूद भारत ने कभी भी अपनी इच्छा श्रीलंका पर थोपने की कोशिश नहीं की है।

तमिल समस्या

उत्तरी श्रीलंका के जाफना प्रांत में तमिल लोगों का बाहुल्य है। इस समस्या ने तब गंभीर रूप ले लिया जब उत्तरी श्रीलंका के १८००० वर्ग किलोमीटर क्षेत्रा में तमिलों ने अपने लिए एक अलग राष्ट्र ईलम गणराज्य की मांग करनी शुरू कर दी। श्रीलंका में तमिलों की दो कोटियाँ हैं। बहुत पहले भारत से श्रीलंका पलायन कर गए तमिलों के वंशजों की संख्या इस समय करीब दस लाख है। इन्हें सीलॉन तमिल कहा जाता है। दूसरी कोटि में भी करीब दस लाख तमिल आते हैं जो उन्नीसवीं शताब्दी में भारत से श्रीलंका आए थे। इनमें से अधिकांश की कोई नागरिकता नहीं है। इन लोगों की नागरिकता का सवाल पहले भारत और श्रीलंका के संबंधों में मायने रखता था। सीलॉन तमिलों के साथ संघर्ष बाद में सामने आया। इस संघर्ष के पीछे प्रमुख कारण यह है कि सिंहलियों को तमिल वर्चस्व से भय का बोध होता है।

आजादी के बाद श्रीलंका के तत्कालीन प्रधानमंत्री डुडले एस. सेनानायके ने तमिलों को न्याय का आश्वासन दिया। उनकी मृत्यु के बाद तमिलों के साथ भेदभाव शुरू हो गया। प्रधानमंत्री भंडारनायके ने हालांकि तमिलों के साथ एक समझौता संपन्न किया, लेकिन इससे तमिलों को राहत नहीं मिली। अहिंसा में विश्वास खो चुके तमिल युवकों ने खुद को मुक्तिचीतों के रूप में संगठित कर लिया। इन चीतों का उद्देश्य एक संप्रभु तमिल राज्य या ईलम की स्थापना करना था। इस जातीय समस्या का हल ढूंढने की दिशा में शुरुआती प्रयास के रूप में भारत के प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू और श्रीलंका के प्रधानमंत्री कोटेलावाला के बीच १९५४ में एक समझौते पर दस्तखत किए गए। तमिलों ने आरोप लगाया कि नेहरू-कोटेलावाला समझौते का गंभीरतापूर्वक क्रियान्वयन नहीं किया गया। इसका नतीजा यह हुआ कि भारतीय मूल के अधिकांश लोगों को श्रीलंका की नागरिकता नहीं मिल सकी और वे 'राज्यविहीन व्यक्तियों' की श्रेणी में आ गए। इसने भारत-श्रीलंका संबंधों के बीच तनाव पैदा कर दिया जो १९५६ के भाषाई विवाद के बाद और गहरा गया। श्रीलंका की जनता ने भारत को इन तनावों के लिए जिम्मेदार ठहराया।

राज्यविहीन व्यक्तियों की समस्या

भारत के प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री और श्रीलंका के प्रधानमंत्री भंडारनायके के बीच चली लंबी वार्ता के बाद अक्टूबर १९६४ को राज्यविहीन व्यक्तियों की समस्याओं को हल करने की दिशा में एक समझौता हुआ। इसमें नौ लाख ७५ हजार राज्यविहीन लोगों की समस्याओं को संबोधित किया गया था। इनमें से करीब तीन लाख लोगों को श्रीलंका की नागरिकता दी जानी थी और करीब पाँच लाख २५ हजार लोगों को भारतीय नागरिकता दिए जाने का प्रावधान था। इसके अतिरिक्त शेष डेढ़

लाख लोगों की किस्मत का फैसला भविश्य पर छोड़ दिया गया था। अपने दूसरे प्रधानमंत्रित्वकाल में १९७४ में श्रीमती भंडारनायके की भारत यात्राा के दौरान प्रधानमंत्राी इंदिरा गांधी से मुलाकात के बाद एक ताजा समझौता हुआ जिसके मुताबिक आधे राज्यविहीन व्यक्तियों को श्रीलंका की नागरिकता दी जानी थी और शेष को भारत की। इस प्रकार से राज्यविहीन व्यक्तियों की इस समस्या का समाधान सफलतापूर्वक कर लिया गया।

कच्छातिवू विवाद

पाक जलडमरूमध्य में जाफना तट के किनारे कच्छातिवू नामक एक वर्ग मील निर्जन इलाके के स्वामित्च को लेकर एक क्षेत्राीय विवाद पैदा हो गया। इस द्वीप पर हर वर्ष मार्च में भारत और श्रीलंका के तीर्थयात्राी स्थानीय रोमन कैथोलिक चर्च में सेंट एंथनी के चार दिवसीय पर्व पर पूजा करने जाते थे। १९६८ में महोत्सव के दौरान भारत ने वहां श्रीलंका की पुलिस की मौजूदगी का विरोध किया। इससे संघर्ष पैदा हो गया। दोनों ही देश किसी भी गंभीर स्थिति से बचना चाहते थे। भारत और श्रीलंका के प्रधानमंत्रियों ने दो मुलाकातों के बाद यह तय किया कि द्वीप पर और उसके बाहर यथास्थिति बने रहने दी जाए। यह तय किया गया कि भारत और श्रीलंका दोनों ही सेंट एंथनी के महोत्सव में न तो अपनी पुलिस को वर्दी में भेजेंगे, न ही वहाँ कस्टम के अधिकारी मौजूद होंगे। इसके अलावा हवाई सर्वेक्षण और नौसैनिक निरीक्षण पर भी प्रतिबंध लगाया गया। अंततः, एक संक्षिप्त समझौते के तहत भारत ने कच्छातिवू द्वीप पर श्रीलंका के स्वामित्व को स्वीकार कर लिया।

जातीय संघर्ष

श्रीलंका में तमिलों और सिंहलियों के बीच जातीय संघर्ष ने १९८३ में गंभीर रूप धारण कर लिया। इसे 'जातीय विस्फोट' और 'श्रीलंका के हत्याकांड' का नाम दिया गया। १९८३-८६ के बीच करीब दो लाख तमिल बेघर होकर शरणार्थी हो गए। हजारों मारे गए और घायल हो गए। इसके बावजूद सर्वदलीय शांति वार्ता ने पूरे गणराज्य को भ्रम में डाले रखा। अंत में प्रधानमंत्राी राजीव गांधी ने इस जातीय हिंसा के समाधान के मकसद से पहल की। श्रीलंका सरकार के आमंत्राण पर भारतीय प्रधानमंत्राी दो दिवसीय यात्राा पर कोलंबो गए और वहाँ एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। इसके तहत भारतीय शांति रक्षक बल (आईपीकेएफ) को श्रीलंका में भेजने का प्रावधान था जिससे वहाँ स्थितियाँ सामान्य हो सकें।

राजीव-जयवर्द्धने समझौते के अनुरूप हजारों भारतीय सैन्य टुकड़ियों को श्रीलंका में शांति कायम करने के लिए भेजा गया। लेकिन शांति सेना की तैनाती भारत के लिए महंगी पड़ी। व्यवस्था कायम करने के लिए भारतीय सेना पर करोड़ों रुपए खर्च किए गए। तमिल अतिवादियों के साथ संघर्षों में सैकड़ों भारतीय सैनिक मारे गए। इसके बावजूद जातीय संघर्ष को नियंत्रित नहीं किया जा सका। आईपीकेएफ की व्यर्थता को समझते हुए भारत ने अपनी टुकड़ियों को वापस बुलाने का फैसला किया। मार्च १९९० तक सारी टुकड़ियों को वापस बुला लिया गया।

श्रीलंका में अलगाववादी आंदोलन का भारत-श्रीलंका के द्विपक्षीय संबंधों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। हालांकि भारत ने यह सुनिश्चित करने के लिए सभी वाजिब कदम उठाए थे कि श्रीलंका विरोधी गतिविधियों के लिए भारत की धरती का इस्तेमाल न किया जा सके। कहना न होगा कि भारतीय सेना को भेजे जाने के परिणामस्वरूप लोकसभा चुनावों की दौड़ में पूर्व प्रधानमंत्राी राजीव गांधी की कथित तौर पर एक मानव बम द्वारा हत्या कर दी गई।

श्रीलंका की वर्तमान राष्ट्रपति श्रीमती चंद्रिका कुमारतुंग की भारत यात्राा के दौरान दोनों देशों के बीच बेहतर समझदारी वाला माहौल बन सका। भारत अभी भी श्रीलंका में जारी जातीय संकट के ऐसे शांतिपूर्ण समाधान के पक्ष में है, जो देश की संप्रभुता और क्षेत्राीय अखंडता के दायरे में हो और जिसे बाहरी ताकतों की दखलंदाजी न हो। भारत ने श्रीलंका के उस हालिया प्रस्ताव का स्वागत किया है जिसमें सत्ता हस्तांतरण के द्वारा उन क्षेत्राों के लिए कुछ हद तक स्वशासन की बात कही गई है जहां तमिल अल्पसंख्यकों की आबादी ज्यादा है।

बोध प्रश्न १

नोट : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग करें।

ख) अध्याय के अंत में दिए गए मानक उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान करें।

१) यूएनसीआईपी क्या है? इसकी प्रमुख सिफारिशें क्या हैं?

....

....

....

....

....

२) भारत और श्रीलंका के बीच कच्छातिवू विवाद का समाधान कैसे हुआ?

....

....

....

....

....

५.४ भारत और नेपाल

विश्व का इकलौता हिंदू राज्य नेपाल भारत के उत्तर में स्थित है। नेपाल में भारत की रुचि ऐतिहासिक, धार्मिक और रणनीतिक कारणों से स्वाभाविक है। उत्तर में भारत की सुरक्षा नेपाल से बहुत गहरे जुड़ी हुई है।

शांति और मित्रता संधि, १९५०

३१ जुलाई १९५० को दोनों देशों ने शांति और मित्राता संधि पर दस्तखत किए और आरंभ में भारत-नेपाल संबंध इसी संधि पर आधारित थे। संधि पर दस्तखत के बाद भारत ने नेपाल, तिब्बत और भूटान के बीच दर्रों की निगरानी के लिए १७ चौकियाँ स्थापित कीं। इन चौकियों को भारतीय और नेपाली कर्मचारी संयुक्त रूप से संचालित करते रहे। नेपाली सेना को संगठित और प्रशिक्षित करने के लिए काठमांडू में एक भारतीय सैन्य अभियान भी चलाया गया। नेहरू की इस बात में गहरी रुचि थी कि नेपाल अपनी स्वतंत्राता और संप्रभुता का संपूर्ण उपभोग करे। राणाओं की राजशाही व्यवस्था के खिलाफ चलाए गए लोकतांत्रिक आंदोलन के दौरान भी भारत ने धैर्य और संयम बनाए रखा।

१९६२ में भारत-चीन युद्ध के बाद भारत के लिए अपनी सुरक्षा की दृष्टि से नेपाल का महत्व बहुत बढ़ गया। संबंधों की बेहतरी के लिए भारत की इच्छा को नेपाल की ओर से सकारात्मक जवाब मिला। नेपाल नरेश की भारत की १३ दिन की यात्राा और बाद में राष्ट्रपति राधाकृष्णन की नेपाल यात्राा ने संबंधों को और मजबूती प्रदान की। इन रिश्तों में और सुधार आया जब भारत के विदेश मंत्राी सरदार स्वर्ण सिंह ने १९६४ में अपनी नेपाल यात्राा के दौरान नेपाल को और ज्यादा आर्थिक सहायता मुहैया कराने संबंधी एक समझौते पर दस्तखत किए। १९६५ में नेपाल नरेश दोबारा भारत

के दौरे पर आए और उन्होंने प्रधानमंत्राी लालबहादुर शास्त्राी से वार्ता की। कश्मीर पर भारत के पक्ष को नेपाल ने पूरा समर्थन दिया। नेपाल नरेश ने उनके देश को भारत द्वारा दी जा रही आर्थिक मदद की सराहना की। हालाँकि, इन द्विपक्षीय संबंधों को झटका लगा जब सुस्ता क्षेत्रा को लेकर सीमा विवाद पैदा हुआ। १९६६ में इस क्षेत्रा पर नेपाल ने अपना दावा किया था। बिहार से सटी नेपाल की सीमा पर स्थित एक वर्ग मील का यह क्षेत्रा अभी भी विवाद का मसला बना हुआ है। अंततः मसले के समाधान के लिए एक सीमा आयोग का गठन किया गया।

नेपाल को आर्थिक मदद

१९६७ तक भारत ने नेपाल के आर्थिक विकास के लिए उसे ५० करोड़ (नेपाली रुपए) की राशि की सहायता दी थी और अतिरिक्त ४० करोड़ की आर्थिक मदद का वादा किया था। १९६७ तक भारत नेपाल का सबसे बड़ा इकलौता प्रदाता था। सड़क निर्माण और ऊर्जा के विकास ऐसे दो क्षेत्रा थे जिनमें भारत ने नेपाल की प्रमुखता से मदद की। भारत ने नेपाल को काठमांडू में उसके पहले हवाई अड्डे के निर्माण में भी मदद की थी। लेकिन इस समय तक नेपाल के आर्थिक और राजनीतिक संबंधों में चीन एक महत्वपूर्ण स्थान बना चुका था। नेपाल नरेश महेंद्र ने चीन और भारत, दोनों के प्रति अपनी तटस्थता को फिर से दोहराया। भारत के लिए हालांकि नेपाल की विदेश नीति में चीन की उपस्थिति ने खतरनाक स्थिति पैदा कर दी थी।

इस दौरान नेपाल में भारत विरोधी प्रदर्शन लगातार किए जाने लगे। नेपाल ने उत्तरी सीमा चौकियों और काठमांडू में सैन्य समूहों से भारतीय कर्मचारियों को हटाए जाने की सार्वजनिक माँग कर डाली। यह माँग हालांकि संधि के प्रावधानों के खिलाफ थी, यानी नेपाल ऐसा कर के भारत-नेपाल संबंधों के आधार को ही चुनौती दे रहा था। नई दिल्ली में ऐसा माना जाने लगा कि नेपाल अब चीन और पाकिस्तान दोनों को भारत के खिलाफ तैयार कर रहा है। लेकिन १९७१ की शुरुआत में ही नेपाल को भारत विरोधी अभियान की व्यर्थता का बोध हो गया। आखिरकार इसने नेपाल की अर्थव्यवस्था को नुकसान ही पहुंचाया था। बातचीत के दरवाजे दोनों ओर से खोल दिए गए और नई पारगमन की संधि पर काठमांडू में १९७१ में दस्तखत किए गए। १९७१ के अंत तक दोनों देशों के संबंध फिर से पटरी पर आ गए थे।

१९७२ में महेंद्र की मौत के बाद महाराजा बीरेंद्र ने उनकी गद्दी संभाली। उनके शासन में नेपाल ने भारत के साथ बेहतर संबंधों के लिए कार्य करना शुरू किया। भारत ने नेपाल में ऊर्जा तथा सिंचाई परियोजनाओं के विकास में हिस्सा लिया। इनमें प्रमुख परियोजनाएँ थीं कोसी, गंडक, कर्नाली, त्रिसूली तथा देवीघाट और पोखरा पनबिजली परियोजाएँ। भारत और नेपाल ने मिलकर हिमालय से निकलने वाली नदियों का उपयोग करने की योजना बनाई। भारत ने कई क्षेत्राों में नेपाल को मदद दी और सहकारी भूमिका निभाई जैसे सड़क निर्माण, हवाई अड्डा निर्माण, दूरसंचार, मत्स्य पालन, कृषि, वानिकी, शिक्षा और स्वास्थ्य।

नेपाल के साथ दोस्ताना संबंधों में फिर बहार आई जब श्रीमती गाँधी १९८० में सत्ता में लौटीं। राजा बीरेंद्र ने १९८१ में भारत की यात्राा की और उसी वर्ष राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी ने बदले में नेपाल का दौरा किया। नेपाल का पड़ोसी होने और एक बड़ी ताकत होने के नाते चीन उसमें गहरी दिलचस्पी ले रहा था। भारत और नेपाल के द्विपक्षीय संबंधों में जब-जब दरार आती, चीन उसे और चौड़ा करने का ही काम करता था। हालांकि भारत नेपाल का प्रमुख व्यापारिक साझीदार बना रहा। १९८४-८५ के दौरान नेपाल के आयात-निर्यात से हुए कुल व्यापार का ५२ फीसदी हिस्सा सिर्फ भारत के साथ ही था। नेपाल की जरूरत के अधिकांश सामानों का उत्पादन भारत में ही होता है और वे बगैर किसी कठिनाई के उपलब्ध करवा दिए जाते हैं।

नेपाल में सदियों पुरानी राजशाही को ८ अप्रैल १९९० को संवैधानिक स्वरूप प्रदान किया गया। महाराजा बीरेंद्र ने जनता की इच्छा का सम्मान करते हुए दलविहीन पंचायत व्यवस्था को समाप्त करने कर निर्णय लिया। नरेश इस संवैधानिक व्यवस्था से सहमत हो गए जिसमें कहा गया था कि

राज्य के प्रमुख की उनकी पदवी बनी रहेगी लेकिन प्रशासन की जिम्मेदारी कैबिनेट की होगी और वह संसद के प्रति जवाबदेह होगी। चुनाव बहुदलीय व्यवस्था के आधार पर कराए जाएंगे। इस तरह से एक दलविहीन लोकतंत्रा का स्थान दल आधारित संसदीय लोकतंत्रा ने ले लिया।

दोनों देशों के बीच आर्थिक संबंधों में सुधार १९९१ से इनकी अर्थव्यवस्थाओं के उदारीकरण के चलते हुआ। १९९१ की व्यापार और परिगमन संधि तथा १९९३ में किए गए संशोधनों ने भी सकारात्मक नतीजे दिए। १९९२-९४ के दौरान नेपाल के आर्थिक विकास के प्रति भारत की प्रतिबद्धता विभिन्न कार्यक्रमों के रूप में लगातार अभिव्यक्त होती रही। फरवरी १९९६ में नेपाली प्रधानमंत्राी देउबा की भारत यात्राा के दौरान दोनों देशों ने महाकाली परियोजना के विकास से संबंधित एक संधि पर दस्तखत किए। आपसी फायदों के लिए नदियों के पानी के उपयोग से संबंधित यह परियोजना एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। सीमाओं की पहचान के लिए दोनों देश तकनीकी स्तर के एक संयुक्त भारत-नेपाल सीमा आयोग के माध्यम से एक समयबद्ध कार्यक्रम पर काम कर रहे हैं। इस तरह भारत का हाथ नेपाल की ओर दोस्ती के लिए हमेशा से बढ़ा रहा है।

५.५ भारत और बांग्लादेश

दिसंबर १९७१ में बांग्लादेश का जन्म भारत-पाक युद्ध का सीधा नतीजा था जिसमें पाकिस्तानी सैन्य टुकड़ियों ने बिना किसी शर्त तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान में आत्मसमर्पण कर दिया था। भारतीय उपमहाद्वीप में बांग्लादेश के प्रादुर्भाव को एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में परिभाषित किया गया। भारत को पूर्वी पाकिस्तान को मुक्त करने के लिए विवश होना पड़ा चूंकि भारत के समक्ष उस समय सबसे बड़ा संकट एक करोड़ शरणार्थियों के सीमा पार से घुस आने का था। भारतीय प्रधानमंत्राी श्रीमती इंदिरा गाँधी द्वारा पाकिस्तान पर अवामी लीग के नेताओं के साथ समझौता करवाने के लिए बनाया गया दबाव भी विफल रहा और कोई नतीजा नहीं निकला।

९ मार्च १९७२ को दोनों देशों ने मित्राता और शांति की संधि पर दस्तखत किए। श्रीमती गाँधी ने बांग्लादेश को भारत के पूर्ण सहयोग और संयुक्त राष्ट्र में उसे प्रवेश दिलाने का पूरा भरोसा दिलाया। इस संधि की समय सीमा २५ वर्ष थी। पाकिस्तान इस संधि पर दस्तखत से असंतुष्ट था और उसने इसे सैन्य गठबंधन का नाम दिया। लेकिन संधि के प्रावधानों के अध्ययन से पता चलता है कि इसका मुख्य उद्देश्य द्विपक्षीय संबंधों को मजबूत करना, क्षेत्राीय शांति कायम करना और अंतरराष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाना है। यह निश्चित तौर पर किसी देश या देशों के समूह के खिलाफ कोई सैन्य संधि नहीं थी। इस संधि के बाद २५ मार्च १९७२ को दोनों देशों के बीच एक संक्षिप्त व्यापार समझौता किया गया। इस तरह परस्पर समानता और आपसी हितों, मित्राता तथा सहयोग की पृष्ठभूमि में मित्राता संधि और व्यापार समझौता दोनों देशों के बीच हुआ।

गंगा जल का बंटवारा

भारत और बांग्लादेश के बीच विवाद की सबसे बड़ी हड्डी गंगा नदी के जल के बँटवारे से संबद्ध है। यह विवाद जनवरी से मई के बीच, खासकर मार्च के मध्य से मध्य मई तक गंगा के पानी के बँटवारे से जुड़ा हुआ है, जब गंगा का बहाव ५५,००० क्यूसेक के न्यूनतम स्तर पर पहुंच जाता है। समस्या का कुल निचोड़ यह है कि अगर भारत न्यूनतम ४०,००० कयूसेक पानी अपने लिए हुगली में छोड़ता है, जो कोलकाता बंदरगाह को बचाने के लिए कम से कम अनिवार्य है तो बांग्लादेश को सिर्फ १५,००० क्यूसेक पानी ही मिल पाता है जो उसकी आवश्यकताओं के हिसाब से बहुत कम है। भारत द्वारा इतनी मात्राा में पानी ले लेने से बांग्लादेश में कई स्तरों पर समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। इस प्रकार भारत और बांग्लादेश के बीच मुख्य समस्या गंगा जल के समान बँटवारे को लेकर ही है। बंगाल-बिहार सीमा पर भारत द्वारा गंगा नदी पर बनाया गया फरक्का बैराज कोलकाता के उत्तर में ४०० किलोमीटर दूर स्थित है। इस बैराज के निर्माण का मुख्य कारण कोलकाता बंदरगाह का संरक्षण और रखरखाव तथा भगीरथी-हुगली की नौगम्यता को बनाए रखना

था। बैराज निर्माण के बाद कोलकाता बंदरगाह का तो बचाव हो गया पर बंदरगाह से पानी की दिशा में परिवर्तन अंतरराष्ट्रीय विवाद का मुद्दा बन गया। गंगा के पानी के समान बँटवारे और फरक्का बैराज के मसले को हल करने के लिए कई समझौते किए गए लेकिन इस दिशा में आखिरी समझौता दोनों सरकारों के बीच १९९६ में संपन्न हुआ। शेख हसीना की सरकार ने भारत के साथ अगले तीस वर्षों तक गंगा जल के बँटवारे से संबंधित एक संधि की। इसमें भारत का प्रतिनिधित्व तत्कालीन प्रधानमंत्राी एच.डी. देवेगौड़ा ने किया। इस संधि की मुख्य विशेषता यह है कि गंगा के पानी का निर्धारण १ जनवरी से ३१ मई तक की अवधि में १० दिनों के हिसाब से १५ हिस्सों में किया जाएगा।

न्यू मूरे द्वीप विवाद

भारत और बांग्लादेश के बीच कुछ क्षेत्राों के स्वामित्व संबंधी विवाद भी रहे हैं। इनमें न्यू मूरे द्वीप विवाद, तीन बीघा गलियारे से जुड़ी समस्या और बेलोनिया सेक्टर में मुहुनिया चार में हुए संघर्ष शामिल हैं। इन तीनों में न्यू मूरे द्वीप विवाद अभी भी प्रमुख समस्या के रूप में बना हुआ है। बंगाल की खाड़ी में स्थित न्यू मूरे द्वीप के अंतर्गत दो से १२ वर्ग किलोमीटर का क्षेत्रा आता है जो समुद्री ज्वार भाटों पर निर्भर करता है। भारत के सबसे करीबी तटीय क्षेत्रा से वह करीब ५२०० मीटर की दूरी पर और बांग्लादेश के तट से ७००० मीटर पर स्थित है। १२ मार्च १९८० को द्वीप पर भारतीय राष्ट्रीय ध्वज फहराने के बाद से ही सारी समस्याएं पैदा हुईं। बांग्लादेश ने भारत के स्वामित्व पर ही सवाल उठा दिया। इस समस्या की हालांकि कई स्तरों पर चर्चा हो चुकी है, फिर भी इसका समाधान नहीं हो सका है।

भारत-बांग्लादेश संबंधों पर तीन बीघा गलियारे के विवाद के चलते भी प्रतिकूल असर पड़ा है। प्रधानमंत्राी इंदिरा गांधी के कार्यकाल के दौरान इस छोटे से भारतीय परिक्षेत्रा को बांग्लादेश को पट्टे पर दे दिया गया था, लेकिन इस समझौते का क्रियान्वयन नहीं हो सका चूंकि इसके लिए संवैधानिक संशोधन की जरूरत पड़ती।

अन्य द्विपक्षीय मुद्दे

भारत और बांग्लादेश के बीच विवाद के अन्य मुद्दों में एक चकमा शरणार्थियों की समस्या है जिन्होंने भारत के राज्य त्रिापुरा में शरण ले रखी है। १९९४ में हुई वार्ता के मुताबिक इन चकमा शरणार्थियों को त्रिापुरा से वापस बांग्लादेश की चिट्टगोंग पहाड़ियों में भेज दिया गया। कई को वापस भेज दिया गया है और कई अभी भी वापसी की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

भारत के सामने एक अन्य चुनौती इस समय वे बांग्लादेशी शरणार्थी हैं जिनमें से अधिकांश गरीब तबकों से हैं और भारत के विभिन्न हिस्सों में आकर बस गए हैं। एक आकलन के मुताबिक इनकी संख्या दस लाख से भी ज्यादा है जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था पर अतिरिक्त बोझ पड़ रहा है। भारत के कई बार अनुरोध के बावजूद बांग्लादेश सरकार इन्हें वापस बुलाने के लिए कोई कदम नहीं उठा रही है। भारत सरकार के पास इन्हें बांग्लादेश प्रत्यर्पित करने के लिए ठोस कदम उठाने के अलावा और कोई विकल्प नहीं बचा है।

बोध प्रश्न २

नोट : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग करें।

ख) अध्याय के अंत में दिए गए मानक उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान करें।

१) १९९० के दशक में भारत और नेपाल के बीच आर्थिक संबंधों के चरित्रा की व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

....

....

२) गंगा जल के बँटवारे पर भारत और बांग्लादेश विवाद में केंद्रीय मुद्दे क्या हैं?

....

....

....

....

....

५.६ सारांश

भारतीय विदेश नीति की प्राथमिकताओं में से एक रहा है कि अपने पड़ोसियों के साथ मिल कर रणनीतिक तौर पर सुरक्षित, राजनीतिक रूप से स्थिर और सौहार्दपूर्ण तथा आर्थिक सहयोग के माहौल का निर्माण किया जाए। भारत ने अपने पड़ोसियों से मित्राता को सर्वोच्च प्राथमिकता दी है। पाकिस्तान, नेपाल, श्रीलंका और बांग्लादेश के साथ भारत के संबंधों के बारे में जैसा ऊपर बताया गया है, इससे साफ संकेत मिलता है कि भारत संघर्ष से बचना चाहता है, अंतरराष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के पक्ष में है और सभी पड़ोसियों से मित्राता कायम रखना चाहता है। भारत के कई पड़ोसी गुट निरपेक्ष हैं और उन्होंने शांति की दिशा में भारत की पहल का माकूल जवाब भी दिया है। इसके बावजूद भारत के सामने संघर्ष के कई क्षण आए और कई नियमित युद्ध भी हुए। पाकिस्तान के साथ मित्रावत संबंध बनाए रखने के लिए भारत ने कई बार बिना किसी प्रतिदान की उम्मीद किए एकतरफा पहल की (जैसे पूर्व प्रधानमंत्राी इंद्र कुमार गुजराल का 'गुजराल सिद्धांत', जो कहता है कि अपने पड़ोसियों को आप जो कुछ दे सकते हैं वो दें और बदले में किसी चीज की उम्मीद न करें, चूंकि आप उनकी तुलना में बड़े देश हैं। इसके अलावा पूर्व प्रधानमंत्राी अटल बिहारी वाजपेयी की लाहौर बस सेवा, आगरा शिखर सम्मेलन इत्यादि)। पाकिस्तान ने भारत पर बदले में करगिल युद्ध थोप दिया और सीमा पार आतंकवादी कार्रवाइयों में इजाफा कर दिया। पाकिस्तान लगातार कश्मीर मुद्दे का अंतरराष्ट्रीयकरण करने में लगा हुआ है। भारत की संसद पर हमला भी पाकिस्तान समर्थित आतंकवादियों ने ही किया था। वास्तव में, पाकिस्तान हर संभव तरीके से भारत में अस्थिरता लाने की कोशिश कर रहा है। अपने पड़ोसी देश के खिलाफ आतंकवाद को समर्थन देने वाले देश के रूप में पाकिस्तान एक बेहतरीन उदाहरण है।

अपने अन्य पड़ोसियों के साथ भारत के संबंध मधुर हैं। नेपाल और श्रीलंका में गठित नई सरकारों ने भारत के साथ संबंधों को मजबूत बनाने और समझौते करने का संकल्प दोहराया है। भारत लगातार इस क्षेत्रा में आर्थिक और राजनीतिक सहयोग के लिए माहौल बनाने में अपने प्रयास जारी रखे हुए है। भारत और इसके पड़ोसियों के बीच नैकट्य का सबसे अच्छा उदाहरण नेपाल नरेश और वहां के प्रधानमंत्राी की मार्च २००३ में हुई भारत यात्राा थी। इसी तरह श्रीलंका के प्रधानमंत्राी ने भी हाल ही में भारत का दौरा किया था। पाकिस्तान को अगर छोड़ दें, तो शक्तिशाली चीन समेत सभी पड़ोसियों के साथ भारत के मधुर संबंध कायम हैं। यह भारत की पड़ोसियों से अच्छे संबंधों में आस्था का परिचायक है।

५.७ कुछ उपयोगी पुस्तकें

वी.पी. दत्त (१९८४). *इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी,* नई दिल्ली : विकास।

एम. रसगोत्रा, वी.डी. चोपड़ा और के.पी. मिश्रा (१९९०), *इंडियाज़ फॉरेन पालिसी इन १९९०.* नई दिल्ली: पैट्रियट प्रकाशन।

ललित मानसिंह. (१९९८). *इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी-एजेंडा फॉर दि २१फस्ट सेंचुरी.* दूसरा खंड, नई दिल्ली: कोणार्क प्रकाशन।

आर.के. खिलनानी (२०००). *रिस्टक्चरिंग इंडियाज़ फारेन पोलिशी,* नई दिल्ली: कॉमनवैल्थ।
जे. एन. दीक्षित (२००२) *इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी–चैलेंज ऑफ टेररिज्म,* नई दिल्ली: ज्ञान।

५.८ बोध प्रश्नों के मानक उत्तर

बोध प्रश्न १

१) यूएनसीआईपी भारत और पाकिस्तान के लिए गठित संयुक्त राष्ट्र का आयोग है जिसे संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिशद ने १९४८ में नियुक्त किया था। १९४८ में जमा की गई यू.एन.सी.आई.पी. की जाँच रपट में दोनों देशों के बीच उग्रता को कम करने तथा जनमत संग्रह के संबंध में निम्नलिखित सिफारिशें दी गईं। सर्वप्रथम, संघर्ष विराम के बाद पाकिस्तान अपनी सैन्य टुकड़ियां जम्मू-कश्मीर से जल्द से जल्द हटाए तथा उन कबीलाई और पाकिस्तानी नागरिकों को वापस बुलाए जो जम्मू-कश्मीर के निवासी नहीं हैं। दूसरे, पाकिस्तानी टुकड़ियों द्वारा खाली किए गए क्षेत्रों का प्रशासन आयोग की देखरेख में स्थानीय अधिकारी करें। तीसरे, इन दो शर्तों के पूरी हो जाने और भारत को इसकी सूचना दिए जाने के बाद वह भी अपनी अत्यधिक सैन्य टुकड़ियों को वहां से हटा ले। अंतिम सिफारिश थी कि अंतिम समझौते के तहत भारत सीमित संख्या में वहाँ अपनी टुकड़ियाँ स्थापित करे जो सिर्फ कानून और व्यवस्था को बनाए रखने के लिए पर्याप्त हो।

२) जाफना के तट से कुछ दूरी पर स्थित निर्जन द्वीप कच्छातिवू भारत और श्रीलंका के बीच १९६० के दशक में विवाद का मुद्दा बना। इस मसले का हल द्विपक्षीय वार्ता से निकाल लिया गया, जब भारत ने द्वीप पर श्रीलंका के स्वामित्व को स्वीकार कर लिया।

बोध प्रश्न २

१) दोनों ही देशों ने कमोबेश एकसाथ १९९० के प्रारंभिक दशक में आर्थिक उदारीकरण की शुरुआत की। भारत ने १९९१ में व्यापार और परिगमन संधि को बहाल किया और नेपाल के आर्थिक विकास के लिए विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से प्रतिबद्धता जताई। भारत और नेपाल ने महाकाली परियोजना के विकास के लिए १९९६ में एक संधि पर दस्तखत किए। इस परियोजना का उद्देश्य दोनों देशों के हितों में नदी के पानी का उपयोग है।

२) यह विवाद जनवरी से मई के बीच, खासकर मार्च के मध्य से मध्य मई तक गंगा के पानी के बंटवारे से जुड़ा हुआ है, जब गंगा का बहाव ५५,००० क्यूसेक के न्यूनतम स्तर पर पहुंच जाता है। समस्या का कुल निचोड़ यह है कि अगर भारत न्यूनतम ४०,००० क्यूसेक पानी अपने लिए हुगली में छोड़ता है, जो कोलकाता बंदरगाह को बचाने के लिए कम से कम अनिवार्य है तो बांग्लादेश को सिर्फ १५,००० क्यूसेक पानी ही मिल पाता है जो उसकी आवश्यकताओं के हिसाब से बहुत कम है। इस प्रकार भारत और बांग्लादेश के बीच मुख्य समस्या गंगा जल के समान बँटवारे को लेकर ही है।

इकाई ६ पाकिस्तान की राजनीति की संरचनाएँ एवं प्रक्रियाएँ

इकाई की रूपरेखा

६.० उद्देश्य

६.१ प्रस्तावना

६.२ स्थापना के समय पाकिस्तान

६.३ राजनीतिक विकास एवं प्रक्रियाएँ

- ६.३.१ संविधान सभा
- ६.३.२ जिन्ना-लियाक़त काल
- ६.३.३ नौकरशाही और सेना का गठबंधन
- ६.३.४ प्रथम सैनिक शासन: अयूब-याहया काल
- ६.३.५ जुल्फीकार अली भुट्टो के नेतृत्व में पी. पी. पी.: ज़िया-उल-हक़ काल
- ६.३.६ सैनिक शासन की दूसरी पारी: - जनरल ज़िया-उल-हक़ काल
- ६.३.७ लोकतंत्रा की पुनर्स्थापना: गुलाम इशाक़ खान काल
- ६.३.८ राजनीति में मध्यस्थ के रूप में सेना:१९९३ का राजनीतिक संकट
- ६.३.९ जनरल मुशर्रफ़ का सैनिक शासन

६.४ नौकरशाही

६.५ सेना

६.६ चुनाव एवं राजनीतिक दल

६.७ सारांश

६.८ कुछ उपयोगी पुस्तकें

६.९ बोध प्रश्नों के उत्तर

६.० उद्देश्य

इस अध्याय में पाकिस्तान की संरचना तथा राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया गया है। इसे पढ़ने के बाद आप:

- पाकिस्तान के राजनीतिक विकास की प्रमुख अवस्थाओं की पहचान कर पाएंगे;
- देश का राजनीतिक इतिहास जान पाएंगे;
- पाकिस्तान की राजनीतिक प्रणाली में सेना तथा नौकरशाही की भूमिका का पता लगा पाएंगे; तथा
- राज्य में क्षेत्रीय असमानताओं की पहचान कर पाएंगे।

६.१ प्रस्तावना

पाकिस्तान का जन्म ब्रिटिश भारत के मुस्लिम अल्पसंख्यक प्रान्तों में मुस्लिम अलगाववादी आंदोलन के परिणामस्वरूप १४ अगस्त, १९४७ को हुआ। मुस्लिम अलगाववादी आंदोलन ब्रिटिश शासकों

के सहयोग तथा १९वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में मुस्लिम मध्य वर्ग के उदय से चला। २३ मार्च, १९४० के अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के लाहौर प्रस्ताव में अलग स्वदेश की मांग की गई जिसमें भारतीय उप-महाद्वीप का सारा उत्तर-पश्चिमी तथा उत्तर पूर्वी भाग शामिल था, किन्तु माउंटबेटन योजना के अनुसार पंजाब और बंगाल का भी विभाजन किया गया। अन्त में जो पाकिस्तान राज्य उभर कर आया, वह अपने आप में विलक्षण था, इसके दो प्रमुख हिस्सों के बीच में १००० कि मी का भारतीय क्षेत्रा था। चूंकि इन दोनों के बीच धर्म के अतिरिक्त कुछ भी सामान्य नहीं था, अत: शीघ्र ही पूर्वी पाकिस्तान स्वतंत्रा राष्ट्र के रूप में उभरा। आजकल पाकिस्तान में पंजाब (पहले पूर्वी पंजाब), सिंध, उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रान्त (NWFP), बलूचिस्तान, संघ प्रशासित जनजातीय क्षेत्रा (FATA) तथा इस्लामाबाद का संघ प्रशासित राजधानी क्षेत्रा शामिल है। देश की जनसंख्या १५ करोड़ है। निर्धनता, उच्च जन्म दर, निरक्षरता, बेरोज़गारी इत्यादि आज भी देश की प्रमुख समस्याएँ हैं। २४ वर्षों से अधिक समय तक चलने वाले सैनिक शासन की तीन पारियों के बाद इस देश में एक बार फिर से तीन वर्ष पूर्व जनरल मुशर्रफ़ का सैनिक शासन लगा।

६.२ स्थापना के समय पाकिस्तान

पाकिस्तान के दो प्रमुख भागों - पूर्वी पाकिस्तान और पश्चिमी पाकिस्तान-में धर्म के अतिरिक्त कोई और समानता नहीं थी। नए राष्ट्र के पास राज्य का आधारभूत ढांचा नहीं था यहां तक कि सेना भी ब्रिटिश सेना का ही हिस्सा थी। पाकिस्तान के अन्तर्गत आने वाला क्षेत्रा आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से पिछड़ा था। इसके प्रान्त प्रमुखत: कृषि पर निर्भर थे जिन पर सामन्ती जमींदारों तथा जनजातीय सरदारों का वर्चस्व था। क्षेत्रा में जो भी उद्योग और व्यापार था, उस पर हिन्दू तथा सिक्खों का नियंत्राण था जो विभाजन के दिनों में साम्प्रदायिक दंगों के कारण भारत चले गए। कुछेक वित्तीय संस्थाएँ पश्चिमी भाग के लाहौर, कराची तथा पेशावर तथा पूर्वी भाग के ढाका जैसे शहरी केन्द्रों में कार्यशील थीं। यातायात तथा संचार प्रणाली भी अल्पविकसित थी। पूर्वी भाग पटसन का प्रमुख निर्यातक क्षेत्रा था जो कि पाकिस्तान की निर्यात की जाने वाले प्रमुख जिन्स थी, परन्तु व्यापार कार्य चलाने के लिए विकसित बंदरगाहें नहीं थीं। इन परिस्थितियों में प्रशासन का मुख्य कार्य भारत से आए हजारों शरणार्थियों को स्थापित तथा पुनर्वासित करना था।

औपनिवेशिक राज्य होने के कारण नए देश में ब्रिटिश परम्पराओं में प्रशिक्षित, संगठित नौकरशाही तथा सेना मौजूद थी। ब्रिटिश भारतीय सेना में विभाजन कर मुस्लिम अधिकारियों को पाकिस्तानी अथवा भारतीय सेना में शामिल होने का विकल्प दिया गया। यह उल्लेखनीय है कि स्वतंत्राता प्राप्ति के कुछ समय बाद तक कई ब्रिटिश अधिकारी पाकिस्तानी सेना में रहे।

बोध प्रश्न १

नोट : अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए खाली स्थान को उपयोग में लाए ।

अपने उत्तर की जांच अध्याय के अंत में दिए गए उत्तर से करें ।

१) पाकिस्तान की स्थापना के समय कुल मिलाकर इसकी स्थिति कैसी थी ?

....

....

....

....

....

६.३ राजनीतिक विकास एवं प्रक्रियाएँ

पाकिस्तान जैसे नए राज्य में लोकतांत्रिक प्रक्रियाएँ विकसित करने के लिए आवश्यक राजनीतिक संस्थाओं की कमी थी। पाकिस्तान आंदोलन प्रमुखत: मुस्लिम अल्पसंख्यक प्रान्तों के मुस्लिमों का आंदोलन था तथा यह उन क्षेत्रों में कमज़ोर था जो नए राष्ट्र का हिस्सा बने। मुस्लिम लीग केवल बंगाल तथा सिंध में ही सत्ता में थी। स्वतंत्राता प्राप्ति के एक सप्ताह बाद तक उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रान्त में कांग्रेस की सरकार थी जिसे बाद में पाकिस्तान के गवर्नर जनरल, मौहम्मद अली जिन्ना को स्वयं एक आदेश द्वारा भंग करना पड़ा। भारत से पाकिस्तान गये मुस्लिमों को सत्ता में बड़ी भागीदारी मिली। स्थानीय राजनीतिक अभिजात वर्ग जिन्होंने पाकिस्तान आंदोलन का विरोध किया था, को राजनीतिक पटल पर उभरने में कुछ समय लगा। पाकिस्तान आंदोलन का विरोध करने वाले स्थानीय राजनीतिक अभिजात वर्ग को राजनैतिक पटल पर उभरने में कुछ समय लगा। पूरा पाकिस्तान आंदोलन नारों पर चला तथा किसी भी स्तर पर नए देश के गठन के संबंध में लोगों को बौद्धिक स्तर पर तैयार नहीं किया गया। इस मुद्दे पर जिन्ना के अधिकांश वक्तव्य अस्पष्ट तथा ढुल-मुल थे, यद्यपि उनसे इतना तो स्पष्ट था कि उनका पाकिस्तान को इस्लामी राज्य बनाने का कोई विचार नहीं था।

शासक अभिजात वर्ग उन सिद्धांतों पर एकमत नही था जिनके आधार पर राजनीतिक प्रणाली का गठन किया जाना था। शिक्षित वर्ग पाकिस्तान को धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक राज्य बनाना चाहता था तो विशेषकर धार्मिक प्रवृत्ति के पश्चिम में लोग इसे इस्लामी राज्य बनाना चाहते थे। पाकिस्तान के गठन के बाद जल्दी ही सत्तासीन मुस्लिम लीग ने अपनी विश्वसनीयता खो दी जिसके परिणामस्वरूप पाकिस्तान में राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना नहीं हो सकी तथा देश में लोकतांत्रिक प्रक्रियाएँ विकसित नहीं हो सकी।

६.३.१ संविधान सभा

जिस संविधान सभा का चयन अविभाजित भारत के लिए किया गया था उसे ही नए देश के लिए संविधान निर्माण का कार्य सौंपा गया। इस संविधान सभा को पाकिस्तान के केन्द्रीय विधानपालिका के रूप में भी कार्य करना था। पाकिस्तान मुस्लिम लीग के भारत से गए कुछ नेताओं को सभा में जगह नही मिलीं थी लेकिन बाद में सिक्ख तथा हिन्दू सदस्यों के विस्थापित हो भारत चले जाने के कारण रिक्त हुए पदों पर वे आसीन हो गए, फिर भी संविधान सभा में पूर्वी बंगाल के सदस्य हिन्दू समुदाय के थे। उनमें से कुछ भारत कांग्रेस पार्टी के सदस्य भी थे। यद्यपि उनकी संख्या कम थी, फिर भी उन्होंने पाकिस्तान नैशनल कांग्रेस का गठन किया और अपने विचार सशक्त तरीके से प्रस्तुत किए किन्तु विभाजन पूर्व की पूर्वधारणाओं तथा कड़वाहट के कारण उनकी वफादारी को चुनौती दी गई तथा उन्हें संदेह की दृष्टि से देखा गया। यहां तक कि उभरते हुए अन्य विपक्षी दलों को भी ''पाकिस्तान के शत्रुा'' माना गया पर मुस्लिम लीग के नेता यह बात भूल गए कि किसी लोकतंत्रा में सत्ताधारी दल के लिए निर्धारित भूमिका की ही भांति विपक्ष का भी अपना योगदान होता है। इसका परिणाम यह हुआ कि पाकिस्तान में लोकतांत्रिक संस्थाओं की जड़ें मजबूत नहीं हो सकीं।

मुस्लिम लीग नेतृत्व ने भी संविधान सभा की उपेक्षा की। मुस्लिम लीग ने अपनी पार्टी के स्तर पर विभिन्न मुद्दों पर चर्चा की तथा संविधान सभा के समक्ष अनुमोदन के लिए उन्हें प्रस्तुत कर दिया। संविधान सभा को सर्वाधिकार प्राप्त संकाय का सम्मान देने की अपेक्षा इसे कार्यकारणी के संलग्नक में बदल दिया गया। संवैधानिक संकायों की क्षीणता के कारण ऐसी स्थिति बन गई जिसमें इन संकायों ने राज्यपाल तथा प्रधानमंत्री के कई असंवैधानिक कार्यों को पारित करना आरम्भ कर दिया। गवर्नर जनरल, गुलाम मौहम्मद ने संविधान सभा के चुने गए नेता प्रधानमंत्री, ख्वाज़ा नजीमुद्दीन को बर्खास्त कर दिया तथा सभा के अनुमोदन के बिना मौहम्मद अली बोगरा को नियुक्त कर दिया। इस प्रकार से राष्ट्र के प्रारम्भिक वर्षों में ही कार्यकारिणी की तुलना में विधानमंडल की गौणता की परम्परा आरम्भ हो गई।

६.३.२ जिन्ना-लियाकत काल

भारत की भांति पाकिस्तान ने प्रशासनिक तंत्रा की स्थापना के लिए भारत सरकार के १९३५ के अधिनियम को अपनाया। इस अधिनियम में राज्य के प्रधान, गवर्नर जनरलों को इसमें संशोधन करने का अधिकार दिया गया था। पहले गवर्नर जनरल, मौहम्मद अली जिन्ना ने अधिनियम में संशोधन लाने के लिए इस प्रावधान का कई बार उपयोग किया। एक ऐसे संशोधन के माध्यम से उसने स्वेच्छानुसार प्रान्तीय सरकारों को भंग करने के अधिकार प्राप्त कर लिए तथा चुनी गई सरकारों को बर्खास्त कर दिया। जिन्नाह ने राजनैतिक प्रणाली के सर्वोच्च चार पदों में से तीन पद अपने पास रखकर सत्ता का केन्द्रीकरण कर लिया - गवर्नर जनरल, संविधान सभा के अध्यक्ष तथा मुस्लिम लीग के अध्यक्ष के पद। अन्य महत्वपूर्ण पद, प्रधानमंत्राी के पद पर लियाकत अली खान आसीन थे। लियाकत अली खान का रूतबा तथा करिश्मा जिन्ना के बराबर का न होने के कारण प्रधानमंत्राी के पदावनति कर दी गई। गवर्नर जनरल को सभी अधिकारों का प्रमुख माना गया। इन परिस्थितियों में देश को चलाने में नौकरशाही अहम भूमिका निभाने लगी। उदाहरण के तौर पर लेखा-परीक्षा एवं लेखा सेवा के एक अधिकारी, गुलाम मौहम्मद को वित्त मंत्राी नियुक्त कर दिया गया हालांकि पाकिस्तान आंदोलन में उसकी कोई भूमिका नहीं थी। सितम्बर, १९४८ में जिन्नाह की मृत्यु के उपरान्त लियाकत अली खान मुस्लिम लीग के अध्यक्ष बने तथा सर्वोच्च शासक बने। उन्होंने एक साधारण तथा निचले स्तर के क्षेत्राीय नेता, ख्वाजा नजीमुद्दीन को नया गवर्नर जनरल बना दिया। उत्तर प्रदेश के पूर्व मुस्लिम लीग नेता चौधरी खालिकुजामनन को संविधान सभा का नया अध्यक्ष नियुक्त कर दिया गया। लियाकत अली खान ने संविधान निर्माण की प्रक्रिया को गति दी। सभा ने लक्ष्य संकल्प १९४९ में पारित किया तथा मूल सिद्धान्त समिति की रिपोर्ट १९५२ में प्रस्तुत की गई। संकल्प तथा रिपोर्ट दोनों के कारण देश में हर जगह विरोध प्रदर्शन होने लगे। पश्चिमी पाकिस्तान के धार्मिक दलों ने इस बात का विरोध किया कि संकल्प में पाकिस्तान को इस्लामी राज्य घोषित नहीं किया गया था जबकि पूर्वी पाकिस्तान में रिपोर्ट में उर्दू को देश की राजभाषा बनाने के प्रस्ताव के कारण रोष और विरोध था।

६.३.३ नौकरशाही और सेना का गठबंधन

दशक के अंत तक मुस्लिम लीग ने भाषा संबंधी अपनी नीति के कारण पूर्वी पाकिस्तान का विश्वास खो दिया था। उधर मुस्लिम लीग मुख्यधारा में विघटन हुआ तथा १९४९ में आवामी लीग का गठन हुआ। पश्चिमी पाकिस्तान में मुस्लिम लीग दो अनौपचारिक समूहों में विभाजित हो गई - एक समूह लीग के पुराने सदस्यों का था जो अधिकांशत: विस्थापित भारतीय थे जबकि दूसरे समूह में नए सदस्य थे जिनमें से अधिकांश पंजाबी तथा कुछ सिंधी और पठान थे। इनमें से प्रथम समूह के लोग अधिकतर शहरी लोग थे तथा उनकी आस्था उदार लोकतांत्रिक मान्यताओं में थी जबकि दूसरे समूह के लोग अधिकांशत: ग्रामीण पृष्ठभूमि के सामन्ती जमींदार थे जिनकी इस्लाम की रूढ़िवादिताओं में विश्वास था। लक्ष्य प्राप्ति के लिए संघर्ष से उपजने वाला आदर्शवाद उनमें नहीं था। परम्परागत तौर पर ब्रिटिश अपनी सेना और उसके अधिकारियों की भर्ती ग्रामीण क्षेत्राों तथा रूढ़िवादी सामन्ती जमींदार परिवारों से करते थे। अत: पाकिस्तान की सेना के लीग में नए शामिल होने वाले सदस्यों के साथ घनिष्ठ संबंध स्वाभाविक थे।

अक्तूबर १९५१ में प्रधानमंत्राी, लियाकत अली खान की हत्या के बाद ख्वाजा नजीमुद्दीन प्रधानमंत्राी तथा मुस्लिम लीग के अध्यक्ष बने। वित्त मंत्री गुलाम मौहम्मद को नया गवर्नर जनरल बनाया गया। गुलाम मौहम्मद कोई राजनेता नहीं थे तथा उन्होंने जिन्नाह के कार्य करने के तरीके को पुन: जीवित करते हुए सिविल सेवा अधिकारियों के माध्यम से कार्य करना आरम्भ कर दिया। वे मेजर जनरल इस्कंदर मिर्जा को रक्षा सचिव बनाकर सरकार में ले आए। मिर्जा युद्ध करने वाला जनरल नहीं था। वह ब्रिटिश राजनैतिक सेवा से संबंधित था तथा उसने अपने कैरियर का अधिकांश समय सीमान्त क्षेत्रा पर पठान विद्रोहों का दमन करने में बिताया। यही वह समय था जब जनरल अयूब खान पहले पाकिस्तानी सेनाध्यक्ष बने। यही तीन व्यक्ति लोकतंत्रा के विध्वंस तथा अक्तूबर १९५८ में पहले सैनिक शासन के लिए उत्तरदायी थे। एक बार सेना के हाथ में सत्ता आ जाने से उन्होंने सुनिश्चित

किया कि सेना को देश के संविधान में स्थायी जगह मिले। लियाकत अली के बाद मुस्लिम लीग के अधिकतर अध्यक्ष सामन्ती परिवारों से आए थे। नौकरशाही को पहले से ही सत्ता की संरचना में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था, फिर सेना, जमींदारों तथा नौकरशाही का गठबंधन बना। यही वह गुटतंत्रा अथवा गठबंधन था जो पाकिस्तान के सभी ऐतिहासिक उतार-चढ़ावों के बावजूद बना रहा तथा जिसने पाकिस्तान को संयुक्त राज्य अमेरिका के नव-औपनिवेशिक चंगुल में फंसा दिया।

तीनों नेताओं-गुलाम मौहम्मद, मिर्जा तथा अयूब खान ने संयुक्त राज्य अमरिका के साथ गठबंधन किया जो उस समय सोवियत संघ को दबाने के लिए सैनिक सहयोगियों की खोज कर रहा था। इससे पहले लियाकत अली ने ऐसे गठबंधन के प्रस्ताव को ठुकरा दिया था।

संविधान सभा ने बर्खास्तगियों तथा नियुक्तियों से संबंधित गवर्नर जनरल गुलाम मौहम्मद के कई निर्णयों को अनुमोदित किया। जब प्रधानमंत्री मौहम्मद अली बोगरा ने गवर्नर जनरल के अधिकारों में कटौती करने का प्रस्ताव रखा तो गुलाम मौहम्मद अली ने पलटवार करते हुए १९५४ में संविधान सभा को ही भंग कर दिया। इस प्रकार पहले संविधान सभा संविधान निर्माण का कार्य करने से पहले ही भंग हो गई । सभा के भंग किए जाने से गंभीर संवैधानिक संकट उत्पन्न हो गया क्योंकि संविधान सभा को भंग करने तथा नई संविधान सभा के पुनर्चयन का कोई प्रावधान नहीं था। गवर्नर जनरल को सभा भंग करने का अधिकार नहीं था। सिंध उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय में वैधानिक और संवैधानिक लड़ाई में न्यायाधीश मौहम्मद मुनिर ने ''अनिवार्यता का सिद्धांत'' प्रतिपादित किया और संविधान सभा के भंग होने को वैधानिक करार दिया। "अनिवार्यता का सिद्धान्त'' वास्तव में एक प्रकार से अधिकारवादी कानून का एक विलक्षण रूप था जिसे ऐसे प्रस्तुत किया गया जैसे वह लोकतंत्रा के सिद्धान्तों के अनुरूप हो। मुनिर के सिद्धान्त का प्रभाव यह हुआ कि बल प्रयोग राज्य की शक्तियों पर अधिकार प्राप्त लोगों को यह अधिकार मिल गया। जब तक वे अनिवार्य समझें, संवैधानिक सरकार को बर्खास्त करने का कि वह जब और जितने समय तक अनिवार्य समझें संवैधानिक सरकार को बर्खास्त रख सकते थे। बाद में इसी सिद्धान्त के अनुसार १९५८ में जनरल अयूब, १९७७ में जनरल ज़िया-उल-हक तथा १९९९ में जनरल परवेज मुशर्रफ़ ने सत्ता संभालने को वैधानिक रूप दिया गया ।

१९५५ में संविधान सभा के नए चुनाव हुए। इस चुनाव में मुस्लिम लीग ने बहुमत खो दिया परन्तु किसी भी अन्य पार्टी - आवामी लीग, यूनाइटेड फ्रंट (गैर आवामी लीग पूर्व पाकिस्तानी दल) तथा रिपब्लिकन पार्टी को बहुमत नहीं मिल गया। नई संविधान सभा का योगदान यह था कि इसने १९५६ में "एक इकाई'' की प्रणाली के आधार पर नया संविधान पारित कर दिया। पश्चिमी पाकिस्तान के चार प्रान्तों - पंजाब, सिंध, बलूचिस्तान तथा उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रान्त को इकट्ठा कर एक इकाई माना गया और उसे पश्चिमी पाकिस्तान कहा गया । दूसरी ओर, पश्चिमी बंगाल तथा सिलहट जिलों को दूसरी इकाई माना गया। इसके कारण पाकिस्तान दो इकाईयों में विभक्त हो गया - पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान। राजनैतिक दृष्टि से इसका अर्थ यह हुआ कि देश की जनसंख्या में बहुमत प्राप्त होने के बावजूद बंगाली लोगों को राजनैतिक लाभ से वंचित रखा गया। १९५६ का संविधान, भले ही कैसा भी था - अच्छा या बुरा, इसमें लोकतांत्रिक सरकार की संसदीय प्रणाली का प्रावधान था। संविधान के प्रावधानों के अनुसार प्रतिनिधि सभा के चुनाव १९५९ में कराए जाने थे। इसी बीच अयूब, मिर्जा तथा गुलाम मौहम्मद के अमेरिका समर्थक गुट की सत्ता में गहरी पैठ बन चुकी थी। वांशिगटन को विश्वास था कि अयूब तथा इस्कंदर मिर्जा इस क्षेत्रा में संयुक्त राज्य अमेरिका की योजनाओं का समर्थन करेंगे और दक्षिण-पूर्व एशियाई संधि संगठन (SEATO) तथा बाद में केन्द्रीय संधि-संगठन (CENTO) के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका - पाकिस्तान के सैनिक गठबंधन को मजबूत बनाएंगे। इस समय पर चुनावों से राजनैतिक दल मजबूत होते तथा लोगों में राजनैतिक जागरूकता को बढ़ावा मिला होता तथा गुटतंत्रा का प्रभाव समाप्त हो गया होता, जिसके भय से गुटतंत्रा ने शीघ्र कार्रवाई की। सितम्बर, १९५८ में सेना ने तख्ता पटल कर सत्ता हथिया ली। १९५६ के संविधान को खारिज कर दिया गया, राजनैतिक दलों तथा कार्यकलापों की निन्दा की गई और उन पर प्रतिबंध लगाए गए तथा देशभर में मार्शल लॉ लागू कर दिया गया।

६.३.४ प्रथम सैनिक शासन: अयूब-याहया काल

१९५४ में गुलाम मौहम्मद के शासनकाल के दौरान जनरल मौहम्मद अयूब खान रक्षा मंत्री तथा सेनाध्यक्ष दोनों थे। उन्होंने राष्ट्रपति इस्कंदर मिर्जा के सहयोग से तख्ता पलट किया परन्तु सत्ता हथियाने के एक माह के भीतर ही दोनों में मतभेद हो गए। यह संदेह होने पर कि मिर्जा उसके विरूद्ध षडयंत्रा रच रहा था, जनरल अयूब ने राष्ट्रपति मिर्जा को अपदस्थ कर उसे देश निकाला देकर लंदन भेज दिया। अयूब खान ने मार्शल लॉ प्रशासक के रूप में चार वर्ष तक शासन किया। १९६२ में उसने मूलभूत लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना की तथा अध्यक्षीय प्रणाली और नीचे से ऊपर के स्तर तक अप्रत्यक्ष मतदान के आधार पर संविधान का गठन किया गया। प्रशासन का केन्द्रीकरण किया गया और कार्यकारिणी, विधायिका तथा न्यायपालिका अलग-अलग व्यवस्थाएं नहीं रह गई थीं। १९६२ में अप्रत्यक्ष मतदान प्रणाली के आधार पर राष्ट्रीय सभा का चुनाव किया गया जिसने संविधान को मंजूरी दी तथा राष्ट्रपति के रूप में अयूब खान के चुने जाने को औपचारिक रूप दे दिया गया। राष्ट्रपति का चुनाव लगभग ८० हजार सदस्यों के चुनाव मंडल द्वारा किया गया जिन्हें सत्तासीन लोगों ने सरलता से प्रभावित कर लिया। राष्ट्रीय सभा के पास कोई वित्तीय अधिकार नहीं थे। मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती थी परन्तु उनकी राष्ट्रीय सभा के प्रति कोई जवाबदेही नहीं थी। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अयूब खान के संविधान को संवैधानिक एकतंत्रा कहा गया।

अयूब खान ने एक दशक से अधिक तक शासन किया। हार्वार्ड समूह के अर्थशास्त्रियों के परामर्श पर अपनाई गई कुछ आर्थिक नीतियों से विकास दर में वृद्धि हुई। पश्चिम में तो इसे विकास का दशक तक कहा गया किन्तु विकास का लाभ आम आदमी तक नहीं पहुंचा। इसके विपरीत निर्धन तथा धनी लोगों के बीच की खाई और गहरा गई। इसी नीति के परिणामस्वरूप पाकिस्तान में प्रसिद्ध २४ एकाधिकार प्राप्त परिवारों का उदय हुआ। अयूब की भूमि सुधार नीतियाँ भी विफल रहीं क्योंकि अधिकांश बड़े जमींदारों ने इन्हें नहीं माना। निर्यात को बढ़ावा देने तथा विदेशी विनिमय कोष में सुधार लाने के उद्देश्य से चलाई गई उनकी बोनस वाउचर योजना के कारण भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिला। विशेषकर पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान में क्षेत्रीय असमानताएँ बढ़ीं। स्वाभाविक रूप से बंगाल के प्रति उदासीनता गहरा गई जिसका असामयिक अंत १९६९ में अयूब के सत्ता से हटने के दो वर्ष की अवधि के भीतर ही प्रान्त के अलग राष्ट्र बनने के रूप में हुआ। १९६५ के भारत-पाक युद्ध के कारण भी राजनीतिक संकट उत्पन्न हो गया। यह युद्ध प्रमुखत: अयूब की देन थी जिनकी सत्ता में पैठ गहरा चुकी थी तथा जिन्होंने यह सोचा था कि वह इस युद्ध के माध्यम से भारत के विरूद्ध जीत का एक और सेहरा अपने सिर पर बांध सकेंगे। ताशकंद शिखर वार्ता को भारतीय प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री के समक्ष पाकिस्तान के आत्मसमर्पण के रूप में देखा गया। ताशकंद शिखर वार्ता का एक और परिणाम यह निकला कि जुल्फीकार अली भुट्टो ने अयूब से नाता तोड़ लिया। १९६८ तक अयूब की करिश्माई छवि धूमिल पड़ने लगी थी। एक ओर बढ़ती हुई निर्धनता और शहरी मध्य वर्ग की हताशा तथा दूसरी ओर भ्रष्टाचार और भूमि सुधार कार्यक्रमों की विफलता के कारण आर्थिक और राजनीतिक संकट गहरा गए थे। अयूब ने पूर्वी पाकिस्तान की स्वायतता की बढ़ती हुई मांग को जोरदार ढंग से दबा दिया परन्तु इससे यह मांग और भी सशक्त होकर उनके शासन तथा उस द्वारा स्थापित राजनीतिक प्रणाली के विरूद्ध आंदोलन के रूप में उभरी।

समाज में बढ़ते हुए विरोधाभासों के कारण उत्पन्न सामाजिक अशांति की परिणति १९६८ के मध्य में व्यापक जन विद्रोह के रूप में हुई जिसके कारण अयूब खान को अचानक सत्ता छोड़नी पड़ी जिसे सेनाध्यक्ष जनरल आगा मुहम्मद याहया खान को मार्च, १९६९ में सौंप दिया गया। याहया खान ने मार्शल लॉ लागू कर दिया तथा अयूब विरोधियों की प्रमुख लोकतांत्रिक माँगों को मान लिया। यह माँगें थीं इकाई को विभाजित करने तथा एक व्यक्ति एक मत के आधार पर प्रत्यक्ष चुनाव कराने की। अक्तूबर, १९७० में हुए पहले आम चुनावों में शेख मुजिबुर्रहमान के नेतृत्व में आवामी लीग को स्पष्ट बहुमत मिला। पूर्वी पाकिस्तान की राष्ट्रीय सभा जिन सीटों के लिए चुनाव हुआ था उनमें से लगभग सभी १६२ सीटों पर उसका कब्जा हो गया। पश्चिमी पाकिस्तान में पाकिस्तान पीपल्स

पार्टी (PPP) को अधिकांश सीटें मिलीं। इन चुनावों से नए राष्ट्र का सजातीय तथा भौगोलिक विभाजन स्पष्ट होता है। आवामी लीग अपने छह सूत्री कार्यक्रम के साथ पूर्वी पाकिस्तान की प्रमुख पार्टी बनी तो पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी (पी.पी.पी.) सशक्त केन्द्र के अपने कार्यक्रम के कारण पश्चिमी पाकिस्तान में वर्चस्व में बनी रही। याहया खान ने जुल्फीकार अली भुट्टो का समर्थन करते हुए आवामी लीग को सरकार नहीं बनाने दी जिसके परिणामस्वरूप पाकिस्तान में खूनी गृहयुद्ध छिड़ गया जिसकी परिणति पाकिस्तान के विभाजन तथा बांग्लादेश के जन्म के रूप में हुई।

६.३.५ जुल्फीकार अली भुट्टो के नेतृत्व में पाकिस्तान पीपल्स पार्टी: ज़िया-उल-हक़ काल

१९६८-१९६९ में अयूब खान शासन के विरूद्ध आंदोलन के दौरान जुल्फीकार अली भुट्टो नेता बनकर सामने आए। १९६६ में ताशकंद घोषणा पर अयूब के साथ मतभेद के कारण भुट्टो ने सरकार छोड़कर १९६७ में कुछ वामपंथी बुद्धिजीवियों के सहयोग से पाकिस्तान पीपल्स पार्टी का गठन कर लिया। १९७० के राष्ट्रीय सभा चुनावों में उन्होंने पश्चिमी पाकिस्तान में अपनी पार्टी को जीत दिलाई। १९७१ के भारत-पाक युद्ध में पाकिस्तान की हार के बाद याहया शासन के समाप्त होने पर भुट्टो को राष्ट्रपति पद तथा प्रमुख मार्शल लॉ प्रशासक के पद की शपथ दिलाई गई। शायद वह विश्व भर के प्रथम असैनिक मार्शल लॉ प्रशासक थे। उनके कंधों पर असीम जिम्मेवारियाँ थीं। १९७१ में करारी हार के बाद देश की स्थिति नाजुक थी, देश विभक्त और हतोत्साहित था और लगभग दिवालिएपन के कगार पर था। वह समस्याओं के समाधान तथा देश के उत्थान के लिए कटिबद्ध थे। कुछ ही सप्ताहों में उन्होंने स्थायी संविधान की तैयारी के रूप में अंतरिम संविधान लागू कर दिया। १९७३ में लागू संविधान को देश की सभी राजनीतिक शक्तियों का समर्थन प्राप्त था। यह देश के लोगों के चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा तैयार किया गया प्रथम संविधान था। १९७३ के संविधान में संघीय व्यवस्था पर आधारित सरकार की संसदीय प्रणाली प्रतिपादित की गई। राष्ट्रपति महज अध्यक्ष बन कर रह गया। संविधान लागू करने के उपरान्त भुट्टो ने सरकार बनाई। फजल इलाही चौधरी को राष्ट्रपति चुना गया।

प्रधानमंत्री का पद संभालने के बाद उन्होंने कई सुधार कार्यक्रम आरम्भ किए जिनमें बंगलादेश संकट के दौरान पाकिस्तान की हार तथा बर्बादी के लिए जिम्मेदार कई जनरलों को अपदस्थ करना, असैनिक उद्देश्यों के लिए सेना के उपयोग को रोकने के उद्देश्य से पैरा-मिलिटरी, फेडरल सिक्योरिटी फोर्स (FSF) का गठन, कई बैंकों तथा अन्य प्रमुख उद्योगों का राष्ट्रीयकरण और कई प्रगामी भूमि सुधार कार्यक्रम शामिल थे। भुट्टो सरकार ने सिंधी को सिंध प्रान्त में पढ़ाई की भाषा के माध्यम के रूप में पहचाना परन्तु इसका उर्दू समर्थकों ने हिंसात्मक विरोध किया। उन्होंने भारतीय सिविल सेना की ब्रिटिश काल की प्रणाली के अनुसार चल रही अभिजात वर्ग प्रणाली की अपेक्षा सेवाओं में सम्पूर्ण पाकिस्तान के लिए एक ग्रेड प्रणाली आरम्भ की। विविध सरकारी कार्यकलापों को समूहों में विभक्त किया गया जैसे जिला प्रबंधन समूह, विदेशी मामले समूह इत्यादि। १९७७ के चुनावों में पी पी पी पर धांधली के आरोप लगे। यह स्पष्ट था कि भुट्टो की लोकप्रियता कम हो चुकी थी तथा उसकी वैधानिकता को भी धक्का पहुँचा था। सेना ने सरकार के कमजोर होने का लाभ उठाया तथा ५ जुलाई, १९७७ को जनरल-ज़िया-उल-हक ने सरकार को हटा दिया, संविधान बर्खास्त कर दिया, सभी राजनीतिक दलों पर प्रतिबंध लगा दिए और देश में मार्शल लॉ लागू कर दिया गया। इस प्रकार से सैनिक शासन की दूसरी पारी की शुरूआत हुई।

६.३.६ सैनिक शासन की दूसरी पारी : जनरल ज़िया-उल-हक काल

जनरल ज़िया-उल-हक ने संविधान खारिज नहीं किया अपितु इसे स्थगित अवस्था में रहने दिया। सितम्बर, १९७७ में उसने आपातकाल तो हटा दिया परन्तु मार्शल लॉ जारी रखा। उसने राष्ट्रपति को नाममात्रा के कार्यों को करते रहने दिया। उसने भुट्टो पर प्रतिशोध की भावना से कार्रवाई की। भुट्टो को पी.पी.पी. के भूतपूर्व सदस्य के पिता की हत्या में हाथ होने के आरोप में गिरतार किया गया। लाहौर उच्च न्यायालय ने हत्या के लिए षडयंत्रा रचने के आरोप में उन्हें मौत की सजा सुनाई। भुट्टो

को अप्रैल १९७९ में फांसी लगा दी गई। तख्ता पलट के तत्काल बाद जनरल ज़िया-उल-हक ने ९० दिन के भीतर चुनाव कराने की घोषणा कर दी पर चूंकि जनरल ज़िया के पास इसकी कोई वैधानिकता नहीं थी इसलिए वह किसी न किसी बहाने से चुनाव टालता गया। धीरे-धीरे लोगों में सैनिक शासन के विरूद्ध रोष पनपने लगा। मार्च, १९८७ में विद्रोह ने संगठित रूप ले लिया जब पी.पी.पी. की अध्यक्षता में राजनैतिक दलों के गठबंधन ने लोकतंत्रा की पुनर्स्थापना के लिए आंदोलन (एम आर डी) चलाया। प्रतिक्रिया स्वरूप जनरल ज़िया ने कुछ असैनिक मंत्रियों को अपनी सरकार में शामिल कर लिया तथा प्रान्तों की सरकारों में भी सामान्य नागरिकों को लाया गया। उसने अंतरिम संविधान लागू किया तथा परामर्शदात्री सभा का गठन किया जिसे मजलिस-ए-शूरा कहा गया। ३०० सदस्यों वाली शूरा का कार्य विधानमंडल मामलों पर सरकार को परामर्श देना था। जनरल ज़िया का विश्वास था कि इस्लाम के तरीके अपनाने से न केवल उसे वैधानिकता मिल जाएगी अपितु वह ऐसी नई राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करने में भी सफल होंगे जिसे बदलना किसी भी लोकतांत्रिक सरकार के लिए मुश्किल होगा। शूरा से इस्लाम की आवश्यकताओं के अनुरूप लोकतांत्रिक प्रणाली तैयार करने के लिए कहा गया। इसी बीच उसने इस्लाम के कर्मकाण्डों के अनुसार कार्य करना आरम्भ कर दिया तथा इनका अनुपालन सुनिश्चित करने और निगरानी के लिए प्रार्थना वार्डनों की नियुक्ति की गई, इस्लाम बैंक खोले गए, जकात की अनिवार्य कटौती की गई तथा इसी प्रकार के अन्य तरीके अपनाए गए। नागरिक स्वतंत्राता, राजनीतिक कार्यकलापों तथा प्रेस पर प्रतिबंधों में कोई छूट नहीं दी गई। अपराधियों तथा राजविद्रोहियों पर सार्वजनिक महाभियोग चलाए गए तथा उन्हें सार्वजनिक रूप से कोड़े लगाए गए अथवा उन पर उन्होंने लाठियाँ बरसाई गईं। दिसम्बर, १९८४ में उन्होंने राष्ट्रपति के पद पर अपनी स्थिति के संबध में जनमत संग्रह कराया जिसका सभी राजनीतिक दलों ने बहिष्कार किया। मत पत्रों की तोड़ी-मरोड़ी गई भाषा तथा कम मतदान जनरल ज़िया के पक्ष में रहा। यह एक रोचक तथ्य है कि बाद में जनरल परवेज मुर्शरफ़ ने इसी प्रकार का जनमत संग्रह कराया और उसके परिणाम भी इसके समान ही थे।

तथाकथित जनमत संग्रह में विजय प्राप्त करने के उपरान्त जनरल ज़िया ने मार्च, १९८५ में राष्ट्रीय सभा के चुनाव गैर-पार्टी आधार पर कराने का निर्णय लिया। राजनीतिक दलों को उम्मीदवार नामित करने की अनुमति नहीं दी गई। इसके अतिरिक्त चुनाव की सामान्य विशेषताओं यानि जलूसों, प्रदर्शनों, चुनाव प्रचार और यहाँ तक कि घोषणा पत्रा इत्यादि पर प्रतिबंध लगाया गया। ज़िया के समर्थक दलों को छोड़कर अधिकांश राजनीतिक दलों ने चुनावों का बहिष्कार किया। यह बात सबको ज्ञात थी कि पी. पी. पी. की भागीदारी के बिना चुनावों को वैधता नहीं मिल पाएगी। इसलिए जनरल ज़िया-उल-हक ने बेनजीर को चुनावों में भाग लेने के लिए राजी करने के प्रयास किए। यहाँ तक कि चुनावों के लिए गैर-पार्टी का प्रावधान हटाने की भी पेशकश की परन्तु बेनजीर ने चुनावों में भाग लेने से इन्कार कर दिया, बाद में उसे अपने इस निर्णय पर अफसोस भी हुआ। उसने इस तथ्य की उपेक्षा की कि चुनावों का अपना महत्व होता है तथा बाद में यह सिद्ध भी हुआ। मौहम्मद खान जुनेजो, मुस्लिम लीग के सामान्य जिला स्तर के नेता थे ज़िया ने उनको गैर दलीय राष्ट्रीय सभा का प्रधानमंत्राी बना दिया, जो बाद में सेना के हाथ की कठपुतली मात्रा बनकर रहने की अपेक्षा पाकिस्तान सरकार के अध्यक्ष के रूप में अपनी शक्तियों को इस्तेमाल में लाना चाहते थे। वह राष्ट्रपति ज़िया की इच्छाओं के विरूद्ध कई निर्णय लेने में कामयाब हुए जिसकी कीमत उन्हें बाद में मई, १९८८ में चुकानी पड़ी जब ज़िया ने उन्हें अपदस्थ कर दिया। चुनावों के परिणाम ज़िया के लिए आश्चर्यजनक थे क्योंकि पी. पी. पी. के समर्थक माने जाने वाले कई उम्मीदवार चुने गए थे जबकि ज़िया शासन के कई समर्थकों को हार का मुंह देखना पड़ा था। एक बार राष्ट्रीय सभा का चयन होने के बाद यह महसूस किया गया कि कोई सरकार सत्ताधारी दल के बिना कार्य नहीं कर सकती। अत: जनरल ज़िया को राजनीतिक दलों को पुनर्जीवित करना पड़ा तथा मौहम्मद खान जुनेजो मुस्लिम लीग (पगारा) के नेता बन गए। नई राष्ट्रीय सभा ने नामित मजलिस-ए-शूरा का स्थान ले लिया।

राष्ट्रीय सभा के प्रारम्भिक सत्रा की पूर्व संध्या पर जब प्रधानमंत्राी ने मार्शल लॉ हटाने की मांगी की तो जनरल ज़िया इसके लिए इस शर्त पर सहमत हो गए कि सभा को स्वीकार्य कई संवैधानिक

संशोधनों के बाद ऐसा किया जाएगा। १९७३ के संविधान के खण्ड ५८ (।।) ख में संशोधन से राष्ट्रपति की शक्तियों तथा अधिकारों में वृद्धि हुई। इसे आठवाँ संशोधन कहा गया। मूलतः राष्ट्रपति महज एक संवैधानिक अध्यक्ष था किन्तु आठवें संशोधन में राष्ट्रपति को प्रधानमंत्राी की नियुक्ति तथा बर्खास्तगी, राष्ट्रीय सभा भंग करने तथा प्रधानमंत्री द्वारा पारित कानूनों को अस्वीकार करने, नए चुनाव कराने, सेना तथा न्यायपालिका में उच्च पदों पर नियुक्तियाँ करने के अधिकार दे दिए गए। इस प्रकार से आठवें संशोधन से संविधान का मूल रूप ही बदल गया जो कि संसदीय प्रणाली से बदलकर अध्यक्षीय प्रणाली पर आधारित हो गया। यह एक रोचक तथ्य है कि इसके बाद १९९६ में बेनजीर भुट्टो की बर्खास्तगी तक सभी प्रधानमंत्रियों की बर्खास्तगी इसी संशोधन के अन्तर्गत राष्ट्रपति को दिए गए अधिकारों के तहत की गई तथा प्रत्येक मामले में एक समान भाषा प्रयोग में लाई गई, प्रधानमंत्राी पर भ्रष्टाचार, अयोग्यता, कुप्रशासन इत्यादि के आरोप लगाए गए। सरकार तथा राष्ट्रीय सभा की निगरानी के लिए परा-संवैधानिक संकल्प के रूप में राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद का गठन करने का भी प्रावधान था। आठवें संशोधन के एक अन्य प्रावधान के तहत उन सभी परिवर्तनों को अनुमोदित कर दिया गया जो जनरल ज़िया ने जुलाई, १९७७ में मार्शल लॉ लागू होने के बाद से संविधान में किए थे।

दिसम्बर, १९८५ में जनरल ज़िया ने मार्शल लॉ तथा सैनिक शासन हटा दिया। जुनेजो अब औपचारिक तौर पर मुस्लिम लीग के नेता तथा देश के प्रधानमंत्री बन गए परन्तु सैनिक शासन का असैनिक मुखौटा लोगों को विश्वास में नहीं ले सका। लोकतंत्रा की पुनर्स्थापना के लिए आंदोलन (The Movement for the Restoration of Democracy - MRD) जोरदार ढंग से चलता रहा। राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक संकट गहरा गए। प्रान्तों में बढ़ती हुई क्षेत्रीय असमानताओं के विरूद्ध संजातीय तथा क्षेत्राीय आंदोलन हुए। नवम्बर, १९८७ के स्थानीय निकायों के चुनावों ने लोगों को अपनी नाराजगी व्यक्त करने का माध्यम उपलब्ध कराया। जुनेजो भी अधिक आत्मविश्वासी हो रहा था तथा वह कार्य करने के लिए अधिक स्वतंत्राता चाहते थे। जनरल ज़िया को जुनेजो की बढ़ती हुई स्वतंत्राता पसंद नहीं आई तथा मई के अन्त में बर्खास्त कर दिया गया तथा राष्ट्रीय व प्रान्तीय सभाओं के लिए नए चुनाव उसी वर्ष नवम्बर में कराने की घोषणा की गई परन्तु चुनाव होने से पहले ही १७ अगस्त, १९८८ को वायुयान दुर्घटना में जनरल ज़िया की मृत्यु हो गई।

६.३.७ लोकतंत्र की पुनर्स्थापना : गुलाम इशाक़ खान काल

गुलाम इशाक खान एक सामान्य नौकरशाह थे जो सेवा में निचले स्तर से ऊपर के पद तक पहुँचे थे। सीनेट का अध्यक्ष होने के कारण वह संविधान के प्रावधान के अनुसार राष्ट्रपति ज़िया-उल-हक की मृत्यु के उपरान्त राष्ट्रपति पद पर आसीन हो गया। उसने सरकार को चलाने के लिए आपातकालीन राष्ट्रीय परिषद का गठन किया जिसमें शीर्षस्थ सेनाधिकारी, प्रान्तों के चार गवर्नर तथा चार संघीय मंत्राी थे। अभी गुलाम इशाक खान राजनीतिक स्थिति पर विचार कर ही रहा था क्योंकि चुनावों को स्थगित करना या फिर पुनः मार्शल लॉ लगाना मुश्किल हो गया था इसी बीच कुछ कानूनी निर्णय राजनीतिक दलों के पक्ष में हुए। न्यायालय के एक निर्णय के अनुसार जनरल ज़िया द्वारा गठित राष्ट्रीय सभा को भंग कर दिया गया तो दूसरे न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि चुनाव पार्टी आधार पर करवाए जाएँ। अक्तूबर, १९८८ में हुए चुनावों में सेना तथा नौकरशाही द्वारा पी पी पी को रोकने के लिए किए गए प्रयासों के बावजूद यह सबसे बड़े दल के रूप में उभरी। बेनजीर भुट्टो को दिसम्बर, १९८८ में प्रधानमंत्राी बनाया गया। पी. पी. पी. सरकार ने लोकतंत्रा को मजबूत बनाने के लिए राजनीतिक नेताओं के विरूद्ध सारे मामले वापस ले लिए तथा मज़दूर संघों व छात्रा संघों पर से सारे प्रतिबंध हटा दिए। यद्यपि पी. पी. पी. के पास सीनेट में पर्याप्त बहुमत नहीं था, तथापि इसने आठवें संशोधन को रद्द करने के लिए कदम उठाए। नवाज शरीफ जो जनरल ज़िया का आश्रित था, उसके नेतृत्व ने विपक्ष में बेनजीर की नीतियों के मार्ग में कई समस्याएँ खड़ी कर दीं।

प्रान्तीय चुनावों में पी. पी. पी. को किसी भी प्रान्त में बहुमत नहीं मिला यद्यपि यह सिंध तथा उ प सी प्रान्त में अपनी गठबंधन सरकारें बनाने में सफल रही। इस्लामिक डेमोक्रेटिक एलायंस

(IDA) नवाज शरीफ के नेतृत्व में पंजाब में अपने बलबूते पर सरकार बनाने में सफल हुआ। बलूचिस्तान में क्षेत्रीय दलों जैसे बलूचिस्तान नेशनल पार्टी, जमायतुल उलामई इस्लाम तथा आई. डे. ए. ने गठबंधन सरकार बनाई परन्तु पाकिस्तान में गठबंधन सरकारें लम्बे समय तक नहीं चल सकीं और दो प्रान्तों में पी. पी. पी. नेतृत्व वाले गठबंधन शीघ्र टूट गए। इससे भी केन्द्र में बेनजीर सरकार कमजोर हुई क्योंकि यह भी अनिश्चित रूप से संतुलित गठबंधन पर टिकी थी। मुहाजिर कौमी आंदोलन (MQM) ने शिकायत की कि इसे किए वादों को लागू नहीं किया गया है किन्तु पी. पी. पी. के साथ समस्या यह थी कि सिंध में इसे मिली किसी भी रियायत का प्रान्त में पी पी पी के समर्थक आधार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इसी बीच विपक्षी दलों ने मिलकर संयुक्त विपक्षी दल (COP) का गठन कर लिया था। अक्तूबर, १९८९ में एम क्यू एम सरकार से बाहर चली गई। शीघ्र ही सरकार के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव लाया गया। इस बार भी १९८८ की भांति आई. एस. आई. प्रस्ताव के समर्थन में विपक्षी दलों को एकजुट करने में सक्रिय भूमिका निभा रही थी किन्तु फिर भी प्रस्ताव विफल हो गया। विशेषकर सिंध में संजातीय संघर्ष फिर से छिड़ गए। मुहाजिरों तथा उनकी संस्था एम. क्यू. एम. पर हमले और तेज हो गए। पी. पी. पी. सरकार पर लगातार रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार तथा कुप्रशासन के आरोप लग रहे थे। कानून एवं व्यवस्था भी बिगड़ गई थी। मंहगाई तथा बेरोजगारी के कारण आर्थिक व्यवस्था में भी गिरावट आई। अगस्त, १९९० में राष्ट्रपति गुलाम इशाक खान ने सेना की सहमति से सरकार पर भ्रष्टाचार तथा आर्थिक स्तर पर अकुशलता जैसे असंवैधानिक आरोप लगाते हुए बर्खास्त कर दिया। नवम्बर में नए चुनावों की घोषणा करते हुए उसने सी ओ पी नेता गुलाम मुस्तफा जटोई की अध्यक्षता में केयरटेकर सरकार नियुक्त कर दी।

६.३.८ राजनीति में मध्यस्थ के रूप में सेना: १९९३ का राजनीतिक संकट

नवाज शरीफ राष्ट्रपति गुलाम इशाक खान का ऐसी परिस्थितियाँ बनाने के लिए आभारी था जिसमें वह बेनजीर को हटाकर सरकार बना सकता था किन्तु एक बार सत्ता में आने के बाद नवाज तथा इशाक में मतभेद उत्पन्न हो गए। यह आरोप लगाया गया कि शरीफ सरकार को अस्थिर बनाने के लिए सरकार के कुछ मंत्रियों के त्यागपत्रा में राष्ट्रपति का हाथ था। राष्ट्रपति द्वारा सरकार को बर्खास्त करने से पहले कई दिनों तक यह सब चलता रहा। १८ अप्रैल, १९९३ को राष्ट्रीय सभा भंग कर दी गई। राष्ट्रपति ने नवाज शरीफ पर कुप्रशासन, भ्रष्टाचार, आर्थिक हेरा-फेरी, अयोग्यता तथा संविधान के साथ खिलवाड़ करने के आरोप लगाए। पी. पी. पी. के कुछ बागी सदस्यों सहित कई बागी नेताओं को मिलाकर केयरटेकर सरकार नियुक्त की गई। आरोप जो भी रहे हों, वे वास्तव में १९९० में बेनजीर तथा १९८८ में जुनेजो पर लगाए गए आरोपों से भिन्न नहीं थे। अत: विवाद का मुद्दा था - आठवें संशोधन के तहत राष्ट्रपति के असीम अधिकार। शरीफ ने इस संशोधन पर तीखे हमले बोले जबकि राष्ट्रपति ने इसका समर्थन किया और इसे 'सेफ्टी वाल्व' बताया।

देश के इतिहास में पहली बार ऐसा हुआ जब राष्ट्रपति द्वारा किसी सरकार की बर्खास्तगी पर लोगों में बड़े पैमाने पर रोष प्रकट हुआ। राष्ट्रीय सभा के स्पीकर ने न्यायालय में एक याचिका दायर की जिसमें बर्खास्तगी पर दुर्भावपूर्ण और असंवैधानिक होने का आरोप लगाया गया। मुख्य न्यायाधीश, नसीम हसन शाह ने बर्खास्तगी को असंवैधानिक करार देते हुए रद्द करा दिया। राष्ट्रीय सभा बुलाई गई तथा नवाज शरीफ को विश्वास मत मिल गया और उनकी पद पर वापसी हुई। यह पाकिस्तान की न्यायपालिका के इतिहास में ऐसा पहला अनूठा निर्णय था। पहले के सभी अवसरों पर न्यायालय ने राष्ट्रपतियों के निर्णयों पर अपनी सहमति व्यक्त की थी जिसमें मौहम्मद खान जुनेजो और बेनजीर की बर्खास्तगी शामिल थी।

नवाज शरीफ और इशाक खान के बीच राजनीतिक शत्रुता कम नहीं हुई और राष्ट्रपति ने शरीफ के राजनीतिक आधार पर चोट पहुंचाने का निर्णय लिया। पंजाब में प्रान्तीय मुस्लिम लीग सरकार को बर्खास्त कर दिया गया। गतिरोध जारी रहा तथा इससे शेयर बाजार में बौखलाहट और अनिश्चितता आ गई जिसका राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर गंभीर प्रभाव पड़ा। सेना को दोनों के विवाद के बीच संकट सुलझाने के लिए लाया गया। कई दिनों तक चले गहन विचार-विमर्श के उपरान्त

जनरल अब्दुल वहीद कक्कड़ इस समझौते पर पहुंचे कि राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री दोनों ही इस्तीफा दें। इसके बाद विश्व बैंक के कर्मचारी डा मोइन कुरैशी को प्रधानमंत्री बनाते हुए उनकी अध्यक्षता में केयरटेकर सरकार का गठन किया गया। सीनेट के भूतपूर्व अध्यक्ष, वसीम सज्जाद को अंतरिम राष्ट्रपति बनाया गया। कुरैशी के मंत्रीमंडल में वरिष्ठ नौकरशाहों को मंत्री बनाया गया। राष्ट्रीय तथा प्रान्तीय सभाओं के लिए अक्तूबर, १९९३ में चुनाव कराने का निर्णय लिया गया। ये पांच वर्ष की अवधि में तीसरे चुनाव थे। राष्ट्रीय सभा में पी. पी. पी. सबसे बड़े दल के रूप में उभरी। चुनाव परिणामों से पता चला कि लोग देश में लोकतांत्रिक प्रणाली चाहते थे। रूढ़िवादी दलों को हार का मुंह देखना पड़ा। यद्यपि पी. पी. पी. को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला था, फिर भी बेनजीर कुछ मित्रा दलों तथा निर्दलीय उम्मीदवारों के सहयोग से प्रधानमंत्री बनीं।

६.३.९ जनरल मुशर्रफ़ का सैनिक शासन

जनरल ज़िया-उल-हक की मृत्यु के उपरान्त के दशक में यह लगने लगा था कि असैनिक तथा सैनिक नेतृत्व के बीच एक प्रकार का संतुलन स्थापित हो चुका है। चार चुनाव हुए और चार सरकारें बनी हालांकि उनमें से कोई भी अपना कार्यकाल पूर्ण नहीं कर सकी परन्तु १९९७ के आरम्भ में बनी नवाज शरीफ सरकार ने राजनीतिक संकट को और गहरा दिया। न्यायपालिका में स्पष्ट बहुमत मिलने पर नवाज शरीफ सरकार ने कुछ विवादास्पद निर्णय लिए। सर्वप्रथम, उसने आठवें संशोधन को निरस्त कर दिया जिसने राष्ट्रपति को अभूतपूर्व अधिकार प्रदान किए थे। उसके बाद उच्चतर न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्तियों में अपनी पकड़ बनाने के लिए सरकार ने तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश, सज्जाद अली शाह के विरूद्ध उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों का विद्रोह करवा दिया। सेना की अपेक्षा असैनिक अधिकारियों को अधिक अधिकार देने के प्रयासों के तहत नवाज शरीफ ने तत्कालीन सेनाध्यक्ष जनरल-जहांगीर करामत को त्यागपत्रा देने के लिए मजबूर किया। कारगिल की घटना के बाद सेनाध्यक्ष जनरल परवेज मुशर्रफ़ की सरकार से अनबन हो गई। १२ अक्तूबर, १९९९ को नवाज शरीफ ने जनरल परवेज मुशर्रफ़ को अपदस्थ करके अपने अंतरंग मित्रा जनरल ज़िआउद्दीन बट्ट को उसके स्थान पर नियुक्त कर दिया। जनरल मुशर्रफ़ उस समय श्रीलंका से वापिस आ रहे थे, अपने को बचाने के अतिरिक्त उनके पास कोई रास्ता नहीं था किन्तु कोपर्स कमांडर ने अपने अध्यक्ष की बर्खास्तगी को मानने तथा नए अध्यक्ष ज़ियाउद्दीन को कार्यभार सौंपने से इन्कार कर दिया। मुशर्रफ़ के वापस आने के बाद उसने सरकार को बर्खास्त कर दिया, प्रधानमंत्री नवाज शरीफ तथा अन्य नेताओं को गिरतार कर लिया गया तथा नया अंतरिम संवैधानिक आदेश (PCO) लागू कर दिया, बाद में इसके पक्ष में उच्चतम न्यायालय ने भी निर्णय दिया। जनरल परवेज मुशर्रफ़ ने मार्शल लॉ लागू नहीं किया परन्तु स्वयं को प्रमुख कार्यकारी (Chief Executive) घोषित कर दिया। बाद में जून, २००१ में उन्होंने राष्ट्रपति रफ़ीक तरार को त्यागपत्रा देने के लिए विवश किया और स्वयं राष्ट्रपति का पद संभाल लिया।

उच्चतम न्यायालय ने चुनाव कराने के लिए परवेज मुशर्रफ़ को ३ वर्ष का समय दिया तथा अक्तूबर, २००२ में चुनाव करा लिए गए। चुनाव के असुविधाजनक परिणाम निकलने की स्थिति के मद्देनजर चुनावों से पहले जनरल परवेज मुशर्रफ़ ने संविधान में कई संशोधन किए। उसने पाकिस्तान मुस्लिम लीग (नवाज) पार्टी के बागियों की एक नई पार्टी भी बनाई - पाकिस्तान मुस्लिम लीग (क्यू)। दोनों पूर्व प्रधानमंत्रियों, बेनजीर तथा नवाज शरीफ को विदेश में दिए गए जबरन देश निकाले से वापस आने की अनुमति नहीं दी गई। अक्तूबर के चुनावों में किसी भी दल को बहुमत नहीं मिला। पी. पी. पी. के कुछ सदस्यों को पार्टी से अलग करवा कर पी. एम. एल. (क्यू) के ज़फरूल्ला खान जमाली को एकमत से बहुमत प्राप्त हो गया और उसने सरकार बनाई। विपक्षी दलों ने राष्ट्रपति मुशर्रफ़ द्वारा संविधान में किए गए संशोधनों, जिन्हें "लीगल फ्रेमवर्क आर्डर" (LFO) कहा गया है, तथा राष्ट्रपति होने के साथ-साथ सेनाध्यक्ष बने रहने के निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया है।

बोध प्रश्न २

नोट : अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए खाली स्थान को उपयोग में लाएँ।

अपने उत्तर की जांच अध्याय के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

१) पाकिस्तान की राजनीति में सेना, जमींदारों तथा नौकरशाहों के गठबंधन का कब और कैसे उदय हुआ?

....

....

....

....

२) संविधान का आठवाँ संशोधन एक हौवा क्यों बना हुआ है?

....

....

....

....

३) नवाज शरीफ सरकार की वे कौन सी नीतियाँ थीं जिनके कारण देश में राजनीतिक संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई और जिसके परिणामस्वरूप परवेज मुशर्रफ द्वारा तख्ता पलट हुआ?

....

....

....

....

६.४ नौकरशाही

भारतीय नौकरशाही, का विकास ब्रिटिश शासन द्वारा केन्द्रीयकृत प्रशासनिक तंत्रा के रूप में किया गया जिसमें ऊपर के चयनित काडर को भारतीय सिविल सेवा (आई. सी. एस.) कहा जाता था। इसीका एक भाग बाद में पाकिस्तान की नौकरशाही बन गया। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय प्रशासनों के सभी प्रमुख पदों पर उनकी नियुक्ति होती थी। वे जिला प्रशासन के भी अध्यक्ष होते थे। इन अभिजातवर्गीय काडरों के अन्तर्गत प्रान्तीय सिविल काडरों तथा विशिष्ट सेवा अधिकारियों को पद दिए जाते थे। आई. सी. एस. के स्थान पर पाकिस्तान सिविल सेवा (Civil Service of Pakistan) लागू करके पाकिस्तान ने इस संरचना को बनाए रखा। पाकिस्तानी नेतृत्व ने एक स्वतंत्रा देश की आवश्यकताओं के अनुरूप औपनिवेशिक नौकरशाही अपनाने की अपेक्षा पुरानी प्रणाली को सुदृढ़ बनाने में अपना योगदान दिया। सर्वप्रथम जिन्नाह ने एक उच्च नौकरशाह, गुलाम मौहम्मद को मंत्री बनाया था। उसने पाकिस्तान सरकार के महासचिव का पद भी सृजित किया था। महासचिव पाकिस्तान सरकार के सभी सचिवों को नियंत्रित करता था। वह विभिन्न मंत्रालयों के सभी सचिवों का अध्यक्ष था। सभी महत्वपूर्ण निर्णय सचिवों की समिति द्वारा लिये जाते थे जो लम्बे सैनिक तथा सत्तावादी शासनकालों के दौरान पैरा मंत्रीमंडल के रूप में कार्य करती थी। पी पी पी सरकार के

जुल्फीकार अली भुट्‌टो ने एक समान ग्रेड प्रणाली लागू करके इस प्रणाली में सुधार किया। ज़िया के शासनकाल में कई सुधारों को रद्द किया गया तथा पुरानी प्रणाली अपनाई गई।

६.५ सेना

पाकिस्तानी सेना ब्रिटिश भारतीय सेना का हिस्सा थी तथा परम्पराओं से ओत-प्रोत थी किन्तु इसका एक अपवाद भी था। ब्रिटिश सेना गैर-राजनीतिक थी जबकि पाकिस्तानी सेना १९४७ में देश की स्थापना के साथ ही राजनीति में शामिल हो गई। ब्रिटिश काल में सेना अधिकारी तथा सिपाही ग्रामीण क्षेत्राों तथा जमींदार वर्ग से भर्ती किए जाते थे। वे शहरी और शिक्षित वर्ग के नहीं होते थे। पाकिस्तान ने इसी परम्परा को जारी रखा और उन्हीं वर्गों में से अधिकारियों और सैनिकों की भर्ती की। देश में सैनिक शासन की पारियों के दौरान सैनिकों तथा सेना अधिकारियों को नए बने बांधों के कारण कृषि योग्य बनाई गई भूमि में से कुछ भूमि दी जाती थी। इसी प्रकार से सेना कार्मिकों को निर्यात-आयात लाइसेंस दिए जाते थे तथा सैनिक शासन के दौरान उन्हें बड़े निगमों तथा व्यापार घरानों का अध्यक्ष बनाया जाता था। सेना ने अपने कई व्यापार उद्यम बनाए हैं तथा अयूब, ज़िया और मुशर्रफ़ के सैनिक शासनों के दौरान तरजीह दिए जाने के कारण इनका तीव्र विकास हुआ है। ये सेना अधिकारी तथा सैनिक जमींदारों, व्यापारियों तथा उद्योगपतियों के वर्ग के रूप में उभरे हैं। अयूब के शासनकाल के बाद तथा ज़िया शासन के दौरान मध्य वर्ग को अत्यधिक लाभ मिला। इसका प्रमुख हिस्सा सेना से जुड़े लोगों को मिला।

६.६ चुनाव एवं राजनीतिक दल

पाकिस्तान में राजनीतिक आंदोलन की कमजोरी का प्रमुख कारण राजनीतिक दलों की कमजोरी रहा है। राजनीतिक दल एक ओर सक्रिय लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं द्वारा सुदृढ़ बनते है तो दूसरी ओर राजनीतिक दल लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को मजबूती देते हैं। जहाँ एक ओर सक्रिय लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं से राजनीतिक दाम सुदृढ़ होते है वही दूसरी ओर राजनीतिक दलों की उपस्थिति भी लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं का मजबूती देती है। यह विडम्बना रही है कि मुस्लिम लीग, जो पाकिस्तान के अलग देश बनने की मांग कर रही थी, का उस क्षेत्रा में कोई जनाधार ही नहीं था जो नए देश के अन्तर्गत आना था। इसके अतिरिक्त मुस्लिम लीग के नेता देश की राजनीति की रूपरेखा पर एकमत नहीं हो सके। देश के लिए संविधान का गठन तक नहीं हो सका तो केन्द्रीय न्यायपालिका के चुनावों का तो प्रश्न ही नहीं उठता। प्रान्तों में कुछ चुनाव कराए गए परन्तु १९३५ के संविधान के अन्तर्गत मतदाता बहुत कम थे। बाद में जून, १९५६ का संविधान गठित हुआ तो चुनाव कराए जाने से पहले ही अयूब खान के सैनिक शासन के दौरान १९५८ में इसे निरस्त कर दिया गया। ऊपर के स्तर से लेकर नीचे तक अप्रत्यक्ष मतदान पर आधारित अयूब के संविधान में लम्बे समय तक राजनीतिक दलों को प्रतिबंधित कर दिया गया। यद्यपि बाद में प्रतिबंध हटा लिया गया परन्तु अयूब खान की संवैधानिक निरंकुशता में राजनीतिक दलों के लिए कोई स्थान नहीं था। पहले आम चुनाव १९७० में जनरल याहया खान के सैनिक शासन के अन्तर्गत व्यस्क मतदान और क्षेत्रीय चुनाव क्षेत्रा के आधार पर कराए गए। इन चुनावों में पी. पी. पी. को पश्चिमी पाकिस्तान में बहुमत मिलने तथा पूर्वी पाकिस्तान की लगभग सभी सीटों पर आवामी लीग की जीत से देश दो भागों में विभक्त हो गया। इसके घातक परिणाम निकले क्योंकि इसके परिणामस्वरूप पूर्वी भाग अलग होकर स्वतंत्रा राष्ट्र बन गया।

जुल्फीकार अली भुट्‌टो ने सत्ता में पाकिस्तान में पहली लोकतांत्रिक सरकार बनाई। भुट्‌टो ने उस समय पाकिस्तान की सत्ता संभाली जब वह हार तथा पूर्वी भाग के अलग होने के सदमे को झेल रहा था। अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त थी, लोग हतोत्साहित थे। भुट्‌टो ने लोकतंत्रा को मजबूत बनाने के प्रयास किए परन्तु उनकी समस्या यह थी कि वह पाकिस्तान के बड़े सामन्ती खानदान से संबंध रखते

थे। एक हाथ से वह स्वतंत्राता प्रदान करते थे तो दूसरे हाथ से छीन लेते थे। उनके सत्तावादी व्यवहार के कारण विपक्ष उनका विरोधी हो गया तथा उनकी पार्टी भी लोगों का गुस्सा झेल न सकी। इसलिए, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि जब जनरल ज़िया ने सत्ता संभाली और भुट्टो को गिरफ्तार किया गया, तो लोगों ने इसका कोई विरोध नहीं किया। ज़िया ने अपने ११ वर्ष के शासनकाल के दौरान राजनीतिक दलों तथा राजनीतिक कार्यकलापों पर प्रतिबंध लगा दिया। यहाँ तक कि उन्होंने पार्टी रहित शासन व्यवस्था स्थापित करने के भी प्रयास किए किन्तु १९८८ में विमान दुर्घटना में उनकी मृत्यु के कारण यह हो न सका। अगले ११ वर्ष के लोकतांत्रिक शासन के दौरान १९८८, १९९०, १९९३ तथा १९९७ में चार चुनाव हुए। इन चार चुनावों में मुकाबला दो प्रमुख दलों पुरानी मुस्लिम लीग पार्टी का एक दूर का भाग पाकिस्तान मुस्लिम लीग (शरीफ) (PML-S) तथा पाकिस्तान पीपल्स पार्टी (PPP) के बीच रहा तथा दोनों ने दो-दो बार सरकार बनाई। ऐसा लगने लगा था कि पाकिस्तान द्विदलीय प्रणाली की ओर बढ़ रहा था किन्तु यह बात उल्लेखनीय है कि इन दोनों चुनावों में पी. पी. पी. को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला था और अन्य छोटे दलों की सहायता से इसने सरकार बनाई थी। पंजाब में मुस्लिम लीग का जनाधार होने के कारण पी एम एल-एस १९९० तथा १९९७ के चुनावों में भारी बहुमत से जीती थी और अपने बलबूते पर सरकार बनाने में कामयाब हुई थी। पाकिस्तान में क्षेत्रीय दलों जैसे सिंध में मुताहिदा कौमी आंदोलन, उ प सी प्रान्त में नैशनल आवामी लीग पार्टी तथा बलूचिस्तान में बलूच नैशनल पार्टी को अच्छे परिणाम मिले हैं किन्तु ऐसा वे अपने प्रान्तों में ही कर पाईं। एम क्यू एम प्रमुख क्षेत्रीय और संजातीय दल है। वास्तव में, पी. पी. पी. तथा पी. एम. एल. एस के बाद यह देश की तीसरी सबसे बड़ी पार्टी है। कुछ संजातीय दल भी हैं जो कुछ क्षेत्रों में अच्छा काम कर रहे हैं तथा प्रमुख दल को पर्याप्त बहुमत न मिलने पर राष्ट्रीय स्तर पर भी भूमिका अदा करते हैं। धार्मिक दल जैसे-जमायत-ए-इस्लामी, मौलाना फजालुर्रहमान की जमायत अल उलामई इस्लाम, जमायतल उलमई पाकिस्तान मिलकर अथवा अपने बलबूते पर अधिक प्रभाव नहीं डाल सकते क्योंकि उनका आधार सीमित है। जमायतल उलामई इस्लाम की बलूचिस्तान तथा उत्तर पूर्वी सिंध प्रान्त में मजबूत पकड़ है। इसके भूतपूर्व नेता मौलाना मुफ्ती ७० के दशक के आरम्भिक वर्षों में नेशनल आवामी लीग के साथ गठबंधन करके प्रान्त का मुख्यमंत्री रहे थे।

पाकिस्तान में राजनीतिक दलों की अलग-अलग फैली प्रकृति अक्तूबर, २००२ के चुनावों में परिलक्षित हुई जब चुनाव आयोग में लगभग ७१ दल पंजीकृत हुए। लगभग ९ मुस्लिम लीग, ३ पी. पी. पी. हैं तथा इसी प्रकार से अधिकांश धार्मिक दलों का प्रतिनिधित्व मूल दलों से अलग हुए गुटों द्वारा किया जा रहा है तथा अब वे स्वतंत्रा दलों के रूप में चुनाव लड़ते हैं। इस चुनाव में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला । पर्यवेक्षकों का मानना है कि परिणामों में सैनिक शासन द्वारा हेरा-फेरी की गई जिसने देश के तीन राष्ट्रीय दलों के तीन नेताओं को देश निकाला दे दिया था तथा उनके चुनाव में भाग लेने पर रोक लगा थी। चुनावों से कुछ दिन पहले ही मुशर्रफ ने स्वंय को अगले पांच वर्ष के लिए राष्ट्रपति घोषित कर दिया था। रूढ़िवादी दलों के गठबंधन मुत्ताहिदा मजलिस अमल (एम. एम. ए.) का उदय लोकतांत्रिक आंदोलन की कमजोरी तथा सैनिक शासकों द्वारा चुनावों में हेरा-फेरी का प्रतीक था। चूंकि कोई भी पार्टी सरकार बनाने की स्थिति में नहीं थी इसलिए सैनिक शासन ने कुछ पी. पी. पी. सदस्यों पर दल बदलने का दबाव डाला और पी. एम. एल. (क्यू) को सरकार बनाने में मदद की।

मीर जफरूल्ला खान जमाली के नेतृत्व में पी एम एल (क्यू) सरकार कमजोर सरकार है क्योंकि यह अपने आस्तित्व के लिए पूरी तरह से जनरल की आभारी है। एम. एम. ए. से सरकार का समर्थन करवाने के प्रयास किए जा रहे हैं परन्तु विपक्ष इस बात पर जोर दे रहा है कि संविधान में एल एफ. ओ. को शामिल करने सहित संशोधनों को रद्द किया जाए तथा जनरल मुशर्रफ - राष्ट्रपति बने रहने के लिए सेना से त्यागपत्रा दें क्योंकि वर्दी में राष्ट्रपति संविधान के विरूद्ध है। राष्ट्रीय सभा में संवैधानिक गतिरोध चल रहा है तथा अभी तक समझौते के कोई आसार नजर नहीं आते।

बोध प्रश्न ३

नोट : अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए खाली स्थान को उपयोग में लाएँ।

अपने उत्तर की जांच अध्याय के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

१) पाकिस्तान के आरम्भिक वर्षों में नौकरशाही की क्या भूमिका रही?

....

....

....

२) पाकिस्तान की राजनीतिक प्रणाली में पाकिस्तान की क्या भूमिका है?

....

....

....

६.७ सारांश

हमने पाकिस्तान के राजनीतिक विकास, संरचनाओं तथा प्रक्रियाओं का अध्ययन किया। जैसाकि हमने पढ़ा कि पाकिस्तान को नए सिरे से शुरूआत करनी पड़ी। असैनिक राजनीतिक संरचनाएँ कमजोर थीं परन्तु देश को सशक्त तथा बड़ी सेना और संगठित नौकरशाही विरासत में मिली। कमजोर असैनिक राजनीतिक संरचना के संदर्भ में नौकरशाही द्वारा समर्थित सेना ने राजनीतिक शक्तियों पर अधिकार जमा लिया। सेना ने धीरे-धीरे सामाजिक-आर्थिक संरचना पर अपनी पैठ मजबूत कर ली। यद्यपि सेना के नेतृत्व वाली सरकार का जन विरोध हुआ है तथापि पाकिस्तान में सरकार की लोकतांत्रिक प्रणाली को स्थापित नहीं किया जा सका। १९९० के दशक में जब लोकतांत्रिक संरचनाओं को नया जीवन मिला और पाकिस्तान में द्विदलीय प्रणाली के उदय की संभावना दृष्टिगोचर होने लगी तो प्रीटोरियन राजनीतिक शक्तियों ने एक बार फिर से हस्तक्षेप किया। पाकिस्तान में सेना आज भी एक सशक्त संस्था है।

६.८ कुछ उपयोगी पुस्तकें

सैयद, खालिद बी; १९९२, पाकिस्तान: द फार्मेटिव फेज; कराची, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसहुसैन, मुशाहिद एंड अकमल हुसैन, १९९३, पाकिस्तान : प्रोब्लम ऑफ गवर्नैंस; नई दिल्ली।

खान, हमीद; २००१, कंस्टिट्यूशनल एंड पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ पाकिस्तान: कराची; ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

कुकरेजा, वीना, २००३, कान्टेम्पररी पाकिस्तान, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

मलुका, जुल्फीकार खालिद, १९९५, द मिथ ऑफ कंस्टिच्यूशनल्जिम इन पाकिस्तान, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कराची।

मैकग्राथ, एलेन, १९९६, द डिस्ट्रक्शन ऑफ पाकिस्तान्स डेमोक्रेसी ;कराची; ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

रिजवी, हसन अस्करी, २०००, मिलिट्री, स्टेट एंड सोसायटी इन पाकिस्तान, लंदन, मिल्टन प्रेस।

६.९ बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न १

१) आपके उत्तर में निम्नलिखित बिन्दु शामिल होने चाहिए: आर्थिक पिछड़ापन, अपर्याप्त आधारभूत ढांचा, कमजोर असैनिक राजनीतिक संरचनाएँ, सशक्त सेना और नौकरशाही।

बोध प्रश्न २

१) सेना तथा सामन्ती जमींदारों के बीच परम्परागत सम्पर्कों के साथ-साथ प्रारम्भिक शासकों द्वारा नौकरशाही का राजनीतिकरण होने से गुटतंत्रा अथवा सेना, जमींदारों और नौकरशाही का गठबंधन १९५० के दशक में बना।

२) आठवें संशोधन में कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की तुलना में राष्ट्रपति को अत्यधिक शक्तियाँ और अधिकार दिए गए जिससे पाकिस्तान में संसदीय संरचना में मूलभूत परिवर्तन हुआ। राष्ट्रपति को अपनी इच्छानुसार चुनी गई सरकार को बर्खास्त करने, किसी भी कानून को वापस लेने तथा न्यायपालिका भंग करने के अधिकार दिए गए। बेनजीर भुट्टो तथा नवाज शरीफ दोनों इस संशोधन को रद्द करवाने के लिए लड़ते रहे।

३) नवाज शरीफ, जिन्होंने स्पष्ट बहुमत मिलने पर सरकार बनाई थी, उन्होंने आठवें संशोधन को निरस्त करके तथा सेनाध्यक्ष जनरल जहांगीर करामत को त्यागपत्रा देने के लिए मजबूर करके सेना को अपना विरोधी बना लिया था। न्यायपालिका के कार्यों में सरकार के हस्तक्षेप से भी संकट की स्थिति उत्पन्न हुई तथा सरकार को सहयोग में कमी आई।

बोध प्रश्न ३

१) स्वतंत्राता के समय पाकिस्तान को सुप्रशिक्षित नौकरशाही विरासत में मिली किन्तु प्रारम्भिक काल के शासकों ने इसका राजनीतिकरण कर दिया। जुल्फीकार अली भुट्टो पहले ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने प्रमुख पदों पर अभिजात वर्ग के प्रभाव को कम करने की दिशा में कदम उठाए।

२) सक्रिय लोकतांत्रिाक प्रक्रियाएँ, राजनीतिक दलों को सुदृढ़ बनाती हैं, तो दूसरी ओर सशक्त राजनीतिक दल लोकतांत्रिाक प्रक्रियाओं को मजबूती प्रदान करते हैं। पाकिस्तान का संविधान गठित होने में हुए विलम्ब तथा अयूब और ज़िया के सैनिक शासनों द्वारा लागू की गई दल रहित सरकार प्रणाली के कारण पार्टी प्रणाली विकसित नहीं हो पाई। राजनीतिक दलों में अनुशासन की कमी है तथा वे विभक्त हैं। अक्तूबर, २००२ के चुनावों में लगभग ७१ दलों ने चुनाव लड़ा, हालांकि पाकिस्तान पीपल्स पार्टी, पाकिस्तान मुस्लिम लीग तथा उनसे अलग हुए दलों का राजनीतिक मंडल पर वर्चस्व है।

इकाई 7 पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था एवं समाज

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 आर्थिक विकास

- 7.2.1 आरम्भिक वर्ष: आजीविका के लिए संघर्ष
- 7.2.2 अयूब का विकास दशक
- 7.2.3 भुट्टो का समाजवाद के साथ प्रयोग
- 7.2.4 ज़िया की सैनिक सरकार
- 7.2.5 लोकतंत्र की वापसी एवं संरचनात्मक समायोजन (1988-98)
- 7.2.6 नई सहस्त्राब्दि में अर्थव्यवस्था
- 7.2.7 संरचनात्मक परिवर्तन

7.3 सामाजिक विकास

7.4 पाकिस्तानी समाज

- 7.4.1 भाषायी समूह
- 7.4.2 संजातीय समूह
- 7.4.3 धर्म

7.5 सारांश

7.6 शब्दावली

7.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

इस अध्याय में पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था और समाज की चर्चा की जाएगी। इसे पढ़ने के बाद आप:-

- विभिन्न शासनकालों में पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था के विभिन्न चरणों का पता लगा पाएँगे;
- पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तनों पर टिप्पणी कर पाएँगे;
- पाकिस्तान के विकास के सामाजिक पहलुओं को जान पाएँगे; और
- पाकिस्तान के समाज की प्रकृति, इसकी भाषायी, संजातीय और धार्मिक विशेषताओं का मूल्यांकन कर पाएँगे।

7.1 प्रस्तावना

पाकिस्तान दक्षिणी एशिया का दूसरा बड़ा देश है। इसकी लम्बाई उत्तर से दक्षिण की ओर 1500 कि० मी० तथा चौड़ाई औसतन 450 कि० मी० है जिससे इसका आकार उत्तर में यामिर क्षेत्र से लेकर दक्षिण में अरब सागर तक आयताकार हो जाता है। उत्तर में हिमालय की उच्च पर्वतीय

श्रृंखला, हिन्दूकुश तथा काराकोरम देश को चीन, केन्द्रीय एशियाई देशों तथा अफगानिस्तान से अलग करती है। पाकिस्तान के पश्चिम में दक्षिणी अफगानिस्तान और पूर्वी ईरान तथा पूर्व में जम्मू एवं कश्मीर, पंजाब, राजस्थान तथा गुजरात के भारतीय राज्य हैं। अरब सागर जोकि देश को प्रमुख सागर धारा से जोड़ता है, वह देश की दक्षिणी सीमा का कार्य करता है।

पाकिस्तान कई रूपों तथा भौगोलिक विविधताओं का देश है। देश की प्राकृतिक विशेषताएँ लगभग 100 कि० मी० पर बदल जाती हैं। यहाँ दक्षिण में समुद्री तट, समुद्राताल, कच्छ वनस्पति है तो केन्द्रीय क्षेत्र में मरूस्थल, विच्छिन्न पठार, उपजाऊ मैदानी भाग तथा विरदित उपजाऊ भूमि है तो उत्तरी क्षेत्र ऊंचे पर्वतों से घिरा है।

जनसंख्या की दृष्टि से पाकिस्तान दक्षिणी एशिया का तीसरा बड़ा देश है। इसकी जनसंख्या में पांच प्रमुख संजातीय समूह हैं - पंजाबी, पश्तुन, सिंधी, बलूची तथा मुहाज़िर अथवा उत्तर भारत से विस्थापित लोग।

पाकिस्तान को प्रमुखतः कृषि अर्थव्यवस्था विरासत में मिली है। नए राष्ट्र के गठन के समय देश की 90 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में रहती थी, इसलिए भारतीय अर्थव्यवस्था की तुलना में यह अधिक कृषि प्रधान थी। पाकिस्तान के पास खनिज संसाधनों के भंडार नहीं थे तथा आधुनिक फैक्टरी उद्योग लगभग न के बराबर था। तब से लेकर पाकिस्तान ने उद्योग के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति की है तथा उच्च वृद्धि दर रिकार्ड की गई है परन्तु सकल राष्ट्रीय उत्पाद में अधिकांश वृद्धि कृषि क्षेत्र की अपेक्षा औद्योगिक क्षेत्र के कारण हुई है क्योंकि बढ़ती हुई जनसंख्या की मांगों को पूरा करने के अनुपात में खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि नहीं हुई है। इसके अतिरिक्त आर्थिक विकास का लाभ क्षेत्र तथा वर्ग की दृष्टि से सभी लोगों को समान रूप से नहीं मिला है जिसके कारण पाकिस्तान एक असमान समाज रहा है।

पाकिस्तान की पहली चुनी गई असैनिक सरकार यानी जुल्फीकार अली भुट्टो के शासनकाल के दौरान इन असंतुलनों को ठीक करने के प्रयास किए गए परन्तु इससे पहले कि इस दिशा में उल्लेखनीय प्रगति हो सकती, पाकिस्तान में पुनः सैनिक शासन स्थापित हो गया। इस अध्याय में हम पढ़ेंगे कि पाकिस्तान के डावांडोल राजनीतिक इतिहास ने देश के आर्थिक विकास के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न की हैं अथवा विकास की गति को धीमा किया है। इस अध्याय में हम अलग-अलग राजनीतिक शासनों के दौरान पाकिस्तान की आर्थिक नीति तथा नियोजन की जांच करेंगे ताकि प्रत्येक शासनकाल में प्रबलित नीति क्षेत्र तथा आर्थिक प्रगति पर बाहय पर्यावरण के प्रभाव पर ध्यान केन्द्रित किया जा सके।

7.2 आर्थिक विकास

जब 1947 में पाकिस्तान का गठन हुआ तो इसे लगभग नए सिरे से शुरूआत करनी पड़ी। पाकिस्तान के अन्तर्गत आया क्षेत्र अधिकांशतः कृषि तथा पिछड़ा क्षेत्र था तथा इस पर कुछ सामन्ती ज़मींदारों का आधिपत्य था। इसे जो थोड़े-बहुत उद्योग विरासत में मिले वे हस्तकलाओं अथवा कृषि उत्पादों के प्रसंस्करण पर आधारित थे और फिर देश के उद्योग तथा व्यापार पर हिन्दुओं तथा सिक्खों का अधिकार था जो विभाजन के तत्काल बाद अपनी पूंजी के साथ देश छोड़कर चले गए। पश्चिमी पाकिस्तान के व्यावसायिक कार्यकलापों का प्रबंधन काफी हद तक इन समुदायों के हाथ में था। अतः उनके चले जाने से इन प्रमुख क्षेत्रों में शून्य की स्थिति उत्पन्न हो गई।

पाकिस्तान की आरम्भिक समस्याएँ बड़ी संख्या में शरणार्थियों के आने से और बढ़ गईं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि विभाजन के बाद पहले तीन वर्षों के दौरान लगभग एक करोड़ 20 लाख लोग भारत से पाकिस्तान में आए।

उप-महाद्वीप के विभाजन से क्षेत्र के सम्पूरकता के सिद्धान्त को धक्का पहुँचा। उदाहरण के तौर पर पश्चिमी पाकिस्तान में सदैव उपभोग से अधिक गेहूँ का उत्पादन होता था तथा इसे भारत में गेहूँ की कमी वाले क्षेत्रें को भेजा जाता था। पश्चिमी पाकिस्तान में बोई जाने वाली कपास का इस्तेमाल बम्बई तथा अन्य पश्चिम भारतीय शहरों की मिलों में किया जाता था। निर्मित उत्पाद जैसे कोयला और चीनी उन क्षेत्रें में कम थे जो पाकिस्तान के अन्तर्गत थे तथा इन्हें वर्तमान भारत के हिस्से से मंगाया जाता था।

प्रशासनिक मशीनरी, भारतीय सिविल सेवा तथा भारतीय पुलिस सेवा में भी विभाजन की समस्या थी। कुल 1157 अधिकारियों में से केवल 157 पाकिस्तान की सिविल सेवा में शामिल हुए जो विश्व में सर्वाधिक अभिजातवर्गीय और विशेषाधिकार प्राप्त नौकरशाही सेवाओं में से एक बन गई।

नए राज्य के लिए एक सुखद बात थी - ब्रिटिश शासन काल के दौरान का पर्याप्त सिंचाई नेटवर्क। विभाजन के समय अधिकांशत: कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था तथा अन्य ढांचागत सुविधाओं जैसे सड़कों, बिजली, रेल पटरियों इत्यादि की अपर्याप्तताओं के मद्देनजर उपयुक्त सिंचाई प्रणाली देश की कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक साधन थी।

7.2.1 आरम्भिक वर्ष : आजीविका के लिए संघर्ष

आरम्भिक वर्षों में (1947-58) पाकिस्तान की आर्थिक नीति तथा नियोजन पर थोड़े से नौकरशाहों का वर्चस्व था। विभाजन के समय की बदहाल परिस्थितियों के मद्देनजर आर्थिक नियोजन का एक सूत्री कार्यक्रम था किसी भी तरीके से अर्थव्यवस्था को चलाना। देश में चूंकि निजी क्षेत्र कमजोर था तथा औद्योगिक विकास आरम्भ करने के लिए उसके पास पूंजी का अभाव था, अत: देश में आर्थिक आधार स्थापित करने का मुश्किल कार्य राज्य को सौंपा गया।

1947-58 के आर्थिक नीति विश्लेषण से विकट स्थितियों में तदर्थ प्रतिक्रियाओं के क्रम का पता चलता है। पाउंड स्टरलिंग के अवमूल्यन तथा भारत द्वारा अपनी मुद्रा के अवमूल्यन के बाद पाकिस्तान से ऐसा करने के लिए कहा गया तो उसने इन्कार कर दिया जिसके कारण भारत के पाकिस्तान के साथ व्यापार संबंधों में कड़वाहट आ गई किन्तु 1952 का कोरियाई युद्ध पाकिस्तान के लिए वरदान सिद्ध हुआ क्योंकि इससे पाकिस्तानी निर्यात, अधिकांशत: पटसन और कपास की मांग बढ़ गई जिससे नवजात उद्यम वर्ग को विकसित होने में सहायता मिली। इसी अप्रत्याशित आय की बदौलत पाकिस्तान में उद्योग की नींव रखी गई।

कोरियाई मांग की समाप्ति पर पाकिस्तान के प्रतिकूल रोष के कारण भुगतान समस्या के प्रबंधन के लिए तैयार की गई आयात लाईसेंस प्रणाली में आई जटिलताओं के कारण इसकी पुन: जांच की गई। प्रशासनिक तथा लाइसेंस नियंत्रण का जटिल नेटवर्क ही बाद में पाकिस्तान की आयात सम्पूरक रणनीति का आधार बना।

अत: स्वतंत्रता के बाद के पहले दशक में मूलत: नौकरशाहों का वर्चस्व रहा तथा औद्योगिकीकरण को बढ़ावा मिला। चूंकि अधिकांश नौकरशाह भारत के शहरी क्षेत्रों से गए लोग थे, अत: उन्हें कृषि क्षेत्र का इतना न तो ज्ञान था और न ही रूचि थी और उन्होंने यह महसूस किया कि निर्माण क्षेत्र को राज्य का अधिक से अधिक संरक्षण दिया जाए। बड़े-बड़े ज़मीदार तथा नवाब जिन्हें राजनीतिक समर्थन प्राप्त था, इसे आर्थिक स्तर पर समर्थन में परिवर्तित नहीं करा सके जबकि कुछेक उद्योगपतियों को आरम्भिक वर्षों में आर्थिक लाभ प्राप्त हुआ परन्तु उन्हें राजनीतिक समर्थन प्राप्त नहीं था, वे सिविल अधिकारियों के लाइसेंस राज पर निर्भर थे। मौजूदा राजनीतिक समूहों के पदों में अव्यवस्था के कारण सेना ने कानून एवं व्यवस्था बहाल करने तथा 1950 के दशक के दौरान उभरे नौकरशाही पूंजीवाद को बढ़ावा देने के लिए कदम रखा।

7.2.2 अयूब का विकास दशक

जनरल मौहम्मद अयूब खान का शासन पाकिस्तान इतिहास में अति उल्लेखनीय वृद्धि दर का विवादास्पद और विरोधाभासपूर्ण संगम था जिसके दौरान आय में असमानता, अन्तर्क्षेत्रीय विषमता में अत्यधिक बढ़ोतरी हुई तथा आर्थिक शक्तियाँ सिमटकर कुछेक हाथों में आ गईं।

इस दशक के दौरान आर्थिक सूचक भी अत्यंत प्रभावशाली रहे, सकल राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि दर पूरे दशक के दौरान 6 प्रतिशत के आसपास रही। पूरी अवधि में कृषि विकास दर सम्मानजनक 4.1 प्रतिशत रहा जबकि निर्माण क्षेत्र में विकास दर 9.1 प्रतिशत और व्यापार में 7.3 प्रतिशत दर्ज की गई किन्तु आय के वितरण, मजदूर एवं मानव पूंजी विकास के आंकड़े निराशाजनक तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। आय की असमानता के सूचकांकों में और गिरावट आई तथा निर्धन और निर्धन हो गए। अधिकांश जनसंख्या के जीवनस्तर में स्थिरता आ जाने से मजदूरी में वृद्धि का लाभ उत्पादकता में वृद्धि के रूप में नहीं मिल सका।

अयूब की आर्थिक नीतियों का प्रमुख मुद्दा था - तीव्र औद्योगिकीकरण के प्रति वचनबद्धता। नीति निर्माण औद्योगिक निवेश को बढ़ावा देने के उद्देश्य से किया गया। इस प्रणाली के अन्तर्गत निवेश लाइसेंस और क्रेडिट निपटान की योजना और प्रक्रिया बनाई गई। इसके अतिरिक्त औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए पाकिस्तान औद्योगिक विकास निगम (पी आई डी सी) का गठन किया गया जिससे अत्यंत अनिवार्य पूंजी उपलब्ध कराई गई तथा तब बाद में निजी क्षेत्र, जिसमें वृहत परियोजनाएँ चलाने के लिए कौशल तथा वित्त का अभाव था, को बढ़ावा देने के लिए इसे वापस ले लिया गया। जैसे-जैसे औद्योगिक लाभ बढ़ते गए, उद्यमी वर्ग का जन्म हुआ जिसने इस दशक के दौरान बड़े निर्माण क्षेत्र में विकास दर को 15 प्रतिशत से अधिक तक ले जाने में योगदान दिया।

अयूब के शासन काल के दशक के दौरान कृषि क्षेत्र को सुदृढ़ बनाने के लिए कई सुधार किए गए। 1959 के भूमि सुधार कार्यक्रम प्रमुख ज़मीदार वर्ग के एकाधिकार को समाप्त करने के साथ-साथ पूंजीवादी कृषि विकास को बढ़ाने देने के उद्देश्य से चलाए गए।

इसके बाद साठ के दशक के मध्य के वर्षों के दौरान हरित क्रान्ति आई। हरित क्रान्ति के अन्तर्गत धान तथा गेहूँ की उच्च उपजशील किस्में आईं। मशीनीकरण तथा प्रौद्योगिकीकरण विस्तार के माध्यम से पाकिस्तान के कृषि क्षेत्र का विकास हुआ। निजी ट्यूबवैलों के लगने से सिंचित क्षेत्र में वृद्धि और रासायनिक उर्वरकों के अधिक प्रयोग का भी कृषि क्षेत्र के विकास में योगदान रहा। हालांकि कृषि क्षेत्र में तीव्र मशीनीकरण के कारण छोटे किसानों को काम नहीं मिला और इस प्रकार से ग्रामीण असमानता और बढ़ गई।

इस प्रकार से अयूब के वर्षों की मिली-जुली विशेषताएँ इस प्रकार रहीं। एक तरफ तो आर्थिक प्रबंधन में मजबूती तथा उच्च विकास दर महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ रहीं तो दूसरी ओर आय असमानता में वृद्धि, मजदूरी में स्थिरता, मानव पूंजी की उपेक्षा तथा विदेशी पूंजी निर्भरता बढ़ने से निश्चित रूप से वे चुनौतियाँ बढ़ीं जिनका सामना भावी शासकों को करना पड़ा।

7.2.3 भुट्टो का समाजवाद के साथ प्रयोग

वर्ष 1971 में पूर्वी पाकिस्तान अलग हो गया तथा भारत के साथ युद्ध में पाकिस्तान को हार का मुंह देखना पड़ा। युद्ध की समाप्ति पर ज़ुल्फीकर अली भुट्टो ने देश की बागडोर संभाली, जो तत्कालीन करिश्माई चुना गया नेता था जिसने समाजवादी सिद्धान्तों पर देश के औद्योगिक तथा कृषि क्षेत्र को पुनः ढांचागत करने के प्रयास किए। पहली बार देश की सेना तथा नौकरशाही पर राजनीतिक अधिकार स्थापित करने के प्रयास किए गए। पिछले दशक के सामाजिक तथा आर्थिक असंतुलनों को संतुलित करने के भी प्रयास किए गए।

भुट्टो ने नई विकास नीति लागू करने का वचन दिया जो पिछली नीतियों की तुलना में समानता के अधिकार पर आधारित थी। देश की सत्ता संभालने के बाद भुट्टो प्रशासन का प्रमुख निर्णय

1972 में रूपये का 57 प्रतिशत तक अवमूल्यन करना तथा बहु विनिमय दरों को हटाना था। इससे पाकिस्तान के निर्यात में अत्यधिक वृद्धि हुई तथा पूर्वी पाकिस्तान के अलग होने के कारण व्यापार में हुई क्षति की भरपाई नए बाजारों की प्राप्ति के रूप में हुई।

भुट्टो शासन का सबसे क्रान्तिकारी निर्णय बड़ी निजी निर्माण तथा वित्तीय संस्थाओं का राष्ट्रीयकरण था। 1972 में सभी निजी बैंकों तथा बीमा कम्पनियों और 8 प्रमुख उद्योगों के 32 बड़े निर्माण प्लांटों का राष्ट्रीयकरण धन के कुछेक हाथों में एकत्र होने को रोकने और निजी उद्योगपतियों की शक्तियों का कम करने के उद्देश्य से किया गया। परिणामस्वरूप निजी क्षेत्र से सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश की संरचना में उल्लेखनीय परिवर्तन आया तथापि वृहत निर्माण क्षेत्र में, विशेषकर कपड़ा तथा उपभोक्ता वस्तुओं के निर्माण क्षेत्र में, गुणवर्द्धन का लगभग 80 प्रतिशत निजी क्षेत्र के पास रहा।

राष्ट्रीयकरण के परिणाम आशाजनक नहीं निकले क्योंकि इस अवधि में योग्य प्रबंधकों तथा तकनीकीविदों की कमी के कारण, जिनमें से अधिकांश उच्च वेतन के लालच में मध्य पूर्व के देशों में चले गये थे, वृहत राष्ट्रीकृत क्षेत्र तेजी से कार्य नहीं कर पाया।

निजी पूंजी देश से बाहर अथवा छोटे पैमाने के निर्माण अथवा वास्तविक सम्पदा क्षेत्र में चली गई। इसका एक अनुकूल परिणाम यह निकला कि इससे छोटे पैमाने के निर्माण क्षेत्र में वृद्धि दर 10 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही जबकि बड़े पैमाने के उप-क्षेत्र में यह वृद्धि 4.2 प्रतिशत थी। इस अवधि में औद्योगिकीकरण का एक अन्य लाभ यह हुआ कि पहली बार देश में इस्पात, उर्वरक तथा रसायन जैसे आधारभूत उद्योग स्थापित करने के प्रयास किए गए जिससे भावी विकास की नींव रखी गई और जिसका लाभ बाद के शासकों को मिला।

इस दशक के अधिकांश समय में कृषि विकास की दर बाह्य तथा नीतिगत कारणों से कम रही। प्रथम, जलवायु संबंधी परिवर्तनों तथा विषाणु रोगों ने फसलों को प्रभावित किया, विशेषकर कपास उत्पादन के क्षेत्र में अत्यंत क्षति हुई। दूसरे, उच्च उपजशील किस्मों से उत्पादकता का लाभ प्राप्त करते रहने के लिए अनिवार्य प्रमुख कृषि निवेश पदार्थों जैसे जल और उर्वरक की आपूर्ति में कुल मिलाकर कमी रही।

भुट्टो के शासन काल में पाकिस्तान के बाह्य क्षेत्र से संबंधित नकारात्मक प्रवृत्ति बनी - भुगतान शेष का बढ़ना तथा उसके परिणामस्वरूप देश के बाह्य ऋणों में वृद्धि। इन वर्षों के दौरान भुट्टो की नीतियों के कारण धन प्राप्ति अधिक रही जिससे देश की बाह्य निर्भरता बढ़ गई।

इस अवधि के दौरान पाकिस्तान में आर्थिक विकास की गति अत्यंत कम रही जिसका कारण बाह्य परिवर्तन थे जिनसे बड़े पैमाने पर उल्लेखनीय आर्थिक अस्थिरता की स्थिति बन गई। सर्वप्रथम तो विनाशक गृह युद्ध के उपरान्त पूर्वी पाकिस्तान के अलग हो जाने से अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में कमी आई। दूसरे, 1970 के दशक में नव गठित ओपेक (OPEC) मूल्य निर्धारक सभा की नीतियों के कारण तेल संकट बना रहा। तीसरे, 1970 के दशक में पाकिस्तान की निर्यात जिन्सों की अंतरराष्ट्रीय कीमतों में पर्याप्त उतार चढाव आया। अंत में, खराब मौसम, बाढ़ों तथा कीटों के हमले से कपास के उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा जिससे अर्थव्यवस्था और कमजोर हो गई।

7.2.4 ज़िया की सैनिक सरकार

संयोग से यह अवधि जनरल ज़िया-उल-हल के सैनिक शासन की भी थी जिसने राजनीतिक स्थिरता की पुनर्स्थापना, अर्थव्यवस्था के उदारीकरण तथा समाज के इस्लामीकरण के उद्देश्य से सत्ता अपने हाथ में ली।

1970 के दशक के बिल्कुल विपरीत 1980 के दशक में सार्वजनिक क्षेत्र प्रधान विकास नीतियों को बदला गया। इस अवधि में अस्थिरता लाने वाले बाह्य कारणों की कमी रही। परिणामस्वरूप, सकल राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि दर 6 प्रतिशत से अधिक रही। औद्योगिक क्षेत्र में उच्च वृद्धि दर

भुट्टो के शासनकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में हुए निवेश, विशेषकर भारी उद्योगों में हुए निवेश तथा घरेलू मांग में तीव्रता से आई वृद्धि के कारण हुई।

1979 में अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप के कारण अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक पर्दे पर पाकिस्तान दृष्टिगोचर हुआ जिससे न केवल उसके शासन को राजनीतिक वैधता मिली अपितु पर्याप्त विदेशी सहायता और युद्ध संबंधी सहायता के साथ-साथ मुद्रा का बहाव देश में होने से पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था में सुधार आया। अफगान युद्ध का प्रतिकूल प्रभाव यह पड़ा कि सकल घरेलू उत्पाद के लगभग 20-30 प्रतिशत के अनुपात पर अनुमानित समानान्तर तथा अवैध अर्थव्यवस्था ने जन्म लिया।

1980 के दशक में पाकिस्तान में विदेशी मुद्रा में बढ़ोतरी हुई जो लगभग दशक के अधिकांश समय में लगभग 3 बिलियन डालर प्रति वर्ष थी। यह राशि सकल घरेलू उत्पाद का 10 प्रतिशत तथा चालू लेखा प्राप्तियों का 45 प्रतिशत थी। बाहर से प्राप्त राशि के कारण घरेलू आय में वृद्धि हुई और निवेश के लिए पर्याप्त राशि उपलब्ध होने के कारण निजी क्षेत्र में निवेश किया गया।

फिर भी 1980 के दशक में देश में वित्तीय घाटा बढ़ा जो 1980 के उतरार्द्ध में सकल घरेलू उत्पाद का 8 प्रतिशत रहा। इससे 1990 के दशक के दौरान सार्वजनिक निवेश तथा बड़े पैमाने पर आर्थिक स्थिरता पर गंभीर प्रभाव पड़े।

औद्योगिक दृष्टि से ज़िया-उल-हक् के शासन काल में अर्थव्यवस्था को विनियमित तथा उदारीकृत किया गया ताकि निजी क्षेत्र में निवेश को बढ़ावा दिया जा सके। 1980 के दशक में सरकार की औद्योगिक नीति की प्रमुख विशेषताएं रहीं - कुछ सार्वजनिक क्षेत्र की परियोजनाओं का विराष्ट्रीयकरण, निजी क्षेत्र को वित्तीय प्रोत्साहन के पैकेज का प्रावधान तथा विनियामक नियंत्रणों का उदारीकरण।

इस अवधि के दौरान लघु उद्योग क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि तथा मध्यवर्ती व मशीन उद्योगों में विकास से पाकिस्तान के उद्योगों का विविधीकरण हुआ।

1980 के दशक में बाजार तथा उत्पादन के विनियमन से पाकिस्तान की कृषि में उल्लेखनीय ढांचागत परिवर्तन आए। कृषि क्षेत्र में सुधार लाने की दृष्टि से लाई गई नीतियों में शामिल थे - चीनी, कीटनाशक तथा उर्वरक उद्योगों का विनियमन, धान एवं कपास निर्यात निगमों के एकाधिकार की समाप्ति तथा निजी क्षेत्र द्वारा खाद्य तेलों के आयात पर लगी रोक को हटाना। कीटनाशकों तथा उर्वरकों पर दी जाने वाली आर्थिक सहायता हटाने से कीमत प्रणाली अधिक बाजारपरक हो गई।

कुल मिलाकर इस अवधि में पर्याप्त समष्टि आर्थिक स्थिरता आई तथा निजी निवेश में फिर से वृद्धि हुई परन्तु बढ़ता हुआ व्यापार तथा बजट घाटा आने वाले समय में अर्थव्यवस्था के शुभ सूचक नहीं थे।

7.2.5 लोकतंत्र की वापसी तथा ढांचागत समायोजन : 1988-1998

1988 में जनरल ज़िया-उल-हक् की मृत्यु के पश्चात देश में लोकतांत्रिक संस्थानों की बहाली हुई। अगस्त, 1988 तथा अगस्त 1997 के बीच पाकिस्तान में चार आम चुनाव हुए जिनमें बेनजीर भुट्टो तथा नवाज शरीफ ने दो-दो बार सत्ता संभाली। चुनी गई कोई भी सरकार अपना कार्यकाल पूरा नहीं कर सकी।

बजट घाटे को पूरा करने के लिए 1980 के दशक के दौरान अत्यधिक गैर-बैंक ऋण लेने से ऋण लेने तथा चुकाने की प्रक्रिया के कारण 1990 के दशक मे कुल ब्याज भुगतान कुल व्यय का एक तिहाई हो गया। निरन्तर बढ़ते घाटे और सकल घरेलू उत्पाद अनुपात के कारण, जोकि 1990 के दशक में औसतन 6.8 प्रतिशत रहा, अर्थव्यवस्था पर अत्यधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। अन्य विकासशील देशों की तुलना में न केवल वित्तीय घाटा अधिक था, साथ ही घरेलू ऋण की विवशताओं तथा रक्षा परिव्यय के कारण व्यय में कटौती न किए जा सकने के कारण चालू व्यय को कम करने के कोई भी उपाय कारगर सिद्ध नहीं हो सके।

हालांकि प्रमुख राजनीतिक दलों - पाकिस्तान पीपल्स पार्टी तथा मुस्लिम लीग में आधारभूत आर्थिक नीतियों पर सहमति थी किन्तु कार्यक्रमों तथा नीतियों की निरन्तरता नहीं बनी रह सकी। आर्थिक नीतियों पर सर्वसम्मति का लाभ प्रशासनिक तदर्थता तथा नीतियों में उलट फेर के कारण नहीं उठाया जा सका। बल्कि दोनों विरोधी राजनीतिक दल इन नीतियों का उपयोग राजनीतिक सत्ता तथा सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए करते रहे।

इस अवधि में व्यापार के क्षेत्र में कई सुधार लाए गए। 1990 के दशक में कई नीतियाँ लाई गईं जिनसे नकारात्मक सूची (Negative List) के अन्तर्गत मदें कम हो गईं, औद्योगिक लाइसेंस समाप्त कर दिए गए तथा विदेशी निवेशकों के लिए प्रक्रियाओं को सरल बनाया गया। इसके अतिरिक्त निर्यातकों को प्रोत्साहन पैकेज दिया गया। उद्योग क्षेत्र में विनियमन, उदारीकरण तथा निजीकरण को बढ़ावा देने के लिए 1990 के दशक में कई नीतियाँ लाई गईं। इसके साथ-साथ अतिरिक्त, वित्तीय प्रोत्साहन, कर में छूट, निवेश क्षेत्रों में लाइसेंस समाप्त करने तथा पूंजी पदार्थों पर शुल्क घटाने से निजी निवेश को बढ़ावा मिला किन्तु वित्तीय दमन तथा पारदर्शिता में कमी के कारण निजीकरण के प्रति निजी क्षेत्र की प्रतिक्रिया धीमी रही।

1990 के दशक के दौरान कृषि निष्पादन कम रहा। 1991 तथा 1993 के दौरान अत्यधिक बाढ़ आने तथा कीटों के हमले से कपास के उत्पादन में कमी आई, इससे पाकिस्तानी अर्थव्यवस्था की मौसम की अनिश्चितताओं तथा एक ही नकदी फसल पर निर्भरता की पोल खुल गई।

निष्कर्ष रूप में, पाकिस्तान में आर्थिक विकास में कई कारणों से कमी आई जिसमें समष्टि आर्थिक पर्यावरण को ह्रास, स्थिरीकरण नीतियों तथा ढांचागत सुधारों के कार्यान्वियन में गंभीर खामियों, कानून एवं व्यवस्था की बिगड़ी स्थितियाँ, अनियमित नीतियाँ एवं अभिशासन की कमियाँ शामिल हैं। 1980 के दशक में 6.1 प्रतिशत की औसत वृद्धि दर की तुलना में 1980 के पूर्वाह्न में सकल घरेलू उत्पादन की वृद्धि दर का औसत घटकर 4.9 प्रतिशत तथा उतरार्द्ध में 4 प्रतिशत रह गया। बाह्य क्षेत्र तथा विशेषकर ऋण प्रबंधन के कारण अर्थव्यवस्था घने दबाव में आ गई। वित्तीय तथा चालू खातों के संचयी असंतुलन के साथ-साथ प्रमुख संस्थानों के ह्रास तथा अभिशासन की कमियों ने उदार आर्थिक नीतियों के शासन के प्रभाव को समाप्त कर दिया है।

7.2.6 नई सहस्राब्दि में अर्थव्यवस्था

12 दिसम्बर 1999 को चौथी बार देश में तब सैनिक शासन स्थापित हुआ जब सेना प्रमुख, जनरल परवेज मुशर्रफ ने सैनिक तख्ता-पलट में देश का प्रशासन अपने हाथ में लिया।

जब सेना ने देश की सत्ता संभाली तो पाकिस्तान में सब कुछ अस्त-व्यस्त था। घाटे के भुगतान को पूरा करने की बाध्यताओं के कारण देश भारी विदेशी ऋणों पर निर्भर था, कुल बजट का 56 प्रतिशत ऋण के भुगतान के रूप में जा रहा था। देश पर कुल बाह्य ऋण की राशि 39 बिलियन अमरीकी डालर थी जबकि देश के पास कुल विदेशी विनिमय भंडार केवल 1.45 बिलियन डालर के थे। कर से धन इकट्ठा होना कम हो गया था जबकि वित्तीय घाटा वर्ष 2000 में सकल घरेलू उत्पाद का 6.45 प्रतिशत हो गया था।

पाकिस्तान का सकल घरेल उत्पाद वर्ष 2000-2001 तथा 2001-2002 में क्रमश: 2.2 प्रतिशत और 3.4 प्रतिशत ही था। यह वृद्धि दर पाकिस्तान के दर्ज इतिहास में सबसे कम थी।

उपरोक्त स्थिति के मद्देनजर सैनिक शासन वित्तीय घाटे को 1990 के दशक के 6.1 प्रतिशत की तुलना में कम लाकर 5.6 प्रतिशत करने में सफल रहा है लेकिन यह बात उल्लेखनीय है कि वित्तीय घाटे में हुई कटौती का 40 प्रतिशत सार्वजनिक निवेश में तीव्र कमी लाने से ही संभव हो पाया है।

इस सहस्राब्दि के पहले दो वर्षों में कृषि का निष्पादन सर्वाधिक निराशाजनक रहा है। पहले दो वित्तीय वर्षों में कृषि में नकारात्मक वृद्धि दर क्रमश: 2.64 प्रतिशत और 0.07 प्रतिशत दर्ज की गई। इतने खराब प्रदर्शन का सबसे प्रमुख कारण भीषण सूखे की अवस्थाओं की वजह से सिंचित जल की कमी है।

मुशर्रफ़ द्वारा देश की सत्ता संभालने के बाद से पाकिस्तान पर विदेशी ऋण न चुका पाने का खतरा बढ़ता जा रहा था परन्तु तभी 11 सितम्बर, 2001 को संयुक्त राज्य अमेरिका पर आतंकवादी हमला हुआ जिससे पाकिस्तान एक ऐसे अग्रणी राज्य के रूप में सामने आया जो तालिबान तथा अल-कायदा आंदोलन के विरूद्ध संयुक्त राज्य अमेरिका की लड़ाई में अमेरिका का सहयोग कर रहा था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने पाकिस्तान को एक बिलियन अमेरिकी डालर की सहायता दी जबकि पेरिस क्लब से मिली धनराशि से पाकिस्तान के बाह्य ऋणों को काफी हद तक पुन: ढांचागत तथा पुन: निर्धारित किया जा सका। संयुक्त राज्य अमेरिका ने पाकिस्तान द्वारा परमाणु परीक्षण करने पर 1998 के मध्य में लगाए गए सभी आर्थिक प्रतिबंधों को भी हटा लिया।

वित्तीय वर्ष 2002-2003 में देश में आर्थिक विकास की गति बढ़ी है साथ ही कृषि तथा बड़े निर्माण क्षेत्रें का निष्पादन प्रभावशाली रहा है। यद्यपि पानी की कमी समस्या बनी रही तथापि इसकी कमी का कम प्रभाव पड़ा। प्रमुख फसलों के उत्पादन में पर्याप्त सुधार हुआ। समग्र रूप से निर्माण क्षेत्र में विकास 7.7 प्रतिशत की दर से हुआ।

बोध प्रश्न 1

नोट : अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए खाली स्थान को उपयोग में लाएँ।

अपने उत्तर की जांच अध्याय के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

1) पाकिस्तान में भारी उद्योगों की नींव कब रखी गई?

....

....

....

2) भुट्टो के शासनकाल के दौरान पाकिस्तान की आर्थिक विकास की गति धीमी होने के क्या कारण थे?

....

....

....

3) 1980 के दशक के दौरान पाकिस्तान की आर्थिक नीति में किस क्षेत्र पर प्रमुख बल दिया गया था?

....

....

....

7.2.7 संरचनात्मक परिवर्तन

समय के साथ-साथ पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था में व्यापक संरचनात्मक परिवर्तन आए हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद 1949-1950 में पाकिस्तान के सकल घरेलू उत्पाद में पश्चिमी पाकिस्तान की कृषि से सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 53 प्रतिशत, निर्माण क्षेत्र का 7.8 प्रतिशत तथा खुदरा व्यापार एवं सेवा क्षेत्र का 39.0 प्रतिशत योगदान था। 1996-1997 तक कृषि का योगदान केवल 24 प्रतिशत रह गया जबकि निर्माण का 26.4 प्रतिशत तथा सेवा क्षेत्र का 49 प्रतिशत हो गया। कृषि में श्रम का प्रतिशत 1990-1991 में 65.3 प्रतिशत था जो 1994-1995 में घटकर 46.8 प्रतिशत

रह गया। इस अवधि के दौरान निर्माण क्षेत्र में श्रम का प्रतिशत 9.5 से बढ़कर 18.5 तथा सेवा क्षेत्र व व्यापार में कार्यरत श्रम का प्रतिशत 25.2 से बढ़कर 34.7 प्रतिशत हो गया। शहरीकरण की दृष्टि से 1951 में पश्चिमी पाकिस्तान के केवल 17 प्रतिशत लोग शहरी क्षेत्रें में रहते थे जिनका प्रतिशत नब्बे के दशक तक बढ़कर 40 हो गया।

7.3 सामाजिक विकास

आमतौर पर कहा जाता है कि पाकिस्तान के सामाजिक विकास सूचक देश के आर्थिक विकास के अनुरूप नही रहे। 1999 में पाकिस्तान की साक्षरता दर केवल 46.4 प्रतिशत थी (58.3 प्रतिशत पुरूष तथा 33.5 प्रतिशत महिलाएँ)। इसी वर्ष प्राथमिक शिक्षा में नामांकन का अनुपात 56.4 प्रतिशत था (पुरूष 64.5 प्रतिशत, महिलाएँ 47.7 प्रतिशत)। पाकिस्तान के स्वास्थ्य संबंधी सूचकांक निराशाजनक तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। 2001 में पाकिस्तान की बाल मृत्यु दर 84/1000 थी तथा पांच वर्ष से कम आयु के लिए 109/1000 थी। 3.8 की जनसंख्या दर तथा 61 वर्ष की जीवन प्रत्याशा से पाकिस्तान की अल्पविकसित तथा जनसांख्यिकीय वृद्धि का पता चलता है। 2001 में पाकितान की जनसंख्या 136.3 मिलियन थी जिसमें से 70.6 मिलियन पुरूष तथा 65.7 मिलियन महिलाएँ थीं जिससे 100 महिलाओं पर 108 पुरूषों के अनुपात से लिंग असंतुलन का पता चलता है। विकास की उच्च दर की अवधियों के दौरान भी पाकिस्तान के निर्धन वर्ग को इसका लाभ नहीं मिला। 1964 में जनसंख्या के 40.2 प्रतिशत का आकलन निर्धन के रूप में किया गया। 1987-88 में यह प्रतिशत कम होकर 17.3 प्रतिशत हो गया परन्तु फिर इसमें बढ़ोतरी हुई। कुछ आकलनों के अनुसार, 2000-2001 में निर्धनता का स्तर 1964 के 40.1 प्रतिशत तक पहुंच गया था अत: निर्धनता के अनुपात की दृष्टि से आज देश वहाँ पहुँच चुका है जहाँ यह चार दशक पहले था। वर्तमान में जनसंख्या की उच्च दर के मद्देनजर इसका अर्थ यह हुआ कि पहले की अपेक्षा आज निर्धनों की संख्या अधिक है।

असमानता की दृष्टि से भी पाकिस्तान की स्थिति निराशाजनक है। 1963-64 से आरम्भ होकर चार दशकों से देश की कुल आय में जनसंख्या के निम्नतम 20 प्रतिशत की आय का प्रतिशत 6.4 से मामूली बढ़कर 1998-1999 में 6.6 प्रतिशत हुआ, जबकि मध्य वर्ग के 60 प्रतिशत की आय 48.3 प्रतिशत से घटकर 45.6 प्रतिशत रह गई परन्तु सर्वाधिक उच्च आय वर्ग के 20 प्रतिशत का कुल आय में हिस्सा 45.3 प्रतिशत से बढ़कर 47.8 प्रतिशत हो गया।

इसी प्रकार से 1980 के दशक से पाकिस्तान की बेरोजगारी की दर में भी प्रतिकूल प्रवृत्ति देखने को मिलती है। 1981-90 के दौरान यह बढ़कर औसत 3.5 प्रतिशत, 1991-2000 के दौरान 5.7 प्रतिशत तथा 2000-2001 में 6.7 प्रतिशत हो गई।

अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई एम एफ) तथा विश्व बैंक के तत्वाधान में 1988-89 में आरम्भ हुए संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम के कारण बजटीय तथा चालू लेखा घाटे और कई क्षेत्रीय कार्यक्रमों को कम करने का प्रावधान है। इस प्रक्रिया से निर्धन न केवल इस समायोजन का सबसे बड़ा शिकार हुए हैं अपितु खराब सामाजिक विकास सूचकों से दृष्टिगोचर होता है कि नीति प्रक्रिया का भी उन पर प्रभाव पड़ा है।

7.4 पाकिस्तान में समाज

7.4.1 भाषायी समूह

भाषा संजातीय अभेदवाद का महत्वपूर्ण मार्कर है। पाकिस्तान में 20 से अधिक भाषाएँ बोली जाती हैं जिनमे से प्रमुख हैं पंजाबी, सिंधी तथा उर्दू। इसके अतिरिक्त पख्तु (अथवा पश्तु), बलूची

भारतीय-यूरोपीय भाषा परिवार की भारतीय-आर्य शाखा से संबंधित हैं। कुछ अन्य भाषाएँ भारतीय-यूरोपीय तथा प्रारम्भिक द्राविड़ भाषा परिवारों की ''दार्दी' शाखा से संबंधित है। ब्राहुई एक ऐसी भाषा है जो बलूचिस्तान के एक वर्ग द्वारा बोली जाती है।

लगभग आधे पाकिस्तानी (48 प्रतिशत) पंजाबी बोलते हैं इसके बाद सिंधी (12 प्रतिशत), पंजाबी का एक रूप सिराइकी (10 प्रतिशत), पख्तु अथवा पश्तु (8 प्रतिशत), बलूची (3 प्रतिशत), हिंदको (2 प्रतिशत) तथा ब्राहुई (1 प्रतिशत) बोली जाती हैं। 8 प्रतिशत लोगों की मातृभाषा अंग्रेजी, बुरूशास्की तथा कई अन्य बोलियों सहित अन्य भाषाएं हैं।

भारतीय उप-महाद्वीप के मुसलमानों ने लम्बे समय से यह अनुभव किया है कि उर्दू उनकी सम्मिलित पहचान का सूचक है। इस भाषा ने शिक्षित मुसलमानों के बीच कड़ी का काम किया है। मुस्लिम लीग ने नए राज्य पाकिस्तान को अपनी अलग पहचान देने के लिए उर्दू को राष्ट्रीय भाषा के रूप में बढ़ावा दिया। हालांकि देशी भाषा के रूप में यह जनसंख्या के केवल 8 प्रतिशत की भाषा थी। शिक्षित पृष्ठभूमि वाले महत्वाकांक्षी लोगों ने उर्दू बोलनी आरम्भ कर दी पर चूंकि अंग्रेजी अधिकांश अभिजात वर्ग की भाषा थी, वस्तुतः अंग्रेजी ही राष्ट्रीय भाषा बन गई। देश की लगभग आधी जनसंख्या द्वारा बोली जाने वाली भाषा में प्रमुखतः लोक कहानियाँ और रोमांचक लेखन है। यद्यपि पंजाबी मूलतः गुरूमुखी लिपि में लिखी गई परन्तु पंजाबी का, विशेषकर शहरी क्षेत्रों में, उर्दू के साथ मिश्रित होने का लम्बा इतिहास है। इसका एक उदाहरण केन्द्रीय पंजाब में सरगोधा में बोली जाने वाली एक प्रकार की पंजाबी भाषा है।

7.4.2 संजातीय समूह

1990 के दशक के मध्य के वर्षों में पाकिस्तान का संजातीय संघटन कम से कम बड़े समूहों मे जनसंख्या के लगभग भाषायी वितरण के अनुरूप ही था। 59.1 प्रतिशत पाकिस्तानी स्वयं को पंजाबी, 12.1 प्रतिशत सिंधी, 7.7 प्रतिशत मुहाजिर, 4.3 प्रतिशत बलूच तथा 3 प्रतिशत अन्य संजातीय समूहों के सदस्य मानते हैं। प्रत्येक समूह अपने गृहक्षेत्र पर प्राथमिक रूप से ध्यान केन्द्रित करता है जैसे अधिकांश मुहाजिर शहरी सिंध के क्षेत्र में रहते हैं।

अधिकांश पंजाबी समूहों का संबंध इस्लाम से पहले जाट तथा राजपूत जातियों से है। अन्य पंजाबी अरब पारस, बलूचिस्तान, अफगानिस्तान तथा कश्मीर से हैं। इस प्रकार से पंजाबी का अलग-अलग उद्भव है तथापि इन समूहों ने सामजस्यपूर्ण संजातीय समूह का रूप लिया है जिसने कृषि तथा रक्षा पर ऐतिहासिक रूप से आधिपत्य स्थापित किया है।

पंजाबी सैनिक तथा सिविल सेवा के उच्च पदों पर आसीन हैं तथा अधिकांशतः केन्द्रीय सरकार को चलाने में उनका योगदान है। इस स्थिति का कई पख्तु तथा बलूच और विशेषकर सिंधी समुदायों ने विरोध किया है जिन्हें सार्वजनिक क्षेत्र में कम प्रतिनिधित्व मिला है।

ब्रिटिश सरकार के शासन के दौरान पंजाब के दक्षिण में स्थित सिंध बम्बई का उपेक्षित भीतरी प्रदेश था। प्रमुख जमींदारों (वाडेरा) के छोटे समूह का यह समाज था। शोषित काश्तकार किसानों, जिनकी संख्या अधिक थी, को दासता झेलनी पड़ती थी। स्वतंत्रता के समय इस प्रान्त में धन तथा निर्धनता के दो छोर विद्यमान थे।

विभाजन के बाद के वर्षों में सिंध प्रान्त में उल्लेखनीय उथल-पुथल हुई। लाखों हिन्दू तथा सिक्ख भारत चले गए और उनके स्थान पर लगभग 70 लाख मुहाजिर आ गए जिन्होंने प्रान्त के व्यावसायिक जीवन में सुशिक्षित हिन्दुओं तथा सिक्खों की जगह ले ली। बाद में मुहाजिरों ने शरणार्थी जन आंदोलन (मुहाजिर कौमी महज-एम क्यू एम) को राजनीतिक आधार उपलब्ध कराया। जैसे-जैसे कराची की मुहाजिर शहर के रूप में पहचान बनी तो सिंध के अन्य शहर-थट्टा, हैदराबाद तथा लरकाना, सिंधी विरोध के मुख्यालय बन गए।

उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रान्त की पहचान विश्व के सबसे बड़े जनजातीय समूह, पश्तुन के रूप में की जाती है। वे बलूचिस्तान तथा दक्षिणी अफगानिस्तान का प्रमुख समूह हैं। भारतीय उप-महाद्वीप से अंग्रेजों के जाने के समय पर फ्रंटीयर कांग्रेस, जोकि खान अब्दुल गफ्फार खान की अध्यक्षता में अत्यंत सक्रिय थी, ने पश्तूनिस्तान के अलग राज्य के गठन की मांग की। यह मांग न माने जाने पर यह क्षेत्र पाकिस्तानी राज्य का हिस्सा बना परन्तु इसने पश्तुन आंदोलन की नींव रखी।

1980 के दशक से कई पश्तुन पुलिस, सिविल सेवा तथा सेना में शामिल हुए हैं तथा देश के यातायात नेटवर्क पर इनका आधिपत्य है। उन्हें पाकिस्तान की राजनीतिक संरचना में प्रतिनिधित्व भी मिला है जिससे कुछ हद तक पश्तुन आंदोलन को आगे नहीं बढ़ाया जा सका है। पाकिस्तान के सीमान्त क्षेत्र का अन्य संजातीय अल्पसंख्यक समूह है - बलूची। चार प्रमुख समूहों मैरिक, बुगलिस, बिजोनजोर तथा मोंगल में वर्गीकृत बलूची कुल मिलाकर जनजातीय और नातीय समुदाय है। यद्यपि इनकी जनसंख्या कम है तथापि बलूची समुदाय ने अपनी अलग सांस्कृतिक पहचान सुरक्षित रखी है। उनमें भाषा प्रमुख संयोजक कड़ी रही है। पश्तुनों की ही भांति बलूची समुदाय को पाकिस्तान में शामिल होने पर विरोध था। स्वायतता के लिए चलाए गए बलूच आंदोलन ने 1958-69 के दौरान तथा 1973 के बाद भी हिंसात्मक रूप ले लिया। बलूच नेताओं ने पाकिस्तान की संघीय संरचना में ही स्वायतता की मांग की। आज उनकी प्रमुख समस्या है - पंजाबी वर्चस्व के समक्ष अपनी अलग "बलूच" पहचान को सुरक्षित रखना।

मुहाजिर मूलतः उत्तर भारत के उर्दू भाषी लोग हैं जो विभाजन के बाद भारत से पाकिस्तान चले गए। यह लघु समूह प्रमुखतः सिंध, विशेषकर कराची के शहरी वर्ग के रूप में बसा है। भारत के साथ पहचान जुड़े होने के कारण आज भी इन्हें पाकिस्तानी समाज में पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया गया है। दूसरी ओर, सिंधी उन्हें अपना प्रमुख प्रतियोगी मानते हैं, इसलिए उनका विरोध करते हैं।

1984 में अलताफ़ हुसैन की अध्यक्षता में मुहाजिर कौमी आंदोलन की शुरूआत हुई। यह आंदोलन है जिससे उनकी संजातीय जागरूकता की अभिव्यक्ति होती है और जिससे उनकी संजातीय शिकायतों को दूर करने का प्रयास किया गया।

अहमदिया को उनकी विशिष्ट धार्मिक मान्यताओं, जिनके कारण पाकिस्तान सरकार ने इन्हें गैर-मुस्लिम घोषित कर रखा है, के मद्देनजर पाकिस्तान में अलग संजातीय अल्पसंख्यक समूह के रूप में माना जाता है। वे पाकिस्तान की जनसंख्या का 0.12 प्रतिशत है तथा अधिकांशतः पंजाब में बसे हैं।

औपनिवेशिक काल में अहमदिया नौकरशाही तथा सेना के उच्च पदों पर आसीन थे। जब अहमदियों ने अपने पंथ को बढ़ावा देने का प्रयास किया तो रूढ़िवादियों ने इसका कड़ा विरोध किया जिन्हें अहमदियों की विचारधारा से सख्त ऐतराज था। पचास के दशक में अहमदियों के विरोध में हिंसात्मक विद्रोह हुए। धार्मिक नेताओं ने बार-बार इनका विरोध किया तथा सरकार ने भी इन्हें प्रताड़ित किया है। इस प्रकार से, अहमदिया अपनी ही जन्मभूमि पर अजनबी हैं तथा अलग-थलग समुदाय हैं।

पाकिस्तान में संजातीय अल्पसंख्यकों द्वारा विभिन्न रूपों तथा दिशाओं में स्वयं को स्थापित करने का प्रयास राजनीतिक विकास की विशेषता रही है। इस प्रकार से संजातीयता पाकिस्तान की घरेलू राजनीति में अस्थिरता लाने वाला प्रमुख कारक रही है। अल्संख्यक संजातीय समुदाय बहुसंख्यक पंजाबी समूहों के विरूद्ध संघर्ष करते रहे हैं। संजातीय अल्पसंख्यक समूहों की समस्याएँ अपनी पहचान सुरक्षित रखने तथा बराबरी के आधार पर सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक लाभ प्राप्त करने की रही हैं।

7.4.3 धर्म

पाकिस्तान के लगभग 97 प्रतिशत लोग मुस्लिम हैं जिनमें से 77 प्रतिशत सुन्नी तथा 20 प्रतिशत शिया हैं जबकि अन्य 3 प्रतिशत जनसंख्या बराबर रूप से ईसाई तथा अन्य धर्मों की है।

दक्षिणी एशियाई उप-महाद्वीप में इस्लाम का प्रादुर्भाव आठवीं शताब्दी में घुमक्कड़ सूफी साधुओं-पीरों के आगमन के साथ हुआ। जिन क्षेत्रों में इस्लाम सूफियों द्वारा लाया गया, वहाँ पर भी इस्लाम काफी हद तक इस्लाम पूर्व के प्रभावों के साथ मिश्रित हो गया जिसके परिणामस्वरूप एक ऐसे धर्म का उदय हुआ जो अरब विश्व की तुलना में परम्परागत दृष्टि से अधिक लचीला था।

मुस्लिम कवि एवं दार्शनिक सर मौहम्मद इकबाल पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 1930 में इलाहाबाद में मुस्लिम लीग को संबोधित करते हुए उप-महाद्वीप में मुस्लिम राज्य बनाने के विचार का प्रस्ताव रखा। उनके प्रस्ताव का आशय पंजाब, सिंध, बलूचिस्तान तथा उत्तर-पश्चिमी सीमावर्ती क्षेत्र के चार प्रान्तों से था, जो 1971 के बाद पाकिस्तान का क्षेत्र बना। इकबाल के विचार ने "द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त" को मूर्त रूप दिया - विभिन्न ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सामाजिक रीतिरिवाजों, संस्कृतियों तथा सामाजिक लोकनीतियों के साथ धर्म के आधार पर (इस्लाम तथा हिन्दू) उप-महाद्वीप में दो अलग राष्ट्रों का होना।

इस प्रकार से इस्लाम अलग राष्ट्र के सृजन तथा एकरूपीकरण का आधार था परन्तु इससे सरकार के मॉडल के रूप में कार्य करने की आशा नहीं की जा सकती थी। मौहम्मद अली जिन्नाह ने पाकिस्तान की संविधान सभा के अपने प्रारम्भिक भाषण में धर्मनिरपेक्षता के प्रति वचनबद्धता की बात कही परन्तु मुस्लिम बहुल राज्य के इस परिप्रेक्ष्य में, जिसमें विकास में धार्मिक अल्पसंख्यकों की बराबर की हिस्सेदारी होगी, इस पर स्वतंत्रता के बाद ही सवालिया निशान लग गए। 1970 के दशक तक भी चर्चा जारी रही - अहमदियों के अधिकारों, धार्मिक सम्बद्धता दर्शाने वाले पहचान पत्र जारी करने तथा इस्लाम को व्यक्तिगत स्तर पर अपनाने में सरकार के हस्तक्षेप पर विवाद चलता रहा।

बोध प्रश्न 2

नोट : अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए खाली स्थान को उपयोग में लाएँ।

अपने उत्तर की जांच अध्याय के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

1) पाकिस्तान की भाषायी संरचना का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिए।

....

....

....

2) "अहमदिया" कौन हैं?

....

....

....

7.5 सारांश

स्वतंत्रता के समय पाकिस्तान को विरासत में प्रमुखत: कृषि अर्थव्यवस्था, कमजोर आधारभूत ढांचा तथा सीमित मानव संसाधन की प्राप्ति हुई। तब से लेकर पाकिस्तान के विकास का रिकार्ड असमान रहा है। प्रारम्भिक वर्षों (1947-58) के दौरान आर्थिक विकास की गति कम रही जबकि 1960 के दशक में ज़बरदस्त विकास हुआ। 1970 के दशक में इसमें धीमापन आया जबकि 80 के दशक में इसने फिर गति पकड़ ली। 90 के अनुवर्ती दशक में फिर इसमें सुस्ती आई। देश के लिए यह दशक खोए हुए अवसर के समान रहा। नई सहस्त्राब्दि के पहले दो वर्षों में पाकिस्तान की वृद्धि

दर सर्वाधिक धीमी गति के ऐतिहासिक रिकार्ड पर पहुंच गईं जबकि तीसरे वर्ष में इसमें फिर से प्रगति हुई है। इस प्रकार से विकास दर को बनाए रखने में अनिश्चितता रही है।

व्यापक रूप से यह माना जाता है कि पाकिस्तान के सामाजिक विकास सूचक देश के आर्थिक विकास तथा संरचनात्मक परिवर्तन की तुलना में अत्यधिक कम रहे हैं।

पाकिस्तान की अधिकांश जनसंख्या ने इस्लाम अपनाया है तथापि संजातीय अल्पसंख्यकों में वृहत अन्तर तथा पाकिस्तान के विकास में उनकी तुलनात्मक उपेक्षा की भावना के मद्देनजर धर्म जोड़ने वाले पर्याप्त कड़ी नहीं है।

उच्चतम न्यायालय के निर्णय के उपरान्त अक्तूबर, 2002 में सैनिक सरकार ने राष्ट्रीय चुनाव कराए। लोकतांत्रिक कुशासन की पूर्ववर्ती घटनाओं के मद्देनजर यह उम्मीद करना अभी जल्दी होगा कि पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था स्वयं को टिकाए रख सकेगी।

7.6 शब्दावली

सकल घरेलू उत्पाद (GDP): यह देश में उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं का कुल योग है।

सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP): यह विदेश से प्राप्त आय को कम करके देश में उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं का कुल योग है।

वित्तीय घाटा: यह सरकार की कुल आय तथा व्यय का अन्तर है । इसे आमतौर पर सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में दर्शाया जाता है।

मुहाजिर: ये उर्दू भाषी लोग हैं जो मूलत: उत्तर भारत के रहने वाले हैं तथा जिन्होंने विभाजन के उपरान्त पाकिस्तान जाने का विकल्प चुना। यह लोगों का छोटा सा समूह है जो प्रमुखत: सिंध प्रान्त में बसे हैं। ये विशेषकर कराची के शहरी वर्ग के रूप में स्थित हैं।

7.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

एस० अकबद ज़ैदी (1999), *इश्यूज़ इन पाकिस्तान्स इकोनोमी,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड ।

इशरत हुसैन (1999), *पाकिस्तान: द इकोनोमी ऑफ एन एलिटिस्ट स्टेट,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड ।

रमाकान्त, एवं अन्य, (2001) *कॉन्टेम्पोरेरी पाकिस्तान : ट्रैन्ड्स एंड इश्यूज़,* (खण्ड-I एवं II), कलिंगा पब्लिकेशन्स, दिल्ली ।

7.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) जुल्फीकार अली भुट्टो ने 1970 के दशक में पाकिस्तान में भारी उद्योग की नींव रखी ।

2) पूर्वी पाकिस्तान के अलग राष्ट्र बनने, 1970 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में तेल संकट, जिन्सों की अंतरराष्ट्रीय कीमतों में उतार-चढ़ाव, जलवायु संबंधी कारणों, विषाणु रोगों तथा उर्वरकों की कमी के कारण कृषि उत्पादकता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। उद्योग के राष्ट्रीयकरण के कारण भी विकास की गति धीमी रही क्योंकि योग्य प्रबंधक तथा पूंजी देश से बाहर चली गई।

3) सार्वजनिक क्षेत्र प्रधान विकास नीति में फेरबदल किया गया। निजी भागीदारी को बढ़ावा देने के लिए अर्थव्यवस्था को विनियमित तथा उदारीकृत किया गया और निजी क्षेत्र को वित्तीय प्रोत्साहन दिए गए। घरेलू मांग में हुई तीव्र वृद्धि तथा भुट्टो शासन में औद्योगिक निवेश से प्राप्त आय से उच्च औद्योगिक विकास हुआ।

बोध प्रश्न 2

1) कृपया उप-भाग 7.4.1 देखें ।

2) अहमदिया के धार्मिक विचार इस्लाम से भिन्न हैं। यद्यपि औपनिवेशिक समय में वे समाज के उच्च पदों पर आसीन थे, परन्तु अब उन्हें गैर-मुस्लिम घोषित किया जा चुका है तथा उनका धार्मिक नेताओं व सरकार दोनों ने विरोध किया है।

इकाई ८ पाकिस्तान में सैनिक शासन एवं राजनीति

इकाई की रूपरेखा

८.० उद्देश्य
८.१ प्रस्तावना
८.२ पाकिस्तान का राजनीतिक विकास, 1947-58
८.३ सैनिक हस्तक्षेप की सैद्धान्तिक व्याख्याएँ
८.४ राजनीतिक प्रक्रिया में सेना का हस्तक्षेप
८.५ सारांश
८.६ शब्दावली
८.७ कुछ उपयोगी पुस्तकें
८.८ बोध प्रश्नों के उत्तर

८.० उद्देश्य

राजनीति में सैनिक हस्तक्षेप विकासशील विश्व की प्रमुख विशेषता बन गई है। दक्षिण एशिया में पाकिस्तान की राजनीतिक प्रणाली में बार-बार सैनिक हस्तक्षेप हुए। इस अध्याय में हम इसी पर चर्चा करेंगे। इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप-

- पाकिस्तान में लोकतंत्रा की विफलता के कारणों की व्याख्या कर पाएँगे;
- देश में नागरिक सैनिक संबंधों का विवरण प्रस्तुत कर पाएँगे;
- देश में सैनिक शासन के लिए उत्तरदायी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक कारकों का विवरण प्रस्तुत कर पाएँगे; और
- पाकिस्तान की राजनीतिक प्रणाली में सेना की भूमिका का विश्लेषण कर पाएँगे।

८.१ प्रस्तावना

इस अध्याय में देश के घरेलू राजनीतिक विकास के अति महत्वपूर्ण पहलू अर्थात् राजनीतिक प्रणाली में सेना की भूमिका का विवरण प्रस्तुत किया गया है। यह मुद्दा विशेष रूप से इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे ही यह पता चलता है कि आज राजनीतिक संस्थाओं की दुर्दशा क्यों है? आरम्भिक वर्षों में राजनीतिक स्थिरता लाने में राज्य की अक्षमता के कारण राजनीतिक दलों, दबाव समूहों, संसद, न्यायपालिका तथा कार्यपालिका जैसी परम्परागत संरचनाओं का पतन हुआ और संविधान व अन्य राजनीतिक प्रक्रियाओं का अंत हो गया जिसके परिणामस्वरूप संस्था के रूप में सेना सुदृढ़ हो गई क्योंकि असैनिक सरकारों की बार-बार विफलताओं के कारण उत्पन्न हुए राजनीतिक शून्य में यह वैकल्पिक संगठित शक्ति के रूप में कार्य कर सकी।

८.२ पाकिस्तान का राजनीतिक विकास

स्वतंत्राता के बाद के वर्षों में पाकिस्तान के समक्ष कई गंभीर समस्याएँ थीं। पूर्वी तथा पश्चिमी भाग में विभाजन, जिसमें पूर्वी क्षेत्रा घनी आबादी वाला था जबकि राजनीतिक शक्तियों का अधिक संचालन पश्चिमी क्षेत्रा में हो रहा था, जिनके कारण देश के समक्ष गंभीर राजनीतिक व संस्थागत चुनौतियां खड़ी हो गईं। दूसरे, विभाजन के बाद हुए साम्प्रदायिक दंगों तथा शरणार्थियों के आने से सीमित संसाधनों वाले नवगठित राज्य पर बहुत ज्यादा बोझ बढ़ गया। तीसरे, १९४८ में कायद-ए-आज़म की मृत्यु तथा १९५१ में लियाकत अली खान की हत्या के उपरान्त देश के समक्ष नेतृत्व का संकट खड़ा हो गया। नेतृत्व के अभाव में पाकिस्तान पर मुस्लिम लीग की पकड़ पहले से भी कमजोर हो गई। संघीय सरकार तथा इसकी संस्थाओं के न होने के कारण नए राष्ट्र के सामने कई प्रकार के संकट थे - वैधता, भागीदारी, वितरण इत्यादि। इन सबके कारण सेना तथा नागरिक नौकरशाही की शक्तियाँ बढ़ीं जिनका देश के बाद के राजनीतिक इतिहास पर प्रभाव पड़ा।

जिस ऑल इंडिया मुस्लिम लीग ने नए राज्य में सरकार बनाई, उस की उन प्रान्तों में पकड़ मजबूत नहीं थी जो पाकिस्तान का हिस्सा बने। पाकिस्तान के गठन में सफलता प्राप्त करने तथा नए राज्य में प्रारम्भिक प्रगति के तीन वर्षों के उपरांत सिद्धान्तों तथा कार्य करने के ढंग के रूप में पार्टी समय के साथ नहीं चल सकी। शीघ्र ही ऑल इण्डिया मुस्लिम लीग में विभाजन हो गया और यह व्यक्ति विशेष के इर्द-गिर्द कई समूहों में विभक्त हो गई। न ही प्रमुख पार्टी और न ही इससे अलग हुए समूह आम जनता में अपनी पैठ मजबूत कर सके।

विभिन्न संस्थाओं में मतभेद उभर कर सामने आए। १९५४ में संविधान सभा में बिल लाया गया जिसके अन्तर्गत गवर्नर जनरल को प्रधानमंत्री के परामर्श पर कार्य करना था। गवर्नर जनरल ने बिल पारित होने से पहले ही मंत्रिमंडल बर्खास्त कर दिया, सभा भंग कर दी तथा इस आधार पर आपातकाल घोषित कर दिया कि ''संस्थाएँ कार्य नहीं कर पा रही थी।'' गवर्नर जनरल के असंवैधानिक कार्य को न्यायपालिका द्वारा वैधता दे दी गई। अक्तूबर, १९५४ में प्रधानमंत्री मौहम्मद अली बोगरा ने एक अन्य मंत्रिमंडल का गठन किया। कमांडर-इन-चीफ होने के साथ-साथ अयूब खान इस मंत्रिमंडल में रक्षा मंत्री थे। १९५३ से १९५८ के मध्य राजसी षडयंत्राों के कारण ७ प्रधानमंत्री बनाए तथा हटाए गए। सरकार द्वारा समर्थित रिपब्लिक पार्टी के गठन से राजनीतिक प्रणाली और कमजोर हो गई।

संविधान का गठन करने में संविधान सभा को ७ वर्ष का समय लगा। संविधान के गठन में विलम्ब कई मुद्दों, विशेषकर राज्य में इस्लाम की भूमिका पर चर्चा के कारण हुआ। नए राज्य में धर्म की भूमिका पर सर्वसम्मति नहीं बन सकी। १९४९ का ऑब्जेक्टिव्स रेजोल्यूशन तथा बेसिक समिति की रिपोर्ट भी गर्मागर्म बहस का मुद्दा बने। चर्चा का एक अन्य मुद्दा था - राजनीतिक प्रणाली की प्रकृति - संघीय अथवा एकात्मक संयुक्त अध्यक्षीय अथवा संसदीय अथवा अलग मतदाता समूह। यह विडम्बना थी कि सरकार के संसदीय रूप को प्रतिपादित करने वाला दुर्भाग्यपूर्ण संविधान १९५६ में गठित किया गया, उसके दो वर्ष बाद ही इसको निरस्त कर दिया गया। गुलाम मौहम्मद के उत्तराधिकारी जनरल इस्कंदर मिर्ज़ा (जो रक्षा मंत्री के सचिव भी थे) को यह लगा कि नए संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति के पद के लिए उसका चुनाव नहीं हो सकता तो उसने अक्तूबर, १९५८ में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को खारिज कर दिया तथा मार्शल लॉ घोषित कर दिया परन्तु उसकी सेना पर दबाव स्थापित करने की आशाओं के विपरीत उसे त्यागपत्रा देना पड़ा तथा स्वयं अयूब खान ने शासन की बागडोर संभाली जो मार्च, १९६९ तक उसके पास रही और उसके उपरांत जनरल याहया खान के हाथों में चली गई।

पहले चरण के अन्त की स्थिति का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हुए कीथ कलार्ड (Keth Callard) ने लिखा है कि सेना द्वारा औपचारिक रूप से सत्ता संभालने से पहले ही राजनीतिक दल कमजोर पड़ चुके थे तथा इनकी शक्तियाँ प्रतिकूल रूप से प्रभावित हो रही थी। राजनेतिक

नेता लड़-झगड़ रहे थे तथा एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगा रहे थे। धार्मिक नेताओं ने पूर्ण अधिकार का दावा किया है परन्तु उनके हाथ भी कुछ नहीं लगा। इसी बीच देश सिविल सेवा अधिकारियों द्वारा चलाया जा रहा था तथा इन्हें स्वतंत्राता पूर्व की भांति सेना का समर्थन प्राप्त था।

संविधान आयोग ने १९६१ में संसदीय लोकतंत्रा की विफलता के लिए निम्नलिखित कारणों की पहचान की:-

१) ''उपयुक्त चुनावों की कमी तथा पिछले संविधान की कमियाँ''।

२) ''प्रान्तों में सरकारों के कार्यकलापों में मंत्रियों तथा राजनीतिक दलों सहित राज्य अध्यक्षों तथा केन्द्र सरकार का अनुचित हस्तक्षेप।''

३) ''नेतृत्व के अभाव के परिणामस्वरूप संयोजित तथा संगठित दलों की कमी रही राजनेताओं में सामान्य चरित्रा की कमी रही तथा प्रशासन में उनका अनुचित हस्तक्षेप रहा।''

बोध प्रश्न-१

नोट : अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए खाली स्थान को उपयोग में लाएँ।

अपने उत्तर की जांच अध्याय के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

१) ''पाकिस्तान के गठन के समय से ही लोकतंत्रा की जड़ें कमजोर थीं।'' इस कथन पर टिप्पणी कीजिए।

....

....

....

२) पाकिस्तान के आरम्भिक वर्षों में मुस्लिम लीग की भूमिका का आप कैसे मूल्यांकन करते हैं?

....

....

....

८.३ सैनिक हस्तक्षेप की सैद्धान्तिक व्याख्याएँ

नागरिक-सैनिक संबंधों पर सिद्धान्तों का सर्वाधिक रूचिकर पहलू यह है कि यद्यपि ये सिद्धान्त किसी मॉडल पर आधारित किसी एक अथवा अन्य स्थिति की व्याख्या प्रस्तुत कर सकते हैं परन्तु ये सिद्धान्त कई अन्य पहलुओं की अनदेखी करते हैं। ऐसा सिद्धान्त के महत्व को कम आंकने के लिए नहीं अपितु विशेषकर पाकिस्तान जैसे देश के संदर्भ में मुद्दे की गत्यात्मकता पर प्रकाश डालने के लिए कहा गया है। एशियाई सिद्धान्तों में सैनिक हस्तक्षेप के प्रारम्भिक सिद्धान्तों में, उदाहरण के तौर पर, सैम्यूअल पी. हटिंगटन (Samuel P. Huntington) का सिद्धान्त है जिन्होंने असैनिक लोकतांत्रिक राज्य में सेना की परिकल्पना उसके अधीन सहयोगी के रूप में की है। उसका कहना है कि ''प्रीटोरियन'' राज्यों में असैनिक संस्थाएँ कमजोर हैं। संस्था तथा नेतृत्व में शून्य की स्थिति के कारण समूह निजी हितों की पूर्ति हेतु नियंत्राण अपने हाथ में ले पाते हैं तथा सेना स्वयं को सत्ता के अन्य संभावित दावेदारों में से एक मानती है। उसके अनुसार प्रीटोरियन राज्य वह राज्य है जिसमें राजनीतिक संस्थाकरण के अभाव में सामाजिक संरचनाओं का राजनीतिकरण होता है।

इस तर्क से यह स्पष्ट होता है कि पाकिस्तानी सेना ने १९५८ में हस्तक्षेप क्यों किया परन्तु इससे इस बात की व्याख्या नहीं मिलती कि ऐसा राज्य जिस पर लगभग दो शताब्दियों तक राजनीतिक शासन रहा तथा जो अनिवार्य रूप से पश्चिमी मॉडल की विशेषताओं से युक्त था, वह अन्तत: सैनिक राज्य कैसे बन गया? १९५८ की पाकिस्तानी सेना १९४७ की सेना से काफी भिन्न थी। १९४७ की सेना की तुलना में यह अधिक व्यावसायिक और संगठित थी। इसके विपरीत १९४७ में राजनीतिक ढांचे के नाम पर जो कुछ भी बचा था, उसका पतन हो गया तथा परिणामस्वरूप यह ऐसी स्थिति पर जा पहुँचा जहाँ सैनिक नियंत्राण ही एकमात्रा विकल्प लगने लगा। इससे हटिंगटन का यह दावा सिद्ध होता है कि सैनिक व्यवसायवाद में वृद्धि सैनिक हस्तक्षेप के विपरीत रूप से संबंधित है, इसका अर्थ यह हुआ कि सेना का लक्ष्यपरकता के प्रति आधुनिक व्यवसायवादी रूप तथा औद्योगिक अर्थव्यवस्था सेना को राजनीतिक हस्तक्षेप के विरूद्ध प्रवृत्त करते हैं।

लुशियन पाय (Lucian Pye) तथा मॉरिस जैनोविट्ज (Morris Janowitz) जैसे विद्वानों ने सेना को सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तन की शक्तियों के प्रति अधिक संवेदनशील माना है। सैनिक हस्तक्षेप को सेना के गुणों के परिणाम बताकर सेना को संगठित शक्ति के रूप में आधुनिकीकरण का माध्यम माना है।

पाकिस्तान के संबंध में विशेष बात यह है कि यहाँ बार-बार सैनिक हस्तक्षेप हुए साथ ही बीच-बीच में असैनिक शासन भी चलते रहे। असैनिक शासन की श्रेष्ठता की वैधता सैद्धान्तिक रूप से विद्यमान है। यह इस तथ्य से परिलक्षित होता है कि अयूब से लेकर मुशर्रफ तक- सभी जनरलों ने आरम्भ में सत्ता हथियाकर जितनी जल्दी संभव हो, असैनिक व्यवस्था की ओर वापस जाने का आश्वासन दिया। हाल ही का जनरल मुशर्रफ का उदाहरण है जिसने व्यापक न्यागमन कार्यक्रम आरम्भ किया है ताकि निचले स्तर पर सहभागितापूर्ण लोकतंत्रा की स्थापना का दिखावा किया जा सके। इस घोषणा का अर्थ इस बात से स्पष्ट होता है कि जनरल ज़िया, जिसने ९० दिनों में चुनाव कराने का आश्वासन दिया था, अपने शासनकाल के अंतिम चरण में ही वास्तव में चुनाव करा सका जिसे ''पार्टी रहित चुनावों'' के नाम पर चुनाव का पाखंड कहा जा सकता है।

असैनिक शासन काल के दौरान इन संबंधों की प्रकृति पाकिस्तान के नागरिक-सैनिक संबंधों का कम चर्चित पहलू है। अन्य शब्दों में, जिन पहलुओं पर अधिक बल दिया गया है, वे हैं:- अव्यवस्थित नागरिक व्यवस्था के अंत में बार-बार सैनिक हस्तक्षेप। जब-जब असैनिक शासक सत्ता में आए उन्होंने सेना को नियंत्राण में रखने के तरीके अपनाए, इस तथ्य पर अधिक चर्चा नहीं की गई है। इस तथ्य की व्याख्या इस रूप में दी जा सकती है कि सामान्य असैनिक व्यवस्था में प्रधानमंत्री प्रभुत्व एक स्वीकृत तथ्य है। यहाँ यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि पाकिस्तान में सेना को भिन्न रूप में देखा जाना चाहिए क्योंकि राष्ट्र की बाह्य सुरक्षा करने के साथ-साथ पाकिस्तानी सेना अब सर्वमान्य राजनीतिक संस्था भी बन गई है।

८.४ राजनीतिक प्रक्रिया में सेना का हस्तक्षेप

किसी भी अन्य असैनिक शासन की सेना की भांति आरम्भ में पाकिस्तानी सेना देश की बाह्य सुरक्षा की संरक्षक थी। स्टीफन कोहन (Stephen Cohen) तथा हसन अस्कारी रिज़वी (Hasan Askari Rizvi) का मानना है कि ब्रिटिश भारतीय सेना में पूर्ण रूप से मुस्लिम इकाईयाँ नहीं थीं (जैसेकि पूर्ण रूप से हिन्दू अथवा सिक्ख इकाईयाँ थीं) जोकि १८५७ की क्रान्ति के समय से मुसलमानों के प्रति ब्रिटिश अविश्वास का प्रतीक है जबकि क्लाले (Cloughlay) का कहना है कि ''इंडियन'' रेजीमेंट - जैसेकि जाट, राजपूत, सिक्ख तथा डोगरा रेजीमेंट भारत में गए जबकि बलूच तथा फ्रंटीयर फोर्स रेजीमेंट पाकिस्तान को आवंटित किए गए। पंजाब बैज धारण करने वाली पांच रेजीमेंटो को दोनों देशों में बांटा गया। यह विभाजन ६४ : ३६ के अनुपात में किया गया, जो मोटे रूप से साम्प्रदायिक संतुलन के अनुरूप था।

नई पाकिस्तानी सेना लगभग पूर्ण मुस्लिम थी जिसमें पंजाबी तथा पठानों की संख्या अधिक थी। १९५५ में अधिकारियों के काडर में पूर्वी पाकिस्तान का प्रतिनिधित्व केवल १.५७ प्रतिशत था। १९६३ तक सेना अधिकारियों में बंगालियों का अनुपात बढ़कर ५ प्रतिशत हो गया था। यद्यपि हाल के वर्षों में पाकिस्तान के चार प्रमुख थल सेना रेजीमेंट पंजाब, बलूच, फ्रंटीयर फोर्स तथा सिंध है तथापि राष्ट्रीय जनसंख्या में अनुपात के अनुरूप सभी संजातीय वर्गों को प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाया है। बलूच रेजीमेंटों की कुछ इकाइयों में कोई बलूची नहीं है तथा पठान तथा सिंधी भी बहुत कम हैं।

असैनिक प्रशासनिक कार्यों में सेना का बढ़ता हुआ उपयोग पाकिस्तान जैसे नए राज्य की प्रमुख विशेषता है। १९४८ में सिंध नदी से सुक्कर बांध पर खतरा उत्पन्न हो गया जिससे सिंध में शिकारपुर तथा रोहड़ी में बांध में दरार पड़ गई तथा क्वेटा में रेल - सड़क मार्ग कट गया, ऐसे समय में सेना की सेवाएँ ली गईं। १९४९ में रावी नदी के पानी से जहांगीर की कब्र को बचाने के लिए सेना की मदद ली गई। अगले वर्ष सितम्बर में लाहौर शहर को बचाने के लिए सेना को बुलाया गया। १९५२ में सेना को पटसन के तस्करी विरोधी कार्यक्रम में शामिल किया गया। अगले वर्ष अहमदिया - विरोधी आंदोलन को नियंत्रित करने के लिए इसे बुलाया गया।

इस प्रकार से ५० के दशक के मध्य तक यद्यपि इसकी कोई प्रत्यक्ष राजनीतिक भूमिका नहीं थी फिर भी पाकिस्तान में सेना निर्णय लेने की प्रक्रिया का महत्वपूर्ण हिस्सा बन चुकी थी। राजनीतिक क्षेत्रा में भूमिका का एक उदाहरण रावलपिंडी षडयंत्रा मामला था जब सेना के ११ अधिकारियों तथा तीन असैनिक अधिकारियों ने १९५६ में शीर्ष स्तर के सैनिक अधिकारियों को पकड़ने तथा साम्यवादी प्रकार की तानाशाही स्थापित करने के लिए सत्ता हथियाने का षडयंत्रा रचा। प्रान्त में उत्पन्न गंभीर खाद्य संकट से निपटने के लिए, जोकि अधिकांशत: राजनीतिक कुप्रबंधन का परिणाम था, सेना ने पूर्वी पाकिस्तान में आपरेशन सर्विस फर्स्ट आरम्भ किया। दिसम्बर, १९५७ में सेना ने तस्करी-विरोधी अभियान के रूप में तीसरा असैनिक अभियान (आपरेशन क्लोज़्ड डोर) आरम्भ किया।

अयूब खान के शासन के दौरान (१९५८-१९६९) सेवानिवृत्त सैनिक अधिकारियों का ऐसा वर्ग बन गया जो निजी तथा सार्वजनिक उद्यमों में शीर्षस्थ पदों पर था। नए संविधान में देश की सत्ता के ढांचे में सेना की भूमिका को संस्थागत रूप दिया गया। संविधान के अनुच्छेद १७ में राष्ट्रपति को सेना का सर्वोच्च कमांडर घोषित किया गया जिसे सेना के चीफ कमांडर नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त था। एक और उल्लेखनीय बात यह है कि संविधान के अनुच्छेद २३८ में यह घोषणा की गई कि संविधान लागू होने के पहले २० वर्षों में रक्षा मंत्रालय का अध्यक्ष वहीं व्यक्ति हो सकता है जो सेना में लेफ्टिनेंट जनरल या इसके समकक्ष पद का रहा हो।

अयूब खान ने अपनी राजनीतिक संरचना को लोकतंत्रा जैसी संरचना बनाने के प्रयास किए। कार्यकारिणी शाखा पर पूर्णत: राष्ट्रपति का नियंत्राण था, अत: राष्ट्रपति का चुनाव ८०,००० बेसिक डेमोक्रेट्स अथवा यूनियन काउंसिलरों के निर्वाचक मंडल द्वारा किया गया। उनमें से प्रत्येक १,००० के लगभग व्यस्क मतदाताओं का प्रतिनिधित्व करता था जिन्होंने उसे चुनकर भेजा था। २० बेसिक डेमोक्रेट लोगों को ग्रामीण क्षेत्रों में यूनियन कांउसिल और शहर में वार्ड काउंसिल बनानी थीं। चूंकि प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय सभाओं को वित्तीय बिलों में सीमित अधिकार दिए गए थे, इस लिए उनके अधिकार प्रतिकूल रूप से प्रभावित हुए। असैनिकों से संबंध की दृष्टि से अयूब खान प्रमुखत: असैनिकों पर ही निर्भर था। १९५८ में उसका डिप्टी चीफ मार्शल प्रशासक अजीज अहमद एक असैनिक था। वह सरकार का प्रमुख सचिव भी था तथा पूर्ण सरकारी तंत्रा का रोजमर्रा का नियंत्राण उसके हाथ में था। सरकार के नव नियुक्त असैनिक प्रमुख सचिव तथा केन्द्र सरकार के आठ मंत्रालयों के असैनिक सचिवों को मिलाकर परामर्शदात्री परिषद का गठन किया गया तथा सेना को गलियों से हटने के आदेश दिए गए।

१९६२ के बाद तक भी जब अयूब के शासन में स्थिरता आ चुकी थी, वरिष्ठ सिविल सेवाकर्मी शासन का प्रमुख हिस्सा बने रहे। उसके वरिष्ठ परामर्शकर्ता सिविल सेवा अधिकारी थे। सिविल सेवाकर्मियों ने सभी नीति निर्माण के पदों पर एकाधिकार जमा लिया तथा धीरे-धीरे सभी निगमों और स्वायत पदों पर कब्जा कर लिया।

अयूब खान के सुधार लागू नहीं हो पाए तथा १९६६ में शासन की संसदीय प्रणाली की मांग उठने लगी परन्तु वास्तविक समस्या १९६५ में भारत के साथ युद्ध की थी जिसने उसके शासन के प्रति भ्रम की स्थिति उत्पन्न कर दी थी। १९६९ तक अयूब खान को अपने सैनिक कमांडरों का समर्थन मिलना बंद हो गया था। जब वह सत्ता को और नहीं संभाल सका तो उसने इस की बागडोर सेना के कमांडर-इन-चीफ, जनरल याहया खान को यह सोचकर सौंप दी कि सेना ही देश में शासन संभालने का "वैधानिक और कारगर हथियार" थी।

१९७१ में भारत पाक युद्ध में पाकिस्तान की हार तथा समर्पण और बांगलादेश के अलग राष्ट्र बनने से लोगों का सेना पर से विश्वास उठ गया। १९७० के चुनावों के अध्यादेश के आधार पर जुल्फीकार अली भुट्टो ने देश की बागडोर संभाली। पाकिस्तानी सिविल सेवा समाप्त कर दी गई तथा एकल समेकित सेवा स्थापित की गई। अन्य व्यवसायों से प्रवेश की अनुमति मिलने से नौकरशाही शक्तियों को और धक्का पहुंचा। सार्वजनिक क्षेत्रा के विस्तार में भुट्टो की पाकिस्तान पीप्लस पार्टी (पी. पी. पी.) तथा सिविल सेवाकर्मियों के बीच धांधली का खुलासा हुआ तथा १,३०० अधिकारियों को निलम्बित कर दिया गया।

भुट्टो ने अपने शासन का आरम्भ नागरिक शासन को अधिक मान्य रूप में स्थापित करने के साथ किया। पूर्वी पाकिस्तान में सैनिक हार तथा पश्चिमी पाकिस्तान में समर्थन की जांच करने के लिए उसने पाकिस्तान के तत्कालीन न्यायाधीश की अध्यक्षता में हमुदूर रहमान जाँच आयोग का गठन किया। सेवा प्रमुखों को बदला गया, बड़ी संख्या में असैनिक अधिकारियों को हटाया गया। सेवा प्रमुख का पदनाम कमांडर-इन-चीफ से बदलकर चीफ किया गया। राष्ट्रपति ही कमांडर-इन-चीफ बन गया। स्टाफ के संयुक्त प्रमुख को स्थायी अध्यक्ष पद पर नियुक्त किया गया। इसका अभिप्राय: सेना प्रमुखों के अधिकारों को कम करना था। उप-सेना प्रमुखों (Vice Chiefs) को भी स्थायी अध्यक्ष के अन्तर्गत लाया गया। सेना प्रमुखों का कार्यकाल ४ वर्ष निर्धारित किया गया तथा १९७५ में इसे घटाकर ३ वर्ष कर दिया गया। पाकिस्तान के १९७३ के संविधान में पहली बार सेना के कार्यकलाप निर्धारित किए गए। अनुच्छेद २४५ में कहा गया कि सेना का कार्य 'देश को बाहरी आक्रमण अथवा युद्ध के खतरे से बचाना था तथा कानून के अनुसार आवश्यकता पड़ने पर बुलाए जाने पर सिविल कार्यों में सहायता करना था।" संविधान में उच्च देशद्रोह खण्ड भी जोड़ा गया।

इसके बाद भी सेना को १९७२-१९७७ के दौरान कई बार नागरिक प्रशासन में सहायता के लिए बुलाया गया। १९७२ में सिंध के भाषायी दंगों; १९७३ में बलूचिस्तान में राज्य प्रतिरोध दबाने में; डीर में जून, १९७४ में अहमदिया विरोधी दंगों तथा अक्तूबर, १९७६ में फ्रंटीयर प्रान्त में सेना भेजी गई । १९७०-१९७१ तथा १९७५-१९७६ के दौरान रक्षा बजट में ८९ प्रतिशत की वृद्धि हुई। पिछली किसी भी सरकार की तुलना में सेना को अधिक संसाधन आवंटित किए गए। १९७२ में बिना संसदीय आदेश के एफ एस एफ का गठन किया गया तथा अगले वर्ष संसद में अधिनियम द्वारा इसे सरकारी तौर पर लागू किया गया। घरेलू उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए रक्षा मंत्रालय के अन्तर्गत रक्षा उत्पादन प्रभाग स्थापित किया गया। इसके बावजूद सेना में असंतोष था जो सरकार गिराने के लिए सेना तथा वायुसेना अधिकारियों द्वारा रचे गए षडयंत्रा से परिलक्षित होता है।

विपक्षी गठबंधन - पाकिस्तान नैशनल एलाएंस ने एक ही मुद्दे के साथ जन अभियान चला दिया - १९७७ में चुनावों में धांधली के बाद भुट्टो को सत्ता से बाहर खदेड़ना। इससे स्थिति नियंत्राण से बाहर हो गई। इन आंदोलनों के कारण एक बार फिर १९७७ में सेना ने देश की बागडोर जनरल-ज़िया-उल-हक के नेतृत्व में संभाली।

ज़िया का शासनकाल "पूर्णत: सैनिक शासन" था। सेना अधिकारियों को न केवल प्रमुख मंत्रालयों जैसे रक्षा, सूचना, गृह, दूर-संचार, आवास एवं श्रम में अधिकारियों के रूप में नियुक्त किया गया अपितु उनकी नियुक्ति संयुक्त सचिवों के पदों पर भी कर दी गई। उसने स्टाफ समिति के संयुक्त प्रमुखों तथा स्टाफ के तीन सेवा प्रमुखों के अध्यक्ष की अध्यक्षता में सेना परिषद का गठन किया। प्रमुख मार्शल लॉ प्रशासक (Chief Martial Law Administrator) को राष्ट्र का चीफ एग्जीक्यूटिव

बनाया गया। मार्शल लॉ के आदेशों को चुनौती नहीं दी जा सकती थी। अभिज्ञापन के द्वारा उसने संविधान को निरस्त कर दिया, संघीय तथा प्रान्तीय सभाओं को भंग कर दिया, प्रधानमंत्राी तथा अन्य सभी मंत्रियों को बर्खास्त कर दिया गया, प्रान्तों के गवर्नरों को पद्च्युत कर दिया गया और पूरे देश पर मार्शल लॉ लागू कर दिया गया। आरम्भ में कोर्प्स कमांडरों को प्रान्तों का गवर्नर नियुक्त किया गया। यद्यपि लेफ्टिनेंट जनरल मुहम्मद सावर खान को सेना का उप-प्रमख (Vice Chief) नियुक्त किया गया तथा कमांडर ऑफ आर्मी स्टाफ (सी ओ ए एस) प्रमुख के पद पर बने रहने तक सेना के चीफ को अधिकार प्राप्त सभी सुविधाएँ उपलब्ध कराई गईं। वह सेना प्रमुख था परन्तु वरिष्ठता, प्रौन्नतियों तथा नियुक्तियों जैसे मुद्दों पर वह स्वतंत्रा कार्रवाई नहीं कर सकता था। ज़िया इस समय तीन भूमिकाएं निभा रहे थे - सेना प्रमुख, प्रमुख मार्शल लॉ प्रशासक तथा राष्ट्रपति।

देश पांच सैनिक क्षेत्रों में विभक्त था जो पांच अधिकारियों के अधिकार क्षेत्रा में थे। १९८१ में सात सेवानिवृत्त सेना अधिकारी मंत्राी थे। यद्यपि इस वर्ष सिविलकर्मी नौकरशाही को संघीय मंत्रिमंडल में सहयोगी विकल्प के रूप में रखा गया था, तथापि इसकी भागीदारी गौण थी। नागरिक कार्यों में सेना की भागीदारी से यह कमजोर हुई। यह शिकायत बार-बार की गई कि कई अच्छे-अच्छे सेना अधिकारी जो अपने क्षेत्रा में अनुभव प्राप्त कर रहे थे उन्हें सामान्य सेना सेवाओं के अतिरिक्त मार्शल लॉ के प्रशासन की जिम्मेवारियाँ निभाने के लिए स्थानांतरित कर उनके कार्य में व्यवधान डाला गया।

भुट्टो के विरूद्ध होने तथा उसके बाद उन्हें जबरन सत्ता से बाहर खदेड़कर ज़िया ने चुनावों का आश्वासन देकर विपक्ष को कमजोर बनाने का प्रयास किया। जवाबदेही के नाम पर विपक्ष की शक्तियों को धीरे-धीरे कमजोर कर दिया गया। उसने इस्लाम के नियमों का समर्थन किया तथा अध्यक्षीय शासन प्रणाली को तरजीह दी। भुट्टो के पकड़े जाने तथा पाकिस्तान पीपल्स पार्टी के पतन के उपरान्त पाकिस्तान नैशनल एलाएंस का एकजुट रहने का कोई कारण नहीं था। ज़िया के पार्टी रहित चुनाव व्यर्थ सिद्ध हुए जब सरकार के कई समर्थक चुनाव नहीं जीत सके। १९८० के आरम्भ में गठित विपक्ष के गठबंधन ''मूवमेंट फॉर रेस्टोरेशन ऑफ डेमोक्रेसी'' ने इन चुनावों का बहिष्कार किया।

ज़िया ने धर्म को भी वैधता का माध्यम बनाया। ज़िया द्वारा लाया गया पहला परिवर्तन यह था कि प्रत्येक इकाई के मौलवी का दर्जा बढ़ा दिया गया तथा उसके लिए युद्ध में सेना के साथ जाना अनिवार्य कर दिया गया। अत: जब १९७७ में सैनिक तन्त्रा के हाथ पुन: सत्ता हाथ आई तो धार्मिक प्रवृत्ति के जनरलों का इसमें दबदबा था। मार्च, १९८५ में उसने अपनी इस्लामी नीतियों पर जनमत संग्रह भी करवाया और राष्ट्रपति के रूप में उसका अनुमोदन माना गया। जनता ने ''हाँ'' में अपना मत दिया। अन्य जिन कारणों से ज़िया को वैधता मिली उनमें से प्रमुख था १९७९ में अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप, यद्यपि उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रान्त के तत्कालीन गर्वनर जनरल फैजल हक ने दावा किया था कि सोवियत हस्तक्षेप से पहले ही केन्द्रीय जांच एजेन्सी (सी आई ए) अफगानिस्तान में विद्रोहियों का सहयोग दे रही थी।

मई १९८८ में ज़िया ने अक्षमता तथा ''इस्लाम के प्रति अविश्वास'' का आरोप लगाते हुए जुनेजो सरकार को बर्खास्त कर दिया। हालांकि इसका वास्तविक कारण यह था कि जुनेजो सेना तथा सैनिक मामलों में ज़िया की निदेशात्मक भूमिका को कम करना चाहता था। ज़िया ने नई सरकार का गठन किया तथा स्वयं इसका अध्यक्ष बन बैठा। जून में उसने यह घोषणा की कि आज के बाद इस्लामी कानून ही पाकिस्तान के कानून का सर्वोच्च स्रोत होगा तथा कोई भी अन्य नियम जो इस्लामी कानून के अनुरूप नहीं है, उसे खारिज घोषित किया जाएगा। जनरल ज़िया की वायुयान दुर्घटना में असामयिक मृत्यु से देश में १९९९ तक असैनिक शासन की पुनर्स्थापना हो पाई। जनरल मुर्शरफ द्वारा पुन: सैनिक शासन स्थापित करने से पहले चार सरकारें बनीं (बारी-बारी से दो बार बेनजीर भुट्टो की तथा दो बार नवाज़ शरीफ की)।

देश में नई राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना ज़िया के शासन की प्रमुख विशेषता रही। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्राी तथा सेना प्रमुख-ट्रोइका-के बीच जो अधिकारों का तालमेल बैठा उससे आने वाले वर्षों में असैनिक-सैनिक संबंधों की दिशा तय हो सकी।

गुलाम इशाक़ खान जनरल ज़िया-उल-हक की मृत्यु के उपरान्त कार्यवाहक राष्ट्रपति बना। उसके समक्ष असैनिक-सैनिक संबंधों को संतुलित रखने का मुश्किल कार्य था। बुर्की (Burki) के अनुसार, सेना को ताक पर रखने के लिए उसे ''वरिष्ठ अधिकारियों को यह दिखाना था कि नवम्बर, १९८८ में निर्धारित चुनावों के अनिवार्य परिणाम के रूप में औपचारिक लोकतंत्रा की ओर वापसी से सेना के सैद्धान्तिक हितों पर कुठाराघात नहीं होना चाहिए।'' इन हितों में सेना को बजट संसाधनों की बड़ी राशि का आवंटन जारी रखना, परमाणु हथियार विकास कार्यक्रम को सरकार का सहयोग, नजीबुल्ला सरकार के विरूद्ध मुजाहिदीन संघर्ष में पाकिस्तान का निरन्तर शामिल होना तथा भारत के विरूद्ध कठोर रूख अपनाए रखना शामिल थे। बेनजीर भुट्टो को चुनावों में आशा के अनुरूप सफलता नहीं मिली तथा वह २०४ में से ९२ सीटें ही प्राप्त कर सकी।

कार्यवाहक राष्ट्रपति गुलाम इशाक़ खान ने सरकार बनाने के लिए बेनज़ीर को न्यौता देने से पहले कुछ समय लिया तथा उसे तभी न्यौता दिया गया जब वह सैनिक मामलों में हस्तक्षेप न करने, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई एम एफ) तथा विश्व बैंक की सहमति से केयरटेकर सरकार के आर्थिक सुधार कार्यक्रम को जारी रखने तथा जनरल ज़िया की विदेश नीति को जारी रखने की कुछ शर्तों को मान गई।

बेनजीर का कार्यकाल इतना कम था कि उसमें किसी प्रकार की कोई गंभीर फूट नहीं पड़ी। क्लाले (Clougley) के अनुसार, वह अपनी पसन्द का सेना प्रमुख चाहती थी। वह सेना के संयुक्त प्रमुख को इस बहाने से बदलकर लेफ्टिनेंट जनरल अहमद कमाल खान को लाना चाहती थी कि नौसेना प्रमुख बनने की तिथि से कार्यकाल का आरम्भ मानते हुए उसका तीन वर्ष का कार्यकाल अगस्त, १९८९ में पूरा हो गया था। इसी तर्क के आधार पर सेना प्रमुख जनरल असलम बेग स्टाफ समिति के संयुक्त प्रमुख बनते। राष्ट्रपति द्वारा मामले को शानदार ढंग से संभालने के कारण प्रधानमंत्री ने इस प्रकरण में अपने कदम पीछे हटा लिए। ''सिरोही मामला'' गर्मागर्म बहस का मुद्दा हो गया तथा प्रधानमंत्राी व राष्ट्रपति के बीच अधिकारों के वितरण की बात उठी। इससे मुद्दे का समाधान नहीं हुआ बल्कि सेना का यह संदेह और पुख्ता हुआ कि प्रधानमंत्री अपनी नियुक्ति के समय पर हुए समझौते को मानने के लिए तैयार नहीं थीं।

इसी प्रकार से चतुर्थ कोर्प के कमांडर - लेफ्टिनेंट जनरल आलम जन मशूद की सेवा निवृत्ति के उपरान्त सेना के डिप्टी चीफ के रूप में कार्यकाल बढ़ाने में भुट्टो सफल नहीं हुई। तथापि वह इंटर सर्विसिज इंटेलिजेन्स के महानिदेशक, लेफ्टिनेंट जनरल हमीद गुल को जलालाबाद में विफलता के उपरांत हटाने तथा उसके स्थान पर लेफ्टिनेंट जनरल रहमान कालूए को लाने में सफल हो गईं किन्तु बेनज़ीर ऐसा जनरल बेग के दबावों के आगे झुककर तथा हमीद गुल को मुलतान के आर्मर्ड स्ट्राइक कोर्प का अध्यक्ष बनाने के बाद ही कर पाई। बेनजीर को ऐसा लगा कि कमांड में परिवर्तन को वाशिंगटन में सराहा जाएगा क्योंकि एजेन्सी की अफगान नीति की संयुक्त राज्य अमेरिका में कड़ी निन्दा हुई थी। इसके अतिरिक्त वह एजेन्सी की शक्तियों को कमजोर बनाना चाहती थी क्योंकि जनरल ज़िया के पिछले ११ वर्ष के शासन के दौरान वह पूरी तरह से घरेलू राजनीतिक गुप्तचर प्रणाली का हिस्सा बन चुकी थी। उसका मानना था कि वह ऐसा करके ही सेना को राजनीति से बाहर रख पाएगी। सेना तथा राष्ट्रपति को यह परिवर्तन स्वीकार करना पड़ा, भले ही अनिच्छा से ऐसा हुआ हो।

विपक्ष द्वारा अविश्वास प्रस्ताव के द्वारा सरकार गिराने के प्रयास विफल हो गए परन्तु राजनीतिक विकास पर अनिश्चितता के बादल मंडराते रहे। सेना द्वारा सत्ता हथियाने की बार-बार उड़ रही अफवाहों के बावजूद जनरल बेग काफी हद तक लोकतंत्रा के समर्थक रहे। वे जनरल ज़िया के पदचिन्हों पर नहीं चले परन्तु जब राष्ट्रपति ने संविधान के कुत्सित आठवें संशोधन के प्रावधानों के अनुसार यह निर्णय लिया कि भुट्टो को सत्ता छोड़नी होगी तो उसने राष्ट्रपति का समर्थन किया।

उसके बाद अंतरिम प्रधानमंत्राी श्री गुलाम मुस्तफा जटोई की अध्यक्षता में अक्तूबर, १९९० में हुए चुनावों में नवाज शरीफ तथा उसका गठबंधन विजयी हुआ। तथापि वह भी देश में स्थिरता नहीं

ला सका क्योंकि नवाज शरीफ भी बेनजीर की भांति महत्वाकांक्षी था। पी एम एल के अध्यक्ष मुहम्मद खान जुनेजो तथा तत्कालीन सेनाध्यक्ष आसिफ नवाज जनुजो की १९९३ में मृत्यु ने उसे वह अवसर प्रदान कर दिया जिसकी उसे तलाश थी। जनुजो के स्थान पर, कॉन (Cohen) के अनुसार, ''सेवारत कोर्प कमांडरों में से सबसे कम चर्चित चेहरे को लाया गया।'' उसके अनुसार, जनरल अब्दुल वहीद कक्कर के चयन से गुलाम इशाक खान तथा नवाज शरीफ के बीच मतभेद उत्पन्न हो गए। नवाज शरीफ का यह मानना था कि इस प्रकरण पर सेना में कोई विरोध नहीं होगा क्योंकि नया सेनाध्यक्ष अब्दुल वहीद कक्कड़ राजनीति से अधिक जुड़ा नहीं था परन्तु नवाज शरीफ द्वारा स्वयं निर्णय लेने की प्रतिक्रिया स्वरूप राष्ट्रपति को बेनजीर की ही भांति १९९३ में बर्खास्त कर दिया गया।

शरीफ ने बेनजीर तथा मौहम्मद खान जुनेजो की भांति न्यायालय का दरवाजा खटखटाया तथा पूर्व सरकारों के विपरीत उसे पुनर्स्थापित कर दिया गया। हालांकि राष्ट्रपति का रवैया फिर भी असहयोगपूर्ण ही रहा। देश में संवैधानिक संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई जिसे पर्दे के पीछे कार्यशील सेना ने सुलझा लिया जिसके परिणामस्वरूप प्रधानमंत्री तथा राष्ट्रपति दोनों को पद छोड़ना पड़ा। कक्कड़ ने बाद में कहा कि ''मेरे लिए यह एक अभूतपूर्व दृश्य था कि दो समझदार व्यक्ति बच्चों की भांति बर्ताव कर रहे थे। मुझे हस्तक्षेप करना पड़ा। मैंने दोनों को पद छोड़ने के आदेश दे दिए।'' जुलाई, १९९३ में मोइन कुरैशी को फिर से केयरटेकर प्रधानमंत्री बनाया गया जो पांच वर्षों में चौथी केयरटेकर सरकार के प्रधानमंत्री बने। आठ वर्षों में चौथी बार होने वाले अक्तूबर, १९९३ के चुनावों के परिणाम अक्तूबर, १९८८ के परिणामों जैसे ही थे। न तो पी एम एल और न ही पी पी पी को पूर्ण बहुमत मिला। बेनजीर भुट्टो को पांच वर्षों में दूसरी बार प्रधानमंत्री बनाया गया तथा एक नई टीम बनी - बेनज़ीर, फारूक़ लेघारी तथा अब्दुल वहीद।

आशाओं के विपरीत लेघारी (लेघारी पूर्व पी. पी. पी. सदस्य थे) तथा बेनजीर के बीच द्विपक्षीय मतभेद उत्पन्न हो गए। लेघारी ने बेनजीर से परामर्श किए बिना लेफ्टिनेंट जनरल जहांगीर करामत को तत्काल सेनाध्यक्ष नियुक्त कर दिया। सेना को राजनीतिक बजट तथा हथियारों की खरीद (जिसमें घूस लेने के आरोप लगाए गए) पर असंतोष था किन्तु कुल मिलाकर सेना की भूमिका गौण रही। यह स्पष्ट नहीं है कि दिसम्बर, १९९७ में राष्ट्रपति लेघारी के इस्तीफे पर सेना की क्या भूमिका रही। बेनजीर न्यायाधीशों की नियुक्ति, अपने भाई की हत्या तथा भ्रष्टाचार के आरोपों के घेरे में आ गई। अंतिम दो आरोप उसके पति आसिफ ज़रदारी के कारण लगे। इसके परिणामस्वरूप उसे भी पद से बर्खास्त कर दिया गया। एक और केयरटेकर सरकार बनी तथा चुनावों में नवाज शरीफ को पहली बार भारी विजय मिली। राष्ट्रीय सभा में उसे ६६ प्रतिशत तथा प्रान्तीय सभाओं में ४५० सीटों में से ५८ प्रतिशत सीटें मिलीं।

सत्ता की सम्पूर्ण बागडोर अपने हाथ में रखने के प्रयासों के परिणामस्वरूप नवाज़ शरीफ ने संविधान के खंड ५८.२ (ख) को हटा दिया जिसे राष्ट्रपति द्वारा असैनिक सरकारों को बर्खास्त करने के लिए बार-बार उपयोग में लाया जाता था। संविधान के एक अन्य संशोधन में सभाओं के सदस्यों के दल बदलने पर रोक लगी। न्याय पालिका के अधिकारों को कम करने के उसके प्रयासों का तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश सज्जाद अली शाह ने विरोध किया। वह नियुक्तियों का नियंत्राण अपने पास रखकर न्यायपालिका के अधिकारों को कम करना चाहता था। न्यायालय के मुद्दे की भतर्सना के रूप में मुख्य न्यायाधीश ने पलटवार किया। राष्ट्रपति ने प्रधानमंत्री को प्रणाली के अनुसार काम करने का परामर्श देते हुए प्रकरण में हस्तक्षेप करने की कोशिश की तथा मुख्य न्यायाधीश को पद से बर्खास्त करने से इन्कार कर दिया। प्रधानमंत्री ने राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने की धमकी दी। इस संकट का हल राष्ट्रपति लेघारी के त्यागपत्रा तथा मुख्य न्यायाधीश की बर्खास्तगी के बाद ही निकल सका। नया राष्ट्रपति राफ़िक तरार नवाज़ शरीफ का मित्रा था तथा वह सावधानीपूर्वक कार्य करना चाहता था। इस प्रकार से बुर्की के अनुसार, ''पद संभालने के एक वर्ष के भीतर नवाज़ शरीफ ने इतने अधिकार अपने हाथ में ले लिए जितने कि मुहम्मद अली जिन्नाह तथा मोहम्मद अयूब खान ने अपने-अपने समय में प्राप्त किए थे। तीन अधिकारियों के बीच सत्ता का विभाजन होने की अपेक्षा

यह अधिकांशत: प्रधानमंत्री कार्यालय तक संकुचित हो गई थी। इस पृष्ठभूमि के मद्देनजर तत्कालीन सेनाध्यक्ष जनरल करामत ने राजनीतिक अध्यादेश को संस्थागत शक्ति में बदलने तथा संरचनात्मक दृष्टि से वर्गीकृत राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद गठित करने की बात कही जोकि वह सर्वोच्च संस्था होगी जो निर्णय लेने की प्रक्रिया को संस्थागत रूप दे पाएगी। उसके बाद जनरल करामत ने त्यागपत्र दे दिया तथा जनरल परवेज़ मुर्शरफ़ नए सेनाध्यक्ष बने।

एक वर्ष की अवधि में सेनाध्यक्ष के गुप्त रूप से परिवर्तन ने नए घटनाक्रम को जन्म दिया, और वह भी तब जब पदस्थ सेनाध्यक्ष कोलम्बो में थे, तथा सेना ने वह कार्य किया, जिसे पुरानी योजना का नाम दिया गया है। जनरल ज़िया की भांति तथा अयूब और याहया के विपरीत जनरल मुर्शरफ़ ने संविधान को निरस्त नहीं किया है अपितु उसे स्थगित कर ऐसा किया गया है जैसे ''शरीर को बचाने के लिए अंग काटना।'' मार्शल लॉ नहीं लगाया गया है। उसने यह भी घोषणा की कि ''सेना देश की बागडोर तब तक ही संभालेगी जब तक कि पाकिस्तान में वास्तविक लोकतंत्रा का रास्ता साफ नही हो जाता।'' उसकी सुप्रसिद्ध सात सूत्री योजना में बताए गए विभिन्न उद्देश्यों में प्रमुख हैं- अन्तर्प्रान्तीय असद्भाव को दूर करने के लिए कानून एवं व्यवस्थाओं को पुन: स्थापित करने तथा अर्थव्यवस्था को पुनर्जीवित करने के साथ-साथ राज्य संस्थाओं का अराजनीतिकरण करना, सत्ता की निचले स्तर तक पहुंच तथा जवाबदेही सुनिश्चित करना।

कार्यकारी प्रमुख, जनरल परवेज मुर्शरफ़ की अन्तरण योजना जनरल अयूब की मूलभूत लोकतंत्रा योजना की याद दिलाती है। इस योजना के अन्तर्गत सरकारी चुनाव कराए गए हैं। विकास परियोजनाओं को चलाने में स्थानीय जनसंख्या को भागीदार बनाने के लिए ज़िला, तहसील तथा केन्द्रीय परिषद के चुने गए प्रतिनिधियों को अधिकार प्रदान किए गए हैं।

नैशनल अकाउंटेबिल्टी बोर्ड की स्थापना के माध्यम से भ्रष्टाचार कम करने का दावा किया गया है। भ्रष्टाचार के बड़े-बड़े मामलों को अटोक फोर्ट कार्यालय में स्थानांतरित किया गया है जिसे बोर्ड का पुलिस स्टेशन कहा जाता है।

देश में इस वर्ष के अंत में चुनावों के मद्देनजर सैनिक सरकार ने संविधान में कई संशोधनों का सुझाव दिया है जिससे चुने गए प्रधानमंत्री, उसके मंत्रिमंडल तथा संसद को बर्खास्त करने के मामले में राष्ट्रपति के अधिकारों में वृद्धि होगी। राष्ट्रपति को अपनी इच्छा से प्रधानमंत्री नियुक्त करने का भी अधिकार होगा। संसद की अवधि पांच वर्ष से घटाकर ४ वर्ष करने तथा मताधिकार आयु कम करके १८ वर्ष करने की योजना सरकार की है।

सेना के प्रतिनिधियों के वर्चस्व वाली राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद (एन एस सी) के अधिकार चुनी गई संसद से अधिक होंगे। राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद के अध्यक्ष राष्ट्रपति होंगे जबकि प्रधानमंत्री, चार प्रान्तों के मुख्यमंत्री स्टाफ समिति के ज्वायंट चीफ अध्यक्ष, पाकिस्तानी थल सेना, वायुसेना तथा नौसेना के सेनाध्यक्ष तथा विपक्ष के नेता इसके सदस्य होंगे। यद्यपि इसे परामर्शदात्री फोरम कहा गया है तथापि इसका अध्यादेश व्यापक है तथा इसमें राज्य की प्रभुसत्ता, अखंडता और सुरक्षा से जुड़े नीतिगत मामले; संघीय लोकतंत्रा और अभिशासन की संरचनाएँ, प्रणाली तथा स्थिति; संघीय अथवा प्रान्तीय मंत्रिमंडल की बर्खास्तगी; राष्ट्रीय सभा अथवा रियासतों की सभाओं को भंग करना तथा आपातकाल की घोषणा शामिल हैं।

राष्ट्रपति मुशर्रफ़, जिन्होंने विवादास्पद धांधलीपूर्ण जनमत संग्रह के माध्यम से आगे ५ वर्ष की अवधि के लिए स्वयं को पहले ही राष्ट्रपति घोषित कर दिया है, सेनाध्यक्ष के पद पर भी बने रहेंगे। राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद की स्थापना से अक्तूबर में होने वाले चुनावों के उपरान्त देश की नई राजनीतिक व्यवस्था में सेना का दबदबा बने रहने की गंभीर आशंका को बल मिलता है।

बोध प्रश्न २

नोट : अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए खाली स्थान को उपयोग में लाएँ।

अपने उत्तर की जांच अध्याय के अंत में दिए गए उत्तर से करें ।

१) सेना द्वारा सत्ता हथियाने के पीछे कौन-कौन से कारक उत्तरदायी हैं? विभिन्न मतों पर चर्चा कीजिए।

....

....

....

२) विभाजन के उपरान्त पाकिस्तान को मिली सेना की क्या विशेषताएँ थीं ?

....

....

....

३) जनरल अयूब खान तथा जनरल ज़िया-उल-हक के अन्तर्गत सैनिक प्रणालियों की तुलना करते हुए दोनों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

४) १९८९-१९९९ के असैनिक सत्ता अंतराल में सेना की भूमिका की विवेचना कीजिए।

....

....

....

८.५ सारांश

पाकिस्तान का जन्म भारतीय उप-महाद्वीप में से १९४७ में दो राष्ट्रों के सिद्धान्त के आधार पर हुआ और इसका अधिकांश श्रेय राष्ट्रपिता, मोहम्मद अली जिन्नाह को जाता है जिन्हें आमतौर पर कायद-ए-आज़म भी कहा जाता है। विभाजन के उपरान्त सेना दोनों राष्ट्रों-भारत और पाकिस्तान को विभाजित कर सौंपी गई। कई कारणों से देश लोकतांत्रिक शासनतंत्रा के रूप में नहीं उभर सका। संविधान से लेकर संसद तक राजनीतिक संस्थाओं में परिपक्वता नहीं आई तथा मौजूदा व्यवस्था का ह्रास होता चला गया। इस प्रकार उत्पन्न हुई राजनीतिक शून्य की स्थिति में जिस संगठित संस्था ने कदम रखा, वह सेना थी। कहानी का यहाँ अंत नहीं होता, दूसरे शब्दों में, यह कभी न खत्म होने वाली कहानी है क्योंकि तब से लेकर आज तक पाकिस्तान का राजनीतिक इतिहास म्यूज़िकल चेयर का खेल रहा है जिसमें कभी सैनिक तो कभी असैनिक व्यवस्था स्थापित हो जाती है जो हर बार राजनीतिक अस्थायीत्व को बढ़ावा देती है। तथापि, यह कहना असंगत न होगा कि बीच-बीच में भले ही नाममात्रा को लोकतंत्रा की स्थापना होती रही हो, वास्तव में देश की बागडोर सेना के हाथ में ही रही है।

८.६ शब्दावली

दो राष्ट्रों का सिद्धान्त: धर्म राष्ट्रत्व का आधार है। मुस्लिम तथा हिन्दू दो राष्ट्र थे, विभाजन के लिए मुस्लिम लीग ने इसे आधार बनाया।

राजनीतिक शून्य: यह वह स्थिति है जिसमें राजनीतिक व्यवस्था चरमरा जाती है तथा ऐसी कोई अकेली संस्था नहीं होती जो सत्ता संभाल सके।

प्रीटोरियनवाद: सैनिक शासन।

नागरिक-सैनिक संबंध: असैनिक संस्थाओं तथा सेना के मध्य संबंध, विशेषकर दोनों के बीच सत्ता की स्थिति स्पष्ट करने वाले।

इस्लामीकरण: देश के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में इस्लाम के सिद्धान्तों को अपनाना।

८.७ कुछ उपयोगी पुस्तकें

बुर्की, एस जे *पाकिस्तान अंडर भुट्टो, १९७१-७७* (मैकमिलन, लंदन, १९८८)।

कालार्ड कीथ, पाकिस्तान: *ए पोलिटिकल स्टडी (एलेन एंड अनविन, १९५७)।*

क्लॉले ब्रायन, *ए हिस्टरी ऑफ पाकिस्तान आर्मी: वार्स एंड इन्सरेक्शंस*(ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कराची, १९९९)।

कोहेन स्टीफन पी, *द पाकिस्तान आर्मी* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कराची, १९९८ सम्पादक)।

गार्देजी हसन एंड रशीद ज़मील, पाकिस्तान, *द स्टेट्स डिक्टेटरशिप* (जेड प्रेस, जलाल आयशा, द स्टेट ऑफ मार्शल लॉ, (कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, १९९०)।

कुकरेजा, वीना, *सिविल मिलिटरी रिलेशन्स इन पाकिस्तान : पाकिस्तान बंगलादेश एंड इंडिया* (सेज, १९९१)।

रिज़वी हसन अस्करी, *द मिलिटरी एंड पॉलिटिक्स इन पाकिस्तान* (प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, लाहौर, १९८६)।

रिज़वी हसन अस्करी, *द मिलिटरी, स्टेट एंड सोसाइटी इन पाकिस्तान* (मैकमिलन, यू के , २०००)।

शाकत सईद, *सिविल मिलिटरी रिनेशंस इन पाकिस्तान : फ्रॉम जुल्फीकार अली भुट्टो टू बेनजीर भुट्टो* (वेस्टव्यू प्रेस, यू के , १९९७)।

ज़िरिंग लॉरेंस, *पाकिस्तान इन द ट्वैन्टियथ सैंचुरी : ए पोलिटिकल हिस्टरी* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९९९)।

८.८ बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न १

१) अपने उत्तर में इन बिन्दुओं को शामिल करें: (i) विभाजन से उत्पन्न समस्याएँ, (ii) नेतृत्व का पतन, संविधान में विलम्ब और (iii) धर्म की भूमिका।

२) अपने उत्तर में इन बिन्दुओं को शामिल करें: (i) मुस्लिम लीग की स्थिति, (ii) पाकिस्तान की माँग, और (iii) संस्था की प्रकृति व पतन।

बोध प्रश्न २

१) अपने उत्तर में इन बिन्दुओं को शामिल करें: (i) विकासशील समाजों में प्रीटोरियनवाद, (ii) हटिंगटन, लुशियन पाई इत्यादि के मत, और (iii) पाकिस्तान के संबंध में उनकी तर्कसंगतता।

२) अपने उत्तर में इन बिन्दुओं को शामिल करें: (i) ब्रिटिश भारत में मुस्लिम रेजीमेंटों की कमी, (ii) संजातीय संरचना में पंजाब के लोगों का वर्चस्व, और (iii) सुप्रशिक्षित, संगठित, असैनिक कार्यों में भी भूमिका।

३) अपने उत्तर में इन बिन्दुओं को शामिल करें: (i) मूल लोकतंत्रवादियों तथा सिविल सेवाकर्मियों पर अयूब की निर्भरता, (ii) इस्लामीकरण, संविधान, आई एस आई पर ज़िया की निर्भरता, और (iii) बाहरी कारकों की भिन्न-भिन्न भूमिका।

४) अपने उत्तर में इन बिन्दुओं को शामिल करें: (i) बेनजीर द्वारा सत्ता संभालना और सेना का नियंत्राण, मतभेद, (ii) नवाज़ शरीफ़ का प्रधानमंत्री बनना और सेना के साथ संबंध, और (iii) दूसरे चरणों में दोनों के मध्य अस्थायी संतुलन, विफलताएँ।

इकाई ९ बांग्लादेश में राजनीतिक संरचना एवं प्रक्रियाएँ

इकाई की रूपरेखा

९.० उद्देश्य
९.१ प्रस्तावना
९.२ १९७२ का संविधान
९.३ संविधान की प्राथमिकता एवं नागरिक प्रशासन
९.४ प्रीटोरियन हस्तक्षेप
९.५ सैनिक शासन का ''नागरिकीकरण''
९.६ प्रीटोरियनवाद तथा जनतांत्रिक चुनौतियों की पुनरावृत्ति
९.७ लोकतंत्रा की पुनर्स्थापना
९.८ नौकरशाही
९.९ सेना
९.१० सारांश
९.११ कुछ उपयोगी पुस्तकें
९.१२ बोध प्रश्नों के उत्तर

९.० उद्देश्य

इस इकाई में औपचारिक तथा अनौपचारिक राजनीतिक संरचना और संस्थाओं पर ध्यान केन्द्रित करते हुए बंग्लादेश में राजनीतिक विकास की चर्चा की गई है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- बांग्लादेश की राजनीति के प्रमुख लक्षणों की पहचान कर पाएँगे;
- देश के राजनीतिक इतिहास की पहचान कर पाएंगे;
- सैनिक शासन के दौरान राजनीति में हुए परिवर्तनों की पहचान कर पाएंगे;
- बांग्लादेश की राजनीतिक प्रणाली में सेना तथा नौकरशाही की भूमिका; और
- बांग्लादेश में लोकतंत्रा की पुनर्स्थापना का विवेचन कर पाएँगे।

९.१ प्रस्तावना

बांग्लादेश दक्षिणी एशिया का सबसे बाद में बना राष्ट्र है स्वतंत्रा राष्ट्र के रूप में इसका जन्म राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के परिणामस्वरूप हुआ। यह राष्ट्रीय आंदोलन १९४८ में केवल उर्दू को राजभाषा के रूप में थोपने के विरोध से आरम्भ हुआ था। धीरे-धीरे इस आदोलन ने पाकिस्तानी शासकों द्वारा लोगों के आर्थिक शोषण के विरूद्ध राष्ट्रीय संघर्ष का रूप ले लिया। आवामी लीग ने, इस राष्ट्रीय आंदोलन की शुरूआत की जिसने १९६६ में छह सूत्राी कार्यक्रम अपनाया जिसमें बांग्लादेश के लिए स्वायतता की मांग की गई थी। जब पाकिस्तान ने १९७० के चुनावों के अंतिम निर्णय का सम्मान नहीं किया तो आवामी लीग के पास पूर्ण स्वतंत्राता प्राप्ति के लिए स्वतंत्राता आंदोलन को आगे बढ़ाने के सिवाय कोई विकल्प नहीं था। इसके

परिणामस्वरूप १९७१ में बांग्लादेश स्वतंत्रा हुआ।

बांग्लादेश के संविधान में संसदीय सरकार की परिकल्पना की गई तथा लोकतंत्रा, समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रवाद के सिद्धांत नए राष्ट्र के आधार बनाए गए। इन सिद्धांतों से लोगों की चिरस्थायी मांगें परिलक्षित हुईं तथा इसी कारण संविधान को व्यापक राजनीतिक मान्यता मिली जब हम बांग्लादेश के राजनीतिक विकास पर चर्चा करेंगे, हम पाएंगे कि बाद के सभी अलोकतांत्रिक शासनों में इन सिद्धांतों की अवमानना ही नहीं की गई जन आंदोलनों के माध यम से इस तरह की चेष्टाओं को समाप्त किया गया। आप यह पाएंगे कि अधिकांशत: बांग्लादेश की राजनीति लोकतांत्रिक तथा अलोकतांत्रिक शक्तियों के बीच संघर्ष के इर्द-गिर्द घूमती रही है। दूसरे शब्दों में, राजनीति अनिवार्य रूप से जनतांत्रिकरण की राजनीति रही है न कि स्थिर लोकतांत्रिक देश की सामान्य प्रतिस्पर्धात्मक राजनीति।

९.२ १९७२ का संविधान

४ नवम्बर, १९७२ को बांग्लादेश द्वारा अपनाए गए संविधान में १५३ धाराएँ थीं जिन्हें ११ भागों में विभक्त किया गया था। ४ सूचियों को १६ दिसम्बर, १९७२ से लागू कर दिया गया। इससे स्वतंत्राता के लिए लम्बे संघर्ष की लोकतांत्रिक सशक्त इच्छाएँ अभिव्यक्त होती हैं तथा इसके अंतर्गत भारतीय प्रणाली के समान अंकुश तथा संतुलन बनाए रखते हुए मानव अधिकारों तथा राजनीतिक स्वतंत्राता की गारंटी दी गई है ।

जातीय संसद (संसद) द्वारा राष्ट्रपति का चुनाव किया जाता है। राष्ट्रपति का कार्यकाल ५ वर्ष का होता है तथा उसे महाभियोग के माध्यम से इस पद से हटाया भी जा सकता है। वह नाममात्रा का अध्यक्ष होता है जबकि प्रधानमंत्राी गणतंत्रा की कार्यकारी शक्तियों को उपयोग में ला सकता है। राष्ट्रपति को प्रधानमंत्राी के परामर्श के अनुसार कार्य करना होता है।

संविधान का प्रमुख उद्देश्य संसद की श्रेष्ठता था एक सदन वाली जातीय संसद-जिसमें ३३० सदस्य होते हैं जिनमें से ३०० का चयन वयस्क मताधिकार से होता है जबकि शेष ३० सदस्यों का चयन ३०० चयनित सदस्यों द्वारा किया जाता है।

न्यायिक शक्तियाँ सर्वोच्च न्यायालय को दी गईं तथा इसकी स्वतंत्रता सुनिश्चित करने के लिए न्यायाधीशों का निर्धारित कार्यकाल रखा गया तथा महाभियोग की प्रक्रिया जटिल बनाई गई।

जैसाकि हम देखेंगे कि इस संविधान को अपनाने के बाद से बंग्लादेश में अकस्मात राजनीतिक परिवर्तन आए। प्रथम लोकप्रिय शासन सत्तावादी शासन हो गया था जिसके स्थान पर फौजी-सत्ताधारी शासन तथा बहुदलीय लोकतांत्रिक शासन का उदय हुआ। इन परिवर्तनों के कारण संविधान का प्रलंबन हुआ तथा संविधान की प्रत्येक धारा में संशोधन हुए। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि नए राष्ट्र के गठन के पहले दो दशकों के दौरान के सत्तावादी तथा सैन्य शासन ने संविधान में प्रमुख प्रशासनिक परिवर्तन किए तथा इस मूल कागजात में वैधानिक संशोध ान लाकर इन परिवर्तनों को वैधानिक रूप देने की चेष्टा की।

९.३ संविधान की प्राथमिकता एवं नागरिक शासन

१९७१ में सत्ता में आने के बाद से आवामी लीग ने लोकतांत्रिक संविधान के गठन की पहल की परन्तु वह लोकतांत्रिक संस्थानों को सुदृढ़ बनाने में विफल रही। १९७३ के पहले राष्ट्रीय विधानमंडल चुनावों में दल को ३१५ में से ३०७ सीटें मिलीं। स्वतंत्राता के लिए चले अतिविनाशकारी संघर्ष के बाद नई सरकार के पुनर्निर्माण तथा पुनर्वास की व्यापक समस्या थी। नई सरकार के बहुत कम लोगों को शासन चलाने का अनुभव प्राप्त था। मुजीब कुछ समय

के लिए मंत्री रह चुके थे परन्तु वे नई परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को ढाल न सके। उन्होंने सिविल सेवा के कई वरिष्ठ अधिकारियों की सेवाओं का यह कहकर लाभ नहीं उठाया कि उन्होंने स्वतंत्राता संघर्ष में आने से पहले अपने पदों को नहीं छोड़ा था। कई लोगों को राजनीतिक प्रत्ययकारिता के आधार पर महत्वपूर्ण पद दे दिए गए जिसके परिणामस्वरूप अभिशासन में अनिपुणता तथा भ्रष्टाचार का प्रार्दुभाव हुआ। अर्थव्यवस्था स्वतंत्राता पूर्व के स्तर पर दोबारा नहीं आ सकी। आवामी लीग के भीतर उपजी गुटबंदी से न केवल पार्टी को नुकसान हुआ अपितु इसका प्रभाव प्रशासन और सेना पर भी पड़ा। विपक्षी दल कमजोर तथा विभक्त थे, जिनकी भूमिका प्रेस तथा आम जनता ने निभाई। लगातार हड़ताल और अन्य प्रदर्शन हुआ करते थे जिनसे कानून और व्यवस्था बिगड़ती चली गई।

इस अवस्था के प्रत्युत्तर में मुजीब ने दिसम्बर, १९७४ में आपातकाल घोषित कर दिया तथा लोगों के सभी अधिकार और स्वतंत्राता समाप्त कर दी। राजनीतिक कार्यकलापों पर कड़े प्रतिबंध ा लगाए गए। एक महीने बाद मुजीब ने संविधान में चौथा संशोधन किया और गंणतंत्रा के राष्ट्रपति बन गए। इस संशोधन के बाद सरकार का रूप बहुदलीय संसदीय प्रणाली से बदलकर एक दलीय राष्ट्रपति प्रणाली का हो गया। इस परिवर्तन से सारे विधायी और कार्यपालिका के अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त हो गए। इस संशोधन ने राष्ट्रपति को देश में एक दलीय व्यवस्था लागू करने का अधिकार भी दे दिया। इसके तुरन्त बाद मुजीब ने एकल राष्ट्रीय दल के गठन की घोषणा कर दी जिसे बंग्लादेश कृषक श्रमिक आवामी लीग अर्थात! 'बकसाल' का नाम दिया गया। यह काडर पर आधारित दल था परन्तु राज्य के नौकरशाह, तकनीकीविद, सैनिक, अर्द्ध-सैनिक तथा पुलिसकर्मी इसकी सदस्यता ग्रहण कर सकते थे। बंग्लादेश कृषक श्रमिक आवामी लीग के संविधान में दल के साथ सामान्य जन अर्थात् श्रमिकों, कृषकों, युवाओ, छात्रों, महिला राष्ट्रीय लीग के जुड़ने का प्रावधान था जिन्हें पार्टी के कार्यक्रमों के अनुरूप चलना था ।

पार्टी ज़्यादा दिनों तक नहीं चल पाई क्योंकि यह पार्टी कार्य करने में सक्षम पार्टी का रूप न ले सकी। इसका नेतृत्व और सदस्यता अन्य घटक अव्यवस्थित थीं जिनमे पृथक-पृथक विचारध ाारा के लोग थे जिसके कारण अभिशासन में स्थिरता तथा निपुणता आने की अपेक्षा केवल कुप्रशासन और भ्रष्टाचार को ही बढ़ावा मिला। जमींदारों, नौकरशाहों, मध्यम वर्गीय लोगों सहित विभिन्न वर्ग के लोगों को नई प्रणाली में अपने हितों पर कुठाराघात लगा। इन सब कारणों से १९७५ में राज्य परिवर्तन की प्रक्रिया को सफलतापूर्वक आरंभ किया गया।

बोध प्रश्न १

टिप्पणी: i) नीचे दिए गए स्थान को अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर का इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलान करें।

१) सन् १९७२ के संविधान में निर्धारित राज्य के मूल नीति सिद्धांतों की विवेचना करें। क्या वे नीति सिद्धान्त वैध थे?

....

....

....

२) संविधान में चतुर्थ संशोधन की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

....

....

....

९.४ प्रीटोरियन हस्तक्षेप

पाकिस्तान के इतिहास तथा स्वतंत्राता प्राप्ति के लिए युद्ध का एक उल्लेखनीय पहलू रहा है - सेना का राजनीतिकरण। सेना में मुजीब के करिश्माई प्रभाव में कमी, सत्ताधारी राजनीतिक दल में गुटबाजी तथा विपक्षी दलों की कमजोरी के अवसर का लाभ उठाते हुए देश में तख्ता पलट कर दिया गया। अगस्त, १९७५ में बांग्लादेश की सेना के कुछ अधिकारियों द्वारा रचे गए षडयंत्रा से मुजीब की हत्या कर दी गई। इन अधिकारियों ने मंत्रिमंडल में अगले वरिष्ठ व्यक्ति खोण्डकर मुश्ताक अहमद को राष्ट्रपति बना दिया। जाने-माने अनुदारवादी मुश्ताक ने उन रूढ़िवादी तथा दक्षिणपंथी तत्वों को प्रमुख स्थान दिया जिन्होंने मुजीब की धर्मनिरपेक्षवादी, जनतांत्रिक तथा समाजवादी विचारधारा का विरोध किया था।

सेना में राजनीतिकरण तथा गुटबाजी नवम्बर, १९७५ में उभर कर सामने आई। विभिन्न दलों के वफादार सैनिकों द्वारा तख्तापलट के प्रयासों से मुश्ताक को पदच्युत कर दिया गया। मुख्य न्यायाधीश सईम देश के राष्ट्रपति तथा प्रमुख प्रशासक बने। मेजर जनरल जियाउर्रहमान सामरिक प्रशासन के प्रमुख प्रशासक बने। ''जिया'' के नाम से लोकप्रिय, जनरल जियाउर्रहमान स्वतंत्राता संग्राम के नायक थे। शीघ्र ही वे सत्ताधारी दल के प्रमुख सदस्य बन गए। नवम्बर, १९७६ में उन्होंने सैनिक शासन प्रशासक के रूप में न्यायाधीय सईम का स्थान ले लिया तथा बाद में राष्ट्रपति पद भी प्राप्त कर लिया। जिया ने जनमतसंग्रह करवाया ताकि अपने पदासीन होने को वैध ठहराया जा सके। इस जनमत संग्रह के दौरान जिया ने बांग्लादेश में आर्थिक तथा सामाजिक रूप से जान फूंकने के लिए १९ सूत्री कार्यक्रम का प्रस्ताव रखा। इस कार्यक्रम में अन्य बातों के साथ-साथ बंगाली राष्ट्रवाद की अपेक्षा बांग्लादेशी राष्ट्रवाद पर बल दिया गया था। इसमें राष्ट्रीय जीवन के आधार के रूप में इस्लाम की पुष्टि भी की गई थी।

सैनिक शासन के दौरान मुजीब के शासनकाल की कई नीतियों को बदलने के प्रयास किए गए। बांग्लादेश की स्वतंत्राता का विरोध करने वाली तथा पाकिस्तान की सैनिक कार्रवाई का समर्थन करने वाली राजनीतिक शक्तियों को छूट दी गई। स्वतंत्राता प्राप्ति के बाद जिन सेवानिवृत्त सैनिक कर्मियों तथा पाकिस्तानी सिविल सेवाओं में प्रशिक्षित विवादास्पद सिविल नौकरशाहों को हाशिये पर रख दिया गया था, उन्हें प्रशासन में महत्वपूर्ण पद सौंपे गए। जिया के लिए चेतावनी बनने वाले सभी तत्वों को सेना से निकाल दिया गया। सैनिक शासन के दौरान कई आर्थिक नीतियों को भी बदल दिया गया। उदाहरण के तौर पर सरकार द्वारा सम्पत्ति के अधिग्रहण के लिए मुआवज़े का भुगतान अनिवार्य कर दिया गया। तदन्तर विराष्ट्रीयकरण तथा विदेशी निजी पूंजी इत्यादि सहित निवेश में छूट देने से संबंधित कदम उठाए गए।

१९७७ के बाद के महीनों में सैनिक तख्ता पलट के कई प्रयास किए गए। अत: जनरल जिया ने बांग्लादेश के आर्थिक, राजनीतिक समाज में लोकप्रिय वैधता लाने की आवश्यकता महसूस की। राष्ट्रपति के लिए चुनाव अभियान की तैयारी करने के लिए जिया ने अपनी एक पार्टी ''जागोदल'' गठित की जिसमें १९ सूत्री कार्यक्रम को अपनाया गया। जून, १९७८ में राष्ट्रपति पद के लिए हुए चुनावों में जिया को मुस्लिम लीग के सहयोगी दल, जतियातीवादी फ्रंट, अब्दुल हमीद खान मशानी की राष्ट्रीय आवामी पार्टी के वामपंथी गुट यूनाइटिड पीप्लस पार्टी तथा अनुसूचित जाति संघ का समर्थन प्राप्त हुआ परन्तु जनरल एम ए जी ओस्मानी ने उनका विरोध किया जिसके नाम का बाद में जल्दी-जल्दी में बनाए गए चुनावी गठबंधन, गणतांत्रिक ओइक्यो जोट (जी आ जी) ने प्रस्ताव किया। इस गठबंधन ने आवामी लीग, राष्ट्रीय पार्टी

(मुज्जफ्फर), नेशनल पार्टी ऑफ द पीपल ऑफ बांग्लादेश तथा कई अन्य वामपंथी तथा लोकतांत्रिाक पार्टियाँ शामिल थीं। चुनावी अभियान में जे एफ ने जिया द्वारा चलाई गई राष्ट्रपति सरकार का समर्थन किया तथा आवामी लीग- बांग्लादेश कृषक श्रमिक (ए एल -बकसल) के कुशासन की ओर ध्यान दिलाया। दूसरी ओर गणतांत्रिाक आईक्यो जोट ने संसदीय लोकतंत्रा को पुन:स्थापित करने के मुद्दे पर ध्यान केन्द्रित किया। जियाउर्रहमान चुनाव जीत गए और उन्हें ७६ प्रतिशत वोट मिले। यहाँ यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि जनरल ने तब तक सैनिक शासन को समाप्त नहीं किया था तथा यह तब भी चल रहा था।

९.५ सैनिक शासन का ''नागरिकीकरण''

अधिकाँश सैनिक शासक जानते हैं कि सैनिक शासन को हमेशा के लिए जारी रखना संभव नहीं है अत: वे सैनिक सर्वप्रभुतासम्पन्न शासन को लोकतंत्रा का नागरिक जामा पहनाने का प्रयास करते हैं। पाकिस्तान में जनरल अयूब ने संविधान की घोषणा की थी और तथाकथित नेशनल असेम्बली (राष्ट्रीय सभा) के लिए अप्रत्यक्ष चुनाव कराए। जनरल ज़िया-उल-हक ने भी ऐसा ही किया। सितम्बर, १९७८ में जनरल ज़िया ने बांग्लादेश नेशनलिस्ट पार्टी (बी एन पी) नाम से अपनी पार्टी बनाई इसमें जागो दल तथा अन्य पार्टियों से अलग हुए गुटों के लोग शामिल थे। इसी बीच आवामी लीग में विभाजन हो गया जो पहले से ही राजनीतिक संकट से जूझ रही थी। नवम्बर, १९७८ में ज़िया ने जनवरी १९७९ में संसदीय चुनाव कराने तथा चुनाव के बाद सैनिक शासन निरस्त करने की घोषणा की परन्तु विपक्षी दलों ने सैनिक शासन तत्काल समाप्त करने की मांग की। ज़िया को सैनिक शासन की सख्ती में ढील देनी पड़ी। विपक्ष की मांगों के आगे झुकते हुए उसने संविधान में कुछ संशोधनों की भी घोषणा की जिसमें संसद के अधिकारों में वृद्धि भी शामिल है।

व्यापक रूप से जन हित चुनावी मुद्दा नहीं था। चुनाव अभियान का प्रमुख मुद्दा या तो ज़िया शासन को जारी रखना था या फिर इसे हटाना था। इसमें बी एन पी ने आवामी लीग के कमजोर पहलुओं पर अधिक बल दिया तथा लोगों को चेतावनी दी कि यदि ए एल -बकसाल सत्ता में वापिस आते हैं तो उन्हें इसके परिणाम भुगतने पड़ेंगे। आवामी लीग तथा अन्य विपक्षी दलों ने ज़िया के सैनिक शासन की ओर लोगों का ध्यान दिलाया तथा संसदीय लोकतंत्रा की बहाली के लिए प्रचार किया। बी एन पी ने आवामी लीग तथा इसके करीबी दलों की वामपंथी विचारधारा की तुलना में अपनी दक्षिण पंथी विचारधारा पर बल दिया। स्पष्टतया बी एन पी के चुनावी अभियान का प्रमुख लक्ष्य था- अतिरिक्त किसान वर्ग व उभरता हुआ मध यम तथा शहरी सफेदपोश वर्ग, जो ए एल -बकसाल के शासन में अपने भविष्य के बारे में चिंतित था।

स्वतंत्राता के बाद हुए दूसरे चुनावों मे बी एन पी को शानदार सफलता मिली तथा उसे ३०० में से २०७ सीटें मिलीं। आवामी लीग केवल ३९ सीटों पर विजयी रही हालांकि इसे लोकप्रिय वोटों का २५.४ प्रतिशत मिला। बी एन पी की सफलता से सैनिक शासक की अध्यक्षता वाले राजनीतिक शासन को बल मिला। ज़िया ने अगस्त, १९७५ के सैनिक शासन के बाद से चुने गए या बिना चुने गए शासकों के कानूनों तथा कार्यों की क्षतिपूर्ति संविधान के पांचवे संशोधन के रूप में की। इसके बाद उसने सैनिक शासन समाप्त कर बंग्लादेश की राजनीति में ''नागरिकीकरण'' की प्रक्रिया को पूरा किया।

ज़िया की बी एन पी ने चुनाव जीता था तथा उसके माध्यम से वैधता भी प्राप्त कर ली थी परन्तु पार्टी सैद्धान्तिक रूप से एकजुट नहीं थी। इसमें विविध सैद्धान्तिक तथा राजनीतिक विचारधारा के लोग थे। जिया पूरी तरह से पार्टी पर छाए हुए थे। उन्होंने व्यवहार कुशल ढंग से असैनिक राजनीतिक विरोधियों तथा सेना के भीतर के विरोधियों का दमन किया किन्तु उसके

राजनीतिक कैरियर का अचानक मई, १९८१ में अंत हो गया जब उसकी एक सैनिक शासन परिवर्तन में हत्या कर दी गई।

जियाउर्रहमान ने कृषि के क्षेत्रा की समस्याओं को सुलझाने के लिए कुछ अच्छे कदम उठाए थे। उसके शासन काल में, मौसम की कुछ अच्छी परिस्थितियों के कारण तथा कुछ व्यापक विदेशी सहायता प्राप्ति के कारण, उल्लेखनीय आर्थिक विकास हुआ। उसने कुछ हद तक लोकतांत्रिक प्रक्रिया बहाल की तथापि उनके द्वारा स्थापित लोकतांत्रिक मुखौटे का अस्थायीपन तथा कमजोर पहलू उसकी हत्या के बाद उभर कर सामने आए।

बोध प्रश्न २

टिप्पणी: i) नीचे दिए गए स्थान को अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें ।

ii) अपने उत्तर का इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलान करें।

१) बांग्लादेश की राजनीति में सैनिक हस्तक्षेप के लिए कौन से कारक उत्तरदायी थे?

....

....

....

....

२) जनमत संग्रह कराए जाने से पहले जियाउर्रहमान ने अपनी स्थिति कैसे मजबूत की?

....

....

....

....

९.६ प्रीटोरियनवाद तथा जनतांत्रिक चुनौतियों की पुनरावृत्ति

जिया की मृत्यु के बाद उप-राष्ट्रपति अब्दुल सत्तार कार्यवाहक राष्ट्रपति बने। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव १८० दिनों के भीतर कराए जाने थे। अब्दुल सत्तार ने मुस्लिम लीग, जमायत-ए-इस्लामी तथा अन्य कई समूहों के सहयोग से चुनाव मे जीत हासिल की। सत्तार द्वारा बनाई गई सरकार में पहली बार वे लोग शामिल हुए जिनमें से किसी ने स्वतंत्राता आंदोलन में भाग नहीं लिया था। आरम्भ में सत्तार को सेना, राज्य मशीनरी तथा प्रेस का समर्थन मिला परन्तु शीघ्र ही यह बुजुर्ग व्यक्ति अप्रभावी नेता के रूप में सामने आया जिसके इर्द-गिर्द भ्रष्ट तथा अक्षम मंत्राी थे। इसके अतिरिक्त, सेना ने देश के अभिशासन में अपने लिए संवैधानिक भूमिका की मांग की। बांग्लादेश सेना के अध्यक्ष, जनरल एच एम इरशाद ने राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद स्थापित करने की मांग की जो राष्ट्रीय स्तर पर निर्णय लेने की प्रक्रिया में सेना को भागीदार बना सके परन्तु राष्ट्रपति सत्तार ने यह मांग ठुकरा दी। बी एन पी के भीतर की कलह तथा विभिन्न राजनीतिक पार्टियों के बीच के गहरे मतभेदों के कारण सरकार की कमजोरी का आभास होने पर जनरल इरशाद ने मार्च, १९८२ में तख्ता पटल कर राष्ट्रपति सत्तार तथा उसकी सरकार को निरस्त कर दिया।

जनरल एच एम इरशाद के सत्ता संभालने के बाद बांग्लादेश ऐसे राजनीतिक मोड़ पर वापिस

आ खड़ा हुआ जिसे जनरल जिया के धीमे उदारीकरण के कारण छोड़ना पड़ा था। संविधान स्थगित कर दिया गया, सैनिक शासन की घोषणा की गई, संसद को भंग कर दिया गया तथा पार्टियों पर प्रतिबंध लगा दिए गए। जनरल इरशाद ने सभी कार्यकारी तथा वैधानिक अधिकार अपने पास रखे। नई सरकार को कन्सलटेटिव काउंसिल का नाम दिया गया जिसमें सेना के कार्यरत तथा सेवानिवृत्त अधिकारी और बिना किसी पार्टी से जुड़े वरिष्ठ नौकरशाह शामिल थे।

आरम्भ में जनरल इरशाद ने देश के सम्मुख आने वाली समस्याओं के समाधान में नरम रवैया अपनाया परन्तु बाद मे उन्होंने भ्रष्टाचार के विरूद्ध कठोर अभियान शुरू कर दिया। कई भूतपूर्व मंत्रियों को कारावास की सजा सुनाई गई तथापि, अधिकांश को आंशिक रूप से सजा पूरी होने के बाद छोड़ दिया गया। उस समय यह आरोप लगाया गया कि ये केवल लोकप्रियता हासिल करने के हथकंडे थे। यह बात भली भांति उजागर थी कि कई सेना अधिकारी भ्रष्टाचार में बुरी तरह लिप्त थे।

ऐसे में छात्रों, व्यावसायिकों तथा बुद्धिजीवियों के बड़े समूह में सैनिक शासन के विरूद्ध आक्रोश और बढ़ गया तथा यह प्रभावी रूप से उभर कर सामने आने लगा। राजनीतिक दल, जो अब तक बंटे हुए थे, धीरे-धीरे इकट्ठा होकर एकजुट होने लगे ताकि लोगों को सैनिक सरकार के विरूद्ध तैयार किया जा सके। इससे पक्ष-विपक्ष की राजनीति का पैटर्न बनने लगा जो १९९० के शुरू तक देश के सार्वजनिक जीवन पर छाया रहा। यह एक विरोधाभास रहा कि स्कूलों में अंग्रेजी तथा अरबी अनिवार्य विषय बनाने की सरकार की इस्लाम नीति की योजना के कारण इरशाद सरकार के विरूद्ध प्रथम व्यापक प्रदर्शन, विशेषकर विश्वविद्यालय छात्रों द्वारा किए गए। छात्रा आंदोलन से विपक्ष एकजुट होकर संयोजित हो गया।

सरकार का विरोध करने वाले विपक्षी दलों के प्रमुख गठबंधन में १५ पार्टियां शामिल थीं (कम्युनिष्ट पार्टी ऑफ बांग्लादेश, नेशनल आवामी पार्टी, जातीय समाजतांत्रिक दल, वर्कर्स पार्टी, समाजवादी दल इत्यादि)। इस गठबंधन की अध्यक्ष स्वर्गीय शेख-मुजीबउर्रहमान की सुपुत्री हसीना वाज़ेद थीं। दलों का एक और गठबंधन बना जिसकी अध्यक्ष बी एन पी के भूतपूर्व राष्ट्रपति जियाउर्रहमान की पत्नी थीं। इसमें बी एन पी के अतिरिक्त कई दक्षिणपंथी तथा कट्टरपंथी दल शामिल थे। इन दो प्रमुख गठबंधनों के बीच गहरा अविश्वास था परन्तु इससे ३२ दल वाला मोर्चा तैयार हुआ जिसमें समाजवादी, साम्यवादी तथा इस्लामिक दल शामिल थे जिन्होंने लोकतंत्रा की बहाली के लिए आंदोलन चलाया। इस आंदोलन में पांच सूत्राी कार्यक्रम अपनाया गया जिसमें सैनिक शासन की समाप्ति, मौलिक अधिकारों की बहाली, संसदीय चुनाव कराने, राजनीतिक कैदियों को छोड़ने तथा फरवरी, १९८३ में छात्रों पर किए गए पुलिस अत्याचार के लिए उत्तरदायी लोगों पर महाभियोग चलाने की मांग की गई।

अगले कुछ वर्षों में राजनीतिक घटनाक्रम इरशाद सरकार द्वारा राजनीतिक विपक्ष के सहयोग से सैनिक तानाशाही से नागरिक सरकार बनने के प्रयासों के इर्द-गिर्द घूमते रहे। दिसम्बर, १९८३ में इरशाद ने राष्ट्रपति पद ग्रहण कर लिया। इसके बाद निचले स्तर पर अपने शासन की पकड़ मजबूत बनाने के लिए उसने स्थानीय निकायों के चुनाव कराए। सरकार ने विपक्ष के आंदोलन को और उनके नेताओं तथा कार्यकर्त्ताओं को गिरफ्तार कर दबाने की भी कोशिश की। ६ अप्रैल, १९८५ के दिन अगले नए संसदीय चुनाव करवाने की घोषणा की गई। आगामी चुनावों के मद्देनजर सैनिक शासन में राजनीतिक कैदियों को छोड़ने, सैनिक न्यायालयों को भंग करने इत्यादि मुद्दों के रूप में कुछ हद तक छूट दी गई परन्तु सैनिक शासन वापस लेने की प्रमुख राजनीतिक मांग स्वीकृत नहीं की गई जिसके कारण दोनों विपक्षी मोर्चों ने चुनावों का बहिष्कार करने का फैसला किया। इसके प्रत्युत्तर में इरशाद ने १ मार्च, १९८५ से सैनिक शासन पूरी कठोरता से लागू कर दिया। हसीना वाज़िद तथा खालिदा जिया दोनों को गिरतार कर लिया गया।

१९८५ में इरशाद ने विपक्षी दलों की भागीदारी के बिना ''नागरिकीकरण'' की प्रक्रिया जारी रखी। सरकार के लिए सहयोग जुटाने हेतु जनमत संग्रह आयोजित कराया गया। जनमत संग्रह में विपक्ष के भाग न लेने से इरशाद को ९४ प्रतिशत वोट (कुल डाले गए वोटों का प्रतिशत) मिले। मई में इरशाद ने स्थानीय निकायों के लिए उप-जिला चुनाव कराए जिसमें ४० प्रतिशत मत डाले गए। चुनाव के दौरान अप्रत्याशित हिंसा का दौरा चलता रहा तथा इरशाद की जातीय पार्टी को १५१ सीटों पर विजय हासिल हुई।

मार्च, १९८६ में जब इरशाद ने सैनिक शासन के कुछ प्रतिबंधों में ढील दी तो आवामी लीग तथा सात अन्य छोटी पार्टियाँ संसदीय चुनावों में भाग लेने के लिए सहमत हो गईं। बी एन पी ने मई, १९८६ के चुनावों का बहिष्कार किया। चुनावों के दौरान व्यापक स्तर पर धांधलेबाजी हुई जिससे इरशाद प्रायोजित जातीय पार्टी को संसद में १५३ सीटें मिलने के साथ ही स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो गया। महिलाओं के लिए आरक्षित सभी ३० सीटों पर जातीय पार्टी के समर्थकों की विजय हुई जिससे इरशाद के समर्थकों को साधारण बहुमत मिल गया। संसद पर नियंत्राण करने के बाद इरशाद ने राष्ट्रपति चुनावों की प्रक्रिया आरम्भ कर दी। अगस्त, १९८६ में उसने सेनाध्यक्ष (चीफ ऑफ आर्मी स्टाफ) के पद से इस्तीफा दे दिया यद्यपि वह सेना का कमांडर-इन-चीफ बना रहा। सितम्बर में वह औपचारिक रूप से जातीय पार्टी में शामिल हो गया तथा इसका अध्यक्ष बन गया। विपक्ष ने इरशाद के शासन की वास्तविकता उजागर करने का भरसक प्रयास किया तथा नवम्बर, १९८६ के राष्ट्रपति चुनावों का भी बहिष्कार किया। इस चुनाव में इरशाद ने राष्ट्रपति पद के ११ अन्य उम्मीदवारों को शिकस्त दी तथा उसे ८४ प्रतिशत मत प्राप्त हुए।

नागरिक सरकार तथा सैनिक संगठन पर पूर्ण नियंत्राण प्राप्त करने के बाद इरशाद संविधान में सातवाँ संशोधन कराने में सफल रहा जिसके तहत मार्शल लॉ प्रशासन के पुराने सभी कार्यों में संशोधन लाया गया। पिछले चार वर्षों के अपने शासन को वैधता प्रदान करते हुए इरशाद ने सैनिक शासन समाप्त कर संविधान की पुनर्स्थापना की। विपक्षी दल एकजुट होकर इरशाद को सत्ता से बाहर करने में विफल रहे क्योंकि वे परस्पर प्रतियोगी उद्देश्यों को लेकर चल रहे थे। खालिदा ज़िया १९८२ तक हुए संशोधनों सहित संविधान को लागू करने के पक्ष में थी जबकि हसीना १९७२ के पूर्व संविधान को लागू करवाना चाहती थी ।

१९८७ में दो विपक्षी गठबंधनों में सहयोग का नया दौर आरम्भ हुआ। सैनिक कार्मिकों के परिवार गैर-मतदाता सदस्य के रूप में परिषद के कार्यकलापों में हिस्सा लेने के लिए इरशाद की जिला परिषद संशोधन बिल लाने की योजना तथा भारी बाढ़ से प्रभावित लोगों की समस्याएँ दूर करने में सरकार की नाकामयाबी के कारण विपक्षी दल एकजुट हो गए जिसके परिणामस्वरूप पैदा हुए राजनीतिक संकट के कारण इरशाद को संसद भंग करनी पड़ी तथा मौलिक अधिकार समाप्त करने पड़े। फरवरी, १९८८ में स्थानीय निकायों के चुनाव हुए। अगले माह हुए संसदीय चुनावों में इरशाद की पार्टी को स्पष्ट बहुमत मिला। जून, १९८८ में संविधान में आठवें संशोधन के माध्यम से इरशाद ने इस्लाम को राज्य धर्म घोषित कर दिया, साथ ही अन्य धर्मों के अनुयायियों को अपना-अपना धर्म अपनाए रखने की भी छूट दी गई ।

इसी बीच इरशाद की सर्वप्रभुसम्पन्नता के विरूद्ध लोकतंत्रा की पुन:स्थापना का आंदोलन छात्रों से आरम्भ हुआ। विरोध प्रदर्शन के दौरान छात्रा हिंसा पर उतर आए। राष्ट्रपति इरशाद ने नए संसदीय चुनावों पर बातचीत करने के लिए विपक्षी दलों को बुलाया। ऑल पार्टी स्टूडेंड्स यूनिटी (ए पी एस यू) ने विपक्षी नेताओं को यह संयुक्त वक्तव्य देने के लिए तैयार किया कि वे इरशाद के तत्वाधान में होने वाले किसी भी चुनाव में तब तक हिस्सा नहीं लेंगे जब तक कि अंतरिम केयरटेकर सरकार को चलाने के लिए विपक्षी गठबंधनों को स्वीकार्य उप-राष्ट्रपति नियुक्त नहीं किया जाता तथा पुनर्गठित चुनाव आयोग की निगरानी में तीन महीने के अंदर संसद के निष्पक्ष चुनाव नहीं कराए जाते।

बोध प्रश्न ३

टिप्पणी: i) नीचे दिए गए स्थान को अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर का इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलान करें।

१) सेना की भूमिका के मुद्दे पर राष्ट्रपति सत्तार तथा जनरल इरशाद के बीच विचारों में क्या अन्तर थे ?

....

....

....

....

२) इरशाद द्वारा बातचीत के लिए विपक्षी दलों को दिए गए निमन्त्राण के प्रत्युत्तर में उन्होंने अपनी क्या पांच मांगें रखीं?

....

....

....

३) राष्ट्रपति इरशाद द्वारा बातचीत के लिए दिए गए निमन्त्राण के उत्तर में विपक्षी नेताओं ने संयुक्त वक्तव्य क्यों दिया?

....

....

....

९.७ लोकतंत्र की पुनर्स्थापना

सरकार की दमनकारी नीतियों के कारण इरशाद शासन के विरूद्ध विपक्षी दलों का विरोध प्रदर्शन और तीव्र हो गया। विपक्षी दलों ने २८ नवम्बर, १९९० को पिछले दिन हुई ३ प्रदर्शनकारियों की हत्या के विरोध में ढाका तथा पूरे देश में सुबह से शाम तक की हड़ताल की घोषणा कर दी। सरकारी कर्मचारी भी हड़ताल में शामिल हुए तथा इरशाद के इस्तीफे की मांग की। इरशाद ने भी एमरजेंसी तथा प्रेस-सेंसरशिप की घोषणा कर दी। उसने बातचीत के लिए दस सूत्राी प्रस्ताव की भी घोषणा की परन्तु विपक्ष ने इसे शुरू से ही ठुकरा दिया जिसके कारण जनरल इरशाद को इस्तीफा देना पड़ा तथा राष्ट्र विधान सभा चुनावों की घोषणा भी करनी पड़ी। उसने मुख्य न्यायाधीश, जिसे पहले उप-राष्ट्रपति पद की शपथ दिलाई गई थी, को सत्ता सौंप दी। १९ नवम्बर, १९९० के समझौते के अनुसार उप-राष्ट्रपति (कार्यकारी राष्ट्रपति) को पुनर्स्थापित प्रभुसत्ता सम्पन्न संसद को सत्ता सौंपनी थी परन्तु बी एन पी नेता तथा प्रध ाानमंत्राी पद की दावेदार खालिदा ज़िया ने कहा कि केवल सत्रासीन संसद ही प्रणालीबद्ध परिवर्तन ला सकती है। इसके लिए औपचारिक रूप से बी एन पी के संविधान में भी संशोध ान लाने की आवश्यकता थी जोकि राष्ट्रपति प्रणाली के पक्ष में थी। १९९१ में हुए आम चुनावों में बेगम खालिदा ज़िया विजयी रहीं।

खालिदा ज़िया की सरकार को विपक्ष के समेकित तथा प्रभावी अभियान, आवामी लीग तथा पूर्व सैनिक तानाशाह जनरल इरशाद के जातीय दल द्वारा समर्थित प्रदर्शनों और हड़तालों तथा

जमायत-ए-इस्लामी के मुस्लिम रूढ़िवाद के बढ़ते हुए प्रभाव का निरन्तर सामना करना पड़ा। १९९५ के बाद के महीनों में बढ़ती हुई राजनीतिक अस्थिरता के कारण खालिदा ज़िया ने फरवरी, १९९६ में आम चुनावों कराने की घोषणा कर दी। चुनावी प्रक्रिया के पर्यविक्षण के लिए निष्पक्ष प्रशासन उपलब्ध कराने में सरकार की नाकामयाबी के कारण आवामी लीग की नेता, शेख हसीना सहित सभी विपक्षी दलों ने बड़ी भर्त्सना की। आवामी लीग तथा अन्य दलों ने चुनावों का सफल बहिष्कार किया जिससे इनकी वैधता कम हो गई क्योंकि अधिक से अधिक केवल १० प्रतिशत मतदाताओं ने वोट डाला। ज़िया राष्ट्रपति बनी रहीं परन्तु इसका देश के निकट भविष्य पर कोई अधिक अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा। पाकिस्तान के साथ १९७६ में सामान्य हुए संबंध वैसे ही चल रहे थे परन्तु भारत और बर्मा के साथ सीमा विवाद बढ़े, विशेषकर बर्मा के साथ संबंध कटु हो गए।

बी एन पी द्वारा उप-चुनावों में भ्रष्टाचार तथा धांधलेबाजी के विरोध में विपक्षी दलों ने संयुक्त रूप से सभा के पिछले दो वर्षों के दौरान (१९९४-१९९६) विधानसभा (राष्ट्रीय संसद) का बहिष्कार किया। खालिदा ज़िया ने विपक्षी दलों की परवाह नहीं की तथा उनकी भागीदारी के बिना देश पर शासन किया जिसके परिणामस्वरूप प्रशासन में राजनीतिक असंतोष की भावना भड़क उठी और प्रशासन को सुचारू रूप से नहीं चलाया जा सका। दबाव के कारण खालिदा ज़िया को नए चुनाव कराने के लिए निष्पक्ष सरकार की नियुक्ति के लिए सहमति देनी पड़ी। इस प्रकार के आयोजन के लिए संविधान में संशोधन लाया गया तथा जून, १९९६ में चुनाव कराए गए। इस बार आवामी लीग को १४७ सीटें मिलीं। जातीय पार्टी (३१ सीटें) तथा जमायत-ए-इस्लामी (३ सीटें) के सहयोग से शेख हसीना की सरकार बनी तथापि चुनाव से पूर्व बी एन पी पर लगे भ्रष्टाचार के आरोपों के बाजवूद खालिदा ज़िया की बी एन पी राष्ट्र विधानसभा में ११६ सीटों पर जीत हासिल करने में कामयाब रही।

यद्यपि १९९६ के चुनाव निष्पक्ष तरीके से कराए गए थे, बी एन पी ने आवामी लीग द्वारा चुनाव में धांधलेबाजी का आरोप लगाकर विरोध जताया। हसीना वाजेद के कार्यकाल के दौरान प्रमुख विपक्षी दल बी एन पी द्वारा अक्सर संसद का बहिष्कार किया गया तथा बी एन पी के नेतृत्व में कई प्रदर्शन तथा हड़तालें हुईं। अन्य शिकायतों के साथ-साथ विपक्ष ने यह भी आरोप लगाया कि पुलिस तथा आवामी लीग के कार्यकर्ता विपक्षी कार्यकर्ताओं को परेशान कर रहे हैं तथा जेल भिजवा रहे हैं। १९९९ के आरंभ में चार पार्टियों द्वारा बनाए गए गठबंधन ने संसदीय उप-चुनावों तथा स्थानीय सरकार के चुनावों का बहिष्कार किया। जुलाई २००१ में आवामी लीग की सरकार ने संसदीय चुनावों की अध्यक्षता करने के लिए केयरटेकर सरकार बनाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। अक्तूबर २००१ के चुनावों से पहले केयरटेकर सरकार १९९० के दशक के दौरान सामान्य बन चुकी राजनीतिक हिंसा का हल ढूंढने में कामयाब रही ।

२००१ के चुनावों में आवामी लीग ने अत्यधिक आत्मविश्वास के साथ अकेले चुनाव लड़ने का फैसला किया। इसने पहले ही अपने कुछ नेताओं जैसे कादर सिद्दीकी से संबंध समाप्त कर लिये थे, साथ ही उसने वामपंथी दलों को अपने साथ जोड़ने के कोई प्रयास नहीं किए। जमायत-ए-इस्लामी जैसे तथा अन्य रूढ़िवादी दलों ने आवामी लीग सरकार के विरूद्ध जमकर प्रचार किया। चार पार्टियों के गठबंधन के साथ लोगों का अध्यादेश प्राप्त करने के लिए चुनाव में उतरी खालिदा ज़िया को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। उनकी पार्टी को १८२ सीटों के साथ स्पष्ट बहुमत मिला जबकि सहयोगी दलों के साथ मिलकर उनकी कुल सीटें २०१ हो गईं। आवामी लीग को केवल ६२ सीटें मिलीं जो आवामी लीग का तब तक का सबसे खराब प्रदर्शन था।

२००१ के चुनावों के परिणामों को स्वीकार न करते हुए आवामी लीग ने सरकार के विरूद्ध राष्ट्रीय विरोध कार्यक्रम चलाने का आह्वान किया तथा आठवीं संसद के तत्काल बहिष्कार की घोषणा कर दी। बी एन पी की अध्यक्ष खालिदा ज़िया ने १० अक्तूबर २००१ को बंगलादेश के ११वें प्रधानमंत्री के रूप में पद की शपथ ली। आठवीं संसद के पहले दो सत्रों का बहिष्कार

करने के बाद आवामी लीग ने घोषणा की कि वह शैडो मंत्रिमंडल का गठन करेगी तथा उसने २४ जून, २००२ को संसद का बहिष्कार समाप्त कर राष्ट्रीय बजट की संसदीय चर्चा में हिस्सा लिया।

बोध प्रश्न ४

टिप्पणी: i) नीचे दिए गए स्थान को अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर का इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलान करें।

१) जनरल इरशाद को सत्ता क्यों छोड़नी पड़ी तथा सत्ता के अधिकार किसे प्रदान किए गए?

....

....

....

२) २००१ के संसदीय चुनावों में आवामी लीग की पराजय के क्या कारण थे?

....

....

....

९.८ नौकरशाही

जब बांग्लादेश स्वतंत्रा हुआ तो नए राष्ट्र में कार्यभार संभालने वाले सिविल सेवा के सदस्य अपने साथ भारतीय सिविल सेवा की परम्परा तथा प्रशासनिक सक्षमता भी लाए। समाज के अन्य संस्थानों की तुलना में अधिक विकसित होने के कारण नौकरशाही सामाजिक-राजनीतिक प्रणाली के कण-कण में समा गई। बांग्लादेश सिविल सेवा राष्ट्र के सबसे प्रभावी नागरिक समूह के रूप में उभर कर सामने आई।

आरम्भिक वर्षों में राजनीतिक गलियारों में नौकरशाही को शंका की दृष्टि से देखा गया। देशभर में सिविल सेवा अधिकारियों पर लोकतंत्रा के मार्ग में बाधा डालने तथा सैनिक शासन में अपनी सहयोगपूर्ण भूमिका सहित स्वतंत्राता से पूर्व देश पर आई मुसीबतों का आरोप लगाते हुए उन पर प्रतिबंध लगा दिए गए। आवामी लीग ने तो नौकरशाही के किसी विशेष दल या यहाँ तक कि व्यक्ति को सरेआम फटकार लगाई ताकि उन्हें जनता के सामने नीचा दिखाया जा सके। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय विकास के महत्वपूर्ण चरण के दौरान व्यावसायिक अधिकारियों की सेवाएँ पूर्ण रूप से नहीं ली जा सकीं।

सैनिक शासन के ऊपर सार्वजनिक प्रशासन को दिशा देने का दायित्व था। १९७७ में संरक्षण पर आधारित नियुक्ति प्रणाली में परिवर्तन लाकर योग्यता तथा समानता पर बल दिया गया। नियुक्ति की खुली प्रतियोगी प्रणाली से योग्य युवा नौकरशाही में शामिल हुए। ज़िया ने सिविल सेवा अधिकारियों को विकास संबंधी प्रशासन के सिद्धांतों और प्रक्रियाओं से अवगत कराने के लिए नई प्रशिक्षण परिकल्पनाएँ भी आरम्भ कीं।

इरशाद के शासनकाल में देश की नौकरशाही व्यवस्था में परिवर्तन लाए गए, विशेषकर विकेन्द्रीकरण तथा विकास पर बल दिया गया। पुराने उच्च वर्ग के पास इकट्ठी हो गई शक्तियों को कम करने तथा समृद्ध, शहरी परिवारों के उम्मीदवारों को प्राथमिकता दिए जाने संबंधी

पक्षपातपूर्ण रवैये में कमी लाने के लिए नियुक्ति प्रणाली में संशोधन लाए गए परन्तु इन परिवर्तनों को नौकरशाही का सैनिकीकरण करने तथा गांव के स्तर पर सेना की स्थिति मजबूत करने के प्रयासों के रूप में देखा गया ।

सामान्य रूप से विभिन्न राजनीतिक शासन कालों के दौरान सुधारों के लिए उठाए गए कदम अपर्याप्त तथा संकीर्ण प्रकृति के थे। प्रशासनिक प्रणाली के आधारभूत ढांचे पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

९.९ सेना

भारत तथा पाकिस्तान की सेना अंग्रेजों की देन है जबकि बांग्लादेश राइफल्स सहित बांग्लादेश सेना १९७१ के बाद ही आस्तित्व में आई। राष्ट्र की स्थापना के समय की परिस्थितियों के कारण यह राजनीतिक रूप में उभर कर सामने आई। आरम्भ में अधिकांश सैनिक पाकिस्तान सेना के देश प्रत्यावर्तित बंगाली कार्मिक तथा मुक्तिवाहिनी के स्वतंत्राता आंदोलन में भाग ले चुके कार्यकर्ता थे।

कुछ समय के लिए सेना के उच्च अधिकारी वे थे जो फील्ड मार्शल अयूब खान के शासनकाल में पाकिस्तानी सेना में अधिकारी थे। उनमें से अधिकांश मूलत: शहरी वर्ग के थे जबकि सेना के अधिकांश सैनिक निर्धन तथा आर्थिक रूप से पिछड़े हुए ग्रामीण क्षेत्रों से थे। सेना की इस प्रकार की सामाजिक-आर्थिक संरचना के कारण इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि पाकिस्तान में सैनिक शासन की आदेशात्मक प्रणाली के आदी हो चुके सेना के उच्च अधिकारी सैनिक शासन से खुश थे जबकि सैनिक वर्ग इस्लामी रूढ़िवादियों के प्रभाव में था जिनकी पिछड़े ग्रामीण इलाकों में पैठ थी। अत: सेना अपने राजनीतिक कार्यकाल के दौरान आम जनता में अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए अधिकांशत: इस्लामी रूढ़िवादी नेताओं पर निर्भर थी।

पाकिस्तान सेना की तरह बांग्लादेश सेना स्वयं को देश को एकजुट रखने में सबसे बड़ी शक्ति मानती है, राजनीतिक दलों की अभिशासन क्षमता पर उसे संदेह है तथा उसकी अपने लिए संवैधानिक भूमिका की मांग है।

९.१० सारांश

इस इकाई में देश के राजनीतिक ढांचे को प्रभावित करने वाले कारकों तथा शक्तियों पर प्रकाश डालते हुए हमनें बांग्लादेश के राजनीतिक विकास का अध्ययन किया है। हमने पढ़ा कि शेख मुजीबउर्रहमान के जनवादी शासन के दौरान बांग्लादेश के शासनतंत्रा के लोकतांत्रिाक ढांचे में गहरी खामियाँ तथा मतभेद उभर कर सामने आए जिससे मौलिक अधिकारों में कटौती की गई और देश एकल पार्टी प्रणाली पर आधारित राष्ट्रपति शासन की ओर अग्रसर हुआ। यकायक हुए आधारभूत परिवर्तनों के परिणामस्वरूप १९७५ में पहला सैनिक तख्तापलट हुआ। शासन परिवर्तनों, प्रतिपक्षीय शासन परिवर्तनों तथा हत्याओं का सिलसिला १९९० के दशक तक चलता रहा। प्रणाली के लोकतंत्रीकरण के बहाने देश के दो सैनिक शासकों जनरल ज़ियाउर्रहमान तथा एच एम इरशाद ने संविधान में मामूली परिवर्तन किए परन्तु ये केवल सतही परिवर्तन थे तथा इनसे प्रणाली के लोकतंत्रीकरण में कोई सहायता नहीं मिली। लोगों के विरोध के कारण अंत में १९९० के दशक के आरम्भिक वर्षों में लोकतंत्रा तथा संसदीय संस्थानों की बहाली हुई और तब से लेकर आज तक बांग्लादेश नेशनल पार्टी तथा आवामी लीग बांग्लादेश के राजनीतिक परिदृश्य पर छाई हुई हैं।

बांग्लादेश की राजनीतिक संस्कृति की प्रमख विशेषता राजनीतिक सक्रियतावाद का उच्च स्तर रहा है। यद्यपि इससे लोकतंत्रा की स्थापना हुई है तथापि इससे गुटबंदी को भी बढ़ावा मिला है जिसके कारण सशक्त विपक्ष नहीं बन पाया है। बांग्लादेश एक नवनिर्मित देश है जिसमें लोकतंत्रा की स्थापना का मार्ग प्रमुख राजनीतिक पार्टियों में परस्पर विरोधों के कारण संकुचित रहा है जिसके परिणामस्वरूप निरन्तर संसदीय बहिष्कार, सड़कों पर प्रदर्शन तथा हड़तालें हुई।

९.११ कुछ उपयोगी पुस्तकें

अहमद माडदूद, १९८३: *बांग्लादेश: इरा ऑफ शेख मुजीबउर्रहमान* (ढाका)

अहमद, इमाजुद्दीन; १९८०: *ब्यूरोक्रेटिक इलीट्स इन सेगमेंटिड इकोनोमिकल ग्रोथ: पाकिस्तान एंड बांग्लादेश;* (ढाका)

इस्लाम, नुरूल; १९७९: *डिवैलपिंग प्लैनिंग इन बांग्लादेश: ए स्टडी इन पोलिटिकल इकोनोमी;* (ढाका)

जहान, रौनक; १९८०: *बांग्लादेश पोलिटिक्स - प्रोब्लम्स एंड इशूज;* (ढाका)

तालुकदार, मनीरूज्जमान; १९८८: *द बांग्लादेश रेवोल्यूशन एंड इट्स आफ्टरमाथ;* (ढाका)

राय, जे के ; १९९२: *एन अनसरटेन बिगिनिंग : परस्पैक्टिव ओन पार्लियामेंटरी डेमोक्रेसी* इन *बांग्लादेश;* (ढाका)

९.१२ बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न १

१) मूलभूत सिद्धांत राष्ट्रवाद, समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता तथा लोकतंत्रा हैं। इन सिद्धांतों में लोगों की चिरकालिक लोकप्रिय मांगें परिलक्षित होती हैं, अत: इन्हें सशक्त राजनीतिक वैधता मिली।

२) संविधान के चौथे संशोधन में संसदीय प्रणाली का स्थान राष्ट्रपति प्रणाली ने ले लिया। इससे काडर पर आधारित एकल पार्टी प्रणाली का मार्ग प्रशस्त हुआ।

बोध प्रश्न २

१) एक ओर राजनीतिक दलों में गुटबंदी के कारण कमजोर हुई लोकतांत्रिक शक्तियों तथा दूसरी ओर स्वतंत्राता संघर्ष की प्रमुख विशेषता, सेना के राजनीतिकरण के कारण बांग्लादेश की राजनीति में पहली बार सैनिक हस्तक्षेप हुआ।

२) ज़ियाउर्रहमान ने अप्रैल, १९७७ में न्यायाधीश सईम से राष्ट्रपति पद लेकर अपनी स्थिति मजबूत की। सेना से प्रतिकूल तत्वों को हटा दिया गया, धर्मनिरपेक्षता तथा समाजवाद से बचने के लिए संवैधानिक संशोधन किए गए, पाकिस्तान के समर्थक नौकरशाहों को महत्वपूर्ण पद दिए गए इत्यादि।

बोध प्रश्न ३

१) राष्ट्रपति सत्तार ने सेना को देश के अभिशासन में कोई भूमिका देने से इन्कार कर दिया, जबकि जनरल इरशाद सेना के लिए संविधान द्वारा सुनिश्चित स्तर दिए जाने के इच्छुक थे।

२) मार्शल लॉ हटाना, मौलिक अधिकारों की स्थापना, अन्य सभी चुनावों से पहले संसदीय चुनाव कराना, सभी राजनीतिक कैदियों को छोड़ना तथा १९८३ के चुनावों में ढाका विश्वविद्यालय के छात्रों की मृत्यु के लिए जिम्मेदार लोगों पर महाभियोग।

इकाई 10 बांग्लादेश की अर्थव्यवस्था एवं समाज

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 जनसंख्या

10.3 समाज

    10.3.1 धर्म

    10.3.2 जातीयता

10.4 अर्थव्यवस्था

    10.4.1 आर्थिक नीति एवं नियोजन

    10.4.2 बाह्य निर्भरता

    10.4.3 उदारीकरण एवं विदेशी प्रत्यक्ष निवेश

    10.4.4 पर्यावरणीय चुनौतियाँ

10.5 अभिशासन में संकट-स्थिति

10.6 सारांश

10.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई में दक्षिण एशिया के सबसे छोटे देश बांग्लादेश के समाज तथा अर्थव्यवथा की प्रमुख विशेषताओं तथा देश के सम्मुख आने वाली कुछ समस्याओं और मुद्दों पर चर्चा की जाएगी। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- बांग्लादेश की जनसांख्यिकीय, भाषायी तथा जातीय विशेषताओं का विवेचन कर पाएंगे;
- बांग्लादेश के सम्मुख जातीय समस्याओं के प्रमुख मुद्दों की पहचान कर पाएंगे;
- नए राष्ट्र बांग्लादेश की आर्थिक विशेषताओं तथा समस्याओं का विवेचन कर पाएंगे;
- आर्थिक नियोजन की आवश्यकता तथा प्रभाव की जानकारी रख पाएंगे; और
- अभिशासन के संकट पर टिप्पणी कर पाएंगे।

10.1 प्रस्तावना

बांग्लादेश दक्षिणी एशिया का नवीनतम देश है। इसे पहले पूर्वी पाकिस्तान के नाम से जाना जाता था तथा यह पाकिस्तान की उन पांच रियासतों में से था जिनके बीच में 1600 कि० मी० का भारतीय क्षेत्र था। सन् 1971 के स्वतंत्रता संग्राम के बाद बांग्लादेश एक स्वतंत्र राष्ट्र बना।

क्षेत्रफल की दृष्टि से बांग्लादेश दक्षिण एशिया का तीसरा बड़ा देश है तथा इसका क्षेत्रफल 148,393 वर्ग कि० मी० है। इसकी तीन सीमाओं की ओर भारत के पश्चिम बंगाल, मेघालय, असम तथा त्रिपुरा हैं जबकि दक्षिण-पश्चिम में बर्मा है। दक्षिण में यह बंगाल की खाड़ी तक फैला है

जिसके कारण यह गहरे समुद्र से जुड़ा है। बांग्लादेश की अधिकांश भूमि विश्व की दो प्रमुख नदियों, गंगा (बांग्लादेश में पद्मा के नाम से जानी जाती है) तथा ब्रह्मपुत्र (जिसे बांग्लादेश में जमुना के नाम से जाना जाता है) की जलोढ़ मिट्टियों से बनी है। ब्रह्मपुत्र नदी तिब्बत के उत्तरी ढलान वाले क्षेत्रों से निकलती है जबकि गंगा का उद्गम हिमालय पर्वत श्रेणी की दक्षिणी दिशा में है। इन दोनों नदियों में असम की पहाड़ियों से निकलने वाली मेघना नदी आकर मिलती है। बांग्लादेश के अधिकांश क्षेत्र से गुजरने वाली यह जलधारा लोगों तथा माल के लिए जल यातायात का बहुत बड़ा नेटवर्क है। ये नदी प्रणालियां, बांग्लादेश के लोगों के लिए वरदान और अभिशाप दोनों हैं। ये नदियाँ वर्षा ऋतु के दौरान बाढ़ आने के साथ उपजाऊ मिट्टी बहाकर लाती है साथ ही अधिक जल की आवश्यकता वाली प्रमुख फसलों जैसे चावल और पटसन के लिए पर्याप्त जल उपलब्ध कराती हैं किन्तु बाढ़ से फसलों को पर्याप्त हानि भी होती है। एक सामान्य वर्ष में भूमि के 1/10 हिस्से में भंयकर बाढ़ आती है जबकि कम से कम आधा क्षेत्र कम या अधिक जलमग्न हो जाता है।

10.2 जनसंख्या

बांग्लादेश की जनसंख्या लगभग 13 करोड़ है तथा इस दृष्टि से यह दक्षिण एशिया का दूसरा बड़ा देश है। जनसंख्या का घनत्व विश्व के उच्चतम में से एक है हालांकि यह पूरे देश में समरूप नहीं है। दक्षिण एशिया क्षेत्र के अन्य देशों की तरह इसके सर्वाधिक विकसित क्षेत्र ही सर्वाधिक जनसंख्या घनत्व वाले क्षेत्र हैं। उदाहरण के तौर पर ढाका तथा चिट्टगोंग में जनसंख्या घनत्व 4000 व्यक्ति प्रति वर्गमील है, जबकि ऊबड़-खाबड़ एवं अल्पविकसित हाने के कारण चिट्टगोंग पहाड़ी क्षेत्र की जनसंख्या बहुत कम है। देश की 80 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है। बांग्लादेश में शहरीकरण की दर धीमी रही है हालांकि देश की राजधानी तथा संस्कृति के प्रमुख केन्द्र, ढाका और प्रमुख समुद्री बंदरगाह एवं औद्योगिक केन्द्र, चिट्टगोंग में जनसंख्या वृद्धि की दर उच्च रही है। अधिक शहरी जनसंख्या वाले प्रमुख शहर हैं: नारायणगंज, खुलना, बरीसाल, सैदपुर, राजशाही, मैमेनसिंह तथा कोमिला।

बांग्लादेश में जनसंख्या वृद्धि की दर निश्चित रूप से अधिक है। अनुमानों के अनुसार स्वतन्त्रता के समय यह वृद्धि दर लगभग 3 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी जबकि आज यह 2 प्रतिशत प्रतिवर्ष से थोड़ी अधिक है। इस दर से जनसंख्या में वृद्धि के कारण बांग्लादेश जनसंख्या वृद्धि तथा निर्धनता के दुश्चक्र में जकड़ा हुआ है। लोगों के जीवन स्तर में तभी सुधार हो सकता है जबकि जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण हो। यहाँ तक कि देश में राजनीतिक स्थिरता भी संसाधनों की प्राप्ति तथा संसाधनों की उपलब्धता के बीच अंतर पर निर्भर करती है। इसी के मद्देनजर सरकार ने लोगों को छोटे परिवार रखने के लिए प्रोत्साहित करने वाली नीतियाँ तैयार की हैं। संयुक्त राष्ट्र सहित विदेशी तथा अंतरराष्ट्रीय संस्थाएँ परिवार नियोजन के तरीकों को लोकप्रिय बनाने में योगदान दे रही हैं परन्तु देश में बाल मृत्यु दर उच्च होने तथा बच्चों को सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध कराने के कारण छोटे परिवार की परिकल्पना अधिक व्यावहारिक नहीं बन पाई है।

10.3 समाज

यद्यपि बांग्लादेश नवगठित राष्ट्र है तथापि इस क्षेत्र का इतिहास पुराना है। इस क्षेत्र पर कई भारतीय शासकों का राज्य रहा। 13वीं शताब्दी में इस क्षेत्र पर इस्लाम का प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन काल में यह क्षेत्र बंगाल के भीतरी क्षेत्र का पूर्वी हिस्सा था तथा इस पर ब्रिटिश शासकों और हिन्दू व्यावसायिकों, वाणिज्यिक और भूमिहर उच्च वर्ग का आधिपत्य था। पाकिस्तान के गठन के बाद देश के पूर्वी क्षेत्र के रूप में इस पर पाकिस्तान के पश्चिमी क्षेत्र के गैर बंगाली उच्च मुस्लिम वर्ग का आधिपत्य रहा। स्वतंत्र राष्ट्र बनने के बाद इसमें नए सामाजिक क्रम का प्रार्दुभाव हुआ।

बांग्लादेश में बांग्ला भाषी लोग सर्वाधिक संख्या में हैं तथापि यह एक भाषी देश नहीं है। देश की 98 प्रतिशत जनसंख्या की भाषा बंग्ला है जबकि चिट्टगोंग पहाड़ी क्षेत्र में ऐसे लोगों की संख्या अधिक है जो असमी, बर्मी भाषा घरानों से उत्पन्न भाषा बोलते हैं। यद्यपि इन भाषाओं को जनजातीय भाषाएँ कहा गया है तथापि इनमें से कई भाषाओं की समृद्ध साहित्यिक परम्परा है। राजशाही, दीनापुर तथा मैमेनसिंह के कुछ लोग आस्ट्रिक घराने की भाषा बोलते हैं तथापि बांग्लादेश के सभी नागरिक बांग्ला समझ तथा बोल सकते हैं।

10.3.1 धर्म

बांग्लादेश विश्व का सबसे बड़ा मुस्लिम देश है तथा इसकी जनसंख्या के 85 प्रतिशत से अधिक लोग इस्लाम के अनुयायी हैं। यहां हिन्दू कुल जनसंख्या का 12 प्रतिशत, बौद्ध 1.2 प्रतिशत तथा ईसाई 0.01 प्रतिशत हैं। इस प्रकार से बांग्लादेश बहुधर्मी राज्य है। चिट्टगोंग पहाड़ी क्षेत्र को छोड़कर जहाँ बौद्ध अधिक संख्या में रहते हैं, देश के सभी भागों में मुस्लिम आबादी अधिक है। हिन्दू सभी क्षेत्रों में मौजूद हैं हालांकि वे अधिक संख्या में खुलना क्षेत्र के कुछ हिस्से में हैं।

इस्लाम रहस्यवाद की सूफी परम्परा ने, विशेषकर बंगाल क्षेत्र में, इस्लाम के प्रचार तथा इसे अपनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। सूफी परम्परा प्रमुख रूप से एक लोकप्रिय आन्दोलन रहा है जिसमें अल्लाह से डर की अपेक्षा इसमें अल्लाह के प्रति प्रेम पर बल दिया गया है। इसमें अल्लाह के प्रति कर्मकाण्ड तथा आडम्बर युक्त भक्ति के स्थान पर प्रत्यक्ष, सरल तथा निजी आस्था को अहमियत दी गई है। सूफी परम्परा की प्रमुख मान्यता है कि सत्य की खोज में एक साधारण व्यक्ति आध्यात्मिक गुरूओं की सहायता से आगे बढ़ सकता है। ये गुरू अल्लाह के बाशिंदे या संत होते हैं जिन्हें आमतौर पर फ़कीर या पीर कहा जाता है।

सन् 1980 के दशक के अंतिम वर्षों में बांग्लादेश में सूफी संघ के अंतर्गत कदीरी, नक्शबंदी तथा चिश्ती संघ सर्वाधिक लोकप्रिय थे। पहले दो संघों की मान्यताएँ तथा धर्माचरण बहुत कुछ रूढ़िवादी इस्लाम जैसा है जबकि अजमेर, भारत में स्थापित तीसरे संघ की विशेषताएँ इस महाद्वीप की विशेषताओं के अनुरूप हैं तथा इसकी रूढ़ि विरोधी मान्यताओं के अंतर्गत उपासना पद्धति में संगीत का उपयोग है। संगीतज्ञ तथा कवि भी इसके पदाधिकारी हैं। पीर एकमत से इसके पदाधिकारी नहीं बनाए जाते तथा सामान्यतया वे समुदाय का प्रतिनिधित्व नहीं करते। एक ग्रामीण व्यक्ति पीर से यह आशा तो करता है कि वह उसे उचित मार्ग दिखाए, प्रेरणा प्रदान करें तथापि वह यह नहीं चाहेगा कि वह स्थानीय मस्जिद में सामुदायिक प्रार्थना तथा साप्ताहिक धर्मोपदेश की अगुवाई करे तथापि कई पीर राजनीति की दौड़ में स्वयं शामिल होकर या फिर अन्य प्रत्याशियों को समर्थन देते हुए राजनीति में भी सक्रिय रहे हैं। उदाहरण के तौर पर पीर हफ़ीजी हुज़ूर 1986 के चुनावों में राष्ट्रपति पद के प्रत्याशी थे। अत्रेशी तथा सरसीना के पीरों का राजनीतिक दबदबा रहा है तथा उनसे मिलने वालों की सूची में राष्ट्रपतियों तथा केन्द्रीय मंत्रियों का नाम भी शामिल है।

मुस्लिम बहुल राज्य होने के बावजूद 1972 के संविधान में धर्मनिरपेक्षता पर बल दिया गया। बांग्लादेश के गठन से पहले के संयुक्त पाकिस्तान में भाषा तथा समाज के एक वर्ग द्वारा दूसरे की अवहेलना के कारण इस्लाम विभक्त हो गया था। इसलिए इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि देश में धर्मनिरपेक्षता को सशक्त तरजीह दी गई। 1975 में शेख मुजीबुर्रहमान की हत्या के बाद नए शासकों ने देश का इस्लामीकरण करना आरम्भ कर दिया। इस्लाम की मान्यताओं को स्थापित करने के लिए पहले मार्शल लॉ शासन के दौरान संविधान में सर्वप्रथम 'बिस्मल्लाउर्रहमानअर्रहीम' का आहवान शामिल किया गया, सर्वशक्तिमान अल्लाह में पूर्ण आस्था स्थापित करने वाली नई धाराएँ तथा खंड जोड़े गए तथा धर्मनिरपेक्षता लाने से संबंधित दिशानिर्देश उपलब्ध कराने वाले सभी संदर्भ हटा दिए गए। 1988 में जनरल इरशाद ने संविधान में एक धारा और शामिल कर दी जिसमें कहा गया था "गणराज्य का राज्य-धर्म इस्लाम है परन्तु गणराज्य के लोग शांति तथा सौहार्द से अन्य धर्म भी अपना सकते हैं।" यद्यपि अल्पसंख्यकों के अधिकार उनसे नहीं छीने गए हैं तथापि बांग्लादेश की राजनीति की प्रकृति में आधारभूत परिवर्तन आए हैं। ऐसे कई धार्मिक संगठनों का उदय हुआ है जिन्होंने सरकार से अभिशासन में इस्लाम के सिद्धांतों को लागू करवाने पर बल दिया है ।

10.3.2 जातीयता

बंगाली मूलतः आर्य, द्राविड़ तथा मंगोल प्रजातियों के निरन्तर सम्मिलन के परिणामस्वरूप इन सब प्रजातियों की मिश्रित जाति कहे जा सकते हैं परन्तु सम्मिलन की प्रक्रिया के दौरान उन सभी की विशेष पहचान छूट गई तथा वे केवल बंगाली बन कर उभरे जोकि न केवल बांग्लादेश में अपितु भारत के पश्चिम बंगाल, त्रिपुरा तथा असम के कुछ भागों में बसे हैं। जनसंख्या का 98 प्रतिशत बंगाली हैं जबकि अन्य अल्पविकसित सीमावर्ती क्षेत्रों में रहने वाले छोटे-छोटे जातीय समूह हैं। दीनजपुर तथा राजशाही जिलों में एक जनजातीय समूह "सन्तल" रहता है जोकि मुंडा जाति समूह से संबंधित है। मैमेनसिंह तथा सिल्हट जिलों में खासी लोग रहते हैं। देश के दक्षिण-पूर्वी हिस्से, चिट्टगोंग पहाड़ी क्षेत्र में तिब्बत-बर्मा के मूल निवासी बसे हैं, जिन्हें 11 जनजातियों-चकमा, मरवा, मोघ, टिपुर, मुरूग, तांचौंग, कामी, रयांग, ख्यांग, बौन तथा पंखो-में वर्गीकृत किया गया है।

यद्यपि बांग्लादेश में धर्म तथा भाषा की दृष्टि से समरूपता रही है तथापि यह जातीय विरोधों से मुक्त नहीं रहा है। कुछ जातीय तथा जनजातीय समूहों (बिहारी, चकमा तथा रोहिंग्य) ने देश में घरेलू समस्याएँ उत्पन्न कीं तथा वे बांग्लादेश के अन्य पड़ोसी देशों-पाकिस्तान, बर्मा तथा भारत के साथ संबंधों में कारण रहे हैं।

बिहारी जाति के लोग बिहार तथा उत्तर भारत के अन्य राज्यों से आए गैर-बंगाली मुस्लिम शरणार्थी हैं। अगस्त, 1946 के कलकता के कत्लेआम के समय लगभग 1.3 मिलियन बंगाली मुस्लिम पाकिस्तान जाकर बस गए जिनमें से लगभग 700,000 लोग पूर्वी पाकिस्तान में आए। बंगाली समाज के उच्च तबके का वर्चस्व होने के कारण बिहारी जाति के लोगों ने 1971 के गृहयुद्ध के दौरान पाकिस्तानी सेना का साथ दिया जिसके परिणामस्वरूप बांग्लादेश का जन्म हुआ। उन्होंने पाकिस्तान जाने की इच्छा व्यक्त की है। बांग्लादेश, पाकिस्तान तथा भारत के बीच 1974 में हुए दिल्ली समझौते के बाद उनमें से कई पाकिस्तान चले गए हैं। देश में रह गए लगभग 250,000 लोग पाकिस्तानी नागरिक समझे जाते हैं तथा उन्हें देश प्रत्यावर्तन के तहत पाकिस्तान भेजा जाना है जबकि पाकिस्तान उन्हें वापस लेने का इच्छुक नहीं है जिसके परिणामस्वरूप बिहारी जाति के लोग अभी भी कैम्पों में इस उम्मीद के साथ रह रहे हैं कि एक दिन वे पाकिस्तान जाएंगे।

चकमा चिट्टगोंग पहाड़ी क्षेत्र में रहने वाला सबसे बड़ा जनजातीय समूह है। सांस्कृतिक, शैक्षिक, आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से यह प्रमुख समूह है। 1981 में उनकी जनसंख्या 210,000 अर्थात कुल जनजातीय जनसंख्या का 48 प्रतिशत आंकी गई थी ऐतिहासिक दृष्टि से चिट्टगोंग पहाड़ी क्षेत्र के लोग मैदानी लोगों से अलग-थलग रहे हैं। 18वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में उन्होंने क्षेत्र में बंगालियों को स्थापित करने के ब्रिटिश प्रयासों का कुछ हद तक सफलतापूर्वक विरोध किया। 1900 में ब्रिटिश शासकों ने इस क्षेत्र को विशेष दर्जा दिया जिससे चिट्टगोंग पहाड़ी क्षेत्र को अधिवास प्रतिबंधित किया गया तथा सीमित स्वशासन दिया गया। विभाजन के समय चिट्टगोंग पहाड़ी क्षेत्र पाकिस्तान को आवंटित हुआ जिसका इस जनजाति के लोगों ने विरोध किया क्योंकि वे भारत में मिलना चाहते थे। बौद्ध धर्म के अनुयायी तथा मंगोल होने के कारण चकमा जनजाति के लोग धर्म के नाम पर बनाए गए राज्य का हिस्सा होने की बजाय स्वायत्तता चाहते थे परन्तु उनके विरोध करने का कोई लाभ नहीं हुआ। अतः आरम्भ से ही चकमा लोगों तथा पाकिस्तानी सरकार के बीच परस्पर अविश्वास रहा। दोनों के बीच बढ़ती दूरियों के परिणामस्वरूप 1964 में अयूब सरकार ने क्षेत्र का विशेष दर्जा भी हटा दिया।

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान चकमा लोगों ने पाकिस्तान का समर्थन किया तथा कई लोगों ने अन्य शरणार्थियों के साथ भारत में शरण ली। भारत ने त्रिपुरा तथा मिजोरम में उन्हें आवासीय कैम्प उपलब्ध कराए। 1972 में बांग्लादेशी संसद में चकमा सदस्य, मनोवेन्द्र नारायण लार्मा ने चिट्टगोंग पहाड़ी क्षेत्र के लिए स्वायतता तथा इसे पुनः विशेष दर्जा दिए जाने की मांग की। मुजिबुर्रहमान ने इन मांगों को ठुकरा दिया तथा पहाड़ी लोगों को बंगाली राष्ट्रवाद की प्रमुख धारा में शामिल होने का परामर्श दिया। परिणामस्वरूप जनजातीय लोगों में बांग्लादेश सरकार के विरूद्ध क्रान्ति का

बिगुल बजा दिया। 1976 में बांग्लादेशी सरकार ने चकमा विरोधियों का दमन करने के लिए सेना का सहारा लिया। बांग्लादेश में उसके बाद बनने वाली सरकारों ने भी चिट्टगोंग पहाड़ी क्षेत्र के लोगों की मांगों पर पहले जैसा अड़ियल रवैया अपनाए रखा जिसके परिणामस्वरूप सरकार तथा चिट्टगोंग पहाड़ी क्षेत्र के लोगों के मध्य सशस्त्र स्थिति बनी हुई है। इसके अतिरिक्त, क्षेत्र के जनसांख्यिकीय संगठन में परिवर्तन आया है। बंगाली लोगों का प्रतिशत 1974 के 11.6 प्रतिशत से बढ़कर 1981 में 42 प्रतिशत तथा 1991 में 48.5 प्रतिशत हो गया। जब-जब बांग्लादेश ने चकमा लोगों के विरूद्ध सेना का उपयोग किया है, वे भारतीय क्षेत्र में प्रवेश कर गए। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि 1971 से 1981 के दौरान पांच लाख से अधिक चकमा शरणार्थी अवैध रूप से भारत में प्रवेश कर गए।

बांग्लादेश को एक अन्य जातीय समस्या का सामना करना पड़ रहा है, और वह है-रोहिंग्य शरणार्थी। रोहिंग्य लोगों को अरकानी भी कहा जाता है क्योंकि वे मूल रूप से बांग्लादेश की सीमा पर लगे पर्वतीय पश्चिमी राज्य अरकान के निवासी हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध बर्मा तथा मुस्लिम रोहिंग्य लोगों के संबंध कटु रहे हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अंग्रेजों ने उन्हें बर्मा में मुस्लिम राष्ट्रीय क्षेत्र उपलब्ध कराने का वचन दिया। जब यह वचन पूरा नहीं हुआ तो उत्तर अरकान मुस्लिम लीग ने अरकान के उत्तरी हिस्से को पूर्वी पाकिस्तान में विलय कराने के उद्देश्य से सशस्त्र विरोध कर दिया लेकिन इस विरोध का दमन कर दिया गया । बर्मा में सैनिक शासन द्वारा धार्मिक अल्पसंख्यकों के विरूद्ध भेदभावपूर्ण नीतियाँ अपनाई गईं जिनके कारण रोहिंग्य लोगों पर नागरिकता अधिकारों से इन्कार, जबरन श्रम, अधिक तथा मनमाने कर वसूलने, जबरन पुन: अवस्थापन तथा स्वतंत्रता आंदोलन पर प्रतिबंध सहित कई प्रतिबंध लगाए गए। इन नीतियों के परिणामस्वरूप रोहिंग्य लोगों का बांग्लादेश में बड़े पैमाने पर निर्गमन हुआ। 1977 में सैनिक शासन द्वारा अवैध रूप से आए अप्रवासियों की पहचान करने के लिए किए गए प्रयासों के प्रत्युत्तर में लगभग 200,000 लोगों ने बांग्लादेश में शरण ली। उसके बाद उनमें से अधिकांश वापस चले गए परन्तु 1981-82 में निर्गमन का एक और दौर चला जब रंगून में नया नागरिकता कानून लागू किया गया जिसके तहत वहाँ के निवासियों को यह सिद्ध करना था कि वे देश में 1824 से रह रहे हैं । 1990 के दशक के दौरान बांग्लादेश में और देशान्तरण हुआ जिनमें से कई लोगों को राज्य प्राधिकारियों ने जबरन देश से निकाल दिया था। 2001 में लगभग 20,000 रोहिंग्य बांग्लादेश के शरणार्थी कैम्पों में रह रहे हैं। सार्वजनिक स्वास्थ्य की गिरती अवस्थाओं, कैलोरी ग्रहण में कमी आने, अपनी भूमि से अधिग्रहण हटने तथा सरकार की नीतियों के कारण आंतरिक पुनर्स्थापन जैसे कारणों से इन राज्य-रहित लोगों की दशा हर तरीके से दयनीय है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: i) नीचे दिए गए खाली स्थान को अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें ।

ii) अपने उत्तर का इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलान करें ।

1) बांग्लादेश के विकास में जनसंख्या वृद्धि मुद्दा कैसे है?

....

....

....

2) बांग्लादेश में सूफी संघ की क्या भूमिका है ?

....

....

....

3) चिट्टगोंग पहाड़ी क्षेत्र के लोगों तथा बांग्लादेश सरकार के बीच विवाद का प्रमुख कारण क्या है?

....

....

....

10.4 अर्थव्यवस्था

बांग्लादेश के प्रभुसत्ता सम्पन्न स्वतंत्र राष्ट्र बनने के समय इसका ग्रामीण जनसंख्या घनत्व विश्व में सर्वाधिक था, वार्षिक जनसंख्या वृद्धि दर लगभग 3 प्रतिशत थी, लगभग अधिकांश लोग चिरकालिक कुपोषण से ग्रस्त थे तथा 8-10 मिलियन लोगों को पुनर्स्थापित किया जाना था जो भारत चले गए थे तथा 1972 में स्वतंत्र बांग्लादेश में लौट आए थे। पूर्वी पाकिस्तान के रूप में क्षेत्र की राजनीतिक तथा आर्थिक प्रणालियों पर पश्चिमी पाकिस्तान के लोगों का बोलबाला था। उनके चले जाने के बाद नए राष्ट्र में अनुभवी उद्यमियों, प्रबंधकों, प्रशासकों तथा अभियंताओं की संख्या नगण्य थी । युद्ध के दौरान आने वाले व्यवधानों के कारण अनाज तथा अन्य कच्चे माल की अत्यंत कमी हो गई थी। यहाँ तक कि विदेशी विनिमय की प्राप्ति के प्रमुख स्रोत पटसन के निर्यात पर भी इसकी आपूर्ति न हो पाने के कारण प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। बांग्लादेश के पास पर्याप्त संख्या में श्रम था परन्तु उनमें से अधिक संख्या अनपढ़, अनिपुण तथा अल्परोजगार प्राप्त श्रम की थी। प्राकृतिक गैस को छोड़कर वाणिज्यिक रूप से दोहन किए जा सकने वाले औद्योगिक संसाधनों की कमी थी। मुद्रा स्फीति की दर विशेष रूप से अनिवार्य उपभोक्ता वस्तुओं के लिए 300 प्रतिशत तक थी। इसके अतिरिक्त नए देश को 1970 के भीषण चक्रवात से हुए नुकसान से उबरना था। विदेशी विनिमय संसाधन नगण्य थे तथा बैंक और मुद्रा प्रणाली अविश्वसनीय थी। घरेलू संकट के अतिरिक्त 1973 में तेल की कीमतों में भारी वृद्धि के कारण विश्वव्यापी स्तर पर अर्थव्यवस्था में परिवर्तन, व्यापार की शर्तों में कमी, जिन्सों की कीमतों में गिरावट, विश्व अर्थव्यस्था में मंदी तथा अंतरराष्ट्रीय विकास सहायता में कमी के कारण नए राष्ट्र की समस्याएँ और भी बढ़ गई।

भारत विश्व में पहला ऐसा देश था जिसने 900,000 टन अनाज के रूप में 23.2 करोड़ अमेरिकी डालर की बड़ी आर्थिक सहायता उपलब्ध कराई। इसके बाद संयुक्त राज्य तथा विश्व बैंक ने प्रमुख विदेशी सहायता उपलब्ध कराई तथा विश्व बैंक ने बांग्लादेश सहायता दल के नाम से एक सहायता संघ का गठन किया जिसमें बांग्लादेश के विकास में सहयोग की इच्छुक 26 अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएँ तथा विदेशी सरकारें शामिल थीं।

10.4.1 आर्थिक नीति एवं नियोजन

जनसंख्या की दृष्टि से बांग्लादेश विश्व का आठवाँ बड़ा देश है। विश्व बैंक के अनुमानों के अनुसार 1980 में प्रति व्यक्ति आय 130 से 140 डालर के बीच थी तथा सबसे कम प्रतिव्यक्ति आय वाले देशों से गणना करते हुए दूसरे देश के रूप में इसकी गणना हुई। यहाँ की लगभग दो तिहाई जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे रहती है इसलिए बांग्लादेश सबसे "वृहतम निर्धनतम राष्ट्र" तथा "न्यूनतम विकसित देश" की श्रेणी में रखा गया है।

बांग्लादेश के प्रथम राष्ट्रपति शेख मुजीबुर्रहमान ने आर्थिक प्राथमिकताओं को दिशा देने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर योजना आयोग का गठन किया। भारत की ही भांति बांग्लादेश का योजना आयोग 5 वर्ष की अवधि के लिए विकास योजनाओं का मसौदा तैयार करता है परन्तु भारतीय प्रणाली से भिन्न यहाँ कि पंचवर्षीय योजनाओं का मसौदा केवल तकनीकीविदों द्वारा तैयार किया जाता है जिसमें राजनीतिज्ञों तथा नौकरशाहों का बहुत कम योगदान रहता है।

पंचवर्षीय योजनाओं का प्रमुख उद्देश्य गरीबी दूर करना, जनसंख्या वृद्धि की वार्षिक दर को कम करना, निर्यात तथा घरेलू बचत को बढ़ावा देना, खाद्य उत्पादन में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना तथा वार्षिक सकल घरेलू उत्पाद की दर लगभग 5 प्रतिशत लाना है। कृषि क्षेत्र की अधिकता, अत्यधिक निर्धनता तथा सीमित खनिज संसाधनों के कारण इन उद्देश्यों को प्राप्त करना सरल नहीं है। 1980 के दशक के आरम्भिक वर्षों में इरशाद सरकार द्वारा भूमि सुधार कार्यक्रम आरम्भ किए गए जिनसे प्रति परिवार भूमि स्वामित्व पहले के 33 एकड़ से घटाकर 20 एकड़ किया गया परन्तु इसका भी अधिक प्रभाव नही पड़ा क्योंकि केवल 0.4 प्रतिशत किसान ही ऐसे थे जिनके पास 25 एकड़ से अधिक भूमि थी। 1980 के दशक के दौरान औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया ने भी बल पकड़ा। जनरल ज़िया तथा इरशाद दोनों ने ही उद्योगों के विराष्ट्रीयकरण तथा निजी निवेश को प्रोत्साहन दिया जिससे 1970 के दशक की समाजवादी भावना की प्रबलता कुछ कम हुई। इसके अतिरिक्त विदेशी निवेश को बढ़ावा देने के प्रयास किए गए परन्तु आधारभूत ढांचे तथा संसाधनों की कमी के कारण अर्थव्यवस्था के उदारीकरण का अधिक लाभ नहीं हो सका। 1990 के दशक के आरम्भ में बांग्लादेश की अर्थव्यवस्था प्रमुखतः ग्रामीण थी जिसमें सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का योगदान लगभग 50 प्रतिशत था। देश की जनसंख्या का लगभग 82 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों में बसा था जिनमें से सभी की आजीविका पूर्ण रूप से या काफी हद तक कृषि पर निर्भर थी। यद्यपि घरेलू उत्पादन पहले की तुलना में बढ़ रहा था तथापि यह वृद्धि निरन्तर बढ़ रही जनसंख्या के लिए पर्याप्त नहीं थी। अतः जनसंख्या के भरण पोषण की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बंग्लादेश खाद्यान्नों का आयात करता रहा।

10.4.2 बाह्य निर्भरता

बांग्लादेश की अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से विदेशी सहायता पर निर्भर है। ऐसा नहीं है कि यह निर्भरता हाल ही में बनी हो बल्कि यह तो स्वतंत्रता पूर्व से चली आ रही है। उस समय यह क्षेत्र पश्चिमी पाकिस्तान को पूंजी का शुद्ध निर्यातक तथा विदेशी सहायता का शुद्ध आयातक क्षेत्र था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद युद्ध की मार झेल चुकी अर्थव्यस्था ने बंग्लादेश को विदेशी सहायता पर निर्भर बना दिया। युद्ध के कारण विस्थापित लाखों शरणार्थियों के पुनर्वास के लिए आवश्यकता के रूप में आरम्भ हुई विदेशी सहायता शीघ्र ही निर्भर विकास की प्रणाली बन गई।

लगभग 25 वर्ष तक बांग्लादेश द्विपक्षीय तथा बहु-पक्षीय सहायता प्राप्त करता रहा है। सामान्यतया यह सहायता अनुदान, ऋण, खाद्य सहायता, जिन्स सहायता तथा परियोजना विकास सहायता के रूप में ली जाती है। सहायता प्रदान करने वाले देशों मे प्रमुख हैं: जापान, अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, सउदी अरब, जर्मनी, नीदरलैण्ड तथा भारत। जापान सर्वाधिक द्विपक्षीय सहायता उपलब्ध कराने वाला देश है। इन सभी देशों से बांग्लादेश को प्राप्त होने वाली कुल सहायता का 50 प्रतिशत प्राप्त होता है। बांग्लादेश विश्व बैंक, एशियाई विकास बैंक, ओपेक तथा यूरोपीय संघ जैसी बहुपक्षीय एजेन्सियों से भी सहायता प्राप्त करता है। 1971 से 1989 के दौरान बांग्लादेश को 19 अरब डालर की सहायता तथा ऋण प्राप्त हुए। बाह्य सहायता सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 9 प्रतिशत तथा वार्षिक विकास योजना का 116 प्रतिशत है। तृतीय पंचवर्षीय योजना (1985-90) के लिए 55 प्रतिशत धन की प्राप्ति निजी निवेश, अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों के सहायता कार्यक्रमों तथा द्विपक्षीय सहायता उपलब्ध कराने वाले राष्ट्रों सहित विदेशी स्रोतों से हुई।

भरपूर सहायता प्राप्ति के बावजूद देश की अर्थव्यवस्था में कोई दृष्टिगोचर सुधार नहीं हुआ है। इससे न तो लोगों के जीवन स्तर में सुधार आया है और न ही निर्धनता दूर हुई है अपितु बाह्य निर्भरता के कारण देश के विकास का ढांचा ही विकृत हो गया है जिसके कारण गरीब तथा अमीर के बीच की खाई अधिक गहरी हुई है। बाह्य सहायता पर बढ़ती हुई निर्भरता के कारण घरेलू बचत में कमी आई है। प्रति व्यक्ति विदेशी सहायता 1981 के 840 टका से बढ़कर 1987 में 2720 टका हो गई जबकि घरेलू बचत जो 1981 में 3.4 प्रतिशत थी 1988 में घटकर 1.1 प्रतिशत ही रह गई। यह भी कहा जा रहा है कि सहायता से जुड़ी शर्तों के कारण बांग्लादेश की प्रभुसत्ता तथा आत्मनिर्भरता की स्वतंत्रता में कमी आई है। संचार माध्यमों ने इस निर्भरता को "नव-उपनिवेशवाद"

का नाम दिया है। कुछ अध्ययनों के अनुसार बाह्य सहायता प्राप्तकर्ता की अपेक्षा सहायता उपलब्ध कराने वाले को अधिक लाभ पहुँचाती है क्योंकि अधिकांश धन एक या दूसरे रूप में सहायता दाता के पास वापिस चला जाता है। शोभन रहमान तथा इतेखारूज़्ज़मन ने अनुमान लगाया है कि सहायता का 75 प्रतिशत परियोजना निवेश की अधिप्राप्ति की लागत के रूप में तथा विदेशी विशेषज्ञों को परामर्शदात्री शुल्क के रूप में सहायतादाता के पास चला जाता है।

सहायता पर अत्यधिक निर्भरता का घरेलू अर्थव्यवस्था पर प्रभाव पड़ा है। घरेलू बचत में कमी के कारण पूंजी पदार्थों तथा सिंचाई के क्षेत्र में कम निवेश हुआ है। इसका अर्थ यह हुआ कि अर्थव्यवस्था की उत्पादकता की क्षमता में वृद्धि नहीं हो पाई है। 1973 से 1993 से दौरान आर्थिक विकास की दर का औसत 4 प्रतिशत है जिसका राजनीतिक प्रणाली की प्रकृति तथा स्थिरता पर भी प्रभाव पड़ा।

वित्तीय सहायता प्राप्ति राजनीतिक नेताओं के लिए आर्थिक मामलों में कठोर निर्णयों से बचने में सरल विकल्प बन जाता है। कई बार तो सहायता उपलब्धकर्ताओं ने राजनीतिक प्रक्रिया तक को प्रभावित करने का सन्देहास्पद कार्य किया है। उदाहरण के तौर पर यह बताया जाता है कि 1990 में जापान तथा ब्रिटेन ने इरशाद पर पद छोड़ने के लिए दबाव डाला और यह धमकी दी कि अन्यथा वे हर प्रकार की सहायता बंद कर देंगे जिनके कारण चुनाव हुए और बांग्लादेश में संसदीय जनतंत्र की स्थापना हो पाई।

10.4.3 उदारीकरण एवं विदेशी प्रत्यक्ष निवेश

सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 37 प्रतिशत भारी सार्वजनिक ऋण होने के बाद बांग्लादेश ने 1980 के दशक के अंतिम वर्षों में आयात सम्पूरक नीतियों का परित्याग कर दिया। अर्थव्यवस्था को सुचारू करने के लिए अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के परामर्श से बांग्लादेश ने बाजारपरक सुधारों की प्रक्रिया आरंभ कर दी जिनमें निर्यात को बढ़ावा देने की योजनाएँ, विनिमय दरों का उदारीकरण, राज्य के स्वामित्व वाले उद्यमों में सुधार तथा निजीकरण, कीमतों में नियंत्रण और आर्थिक सहायता को बंद करना, वित्तीय क्षेत्र को पुनः ढांचागत करना तथा कर सुधार शामिल हैं। इनका उद्देश्य निजी क्षेत्र में घरेलू तथा विदेशी निवेश को बढ़ावा देना था। इसके अतिरिक्त, आयात की नीतियों को उदार बनाया गया तथा आयातित वस्तुएँ प्रचुर मात्र में उपभोगकर्ताओं और उत्पादकों को उपलब्ध कराई गईं। इन आयात पदार्थों को प्राप्त करने के लिए ऋण तथा अनुदान राशि के रूप में विदेशी सहायता उपयोग में लाई गई।

देश में ढांचागत बाधाओं के बावजूद बाजारपरक सुधारों से 1990 के दशक के दौरान विदेशी प्रत्यक्ष निवेश में पर्याप्त वृद्धि हुई। यह 1990 में 60.27 मिलियन डालर था जो 1993-1994 में बढ़कर 804 मिलियन डॉलर तथा 1999-2000 में 2,119 मिलियन डॉलर हो गया। अधिकांश विदेशी प्रत्यक्ष निवेश संयुक्त उद्यम स्थापित करने के रूप में था। नए संयुक्त उद्यम लगाने के लिए कई बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने स्थानीय निवेशकों के साथ सहयोग स्थापित किया है। कई विश्वव्यापी कम्पनियों जैसे जनरल इलैक्ट्रीकल्स, रैकिट एंड कॉमन, बर्जर पेन्टस, सिंगर, फाइजर, कोका-कोला, पेप्सी, सीमन्स, फिलिप्स इत्यादि ने बांग्लादेश में निवेश किया है। इसमें विशेष बात यह है कि पहले विदेशी निवेश अधिकांशतः पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा किया जाता था परन्तु 1990 के दशक के दौरान पूर्वी एशिया की नव औद्योगिकृत अर्थव्यवस्थाओं ने बांग्लादेश में अधिक निवेश करके उल्लेखनीय कदम उठाए हैं। अधिकांश विदेशी प्रत्यक्ष निवेश निर्यात प्रसंस्करण के कार्यशील क्षेत्रों जैसे परिधान, कपड़ा तथा ऊनी वस्त्र उद्योग में किया गया है। यह पाया गया है कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश से रोजगार के अवसरों में वृद्धि हुई है क्योंकि बांग्लादेश में सस्ते श्रम की उपलब्धता के कारण यह निवेश अधिकांशतः श्रमपरक है। यह कहा जाता है कि विदेशी निवेश 100 प्रतिशत समानता, गैर-समानता तथा लाइसेंसीकरण के रूप में किया जा रहा है।

तेल तथा गैस प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को सर्वाधिक आकर्षित करने वाले क्षेत्र हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि बांग्लादेश में प्राकृतिक गैस का 13.74 ट्रिलियन क्यूबिक फुट भंडार है। विश्व बैंक

10.4.4 पर्यावरण संबंधी चुनौतियाँ

बांग्लादेश के समक्ष गंभीर पर्यावरण संबंधी समस्याएँ हैं जिनका प्रभाव आर्थिक कार्यकलापों पर भी पड़ा है। इसकी भौगोलिक अवस्था के कारण अधिकांश समस्याएँ इसके अपने नियंत्रण से बाहर हैं जिनमें शामिल हैं - हिमालय श्रृंखला में वन कटाई, विश्वव्यापी स्तर पर तापमान बढ़ने से समुद्री सतह का बढ़ना, बाढ़, चक्रवात तथा सूखा, जल एवं मृदा की गुणवत्ता का स्तर गिरना तथा अपशिष्ट पदार्थों का क्षेपण। कई बांग्लादेशी विद्वानों का मानना है कि इनका प्रभाव न केवल लोगों के आर्थिक कार्यकलापों पर पड़ा है अपितु इनसे देश की जीवनक्षमता पर ही प्रश्न चिन्ह लग गया है।

प्रतिवर्ष बाढ़ों से फसलों को व्यापक क्षति पहुंचती है तथा हजारों लोग बेघर हो जाते हैं। अनुमान है कि बांग्लादेश का 18 प्रतिशत कुल भूमि क्षेत्र बाढ़ों से प्रभावित होता है। पिछले 40 वर्षों में 14 भयंकर बाढ़ें आई हैं। इनका रोजगार तथा कृषि उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है तथा देश को खाद्यान्नों का आयात करना पड़ा है।

भूमंडलीय तापमान में वृद्धि के भी भावी बांग्लादेश पर गंभीर प्रभाव पड़ेंगे। वैज्ञानिकों के अनुसार समुद्र के स्तर में एक मीटर की वृद्धि से 11 प्रतिशत जनसंख्या बेघर हो जाएगी तथा कुल भूमि क्षेत्र का 17.5 प्रतिशत जल-आप्लावित हो जाएगा। भूमंडलीय तापमान में वृद्धि के प्रभाव को कम करने के लिए बांग्लादेश को 10 बिलियन डालर खर्च करने होंगे परन्तु हम सभी जानते हैं कि बांग्लादेश के पास धनराशि की कमी है, अतः इस समस्या का समाधान केवल अंतरराष्ट्रीय सहायता तथा सहयोग से ही निकाला जा सकता है।

10.5 अभिशासन का संकट

किसी राज्य के सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक निष्पादन को समझने और विश्लेषण करने के लिए विद्वानों तथा कार्यकर्ताओं ने अभिशासन का नया मापदण्ड अपनाया है। इस प्रकार से राजनीतिक स्थिरता, सामाजिक शान्ति बनाए रखने के लिए तथा उपलब्ध संसाधनों के कारगर उपयोग के द्वारा अधिकतम आर्थिक विकास लाने के लिए अभिशासन किसी राज्य की संस्थागत क्षमता का कार्य है।

बांग्लादेश में सार्वजनिक संस्थानों तथा सरकार का निष्पादन मिश्रित रहा है - सामान्य से लेकर खराब तक। अभिशासन के कई क्षेत्रों में यह निराशाजनक रहा है। सरकार के समक्ष प्रमुख चुनौती है - अभिशासन की कमी - आधारभूत कार्यों को करने में सरकार की धीरे-धीरे कम होती क्षमता। यह कमी तीन रूपों में परिलक्षित होती है - प्रथम, कुछ समय से जटिल सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याएं एकत्र हो गई हैं, तथा इनके समाधान ढूंढना भी सरल नहीं है; दूसरे, राजनीतिक कीमत न चुकानी पड़े, इसलिए सरकारें इनका समाधान खोजना ही नहीं चाहतीं; तीसरे, वे अब व्यवस्था का हिस्सा बन चुकी हैं। बांग्लादेश की अभिशासन की समस्याओं में से प्रमुख हैं - राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक स्तर तथा क्षेत्र में भ्रष्टाचार की व्यापकता, लोगों के जीवन तथा सम्पदा का संरक्षण, समाज में महिलाओं को यथोचित स्थान दिलाने तथा लोगों को आधारभूत सेवाएँ व सुविधाएँ उपलब्ध कराने में राज्य की विफलता।

केवल बांग्लादेश ऐसा देश नहीं है जो अभिशासन के संकट से गुजर रहा है अपितु विश्व के अधिकांश विकासशील देशों के सम्मुख यह चुनौती है। बांग्लादेश के मामले में, यह उन परिस्थितियों का परिणाम हैं जिनके अंतर्गत नए राष्ट्र का जन्म हुआ तथा जिनसे सुख-बोध और अनिश्चितताओं का प्रादुर्भाव हुआ। करिश्माई राजनीतिक नेतृत्व तथा बाद में सैनिक शासकों के अंतर्गत देश की राजनीतिक संस्कृति तथा सामाजिक अवस्थाएँ संकेन्द्रित रहीं। चुनावी निर्णयों की आशा के अनुसार अविभाजित पाकिस्तान के खरा न उतर पाने से राजनीतिक प्रणाली के दोष उभर कर सामने आ गए। मुजीब की अभिजातवर्गीय प्रवृत्तियों के कारण लोगों में तनाव उत्पन्न हो गया तथा असंतोष की भावना घर कर गई। सैनिक शासन तथा गैर-कानूनी चुनावों ने संवैधानिक सरकार की कमियों

10.4.4 पर्यावरण संबंधी चुनौतियाँ

बांग्लादेश के समक्ष गंभीर पर्यावरण संबंधी समस्याएँ हैं जिनका प्रभाव आर्थिक कार्यकलापों पर भी पड़ा है। इसकी भौगोलिक अवस्था के कारण अधिकांश समस्याएँ इसके अपने नियंत्रण से बाहर हैं जिनमें शामिल हैं - हिमालय श्रृंखला में वन कटाई, विश्वव्यापी स्तर पर तापमान बढ़ने से समुद्री सतह का बढ़ना, बाढ़, चक्रवात तथा सूखा, जल एवं मृदा की गुणवत्ता का स्तर गिरना तथा अपशिष्ट पदार्थों का क्षेपण। कई बांग्लादेशी विद्वानों का मानना है कि इनका प्रभाव न केवल लोगों के आर्थिक कार्यकलापों पर पड़ा है अपितु इनसे देश की जीवनक्षमता पर ही प्रश्न चिन्ह लग गया है।

प्रतिवर्ष बाढ़ों से फसलों को व्यापक क्षति पहुंचती है तथा हजारों लोग बेघर हो जाते हैं। अनुमान है कि बांग्लादेश का 18 प्रतिशत कुल भूमि क्षेत्र बाढ़ों से प्रभावित होता है। पिछले 40 वर्षों में 14 भयंकर बाढ़ें आई हैं। इनका रोजगार तथा कृषि उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है तथा देश को खाद्यान्नों का आयात करना पड़ा है।

भूमंडलीय तापमान में वृद्धि के भी भावी बांग्लादेश पर गंभीर प्रभाव पड़ेंगे। वैज्ञानिकों के अनुसार समुद्र के स्तर में एक मीटर की वृद्धि से 11 प्रतिशत जनसंख्या बेघर हो जाएगी तथा कुल भूमि क्षेत्र का 17.5 प्रतिशत जल-आप्लावित हो जाएगा। भूमंडलीय तापमान में वृद्धि के प्रभाव को कम करने के लिए बांग्लादेश को 10 बिलियन डालर खर्च करने होंगे परन्तु हम सभी जानते हैं कि बांग्लादेश के पास धनराशि की कमी है, अत: इस समस्या का समाधान केवल अंतरराष्ट्रीय सहायता तथा सहयोग से ही निकाला जा सकता है।

10.5 अभिशासन का संकट

किसी राज्य के सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक निष्पादन को समझने और विश्लेषण करने के लिए विद्वानों तथा कार्यकर्ताओं ने अभिशासन का नया मापदण्ड अपनाया है। इस प्रकार से राजनीतिक स्थिरता, सामाजिक शान्ति बनाए रखने के लिए तथा उपलब्ध संसाधनों के कारगर उपयोग के द्वारा अधिकतम आर्थिक विकास लाने के लिए अभिशासन किसी राज्य की संस्थागत क्षमता का कार्य है।

बांग्लादेश में सार्वजनिक संस्थानों तथा सरकार का निष्पादन मिश्रित रहा है - सामान्य से लेकर खराब तक। अभिशासन के कई क्षेत्रों में यह निराशाजनक रहा है। सरकार के समक्ष प्रमुख चुनौती है - अभिशासन की कमी - आधारभूत कार्यों को करने में सरकार की धीरे-धीरे कम होती क्षमता। यह कमी तीन रूपों में परिलक्षित होती है - प्रथम, कुछ समय से जटिल सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याएं एकत्र हो गई हैं, तथा इनके समाधान ढूंढना भी सरल नहीं है; दूसरे, राजनीतिक कीमत न चुकानी पड़े, इसलिए सरकारें इनका समाधान खोजना ही नहीं चाहतीं; तीसरे, वे अब व्यवस्था का हिस्सा बन चुकी हैं। बांग्लादेश की अभिशासन की समस्याओं में से प्रमुख हैं - राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक स्तर तथा क्षेत्र में भ्रष्टाचार की व्यापकता, लोगों के जीवन तथा सम्पदा का संरक्षण, समाज में महिलाओं को यथोचित स्थान दिलाने तथा लोगों को आधारभूत सेवाएं व सुविधाएँ उपलब्ध कराने में राज्य की विफलता।

केवल बांग्लादेश ऐसा देश नहीं है जो अभिशासन के संकट से गुजर रहा है अपितु विश्व के अधिकांश विकासशील देशों के सम्मुख यह चुनौती है। बांग्लादेश के मामले में, यह उन परिस्थितियों का परिणाम हैं जिनके अंतर्गत नए राष्ट्र का जन्म हुआ तथा जिनसे सुख-बोध और अनिश्चितताओं का प्रादुर्भाव हुआ। करिश्माई राजनीतिक नेतृत्व तथा बाद में सैनिक शासकों के अंतर्गत देश की राजनीतिक संस्कृति तथा सामाजिक अवस्थाएँ संकेन्द्रित रहीं। चुनावी निर्णयों की आशा के अनुसार अविभाजित पाकिस्तान के खरा न उतर पाने से राजनीतिक प्रणाली के दोष उभर कर सामने आ गए। मुजीब की अभिजातवर्गीय प्रवृत्तियों के कारण लोगों में तनाव उत्पन्न हो गया तथा असंतोष की भावना घर कर गई। सैनिक शासन तथा गैर-कानूनी चुनावों ने संवैधानिक सरकार की कमियों

को और उजागर कर दिया। शेख हसीना तथा खालिदा ज़िया के नेतृत्व वाले दो प्रमुख दलों की प्रतिद्वन्द्विता तथा प्रतियोगी राजनीति के कारण अक्सर हड़तालें होती रहीं जिनसे नागरिक जीवन प्रभावित हुआ। निम्न साक्षरता तथा प्रचार माध्यमों का नियंत्रण राज्य के हाथ में होने से विपक्षी दल मुद्दों को सड़कों तक ले जाते हैं ताकि लोगों को भड़काकर अपने कार्यक्रमों के लिए समर्थन हासिल किया जा सके। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बांग्लादेश में सही अर्थ में लोकतंत्र की स्थापना में समय लगेगा।

अभिशासन के संकट का प्रभाव आर्थिक संस्थानों के कार्यकलापों तथा देश के आर्थिक निष्पादन पर पड़ा। अर्थव्यवस्था का विकास धीमी गति से होने के कारण घरेलू निवेश कम हुआ। इस प्रकार से, बांग्लादेश विदेशी सहायता तथा ऋणों पर निर्भर देश के रूप मे उभर कर सामने आया है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी: i) नीचे दिए गए खाली स्थान को अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें ।

ii) अपने उत्तर का इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलान करें ।

1) बांग्लादेश के समाज तथा अर्थव्यवस्था पर विदेशी सहायता का क्या प्रभाव पड़ा है?

....

....

2) उदारीकरण की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए। इसका क्या प्रभाव पड़ा?

....

....

....

....

3) अभिशासन क्या है? अभिशासन के संकट का अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा ?

....

....

10.6 सारांश

बांग्लादेश जनसंख्या की दृष्टि से दक्षिण एशिया क्षेत्र का दूसरा बड़ा तथा क्षेत्र की दृष्टि से तीसरा बड़ा देश है। हमने देखा, इस देश का समाज बहुल समाज है तथा जातीय दृष्टि से अल्पसंख्यक जनजातियाँ जैसे: सन्थाल, खासी, चकमा, मारवा, मोघ, टिपुरा, मुरूंग, तानचौंग, कामी, रयांग, ख्यांग, बॉन तथा पंखो, यहाँ वास करती हैं, जिसके बावजूद देश के लोगों मे उल्लेखनीय जातीय तथा सांस्कृतिक सदृशता है। ये जातीय तथा जनजातीय समूह किसी भी तरीके से नए राष्ट्र के साथ आत्मसात नहीं हो पाए हैं। हमने यह भी देखा है कि इनमें से कुछ जातीय तथा जनजातीय समूह देश के पड़ौसी देशों के साथ संबंधों को प्रभावित करते रहे हैं

देश की दो तिहाई जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे होने के कारण बांग्लादेश "वृहतम निर्धनतम राष्ट्र" है तथा इसे "न्यूनतम विकसित राष्ट्र" की श्रेणी में रखा गया है। विकास के नियोजित प्रयासों से अर्थव्यवस्था के ढांचे पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा है तथा यह प्रमुखतः ग्रामीण अर्थव्यवस्था है ज़िसमें सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का योगदान लगभग 50 प्रतिशत है। यद्यपि कृषि उत्पादन में वृद्धि निरन्तर हुई है तथापि यह लगातार बढ़ रही जनसंख्या के लिए पर्याप्त नहीं है। देश की जनसंख्या के भरण-पोषण के लिए आज भी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए खाद्यान्नों का आयात करना पड़ता है। 1980 के दशक के अंतिम वर्षों से बाजारपरक सुधार प्रक्रिया चलाए जाने के बाद

भी स्वायत्त घरेलू औद्योगिक सक्षमता को बढ़ावा नहीं मिल पाया है। बांग्लादेश को अपने आर्थिक विकास को बनाए रखने तथा रोजगार के अवसर पैदा करने के लिए भारी मात्र में विदेशी सहायता तथा ऋणों पर निर्भर रहना पड़ रहा है।

हमने देखा कि अभिशासन के संकट तथा पर्यावरणीय समस्याओं का आर्थिक निष्पादन पर प्रभाव पड़ा है। बांग्लादेश के समक्ष कई जटिल समस्याएँ हैं तथा उनसे निपटने के लिए नागरिक समाज तथा सरकार को भरसक प्रयास करने होंगे।

10.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

हुसैन, ए०, 1996, *मैक्रोइकोनोमिक इशूज़ एंड पोलिसीज: द केस ऑफ बांग्लादेश,* नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशन।

मैकलीन, एस० जे० कादिर, एफ, एंड शॉ, टी० एम०, 1997. "*स्ट्रक्चरल एडजैस्टमैंट एंड द रैसपोंस ऑफ सिविल सोसायटी इन बांग्लादेश एंड जिम्बाबे: ए कम्पेरेटिव एनालिसिस*" न्यू पॉलिटिकल इकोनोमी, वाल्यूम 2, नं० 1

क्यूबरिया, एम० जी. एड, 1997, द *बांग्लादेश इकोनोमी इन ट्रांजिशन,* नई दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस ।

द वर्ल्ड बैंक, 1999, *बांग्लादेश ट्रेड लिब्रलाइजेश: इट्स पेस एंड इम्पैक्ट्स,* वाशिंगटन, डी सी।

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अपने उत्तर में जनसंख्या वृद्धि की उच्च दर के ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर प्रभाव का वर्णन करें जिसकी प्रमुख विशेषता निर्धनता की व्यापकता है। इसके साथ ही संसाधनों तक पहुंच तथा संसाधनों की उपलब्धता के बीच अंतर को कम करने की राजनीतिक समस्या का भी विवेचन किया जाए।

2) क्षेत्र में इस्लाम के प्रचार में सूफीवाद की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अधिकांश बांग्लादेशी सूफी विचारों से प्रभावित हैं। सूफी फकीरों या पीरों का समाज में सम्मान है तथा उनमें से कई फकीरों/पीरों ने राजनीति में रूचि दिखाई है।

3) चकमा जनजातीय लोग अधिकांशत: मैदान के लोगों से अलग-थलग रहे हैं। यद्यपि वे "मातृ राज्य" के इच्छुक थे तथापि चिट्टगोंग पहाड़ी क्षेत्र को पाकिस्तान में शामिल कर दिया गया। अपने जीवनयापन के तौर-तरीकों तथा स्थानीय अर्थव्यवस्था का नियंत्रण बाहर से आकर बसे लोगों के हाथों में आ जाने के डर से उन्होंने क्षेत्र को स्वायतता या विशेष दर्जा दिए जाने की मांग की है। नवगठित देश बांग्लादेश में, उनकी समस्याओं की सुनने वाला कोई न होने के कारण उन्होंने सशस्त्र विरोध का रास्ता चुना।

बोध प्रश्न 2

1) विदेशी सहायता पर अत्यधिक निर्भरता के कारण देश के विकास का पैटर्न प्रतिकूल रूप से प्रभावित हुआ है, घरेलू बचत में कमी आई है तथा यहां तक कि देश की सम्प्रभुता तथा कार्य करने की स्वतंत्रता पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

2) उदारीकरण अथवा बाजारपरक आर्थिक नीतियों का उद्देश्य निजी क्षेत्र में घरेलू तथा विदेशी निवेश को बढ़ावा देना था। इसके अंतर्गत निर्यात प्रोत्साहन योजनाएं, विनिमय दर उदारीकरण,

राज्य के स्वामित्व वाले उद्यमों का सुधार तथा निजीकरण, कीमत नियंत्रण तथा आर्थिक सहायता को समाप्त करना वित्तीय क्षेत्र को पुनः ढांचागत करना तथा कर सुधार जैसी नीतियां शामिल हैं।

इन सुधारों से संसाधनों का लोगों को स्वास्थ्य, शिक्षा तथा अन्य सुविधाएं उपलब्ध कराने के लिए पुनः आबंटन हो पाया है। यह एक आम धारणा थी कि गरीबी उन्मूलन पर पहले दिए गए ध्यान को बाजार द्वारा निर्धारित आर्थिक कारगरता की ओर अधिक दृढ़ता से केन्द्रित किया गया है।

3) अभिशासन राज्य की संस्थागत क्षमता का कार्यकलाप है जिससे राजनीतिक स्थिरता आ पाएगी, सामाजिक शांति कायम करते हुए उपलब्ध संसाधनों के कारगर ढंग से उपयोग के माध्यम से अधिकतम आर्थिक विकास हो पाएगा। धीमा आर्थिक विकास, निम्न घरेलू निवेश तथा उसके परिणामस्वरूप विदेशी सहायता और निवेश पर निर्भरता से बांग्लादेश के अभिशासन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े हैं।

इकाई ११ नेपाल में राजनीतिक प्राधार एवं प्रक्रियाएँ

इकाई की रूपरेखा

११.० उद्देश्य
११.१ प्रस्तावना
११.२ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
    ११.२.१ राणातंत्रा का उदय
    ११.२.२ राणातंत्रा का पतन
११.३ राणा-उपरांत राजनीति
    ११.३.१ शाही लोकतांत्रिक संविधान, १९५९
    ११.३.२ पंचायत प्रणाली
    ११.३.३ नेपाल का वर्तमान संविधान
११.४ १९९० के संविधान की कार्यशैली
११.५ माओवादियों का सर उठाना
११.६ सारांश
११.७ कुछ उपयोगी पुस्तकें
११.८ बोध प्रश्नों के उत्तर

११.० उद्देश्य

इस इकाई में हम नेपाल में राजनीतिक घटनाक्रम से अवगत होने का प्रयास करेंगे, खासकर उसके प्राधारों व प्रक्रियाओं के संदर्भ में। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- नेपाल में लोकतांत्रिक राजनीति के क्रम-विकास का खाका खींच सकें;
- समसामयिक प्राधारों व प्रक्रियाओं का वर्णन कर सकें; और
- नेपाल में लोकतंत्रा को मज़बूत करने के रास्ते में मुख्य बाधाओं को पहचान सकें।

११.१ प्रस्तावना

अपने अधिकांश ज्ञात इतिहास में नेपाल एक परंपरागत एकाधिपत्य अथवा शासक परिवार के नियंत्राण में ही रहा है, बहुत हद तक विश्व के बाकी देशों से अलग-थलग। हम इसी कारण उसे एक राजतंत्रा या किंगडॉम कहते हैं। इस इकाई में हम सबसे पहले १७६९ में नेपाल के एकीकरण से आरम्भ उसके राजनीतिक इतिहास का वृत्तांत पढ़ेंगे, और फिर राणातंत्रा के उत्थान एवं पतन पर सूक्ष्म दृष्टि डालेंगे। तदोपरांत, राजतंत्रा की पुनर्स्थापना, १९५९ में बहुदलीय राजनीति के साथ नेपाल का अल्पकालिक अनुभव, और पंचायत गठन की छीना-झपटी में राजतंत्रा की स्थापना पर चर्चा होगी। अन्ततः इकाई में चर्चा के विषय होंगे – राजतंत्रा के तहत राजनीतिक घटनाक्रम और नेपाल में पंचायत प्रणाली की पराजय और संसदीय लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना कैसे उत्कर्ष पर पहुँची।

११.२ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

इस भूभाग का इतिहास, जिसमें नेपाल आता है, बहुत पुराना है और उसका आरम्भिक राजनीतिक इतिहास ७वीं शती ईसा-पूर्व में खोजा जा सकता है, जब पूर्व की ओर से किरातियों का आगमन हुआ। किरातियों के समय में ही सबसे पहले बौद्ध-धर्म इस घाटी में आया। २०० ईस्वी के अन्त में, इस देश में हिन्दू-धर्म लिच्छवियों के साथ आया, जिन्होंने उत्तर भारत से अनधिकार प्रवेश किया। नौवीं शताब्दी में लिच्छवी सत्ता का पतन अनेक जागीरों के उदय में परिणत हुआ। अठारहवीं सदी मध्य में गोरखा बादशाह पृथ्वीनारायण शाह ने विजय हासिल कर इन जागीरों को एकीकृत किया और नेपाल राज्य की स्थापना की। गोरखा राज्य के और आगे विस्तार पर, हालाँकि, १७९० के दशक में चीनी साम्राज्य द्वारा और १८१४-१६ में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा रोक लगा दी गई। नेपाल को उन सीमाओं में भींच दिया गया जो आज भी कायम है।

शाह शासकों ने एक निरंकुश राजनीतिक व्यवस्था कायम की जिसमें राजा ही सत्ता का केन्द्र होता था। राजा के शब्द और आज्ञाएँ ही उस देश के नियम-विनियम बन जाते थे और वे ही कानूनों का रूप ले लेते थे। इस प्रकार जन्मी राजनीतिक व्यवस्था के उच्च रूप से खण्डीकृत पिरामिडीय संरचना में राजा को अनेक प्रख्यात ब्राह्मण परिवारों द्वारा मंत्राणा प्रदान की जाती थी, जैसे चौतारिया, पाण्डेय व थापा परिवार, जो १७८५ व १८३७ के बीच द्रुत उत्तराधिकार में प्रमुख स्थिति पर काबिज़ होने आये थे। प्रशासन की कार्यवाही में विभिन्न परिवारों के बीच कोई अधिक अंतर नहीं था क्योंकि इन परिवारों का अभिभावी विचार अपनी-अपनी भौतिक व राजनीतिक समृद्धि को बढ़ाना ही था। प्रशासन व सेना में इसी के मुताबिक कर्मचारी/अधिकारीगण रखे जाते थे। किसी परिवार को सौंपी गई पलटनों की संख्या ही उसकी आपेक्षिक शक्ति और प्रभाव का सबसे विश्वसनीय प्रतीक हो गया।

११.२.१ राणातंत्र का उदय

पृथ्वीनारायण शाह की मृत्यु के बाद शासक परिवार के भीतर सत्ता के लिए हो रहे आन्तरिक संघर्ष ने राजा की स्थिति को कमज़ोर कर दिया। १८वीं शती के अन्तिम दशक में एक संक्षिप्त गड़बड़ विराम को छोड़कर, सिंहासन पर नाबालिग ही काबिज़ रहे। इससे राजपों (रीजेण्ट) मंत्रियों (मुख़्तियारों) को भरपूर मौक़ा मिला कि वे यथार्थ रूप में राजा को राजनीतिक प्रक्रिया से अलग रखते हुएसत्ता अपने ही हाथों में संकेन्द्रित रखें। शासक शाहों की परम्परा में अंतिम, राजा राजेन्द्र ने राजनीति के गुप्त प्रभाव का प्रयोग करते हुए स्वयं को अत्यधिक लिप्त रखा – एक राजनीतिक धड़े को दूसरे से भिड़ा कर। परिणामस्वरूप, देश एक गृह-युद्ध और संपूर्ण विघटन के कगार पर पहुँच गया। इस स्थिति को दोहन नेपाली इतिहास के एक उल्लेखनीय व्यक्ति द्वारा किया गया – जो जंग बहादुर कुँवर, जंग बहादुर राणा के नाम से ज़्यादा प्रसिद्ध थे। १८४६ में राजभवन शास्त्रागार (कोट) के प्रांगण में काठमांडू के सामरिक एवं प्रशासनिक प्रतिष्ठान के सदस्यों की एक सभा में सभी के लिए खुली एक जंग छिड़ी। जंग बहादुर ने जो अपने सैन्य-बल के साथ कोट में मौजूद था, इस संघर्ष को दबा दिया जिसमें उसके विरोधी व अन्य प्रमुख उच्चपदस्थ मारे गए। कोट नरसंहार के बाद जंग बहादुर प्रधानमंत्री बन गया। उसने अपने सभी खास प्रतिद्वंद्वियों को निकाल बाहर किया था फिर डर दिखाकर वश में किया, राजा को जेल में डाल दिया और सुरेन्द्र विक्रम शाह के रूप में राजेन्द्र के बेटे को राजगद्दी पर बिठा दिया।

जंग बहादुर ने १८५६ की शाही संसद (आदेश) द्वारा राजनीतिक तानेबाने में अपने परिवार की स्थिति को संस्थापित कर दिया। इस संसद ने जो अनिच्छुक परन्तु अभागे राजा से बलपूर्वक छीनी गई थी, जंग बहादुर व उसके उत्तराधिकारियों को नागरिक व सामरिक प्रशासन, न्याय व विदेश-संबंधों में असीम अधिकार प्रदान किए, जिनमें उस स्थिति में यदि वे अनुचित अथवा राष्ट्रीय हित के विरुद्ध पाये जायें तो राजा के आदेशों को ठुकराये जाने का भी अधिकार शामिल था । राजा ने तदोपरांत जंग बहादुर को 'राणा' की सम्मान-सूचक उपाधि भी प्रदान कर दी जो कि उत्तरवर्ती प्रधानमंत्रियों द्वारा प्रयोग की गई। बदले में, शाह राजाओं को और ऊँचे, कुछ-कुछ व्यंग्यात्मक, महाराजाधिराज

(राजाओं का राजा) की उपाधि से संबोधित किया गया। दूसरे शब्दों में, राजतंत्रा का स्वरूप बरकरार रखा गया, परन्तु राजा की शक्तियाँ राणा प्रधानमंत्राी द्वारा हड़प ली गईं। शाही परिवार तत्पश्चात् शाही महल की दीवारों में कैद होकर रह गया।

इस प्रकार शुरू हुई 'राणावाद' अथवा 'राणातंत्रा' की एक सदी लम्बी अवधि। राणा शासकों ने राजनीतिक-प्रशासनिक व्यवस्था की निरंकुश प्रकृति को कायम रखा जिसके भीतर रहकर राणा प्रधानमंत्राी सत्ता का स्रोत बन गया। पुराने आभिजात्य जो शाह शासन के दौरान राजनीतिक व प्रशासनिक पदों पर विराजमान थे, उन्हें हटाकर राणा परिवार के सदस्यों को बिठाया गया। राणा प्रधानमंत्राी की कुर्सी उत्तराधिकार में एक भाई से दूसरे को मिलने लगी।

राणा शासकों ने नेपाली कानून को मुलुकी आइन (नागरिक संहिता) के माध्यम से विधिबद्ध किया जिसने सिद्धांतत: कानून के समक्ष समानता का आश्वासन दिया। उन्होंने सती (१९२०) व दासता (१९२९) की प्रथा को भी समाप्त किया और अनेक उच्च-माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना की। परन्तु कुल मिलाकर, राणा शासन-प्रणाली उत्पीड़नकारी थी। चूँकि उनकी सत्ता राजा द्वारा दायित्वों के अभित्याग व उसके यथार्थत: कारावास पर टिकी, आखिरकार अवैध थी, राणाओं ने बेरहमी से शासन किया और उस राजनीतिक चेतना को कुचल दिया जो उनकी सत्ता को चुनौती देती थी। लगभग पूरी जनता अशिक्षित और अपने गाँवों या, सबसे सटीक, अपनी घाटियों से बाहर की दुनिया के किसी भाग से बेखबर रही।

चूँकि अवाम को शासन में बोलने का कोई अधिकार नहीं था, राज्य की राजनीति सत्ता व पद के लिए राणा परिवार के प्रसिद्ध व्यक्तियों के बीच प्रतिद्वन्द्विता और अन्योन्य क्रिया से अधिक कुछ नहीं थी। पारिवारिक वैमनस्य और षड़यंत्रा राजनीतिक प्रक्रिया की पहचान बन गये क्योंकि परिवार के महत्त्वाकांक्षी सदस्य उत्तराधिकार प्रणाली से असंतुष्ट थे। आरम्भ से ही हर एक राणा प्रधानमंत्राी ने अपने निकटतमों के हितों व अपने निजी राजनीतिक पद की सुरक्षा को दिमाग़ में रखते हुए, उत्तराधिकार की तालिका में बिना अधिकार के हेर-फेर किया। इसके बावजूद, राणातंत्रा राजा की कमज़ोरी और भारत में उस ब्रिटिश सत्ता के समर्थन की बदौलत कायम रहा जिसने भारत व इस हिमालयी राज्य में अपने हितों को बढ़ावा देने में राणाओं में एक भरोसेमंद आश्रित व्यक्ति और अपने रुख के प्रतिनिधि की झलक देखी।

११.२.२ राणातंत्र का पतन

२०वीं सदी के दूसरे चतुर्थांश में आरंभ होकर लोकतांत्रिाक विचारों ने नेपालवासियों के बीच जड़ें जमाना शुरू कर दिया। नेपाली सैनिक जिन्होंने प्रथम विश्व-युद्ध में भाग लिया, नए विचारों के प्रभाव में आये। कुछ अभिजात व मध्य वर्ग, खासकर वे जो भारत में रह रहे थे और भारतीय विश्वविद्यालयों में पढ़ रहे थे, भी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित हो गए। उन्होंने शीघ्र ही राज्य में लोकतंत्रा लाने के लिए स्वयं को संगठित किया। उन्होंने कुमाऊँ और बनारस में साप्ताहिक समाचार-पत्रा शुरू किए जो सार्वजनिक वाद-विवाद के ऐसे मंच बन गए जहाँ निर्वासित नेपाली जन राणा शासन के पिछड़ेपन और दमन की आलोचना कर सकते थे। १९३५ तक आते-आते नेपाली निर्वासितों के बीच सर्वप्रथम राजनीतिक पार्टी, प्रजा परिषद् (जनता की सभा) अस्तित्व में आ गयी। इसने बहुजातीय, लोकतांत्रिाक सरकार और राणातंत्रा को उखाड़ फेंकने की वकालत करना शुरू कर दिया। १९४६ में नेपाली कांग्रेस भारत की धरती पर जन्मी।

भारत से अंग्रेजों की वापसी ने राणा शासन को कमज़ोर कर दिया जो संकट काल में अंग्रेजों के समर्थन से पनपा था। इसने नेपालवासियों को उनके अपने देश की आज़ादी के लिए भी प्रोत्साहित किया। चीन में सत्ता के लिए साम्यवादियों के उदय ने भी शासक वर्ग को आतंकित कर दिया। तत्कालीन प्रधानमंत्राी पद्म शंकर के नेतृत्व वाले शासक राणाओं के उदारवादी वर्ग ने एक संविधान देना स्वीकार कर नेपाली आन्दोलन को रोकने को प्रयास किया, परन्तु हठधर्मी तत्त्व इसको भी मानने को तैयार नहीं थे और प्रधानमंत्री पर इस्तीफ़ा देने के लिए दबाव डाला। राणातंत्रा को बदल देने के सवाल पर जनता व शासकों के बीच मुकाबला इस प्रकार अपरिहार्य हो गया। इस मुकाबले में,

नेपाल में जारी लोकतांत्रिक आन्दोलन के नेताओं को उस राजा से समर्थन मिला, जिसको राणाओं द्वारा अप्रत्यक्ष बंदी की दशा में रखा जा रहा था और उन असंतुष्ट राणाओं (उनके निचले खानदान के आधार पर राणाओं की तीसरी श्रेणी के रूप में जाने जाने वाले) से भी, जिनको शासक पदों से संबंधित उनके हिस्से से महरूम रखा गया था व जिनमें से कुछ ने भारत में रहकर भारी दौलत कमाई थी। नेपाल में राणा-विरोधी लोकतांत्रिक लहर को स्वतंत्रा भारत की सरकार द्वारा सहानुभूतिपूर्वक देखा गया। राणाओं के पश्चिमोन्मुखी संबंधों व जनता की लोकतांत्रिक आकांक्षाओं को समायोजित करने से उनके इन्कार का राष्ट्रवादी भारतीय नेतृत्व से कोई लेना-देना नहीं था।

भारत से शुरू हुए नेपाली जन-आन्दोलन ने १९५१ में राणा शासन-व्यवस्था को उखाड़ फेंका। उस समय नेपाली राजनीति के तीन खण्डों – राणा जन, जनप्रिय नेताओं व राजा – ने भारत के प्रधानमंत्री नेहरू के मार्गनिर्देशन में दिल्ली में एक शर्तनामा तैयार किया। राजा त्रिभुवन जो १९५० में देश से निकल भागे थे और भारत में शरण ली थी, को एक राणाओं के नियंत्राण से मुक्त राजा के रूप में गद्दी पर फिर से बैठाया गया। फरवरी १९५१ में पाँच राणाओं व पाँच नेपाली कांग्रेस पार्टी के सदस्यों को लेकर मोहन शंकर के नेतृत्व में एक गठबंधन मंत्रिमण्डल बनाया गया। एक लोकतांत्रिक रूप से चुनी गई सरकार के गठित होने व पदभार संभालने तक इसको ही एक अंतरिम समझौता माना गया। संविधान की रचना करने हेतु एक संविधान-सभा बनाने व तदोपरांत दो वर्ष के भीतर आम चुनाव कराने हेतु सहमति बनी।

बोध प्रश्न १

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में आदर्श उत्तर देखें।

१) राणातंत्रा (Ranacracy) क्या है?

....

....

....

२) नेपाल में लोकतांत्रिक आन्दोलन की उत्पत्ति को स्पष्ट करें।

....

....

....

....

११.३ राणा-उपरांत राजनीति

असंगत घटकों की यह गठबंधन सरकार चंद महीनों से ज़्यादा नहीं चल सकी। उसी वर्ष नवम्बर में पुलिस की बर्बरता को लेकर नेपाली कांग्रेस मंत्रियों के पूरे गुट ने जब इस्तीफ़ा दे दिया तो राजा त्रिभुवन ने रूढ़िवादी राणा सत्ता गुट को निकाल बाहर कर एक नयी सरकार नियुक्त कर दी। परन्तु लोकतांत्रिक मानदण्डों व प्रथाओं में अपर्याप्त समाजीकरण और सत्ता हेतु लोभ के कारण ये राजनेतागण राजनीतिक स्थिरता नहीं ला सके। १९५१ और १९५९ के बीच, अंतरिम संविधान की शर्तों के तहत अथवा राजा के सीधे आदेश के तहत शासन करती अल्पकालिक सरकारों का ताँता लगा रहा। जैसे ही राजा किसी मंत्री को असहयोगी अथवा सदस्यों के बीच गहरे विवादों के कारण

कार्य करने में अक्षम पाता तो वह उसके स्थान पर ऐसे सदस्यों को नियुक्त कर देता जो अपेक्षाकृत छोटा राजनीतिक आधार रखते थे।

राजा त्रिभुवन की मृत्यु हो जाने पर उसका बेटा महेन्द्र वीर विक्रम शाह गद्दी पर बैठा। राजा महेन्द्र जो कि सिद्धांत में लोकतंत्रा के खुल्लमखुल्ला खिलाफ़ था, एक लोकतांत्रिक दिखावे की आड़ में उसकी मर्ज़ी पूरी करने वाले मंत्रिपरिषदों अथवा मंत्रालयों के आदमियों को आजमाता हुआ, पहले ही की भाँति काम करता रहा। वह हालाँकि, फरवरी १९५९ में चुनाव कराने संबंधी वृहद-स्तरीय सविनय अवज्ञा अभियानों के दबाव में आ गया। चुनाव से एक सप्ताह पूर्व राजा ने एक संविधान का प्रारूप तैयार किया और उसे राष्ट्र को एक तोहफ़े के रूप में प्रस्तुत किया।

११.३.१ शाही लोकतांत्रिक संविधान, १९५९

इस शाही संविधान (Royal Constitution) का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि यह राजा द्वारा अनुमोदित था, न कि किसी संविधान-सभा द्वारा निर्मित, जैसा कि १९५१ के संविधान में उल्लेख किया गया था। शाही संविधान ने संवैधानिक राजतंत्रा के तहत एक संसदीय प्रणाली की परिकल्पना की थी। उसने द्विसदनी व्यवस्थापिका सभा, प्रधानमंत्री पद एवं मंत्रिपरिषद् जैसी प्रतिनिधि संस्थाओं की व्यवस्था दी। परन्तु इसके साथ ही, उसने हर क्षेत्रा में राजा को असीम और अभिभावी अधिकार भी दे दिये। उदाहरण के लिए, राजा मंत्रिपरिषद् की कार्यवाही स्थगित कर सकता था और उसका कार्यभार खुद सँभाल सकता था यदि उसे निश्चय हो कि निम्न सदन में बहुमत रखने वाला कोई भी व्यक्ति नहीं है। इसके अतिरिक्त, राजा का सेना व विदेशी मामलों पर नियंत्राण था और वह संविधान के सभी या किसी भाग को स्थगित करने के लिए आपात्कालिक शक्तियों का आह्वान कर सकता था। इस प्रकार राजा राज्य का कार्यकारी प्रमुख भी था और औपचारिक प्रमुख भी।

नेपाल के इतिहास में पहली बार कराये गए राष्ट्रीय चुनावों में, १०९ सीटों में से ७४ लेकर नेपाली कांग्रेस ने स्पष्ट बहुमत हासिल किया। नेपली कांग्रेस के नेता बी. पी. कोइराला प्रधानमंत्री बने। नई सरकार द्वारा आरम्भ के प्रस्तावित कुछ सुधारों ने, सेना के पारंपरिक सत्ता आधार, पूर्व अभिजात-तंत्रा व रूढ़िवादी भूमिधारक समूहों को गुप्त रूप से क्षति पहुँचाने की आशंका पैदा की। यहाँ तक कि राजा भी डरता था कि एक सार्वजनिक रूप से चुनी गई संसद का समर्थन प्राप्त कर कहीं यह लोकप्रिय प्रधानमंत्री उसकी व्यक्तिगत सत्ता पर कठोर नियंत्राण न थोप दे और उसका दर्जा घटाकर उसे एक नाममात्रा का शासक बना दे। राजा ने सरकार को उखाड़ फेंकने का प्रयास किया। दिसम्बर १९६० में, देश की चिरकालीन हिंसा का हवाला देकर, जो कि व्यापक रूप से स्वयं राजा की कारिस्तानी मानी जाती है, राजा ने मंत्रिमण्डल को बर्खास्त करने और उसके नेताओं को गिरतार करने के लिए आपात्कालिक शक्तियों का सहारा लिया, यह आरोप लगाते हुए कि राष्ट्रीय नेतृत्व प्रदान करने तथा कानून एवं व्यवस्था बनाये रखने में वे असफल रहे हैं। इस प्रकार, उदारवादी समाजवाद और लोकतंत्रा में प्रयोगों का, अप्रत्याशित अंत हो गया।

११.३.२ पंचायत प्रणाली

इस शाही राज्य-विप्लव के बाद शीघ्र ही राजा महेन्द्र ने देश को यह विश्वास दिलाने का एक अभियान शुरू किया कि संसदीय लोकतंत्रा नेपाल के लोगों की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए उचित नहीं है। एक विकल्प के रूप में उसने एक योजना बनायी और शुरू की जिसे 'पंचायत लोकतंत्रा' कहा जाने लगा। यह राजनीतिक व्यवस्था दिसम्बर १९६२ में देश को सौंपे गए एक नए संविधान में रूपायित थी। पंचायत लोकतंत्रा का सबसे प्रभावशाली लक्षण यह था कि उसने एक दल-रहित व्यवस्था लागू की। पंचायत व्यवस्था एक त्रि-पंक्ति प्रणाली पर गठित थी। निम्नतम स्तर पर थीं ग्राम व नगर पंचायतें। दूसरी पंक्ति में आती थीं ज़िला पंचायतें, प्रत्येक ७५ विकास ज़िलों के लिए एक। शीर्ष पर थी राष्ट्रीय पंचायत। सिर्फ़ प्राथमिक इकाइयाँ ही सार्वजनिक रूप से चुनी जाती थीं। अन्य सभी पंचायतें उनके अपने ही सदस्यों से निचले स्तर द्वारा सीधे चुनी जाती थीं और इस प्रकार, कम से कम, सिद्धान्ततः एक जनप्रिय आधार पर पिरामिडीय संरचना प्रदान करती थीं।

१९६२ में, पूरे नेपाल में स्थानीय चुनाव कराये गए और ग्राम व नगर पंचायतें चुनी गईं, और फिर क्षेत्रीय व राष्ट्रीय पंचायतों की स्थापना हुई। अप्रैल १९६३ तक यह पंचायत व्यवस्था पूरी तरह से हरकत में आ गयी।

यह पंचायत व्यवस्था तथाकथित रूप से राजनीतिक सत्ता व सरकारी प्रक्रिया दोनों का विकेन्द्रीकरण किये जाने के प्रयास का प्रतिनिधित्व करती थी और प्राय: उसका पक्ष लोकतंत्रा के एक उच्चतर रूप में लिया जाता था। चूँकि दलीय पद्धति में राजनीतिक गतिविधियों पर प्रतिबंध था, इस व्यवस्था को दल-रहित लोकतंत्रा (party-less democracy) नाम दिया गया, जो दलगत राजनीति की बुराइयों से दूर था।

पंचायत व्यवस्था ने असली विकेन्द्रीकरण लाने की बजाय राजभवन में सत्ता के और अधिक विकेन्द्रीकरण में मदद की। पंचायत संविधान इस बात पर ज़ोर देता था कि संप्रभुता देश के संवैधानिक कानूनों, प्रथाओं व रीति-रिवाजों की मार्फ़त राजा के हाथों में ही रहती है। राजा ही कार्यकारी, वैधानिक, व न्यायिक शक्ति होगा। संविधान ने उसकी कार्यकारी शक्ति के प्रयोग में मदद के लिए एक मंत्रिामण्डल की व्यवस्था दी। परन्तु राजा ने राष्ट्रीय पंचायत के सदस्यों में से नियुक्त हुए मंत्रियों के कार्यकाल, विभाग आदि तय करने का कार्य अपने पास ही रखा। इसके अलावा, राष्ट्रीय पंचायत, जिसको विधायी अंग बनना था, महज़ एक सलाहकारी निकाय था जिसकी सिफ़ारिशें राजा की स्वीकृति के बाद ही कानून का रूप ले सकती थीं। राजा को अधिकार था कि वह राष्ट्रीय पंचायत की बैठक बुलाए, रद्द करे या बंद करे।

पंचायत व्यवस्था के अंतर्गत, असली सत्ता राजा के सचिवालय में संकेन्द्रित थी, और ग्रामीण क्षेत्रा में अधिकार मण्डल-आयुक्त कार्यालयों व उनके कर्मचारी/अधिकारीगण अथवा विकास अधिकारियों की समांतर व्यवस्था में निहित था। लोगों को या तो राजभवन-समर्थक होना पड़ता था या फिर राजभवन-विरुद्ध। सभी राजभवन-विरुद्ध गतिविधियों को राष्ट्र-विरुद्ध माना जाता था और ऐसी गतिविधियों में लोगों की भागीदारी सभी प्रकार के जुल्मों का विषय बनती थी, जिसमें देश-निकाला भी शामिल था।

यद्यपि राजनीतिक दलों पर औपचारिक रूप से प्रतिबंध था, फिर भी वे देश के भीतर और बाहर दोनों में लगातार सक्रिय रहे। जबकि राजा ने वाम दलों के कुछ धड़ों व नेताओं को अपना काम करने की अनुमति दे दी थी, अन्य राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व इस व्यवस्था की वास्तविक कार्यवाही में हर स्तर पर देखा जा सकता था। सबसे बुरी बात थी कि स्वयं ग़ैर-समर्थक पंचायत सदस्यगण पंचायती विचारधारा के साथ कड़ाई से जुड़कर एक दल के रूप में काम करते थे।

इस सबके बावजूद, राजा महेन्द्र ने निरंकुश सत्ता का प्रयोग कर राज्य-तंत्रा पर अपनी पकड़ मज़बूत रखते हुए सारे विपक्ष को दबा दिया और व्यवस्था को प्रभावपूर्ण रूप से चलाने के लिए इच्छानुकूल कर लिया। एक नये प्रकार के नेपाली राष्ट्रवाद की परिकल्पना कर और राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय समाज में देश की निजी पहचान बना कर हक कायम कर वह व्यापक जन-समर्थन को चतुराई से इच्छानुकूल करने में भी वह सफल रहे।

राजा वीरेन्द्र को १९७२ में अपने पिता की मृत्यु के बाद राज्य पर शासन करने के लिए इस व्यवस्था के साथ-साथ निरंकुश सत्ता भी विरासत में मिली। परन्तु वह इस व्यवस्था में बदलाव लाने के दबाव को नहीं रोक सके। १९७५ में उन्होंने इस व्यवस्था में अनेक परिवर्तनों की घोषणा की। राष्ट्रीय पंचायत की सदस्यता ९० से बढ़ाकर ११२ कर दी गयी और उसके १५ प्रतिशत सदस्यों को मनोनीत करने संबंधी राजा के अधिकार को बढ़ाकर २० प्रतिशत कर दिया गया। सबसे ज़्यादा अहितकर परिवर्तन था – राजाधिराज के सीधे नियंत्राण में ''गाँवों को वापसी राष्ट्रीय अभियान'' नामक एक इतर-संवैधानिक निकाय का उन्नयन। इस निकाय को ग्राम पंचायत स्तर पर राजनीतिक प्रक्रिया को नियंत्रित करने और कुछ-कुछ एक नीति-निर्मातृ समिति (पोलित ब्यूरो) की भाँति काम करने के लिए बहुत से अधिकार दे दिए गए।

चूँकि ये सभी परिवर्तन तत्त्वत: सौन्दर्यवर्धक थे और पंचायत व्यवस्था के सिद्धांतों का ढोंग करते थे, इसलिए इस व्यवस्था के खिलाफ़ विरोधात्मक गतिविधियाँ जारी रहीं। कानूनी रूप से हालाँकि प्रतिबंधित वाम दल व नेपाली कांग्रेस, देश के भीतर और बाहर दोनों जगह सक्रिय हो गए। विभिन्न मोर्चों पर विफल रहने तथा एक ओर प्रशासन के बढ़ते भ्रष्टाचार एवं अत्याचार तो दूसरी ओर मई-जून १९७९ में व्यवस्था के विरुद्ध हिंसक लहर की ओर प्रवृत्त करते विकासमान विपक्ष के कारण यह व्यवस्था चरमरा गयी। ऐसी परिस्थितियों में राजा ने एक जनमत-संग्रह की घोषणा की ताकि यह तय हो सके कि वर्तमान व्यवस्था को उपयुक्त सुधारों के साथ ज़ारी रखा जाये या फिर उस बहुदलीय व्यवस्था को लाने के लिए बढ़ा जाये जिसकी राजनीतिक रूप से सुस्पष्ट वर्ग माँग कर रहे थे। राजनीतिक दलों व राजनीतिक गतिविधियों पर से प्रतिबंध हटा दिया गया ताकि लोग स्वतंत्रा एवं भयमुक्त रूप से जनमत-संग्रह में भाग ले सकें।

दिसम्बर १९८० को हुए जनमत-संग्रह में ६७ प्रतिशत पात्रा मतदाताओं ने भाग लिया और वर्तमान व्यवस्था को जारी रखने के लिए ५४ प्रतिशत तक वोट दिया। ऐसा होने के अनेक कारक थे, जैसे लोकतंत्रा-समर्थक ताकतों की आत्म-तुष्टि, कुछ वामोन्मुखी राजनीतिक दलों द्वारा तोड़-फोड़, तथा कुछ आपराधिक कदाचारों का अपनाया जाना जिनमें पंचायत दलों द्वारा राज्य-तंत्रा का प्रयोग शामिल है। चूँकि जनमत-संग्रह ने यह भी भरपूर स्पष्ट किया कि अवाम का एक बड़ा तबका इसके खिलाफ़ था, राजा को पंचायत-व्यवस्था के बुनियादी मानदण्डों व मूल्यों से जुड़े रहकर उक्त व्यवस्था को उदार बनाना पड़ा। पंचायत संविधान में संशोधन किया गया ताकि सार्वभौम वयस्क मताधिकार प्रचलित किया जा सके। राष्ट्रीय पंचायत के तीन-चौथाई सदस्य जो बढ़ाकर अब १४० कर दिए गए थे, को सीधे चुने जाना था। प्रधानमंत्राी को राष्ट्रीय पंचायत की सिफ़ारिशों पर नियुक्त किया जाना था और मंत्रिमण्डल के अन्य सदस्यों को प्रधानमंत्राी की सलाह से। मंत्रिमण्डल को राष्ट्रीय पंचायत के प्रति जवाबदेह होना था। इस प्रकार, यह राजनीतिक व्यवस्था संसदीय पद्धति पर ढाली गई।

यद्यपि सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता राजा में ही निहित रही, नब्बे के दशक में राज्य में राजनीति और अधिक बेरोकटोक हो गयी। परन्तु पंचायत व्यवस्था, स्थानीय संरक्षण का एक प्रमुख स्रोत, गुटबाज़ी के झगड़ों और गड्डमड्ड गठबंधनों का मंच बन गयी। मई १९८१ के चुनावों के बाद सूर्य बहादुर थापा द्वारा बनाई गई सरकार एक गंभीर खाद्य संकट और भ्रष्टाचार के आरोपों के कारण १९८३ में गिर गई। लोकेन्द्र बहादुर चंद के नेतृत्व वाली पंचायत में एक प्रतिद्वंद्वी गुट ने सरकार बनायी। १९८६ में दूसरे चुनावों के बाद मारीच मान सिंह श्रेष्ठ प्रधानमंत्राी बने।

यह बहरहाल ग़ौरतलब है कि नेपाल में लोकतांत्रिक शक्तियों ने पंचायत संविधान में संशोधनों को स्वीकार नहीं किया। वे एक बहुदलीय लोकतांत्रिक व्यवस्था से कम पर राज़ी ही नहीं थे। यह भरोसा हो जाने पर कि संवैधानिक सुधारों के माध्यम से नेपाल में ऐसी कोई व्यवस्था लागू नहीं की जा सकती, १९८१ व १९८६ के चुनावों का नेपाली कांग्रेस व अन्य राजनीतिक दलों ने बहिष्कार किया और पंचायत व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिए अपना संघर्ष शुरू करने का निश्चय किया।

पंचायत व्यवस्था को अंतिम झटका नेपाली कांग्रेस व साम्यवादी दलों द्वारा एक साथ शुरू किए गए एक लोकतंत्रा-समर्थक आन्दोलन के रूप में लगा। उन्होंने राजनीतिक दलों पर से प्रतिबंध उठा लेने और मौलिक अधिकारों को बहाल करने के लिए सरकार से माँग करते हुए सत्याग्रह का आयोजन किया। सहमति में काम करते हुए राजनीतिक दलों के साथ लोकतंत्रा-समर्थक आंदोलन ने शहरी जनता के जबर्दस्त बहुमत की निष्ठा और अनुमान को वश में करते हुए, ज़ोर पकड़ लिया। इसी बीच, कृषि उत्पादन में गिरावट के कारण बढ़ते आर्थिक संकट और मार्च १९८९ में नेपाल सीमा के साथ लगे दो प्रवेश-द्वारों को छोड़कर शेष को बंद करने संबंधी भारत सरकार के निर्णय ने (दोनों देशों के बीच व्यापार एवं परिवहन संधियों की अवधि समाप्त होने के कारण) पंचायत शासन-प्रणाली के संकट को और गहरा दिया। अप्रैल १९९० में दसियों हज़ार नेपालियों ने राजा वीरेन्द्र, जिन्हें परंपरागत रूप से भगवान् का अवतार मानकर आदर दिया जाता था, के खिलाफ़ प्रदर्शन करते हुए काठमाण्डू में शाही निवास पर मार्च किया। पुलिस और पलटनों ने अनेक मार्चकर्त्ताओं को गोलियों से भून डाला। नेपाल में शोक की लहर दौड़ते ही, राजा ने तत्काल पंचायत

व्यवस्था को समाप्त कर दिया, राजनीतिक दलों पर से प्रतिबंध उठा लिया और नेपाली कांग्रेस के एक नेता, कृष्णा प्रसाद भट्टरई, के प्रधानमंत्रित्व में अनुभवी विपक्षी नेताओं को विभिन्न पद सौंप कर एक अन्तरिम सरकार गठित कर दी। इस अन्तरिम सरकार का पहला काम था मंत्रिमण्डल द्वारा नियुक्त एक स्वतंत्रा संवैधानिक आयोग द्वारा प्रारूपित एक नये संविधान के तहत एक निर्धारित अवधि के भीतर स्वतंत्रा और निष्पक्ष चुनाव कराना। एक स्वतंत्रा 'संविधान अनुशंसा आयोग' द्वारा एक नये संविधान का मसविदा तैयार किया गया जिस पर विस्तारपूर्वक चर्चा हुई और अंतरिम मंत्रिपरिषद् द्वारा स्वीकृति प्रदान की गई। इसका अनुसरण करते हुए राजा वीरेन्द्र ने ९ नवम्बर १९९० को नया संविधान जारी कर दिया और १९६२ के संविधान को रद्द कर दिया।

११.३.३ नेपाल का वर्तमान संविधान

नेपाल का संविधान, १९९० जिसे देश का बुनियादी कानून घोषित किया गया है, देश का इस रूप में वर्णन करता है – "बहुजातीय, बहुभाषायी, लोकतांत्रिक, स्वतंत्रा, अविभाज्य, संप्रभु, हिन्दू और संवैधानिक राजतंत्रीय राज्य।" यह नेपाली जनता में ही नेपाल की संप्रभुता विहित करता है।

इसने नेपाली नागरिकों को वे सभी मौलिक अधिकार प्रदान किए जो दूसरे किसी भी लोकतंत्रा में नागरिकों को मुहैया थे। नेपाल को एक हिन्दू राज्य के रूप में शब्दबद्ध किया गया है, लोगों को धार्मिक स्वतंत्राता प्रदान की गई है। यह अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा करता है। इसी प्रकार, यद्यपि, नेपाली को राष्ट्र-भाषा के रूप में मान्यता प्राप्त है, लोगों की अन्य सभी भाषाओं को संविधान में मान्यता मिली है।

संविधान कहता है कि राजा ही नेपाली राष्ट्र और नेपाली अवाम की एकता का प्रतीक है। संविधान ने सिंहासन के उत्तराधिकार क्रम से संबंधित परंपरा को कायम रखा है। राजा को विशेषाधिकार प्रदान किए गए हैं तथा कर से छूट भी।

यह संविधान राजा को कार्यकारी शक्तियाँ प्रदान करता है, परन्तु इनका प्रयोग प्रधानमंत्री के नेतृत्व वाले एक मंत्रिमंडल की सहायता और सलाह के साथ ही किया जाएगा। इस प्रकार, राजा एक नाममात्रा का कार्यकारी प्रमुख है। मंत्रिमण्डल, यथा वास्तविक कार्यकारिणी, त्याग व समर्पण संबंधी अपने कृत्यों के लिए प्रतिनिधि सभा (House of Representatives) के प्रति जवाबदेह है।

राजा को आपात्कालिक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। बाहरी आक्रमण अथवा आंतरिक सशस्त्रा विद्रोह अथवा अत्यधिक आर्थिक मंदी से पैदा आपात् स्थिति की दशा में राजा आपात्काल की घोषणा कर सकता है। इस प्रकार के आदेश को, बहरहाल, तीन महीनों के भीतर प्रतिनिधि सभा की स्वीकृति प्राप्त करनी होगी और यदि स्वीकृति मिल जाती है तो वह आदेश छह महीने की अवधि तक प्रभावी रहेगा।

संविधान एक द्विसदनी विधायिका निदर्शित करता है। २५० सदस्यों वाली प्रतिनिधि सभा पाँच वर्ष की अवधि के लिए लोगों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुनी जाती है। उच्च सदन, यथा राष्ट्रीय परिषद्, ६० सदस्यों वाला एक स्थायी सदन है। इनमें से ३५ सदस्य आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर प्रतिनिधि सभा द्वारा चुने जाते हैं, १५ पाँच विकास क्षेत्रों द्वारा चुने जाते हैं और १० राजा द्वारा नामज़द किए जाते हैं। भारत में लोकसभा की भाँति प्रतिनिधि सभा के पास भी विधायी कार्यों का पालन करने के लिए अधिक अधिकार हैं।

न्यायिक प्रणाली में होंगे – एक उच्चतम न्यायालय, अपील संबंधी न्यायालय और ज़िला अदालतें। इसके अलावा, विशेष मामलों की सुनवाई के उद्देश्य से अदालतें अथवा कचहरियाँ स्थापित की जा सकती हैं। न्यायाधीशों की नियुक्ति व सेवा-शर्तों के संबंध में प्रावधान रखे गए हैं ताकि एक स्वतंत्रा और निष्पक्ष वातावरण में न्यायिक कार्य सुनिश्चित हो सकें।

शाही शासन-प्रणाली के दौरान नौकरशाही न तो स्वतंत्रा थी, न ही कार्यवाही में निष्पक्ष और दक्ष। प्रशासनिक कर्मियों की जीवन-यात्राा राजभवन के संरक्षण पर निर्भर थी। संविधान ने भर्ती, प्रशिक्षण,

प्रोन्नति व प्रशासनिक कर्मियों के अन्य पहलुओं को देखने के लिए एक स्वतंत्रा लोक सेवा आयोग की व्यवस्था देकर एक पक्की प्रशासनिक व्यवस्था की नींव रखने का प्रयास किया।

बोध प्रश्न २

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में आदर्श उत्तर देखें।

१) राजा महेन्द्र द्वारा आरम्भ सरकार की पंचायत व्यवस्था के मुख्य अभिलक्षणों का वर्णन करें।

....

....

....

....

....

२) अपने शासन के प्रथम दशक के दौरान राजा वीरेन्द्र द्वारा नेपाली राजतंत्रा में लाये गए परिवर्तन कौन से थे?

....

....

....

....

....

११.४ १९९० के संविधान की कार्यशैली

१९९० में प्रथम लोकतांत्रिक संविधान जारी किए जाने की घोषणा से ही, नेपाल में किसी व्यवहार्य लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना एक अत्यधिक मुश्किल काम रहा है। मई १९९१ में कराए गए पहले आम चुनावों में नेपाली कांग्रेस (एन.सी.) और नेपाली संयुक्त मार्क्सवादी लेनिनवादी कम्युनिस्ट पार्टी (यू.एम.एल.) के बीच ही अधिकांश वोटों का बँटवारा रहा। नेपाली कांग्रेस के नेता गिरिजाप्रसाद कोइराला प्रधानमंत्राी बने। परन्तु गुटबाज़ी शीघ्र ही एन.सी. को निगल गई जिसमें कोइराला, गणेश मानसिंह, पार्टी के सर्वोच्च नेता तथा के.पी. भट्टरई, पार्टी अध्यक्ष ने अपने समर्थकों के बीच सत्ता वितरण का प्रयास किया। सरकार की नीतियों व कार्यक्रमों को लागू करने में दिक्क़त को देखते हुए जी.पी. कोइराला ने इस्तीफ़ा दे दिया और १९९४ में मध्यावधि चुनावों की माँग की।

११ नवम्बर १९९४ में हुए मध्यावधि आम चुनावों में पार्टी को कोई स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। यू. एम.एल. ने ८९ सीटें हासिल कीं जबकि नेपाली कांग्रेस को ८३ सीटें मिलीं। महत्त्वपूर्ण रूप से, पूर्व पंचायत युग के राजनीतिज्ञों द्वारा बनाई गई राष्ट्रीय लोकतांत्रिक पार्टी (एन.डी.पी.) ने २० सीटें जीतीं। यू.एम.एल. के मनमोहन अधिकारी ने नेपाल मज़दूर किसान पार्टी और नेपाली कम्युनिस्ट पार्टी (मासल) जैसे छोटे-छोटे दलों के समर्थन से एक अल्पमत सरकार बना ली। इस प्रकार, नेपाल पहला साम्यवादी राजतंत्रा बन गया। परन्तु सरकार कुछ ही महीनों में गिर गई। तदोपरांत, सभी प्रमुख दलों में उभरते भेदों के चलते, १९९९ में अगले आम चुनाव कराये जाने से पूर्व एक-एक करके चार गठबंधन सरकारें सत्ता में आयीं। इस बार, नेपाली कांग्रेस ने ११३ सीटें लेकर स्पष्ट बहुमत हासिल

किया। कृष्णा प्रसाद भट्टरई प्रधानमंत्री बने। परन्तु पार्टी के भीतर गुटबाज़ी के कारण, उनके स्थान पर २००० के आरम्भ में ही गिरिजा प्रसाद कोइराला को नियुक्त किया गया और तदोपरांत जुलाई २००१ में पार्टी की अगली पीढ़ी के नेता शेर बहादुर देउबा को।

इस वक़्त तक, १९९६ में शुरू हुए माओवादी 'पीपल्'स वॉर' ने गंभीर रूप लिया। माओवादियों ने ग्रामीण इलाक़ों में अपना प्रभाव फैलाने के लिए आतंक का रास्ता अपनाया और पाँच ज़िलों में प्रशासन का प्रभावी नियंत्राण अपने हाथ में ले लिया। माओवादी आन्दोलन के आरम्भिक वर्षों में, वामपंथी खेमे से जुड़े नेपाली राजनीतिज्ञों ने माओवादियों की ओर कोई भी कड़ा कदम उठाये जाने के प्रति एक बिरादराना विरोध दिखाया। नेपाल में तीसरी बड़ी पार्टी नेपाली कम्युनिस्ट पार्टी–मा. ले., ने उसकी कार्य-शैली को अस्वीकार करते हुए भी नेपाली कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) के लक्ष्यों का समर्थन किया। आंतरिक समस्याओं से घिरी बहुमत वाली सत्तारूढ़ पार्टी, नेपाली कांग्रेस, माओवादी समस्या से निबटने के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठा सकी।

माओवादी राजद्रोह ने नेपाल की लोकतांत्रिक राजनीति में गड़बड़ फैला दी जो कि गुटबाज़ी में पड़कर पहले ही डगमगा रही थी और जिसने अन्ततोगत्वा एक संवैधानिक संकट की ओर प्रवृत्त किया। मई २००२ में देउबा सरकार ने संसद भंग किए जाने की सिफ़ारिश की परंतु माओवादी बग़ावत के कारण चुनाव कराने में मुश्किल अनुभव की। राजा ज्ञानेन्द्र ने अक्तूबर २००२ में यह अवसर छीन लिया और "अक्षमता" का आरोप लगाकर प्रधानमंत्री व उसके मंत्रिमंडल को बर्ख़ास्त किए जाने के लिए संविधान के अनुच्छेद १२७ की अभ्यर्थना की। राजा ने एक आदेश के साथ एक नौ-सदस्यी अंतरिम सरकार के नेतृत्व के लिए राजभक्त राष्ट्रीय प्रजातंत्रा पार्टी (आर.पी.पी.) के नेता लोकेंद्र बहादुरचंद को नामांकित किया ताकि कानून व व्यवस्था बहाल हो, मध्यावधि चुनाव एवं उन स्थानीय निकायों के चुनाव कराये जा सकें जो जुलाई में भंग हो गए थे, माओवादी विद्रोह की समस्या हल हो, विकास कार्य क्रियान्वित हों तथा अर्थव्यवस्था और अधिक गिरने से रुके।

प्रमुख राजनीतिक दल जो राजा की कार्रवाई के आलोचक थे, अंतरिम सरकार में शामिल नहीं हुए। मार्च २००३ में, नेपाल में मुख्यधारा शक्तियों ने एक गठबंधन बनाया और एक १८-सूत्री न्यूनतम साझा कार्यक्रम को अंतिम रूप देकर राजतंत्रीय नियंत्राण के विरुद्ध आंदोलन छेड़ दिया। तब से ही एक त्रिखण्ड-विभाजित सत्ता संघर्ष नेपाली राजनीति पर छाया हुआ है, यथा राजा, मुख्यधारा राजनीतिक दलों और माओवादियों के बीच। शाही नेपाल सेना समर्थित राजतंत्रा इस राष्ट्रीय राज्यतंत्रा में वह भूमिका फिर से पाने का प्रयास कर रहा है जो १९९० के संविधान के प्रभाव में आने व उसकी शक्ति सीमांकित किए जाने से पूर्व उसके पास थी। मुख्यधारा राजनीतिक दल भंग संसद के फिर से चालू किए जाने अथवा एक सर्व-दलीय सरकार गठित किए जाने के माध्यम से संवैधानिक सरकार में वापसी की माँग कर रहे हैं। माओवादी जन एक सशक्त संशोधित संविधान का प्रारूप तैयार किए जाने के लिए एक संविधान-सभा गठित किए जाने के लिए अपनी माँग को लेकर अड़े हुए हैं।

११.५ माओवादियों का सर उठाना

जैसा कि हमने देखा, नेपाल में लोकतांत्रिक राजनीति चूँकि अत्यधिक गुटबाज़ी का शिकार थी, वहाँ उत्तरोत्तर सरकारों ने सरकारी नीतियों व कार्यक्रमों को लागू करने में दिक्क़त महसूस की। इसका एक परिणाम यह हुआ कि आर्थिक विकास दर कम ही रही और यह जनसंख्या वृद्धि दर से मेल नहीं खाती थी। अगली इकाई में हम नेपाल की अर्थव्यवस्था और समाज के बारे में और अधिक पढ़ेंगे। यहाँ, यह ध्यान देना पर्याप्त होगा कि एक ऐसा समाज जिसमें एक जातीय और धार्मिक रूप से विखण्डित जनता रहती थी, व्यापक बेरोज़गारी और निरक्षरता ने नेपाल में माओवादी आन्दोलन को सर उठाने व फलने-फूलने का आधार प्रदान कर दिया।

माओवादी कभी बाबूराम भट्टरई के नेतृत्व वाले संयुक्त जन-मोर्चा (यू.पी.एफ.एन.) के झण्डे तले मुख्यधारा राजनीति का हिस्सा थे। पार्टी में फूट पड़ने के बाद बाबूराम धड़ा १९९४ में मध्यावधि

चुनावों में भाग लेने के लिए चुनाव आयोग की मान्यता प्राप्त करने में विफल रहा। इस गुट ने नेपाली कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) से हाथ मिला लिया। माओवादियों का घोषित लक्ष्य था – जन-संघर्ष के माध्यम से एक 'लोगों की सरकार' कायम करना, जो कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद से प्रेरित हो। १९९६ में उन्होंने नेपाल के विभिन्न भागों में हमले करवाकर जन-आन्दोलन (पीपल्'स मूवमॅण्ट) शुरू कर दिया।

राज्यों को एक अर्ध-सामंती संगठन बतलाते हुए माओवादियों ने उसे ही देश के भीतर विद्यमान सामाजिक-आर्थिक बुराइयों के लिए जिम्मेदार ठहराया। साथ ही, उन्होंने भारत और अमेरिका को ऐसी साम्राज्यवादी शक्तियों के रूप में उभारकर पेश किया जो नेपाल के भीतर दक्षिणपंथी ताकतों के साथ मिलकर नेपाली जनता के हितों को नुकसान पहुँचा रही है। उनकी अन्य माँगों में शामिल हैं : १९५० में भारत के साथ किए गए शांति एवं मित्राता संधि पर हस्ताक्षर का लोप, खुली सीमा का नियंत्राण एवं नियमन किया जाना, भारतीय सशस्त्रा बलों में गोरखाओं की भर्ती बंद किया जाना और हिन्दी फिल्मों व पत्रा-पत्रिकाओं के माध्यम से सांस्कृतिक साम्राज्यवाद से बचाव किया जाना।

२००० ईस्वी की समाप्ति तक माओवादी नेपाल के ७५ ज़िलों में से दो-तिहाई से भी अधिक में सक्रिय थे, भले ही उनका प्रभाव ग़रीबी की मार झेल रहे आर्थिक रूप से पिछड़े इलाकों में अधिक है। उन्होंने पश्चिमी नेपाल के पाँच ज़िलों में 'लोगों की सरकार' कायम की थी। अपने नियंत्राण वाले इलाकों में माओवादी स्थानीय शांति-रक्षण करते हैं, स्थानीय विवाद निपटाते हैं, लोगों से कर बटोरते हैं और यहाँ तक कि बैंक भी चलाते हैं।

नेपाल सरकार ने माओवादी समस्या से निबटने के लिए बल प्रयोग भी किया है और उन्हें मनाने-फुसलाने व उनसे सौदेबाज़ी का प्रयास भी। मार्च २००१ से लेकर अब तक सरकार और माओवादियों के बीच शांति-समझौतों के अनेक दौर हो चुके हैं। परन्तु असंगत भिन्नताओं व परस्पर संदेह के कारण ये प्रयास निष्फल रहे हैं। विद्रोहियों द्वारा आतंक व हिंसा का दौर जारी है और सुरक्षा-बलों ने विद्रोह के खिलाफ कार्रवाई में इजाफ़ा किया है। आधिकारिक सूत्राों से प्राप्त जानकारी के अनुसार २००४ के आरम्भ तक, आठ साल पुराने माओवादी विद्रोह के खिलाफ़ लड़ाई में दोनों ओर की लगभग ८००० जानें गई हैं, जिनमें २८०० सुरक्षा-बल के कर्मचारी/अधिकारीगण हैं।

बोध प्रश्न ३

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में आदर्श उत्तर देखें।

१) नब्बे के दशक के दौरान नेपाल में राजनीतिक स्थिरता के अभाव के क्या कारण थे?

....

....

....

....

....

२) राजा ज्ञानेन्द्र ने देउबा सरकार को क्यों बर्खास्त कर दिया?

....

....

....

....

....

११.६ सारांश

नेपाल, जैसा कि हम उसे आज जानते हैं, १७६९ में अस्तित्व में आया, जब गोरखाओं के राजा पृथ्वीनारायण शाह ने विजय हासिल कर विभिन्न रियायतों को एकीकृत किया और नेपाल राज्य की स्थापना की। परन्तु शाह राजवंश शीघ्र ही राणा प्रधानमंत्रियों के हाथों की कठपुतली बन गया। यह स्थिति १९५० तक चली जब तक कि लोगों की बढ़ती लोकतांत्रिक आकांक्षाओं एवं उनके आंतरिक विवादों के परिणामस्वरूप राणा शासनतंत्रा का अंत नहीं हो गया। राजतंत्रा फिर से कायम हुआ और १९५० के दशक में ही संसदीय लोकतांत्रिक संस्थाएँ स्थापित करने के अनेक प्रयास हुए।

इन प्रयासों की विफलता राजा महेन्द्र द्वारा शुरू की गई पंचायत व्यवस्था की शक्ल में राजतंत्रा की बहाली में प्रकट हुई। परन्तु लोकतांत्रिक सुधारों के लिए चल रही माँगों ने राजा को पंचायत व्यवस्था में सुधार और तदोपरांत १९९१ में एक संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था लागू करने को मज़बूर किया, तथापि, नेपाल में लोकतांत्रिक राजनीति की सरकार प्रायः ही परिवर्तनों के साथ अत्यधिक रूप से गुटबंदी का शिकार रही। इसने सिर्फ़ राजतंत्रा के राजनीतिक प्रभाव में ही बढ़ोत्तरी की।

१९९६ से ही नेपाल पर माओवादी आन्दोलन हावी रहा है। माओवादी विद्रोहियों ने सांवैधानिक राजतंत्रा के विरुद्ध एक अभियान छेड़ा हुआ है।

११.७ कुछ उपयोगी पुस्तकें

अग्रवाल, एच. एन., १९८०, *नेपाल : ए स्टडी इन कॉन्स्टीट्यूशनल चेन्ज,* नई दिल्ली

गुप्ता, अनिरुद्ध, १९६४, *पॉलिटिक्स इन नेपाल : ए स्टडी ऑफ़ पोस्ट-राणा पॅलिटिकॅल डिवैलॅपमण्ट एण्ड पार्टी पॉलिटिक्स,* एलाइड, बम्बई

शाह, ऋषिकेश, १९९०, *पॉलिटिक्स इन नेपाल,* नई दिल्ली

हन्ट, माइकल (सं.), १९९४, *नेपाल इन द नाइन्टीज़ : वर्ज़न्स ऑफ़ द पास्ट, विज़न्स ऑफ़ द फ़्यूचर,* ओ. यू.पी., दिल्ली

११.८ बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न १

१) राणावाद अथवा राणातंत्रा का अर्थ है वह राजनीतिक शासन-प्रणाली जिसमें राणा प्रधानमंत्री ही वास्तविक शासक हुआ करते थे। जबकि राजतंत्रा सिर्फ़ औपचारिक होता था और राजा की सभी शक्तियाँ प्रधानमंत्रियों द्वारा हड़प ली जाती थीं।

२) नेपाल में लोकतांत्रिक आन्दोलन की उत्पत्ति २०वीं सदी के आरंभिक दशकों में तलाशी जा सकती है। नेपाली सैनिक, जिन्होंने प्रथम विश्व-युद्ध में भाग लिया था, और कुछ भारत में रह रहे नेपाली अभिजात व मध्य वर्गों के हिस्से सबसे पहले नए विचारों से प्रभावित हुए। भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास ने भी अनेक नेपालियों को वहाँ लोकतंत्रा के लिए संघर्ष के लिए प्रेरित किया।

बोध प्रश्न २

१) पंचायती लोकतंत्रा की गिरफ़्त में राजतंत्रीय निरंकुश शासन – क्षेत्रीय पंचायतों के माध्यम से विकेन्द्रीकरण के नाम पर राजभवन में सत्ता का संकेन्द्रण – राजनीतिक दलों पर प्रतिबंध।

२) राजा वीरेन्द्र को जन दबाव के कारण अनेक लोकतांत्रिाक परिवर्तनों का समावेश करना पड़ा। पंचायत व्यवस्था में सुधार किया गया ताकि उसमें अंतर्निहित कुछ कमज़ोरियों को दूर किया जा सके। उसके बाद राष्ट्रीय पंचायत के सदस्य वयस्क मताधिकार के माध्यम से सीधे चुने जाने लगे। प्रधानमंत्री और मंत्रिामण्डल को राष्ट्रीय पंचायत के प्रति जवाबदेह बनाया गया।

बोध प्रश्न ३

१) राजनीतिक दल नेपाल के राजनीतिक परिदृश्य में नए-नए शामिल हुए हैं। जब राणातंत्रा का अंत हो गया तो उनके नेतागण लोकतांत्रिाक मानदण्डों व प्रथाओं में पर्याप्त रूप से समाजीकृत नहीं थे। दल-रहित पंचायत व्यवस्था के प्रवेश ने दलीय व्यवस्था को और कमज़ोर किया। दलीय व्यवस्था में प्रभुत्व जमाने के लिए सिद्धांतों की बजाय व्यक्तिगत पहचानों के आगमन से ये सभी गुटबंदी के शिकार हो गए जिसके परिणामस्वरूप सरकारें जल्दी-जल्दी बदलीं और राजनीतिक अस्थिरता आयी। इस अस्थिरता ने राजतंत्रा को मज़बूत करने में सीधे योगदान किया।

२) राजा ज्ञानेन्द्र द्वारा देउबा सरकार बर्खास्त कर दी गई क्योंकि संसद को भंग किए जाने संबंधी सिफ़ारिश किए जाने के बावज़ूद, सरकार माओवादी विद्रोह की वजह से छह महीने की निर्धारित अवधि में चुनाव नहीं करा सकी।

इकाई १२ नेपाल में अर्थव्यवस्था और समाज

इकाई की रूपरेखा

१२.० उद्देश्य
१२.१ प्रस्तावना
१२.२ भू-प्रदेश
१२.३ समाज
  १२.३.१ नृजाति एवं जाति
  १२.३.२ धर्म
  १२.३.३ भाषा
१२.४ अर्थव्यवस्था
  १२.४.१ नियोजित आर्थिक विकास
  १२.४.२ नब्बे के दशक में आर्थिक सुधार
१२.५ आर्थिक क्षेत्रा
  १२.५.१ कृषि क्षेत्रा
  १२.५.२ भूमि सुधार
  १२.५.३ उद्योग-धन्धे
  १२.५.४ औद्योगिक नीतियाँ
  १२.५.५ पर्यटन
  १२.५.६ व्यापार
१२.६ नेपाल-भारत व्यापार संबंध
१२.७ सारांश
१२.८ कुछ उपयोगी पुस्तकें
१२.९ बोध प्रश्नों के उत्तर

१२.० उद्देश्य

यह इकाई नेपाल की अर्थव्यवस्था और उसके समाज का परिचय प्रस्तुत करती है। यह नेपाल के आर्थिक पिछड़ेपन और उसके विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों का विश्लेषण भी प्रस्तुत करती है। जनसांख्यिकीय प्राधार, नृजातीय समूह व नेपाल की सामाजिक संरचना पर विस्तार से चर्चा की गई है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- नेपाल की समष्टिक नृजाति एवं सामाजिक संरचना का विश्लेषण कर सकें;
- अर्थव्यवस्था के महत्त्व का वर्णन कर सकें;
- पंचवर्षीय योजनाओं संबंधी विकास-लक्ष्य एवं उनके प्रभाव को स्पष्ट कर सकें; तथा
- भारत के साथ नेपाल के विशेष व्यापार संबंध के पीछे छिपे कारणों को स्पष्ट कर सकें।

१२.१ प्रस्तावना

नेपाल एशिया के दो शक्तिशाली देशों के बीचोंबीच हिमालय पर्वतमाला में स्थित है – दक्षिण में भारत और उत्तर में चीन। बीसवीं शती-मध्य तक अपने ही ढंग के एक कृषिक समाज – नेपाल ने राजतंत्रा की पुनर्स्थापना के साथ १९५१ में आधुनिक युग में प्रवेश किया। उस समय में नेपाल के पास आधुनिकीकरण के लिए कोई महत्त्वपूर्ण आाधारिक संरचना नहीं थी। वहाँ मुश्किल से ही कोई स्कूल, अस्पताल, सड़कें, दूरसंचार सुविधाएँ, विद्युत् शक्ति, उद्योग-धन्धे अथवा नागरिक सेवाएँ थीं। अपने नियोजित आर्थिक विकास प्रयासों की बदौलत नेपाल ने सतत आर्थिक विकास की दिशा में प्रगति की है। फिर भी, यह देश मात्रा २४० डॉलर से कुछ ऊपर की प्रतिव्यक्ति आय के साथ विश्व के दरिद्रतम देशों में अपना स्थान रखता है। उसकी लगभग आधी आबादी ग़रीबी की रेखा से नीचे रहती है।

नेपाल मुख्य रूप से एक कृषि-प्रधान देश है। यहाँ सुपरिभाषित सामाजिक स्तरण के साथ एक सामंती समाज विद्यमान है। लोगों का विविध नृजातीय-धार्मिक घालमेल नेपाल को एक अनुपम सांस्कृतिक विरासत प्रदान करता है। सबसे पहले हम नेपाल में समाज की नृजातीय संरचना पर सूक्ष्म दृष्टि डालेंगे। तदोपरांत, हम विरासत में मिलीं और विद्यमान आर्थिक दशाओं की जाँच करेंगे, तथा उनका मूल्यांकन करेंगे।

१२.२ भू-प्रदेश

दो विशालकाय देशों – चीन और भारत के बीच दबा नेपाल बहुत ही पर्वतमय और पर्वताकार है। स्थूल रूप से आकार में आयताकार, लगभग ६५० किमी. लम्बा और लगभग २०० किमी. चौड़ा, नेपाल भूमि के १,४७,१८१ वर्ग किमी. क्षेत्राफल के साथ दक्षिण एशिया में तीसरा सबसे बड़ा देश है। नेपाल एक भू-आवेष्टित देश है जो तीन ओर भारत से और उत्तर में चीन के जियांग स्वायत्त क्षेत्रा (तिब्बत) से घिरा है। यह बांग्लादेश से भारत के पश्चिम बंगाल की लगभग १५ किमी. चौड़ी पट्टी द्वारा विभक्त है, और भूटान से अट्ठासी-किमी.-चौड़े भारतीय राज्य सिक्किम से। अपनी सीमाबद्ध भौगोलिक स्थिति के कारण ही नेपाल परिवहन सुविधाओं व समुद्र-प्रवेश मार्ग – यथा, बंगाल की खाड़ी के लिए पूरी तरह भारत पर निर्भर है।

छोटा आकार होने के बावज़ूद नेपाल में प्राकृतिक वैविध्य पाया जाता है, जो तराई के मैदान – दक्षिण में समुद्र-तल से लगभग ३०० मीटर ऊपर स्थित गंगाई मैदान के उत्तरी किनारे से लेकर उत्तर में ८,८०००-मीटर-ऊँचे माउण्ट एवरेस्ट, स्थानीय रूप से सागरमथ (अपने नेपाली नाम), तक फैला है। यह देश आम तौर पर तीन प्रमुख भू-आकृतीय क्षेत्रों में बँटा है : पर्वतीय क्षेत्रा, पहाड़ी क्षेत्रा, तथा तराई क्षेत्रा। तीनों ही एक-दूसरे के समांतर हैं – पूर्व से पश्चिम तक, अविछिन्न पारिस्थितिक कटिबंधों के रूप में, जो देश के नदी तंत्रों द्वारा अर्घित किया जाता है। पर्वतीय क्षेत्रा अथवा पर्बत पहाड़ी क्षेत्रा के उत्तर की ओर समुद्रतल से ४००० मीटर अथवा उससे अधिक की ऊँचाई पर स्थित है। विश्व की कुछ सर्वोच्च चोटियाँ इसी क्षेत्रा में पायी जाती हैं। यह क्षेत्रा विरल रूप से बसा है, और जो कुछ भी कृष्य कार्यकलाप है, निचली घाटियों और नदी क्षेत्रों तक सीमित है, जैसे कि उपरली काली गंडकी घाटी।

पर्वतमाला का दक्षिण ही पहाड़ी अथवा पहाड़ क्षेत्रा कहलाता है। १००० से लेकर ४००० मीटर तक की ऊँचाइयों के साथ, इस क्षेत्रा में काठमाण्डू पट्टी शामिल है जो कि देश का सर्वाधिक उर्वर और शहरीकृत क्षेत्रा है। पहाड़ियों की दो प्रमुख शृंखलाएँ, सामान्य तौर पर महाभारत लेख और शिवालिक पर्वतमाला (अथवा चूरिया रेन्ज) के नाम से मशहूर, इसी क्षेत्रा में स्थित हैं। यद्यपि यह भूभाग भौगोलिक रूप से पृथक् है और किंचित ही कृषि संभावना रखता है, क्षेत्रा ऐतिहासिक रूप से नेपाल का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र रहा है। काठमाण्डू घाटी और निचले पहाड़ी क्षेत्रा घने बसे हैं।

नेपाल-भारत सीमा के साथ-साथ फैला पहाड़ी क्षेत्रा का दक्षिण ही तराई क्षेत्रा है। समतल, कछार भूमि वाली यह एक निम्न-भूमि उष्णकटिबंध और उपोष्ण कटिबंध मेखला है। समुद्रतल से लगभग ३०० मीटर की ऊँचाई से शुरू होकर शिवालिक पर्वतमाला के चरणों से लगभग १००० मीटर की ऊँचाई तक, यह क्षेत्रा देश की जीवन-रेखा है। हिमालय से उद्गमित नदियाँ तराई में ही प्रकट होती हैं और दक्षिण की ओर बहती हैं, उनमें से कुछ उत्तरी भारत में गंगा की सहायक नदियाँ बनती हैं। यह भूभाग बाढ़ प्रवण है, जो नियमित रूप से ग्रीष्मकालीन मानसून जलाधिक्य के साथ आती है। तराई की ज़मीन में उपजाऊ उपरी परत उसे सबसे सम्पन्न आर्थिक क्षेत्रा बनाती है, खेती और वनभूमि दोनों ही दृष्टियों से भूमि के लिए लालायित पहाड़ी किसानों के लिए यह सबसे अधिक लुभावना स्वदेशी ठिकाना बन गया है। देश की लगभग आधी जनसंख्या इस भूभाग में रहती है।

१२.३ समाज

सन् २००३ के अनुमान के अनुसार, नेपाल की आबादी २.६५ करोड़ है, जिसमें लगभग १.३५ करोड़ पुरुष और लगभग १.२९ करोड़ महिलाएँ हैं। पचास के दशक से ही यहाँ की आबादी २ प्रतिशत प्रतिवर्ष से भी अधिक की औसत दर से बढ़ती रही है। जनसंख्या वृद्धि में योगकारी मुख्य कारक हैं – उच्च जन्मदर, शिशु मृत्युदर में गिरावट और औसत जीवन-प्रत्याशा में बढ़ोत्तरी। उक्त वर्ष के अनुमान नेपाल की जन्मदर ३२ण्४६ जन्म प्रति १००० आबादी बताते हैं, जबकि मृत्युदर ९.८४ मौतें प्रति १००० आबादी रही है।

जनसंख्या वृद्धि में एक भौगोलिक भिन्नता पायी जाती है। यह देखा गया है कि नेपाल के पश्चिमी भाग में पूर्वी भाग के मुकाबले पर्वतीय और तराई दोनों ही क्षेत्रों में बसावट अधिक हुई है। पहाड़ी क्षेत्रा के मध्य माग ने सर्वोच्च जनसंख्या वृद्धि दर्ज़ की है। जनसंख्या वृद्धि का यह रुझान सत्तर के दशक में शुरू हुआ और संभवत: भविष्य में भी जारी रहेगा। काठमाण्डू में सबसे अधिक सघनता दर्ज की गई, इसके बाद आते हैं – भक्तपुर, ललितपुर और धनुष ज़िले। पर्वतीय इलाकों में, बहरहाल, जनसंख्या घनत्व कम है।

द्रुत जनसंख्या वृद्धि के परिणामस्वरूप जन समाज और कृषियोग्य भूमि के बीच अनुपात उत्तरोत्तर बिगड़ता ही रहा है। पहाड़ी क्षेत्रा में जनसंख्या दबाव ने फसलों, ईंधन, व पशुचारा के लिए वन आवरण के नि:शेषीकरण की ओर प्रवृत्त किया है। तराई क्षेत्रा में वन-आवरण भी भू-लालायित पहाड़ी लोगों के प्रवसन के साथ तेजी से विलुप्त हो रहा है।

पचास के दशक से नेपाल सरकार संघटनकारी नियोजन कार्यक्रमों द्वारा जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित किए जाने पर ज़ोर देती रही है, जिनमें शामिल हैं – सामान्य स्वास्थ्य एवं जच्चा-बच्चा कल्याण कार्यक्रम, दो बच्चे प्रति परिवार प्रतिमान को बढ़ावा दिया जाना, नारी स्वास्थ्य एवं शिक्षा को प्रोत्साहित करना तथा समाज में महिलाओं की स्थिति सुधारना।

१२.३.१ नृजाति एवं जाति

नेपाल एक ऐसा राष्ट्र है जिसे ''भौतिक रूप से दरिद्र, पर सांस्कृतिक रूप से धनी'' कहा जाता है। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण नेपाल जाति-प्रजातियों का एक मिलन-स्थल रहा है। भारत से आये हिन्दू-आर्यजन अथवा गोरी चमड़ी वाले लोग, और तिब्बत से आये मंगोलियाई अथवा तिब्बती-बर्माई लोग। मंगोलियाई प्रजाति समूह नेपाल के पूर्वी भाग से लगे इलाकों में रहते हैं। शेरपा और तमांग इसी वंश के लोग हैं। वे आम तौर पर बौद्धधर्म अपनाते हैं। हिन्दू-आर्यजन प्रधान रूप से नेपाल के पश्चिमी भाग में निवास करते हैं। नेपाल के मध्य भाग में इन दोनों ही प्रजातियों का घालमेल पाया जाता है। यहाँ कुछ प्रमुख नृजातीय समूहों में हैं – नेवाड़, राय, लिम्बू, गुरुङ, और मागर।

नेपाली जन समाज को स्थूल रूप से दो मुख्य सांस्कृतिक समूहों में बाँटा जा सकता है : पर्बतिया (पहाड़ी लोग) अथवा गोरखली तथा मधसिया। पर्बतिया जन नेपाल की पर्वतीय संस्कृति से संबंध रखते हैं जो कि वही पहाड़-घाटी संस्कृति है जो दो धार्मिक-सांस्कृतिक विचारधाराओं का समन्वयवाद कहलाया – तिब्बत से बौद्धधर्म और भारत से हिन्दूधर्म। मधसिया, दूसरी ओर, मैदानी संस्कृति से ताल्लुक रखते हैं, यथा भारतीय राज्यों बिहार एवं उत्तर प्रदेश की संस्कृति। ये दोनों समूह अपनी भाषा और वेशभूषा में भिन्न हैं, यथा पर्बतिया जन नेपाली बोलते हैं और मधसिया जन हिन्दी की स्थानीय बोलियाँ, यानी मैथिली या भोजपुरी या फिर अवधी।

पर्बतियों की श्रेणी में बड़ी संख्या में सांस्कृतिक समष्टियाँ आती हैं, जैसे – हिन्दू, नेवाड़, तमांग, किरती, गुरुंग, मागर व लिम्बू, शेरपा, सुनवार, सुन्थाल तथा थकाली।

पहाड़ी हिन्दू मुख्य तौर पर भारतीय मूल के लोग हैं जो नेपाल में चौदहवीं शती के आसपास आकर बस गए थे। वे संख्या में बहुत हैं मगर व्यापक रूप से फैले हुए हैं। यद्यपि पहाड़ी हिन्दू तथा तराई हिन्दू एक ही धर्म अपनाते हैं, वे अपनी भाषा और संस्कृति में भिन्न हैं। पहाड़ों के अन्य लोगों की ही भाँति, पहाड़ी हिन्दू जन नेपाली बोलते हैं और संस्कृति में हिस्सेदार हैं, परन्तु तराई हिन्दूजन हिन्दी की बोलियों में से कोई एक बोली बोलते हैं और मैदानों की संस्कृति के प्रभाव में हैं।

पहाड़ी हिन्दुओं में क्षत्रिय एवं ब्राह्मण प्रमुख जातियाँ हैं। वे नेपाल की आबादी के क्रमश: १५ प्रतिशत एवं १२ प्रतिशत का निर्माण करती हैं। क्षत्रियों की टाकुरी उपजाति देश के शासन अभिजात वर्ग का निर्माण करती है। शाही परिवार और राणा जन, जिन्होंने नेपाल पर एक सौ वर्षों से भी अधिक राज किया, दोनों ही क्षत्रिय जाति के हैं। ब्राह्मण जन देश को बुद्धिजीवी वर्ग प्रदान करते हैं।

नेवाड़ देशज लोग हैं और काठमाण्डू घाटी में और उसके आस-पास संकेंद्रित हैं। जनसंख्या के लगभग तीन प्रतिशत नेवाड़ की अपनी ही भाषा है जिसे नेवाड़ी कहा जाता है। मूल रूप से ये लोग बौद्ध थे, परन्तु उनमें से बड़ी संख्या में लोगों ने हिन्दू जाति-व्यवस्था के विभिन्न पहलू अपना लिए हैं। नेवाड़ जन अपने पूर्वजों का संबंध लिछवी शासकों से जोड़ते हैं और नेपाली समाज में व्यापारियों और सरकारी प्रशासकों के रूप में छाये रहे हैं। उनमें साक्षरता की उच्च दर पायी जाती है।

मागर जन देश की जनसंख्या के सात प्रतिशत से भी अधिक का निर्माण करते हैं, और नेपाल के सबसे बड़े देशज नृजातीय समूह का भी हिस्सा हैं। वे मागर, खाम और तराई भाषाएँ बोलते हैं। मुख्य रूप से पश्चिमी और केन्द्रीय भागों में रहने वाले ये लोग गुरुङ जनों से घनिष्ठ संबंध रखते हैं। उत्तर में रहने वाले लोग बौद्ध धर्म को मानते हैं जबकि दक्षिण में रहने वाले लोगों ने हिन्दू प्रथाओं को अपनाया है।

तमांग और किरती जनसंख्या के क्रमश: पाँच और तीन प्रतिशत हैं। गुरुंग, लिम्बू, शेरपा, सुनवा, सुन्थाल और थकाली संख्या में कम हैं जिनमें से हरेक जाति जनसंख्या के एक से दो प्रतिशत का निर्माण करती है। ये समूह परम्परागत रूप से एक प्रकार के लामावादी बौद्धधर्म को अपनाते थे जो बौद्ध परम्परा को बॉन धर्म की बौद्ध-पूर्व प्रथाओं से मिलाता है।

१२.३.२ धर्म

नेपाल एक हिन्दू राज है, और राजा को संरक्षक के रूप में देखा जाता है तथा हिन्दू देवता विष्णु के इहलौकिक विश्वरूप में उसे अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है। नेपाल की राजनीतिक व्यवस्था में हिन्दूवाद की यह प्रमुख स्थिति जन समुदाय के सभी हिस्सों द्वारा स्वीकार की गई है।

१८वीं शताब्दी में गोरखा शासन के आगमन से पूर्व बौद्धधर्म इस क्षेत्रा में एक फलता-फूलता धर्म था। गोरखा शासकों ने नेपाल की विशिष्ट पहचान को हिन्दू राज्य के रूप में पेश किया। राज का हिन्दवीकरण राणा शासकों द्वारा पूरा किया गया जो १८५४ की नागरिक आचार-संहिता के माध्यम से हिन्दू सामाजिक पदानुक्रम में विभिन्न नृजातीय समूहों को ले आये। धार्मिक एवं सामाजिक प्रथाओं

के संहिताकरण तथा मानकीकरण ने प्रभावशाली नेपाली संस्कृति को अनेक नृजातीय समूहों के स्वांगीकरण की ओर प्रवृत्त किया। आज बड़ी संख्या में लोग हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म तथा / अथवा जीववादी परम्पराओं के एक समन्वयी मिश्रण को अपनाते हैं। वे एक ही देवी-देवताओं की पूजा करते हैं और कुछ त्यौहारों को साझा तौर पर मनाते हैं।

लोकतंत्रा के कदम रखते ही अनेक नृजातीय एवं अल्पसंख्यक धार्मिक समूहों ने अपनी समूह पहचानों की अधिकार-माँग शुरू कर दी है। इन पहचान आन्दोलनों का प्रभाव १९९१ व २००१ की जनगणना रिपोर्टों में प्रकट होता है। हिन्दुओं के रूप में पहचान प्राप्त लोग ८६.५ प्रतिशत से घटकर ८०.६ प्रतिशत ही रह गए। २००१ की जनगणना में जनसंख्या के ११ प्रतिशत को बौद्ध तथा ४.२ प्रतिशत को मुस्लिमों के रूप में पहचाना गया। आबादी के लगभग ३ प्रतिशत लोग देशज कीरन्त मुण्डम धर्म को अपनाते हैं। ईसाई धर्म को मानने वाले आबादी के ०.५ प्रतिशत से भी कम हैं।

१२.३.३ भाषा

नेपाल में १२५ विभिन्न प्रलेख प्रमाणित भाषाएँ बोली जाती हैं। ये दो विशिष्ट भाषा उप-समूहों से ताल्लुक रखती हैं – भारतीय-यूरोपीय तथा तिब्बती-बर्मी भाषाएँ। नेपाल की राष्ट्र-भाषा को नेपाली, औपचारिकत: गुरखाली अथवा खसकुरा के नाम से जाना जाता है। यह भारतीय-यूरोपीय भाषा उपसमूह से संबंध रखती है। यह देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। मैथिली, भोजपुरी, अवधी, थारू, दानुवारी और माझी भारतीय-यूरोपीय भाषा उपसमूह से मुताल्लिक भाषाओं का दूसरा समूह है, जो तराई में रहने वाले लोगों द्वारा बोली जाती हैं।

तिब्बती-बर्माई भाषा उपसमूह से संबंध रखने वाली भाषाएँ पर्वतीय क्षेत्रों में रहने वाले नृजातीय समूहों द्वारा बोली जाती हैं। तिब्बती भाषा और उसकी भाषिकाएँ नेपाल में रहने वाले शेरपाओं और भोटियाओं अथवा तिब्बतियों द्वारा बोली जाती हैं। भाषाओं के इन दो परिवारों के अलावा कुछ गौण भाषा-समूह भी पाये जाते हैं, ये हैं – सतार जो कि मुण्डा परिवार से संबंधित भाषा है, और धङगर जो कि द्रविड़ परिवार से संबंधित है।

१९५१ में सरकार द्वारा गठित राष्ट्रीय शिक्षा आयोग ने सभी विद्यालयों में निर्देश माध्यम के रूप में नेपाली के प्रयोग की सिफारिश की। तभी से सरकार ने एक भाषा के अन्तर्गत राज्य को एकीकृत करने के सभी संभव उपाय किए हैं। नब्बे के दशक तक, बड़ी संख्या में बहुसंख्यक वर्ग, लगभग दो-तिहाई लोग, इसी भाषा को बोलते थे। तथापि, अनेक अल्पसंख्यक वर्गों और नृजातीय समूहों के लिए भाषा अपने राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए – केन्द्रीय निर्णयन् प्रक्रिया में यथोचित हिस्सा पाने के लिए – एक सशक्त माध्यम बन चुकी है। इसी दशक में बहुदलीय लोकतंत्रा के आरंभ से ही, नेपाली भाषा की प्रबल भूमिका का विरोध तथा सभी भाषाओं को समान दर्ज़ा दिए जाने की माँग करने के लिए उन्होंने लोकतांत्रिक संघर्षो की शुरुआत कर दी है। अनेक स्थानीय संस्थाएँ पहले ही कार्यालयी भाषाओं के रूप में स्थानीय भाषाओं का प्रयोग शुरू कर चुकी हैं। सरकार ने राष्ट्रीय भाषाओं के रूप में कुछ भाषाओं को मान्यता प्रदान की है, जैसे – हिन्दी, नेवाड़ी, गुरुंग, तिम्बू व गोरखा।

बोध प्रश्न १

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में आदर्श उत्तर देखें।

१) नेपाल में समाज की धार्मिक संरचना का वर्णन करें।

....

....

....

....

....

२) देशज नृजातीय समूहों के बीच सबसे प्रभावशाली समूह है ...., जबकि सबसे बड़ा समूह है .... ।

१२.४ अर्थव्यवस्था

नेपाल के राजनीतिक एवं आर्थिक विकास संबंधी आधुनिक इतिहास १९५१ में राणा वंश के शासन की समाप्ति और संवैधानिक राजतंत्रा की स्थापना के साथ शुरू हुआ। इस नयी लोकतांत्रिक सरकार के पास प्रतीयमानत: विकास के कोई आधुनिक साधन नहीं थे। निरंकुश शासन से विरासत में जो मिला वो था – एक कमज़ोर परिवहन एवं संचार व्यवस्था, कुछ एक शिक्षा-संस्थाएँ तथा पुरानी नौकरशाही। चूँकि शिक्षा के अवसर नगर-क्षेत्रा में इने गिने कॉलेजों और कुछ परम्परागत स्कूलों तक ही सीमित थे, मात्रा दो प्रतिशत जनसंख्या ही शिक्षित थी। अर्थव्यवस्था, जो मात्रा जीवनयापन के स्तर पर ही आत्मनिर्भर थी, बढ़ती आबादी की समस्या का सामना कर रही थी। खेती-योग्य भूमि सीमित थी और ग़ैर-कृषि रोज़गार अवसर वहीं तक सीमित थे जो सशस्त्रा सेनाओं तथा उन इने गिने उद्योगों द्वारा प्रदान किए जाते थे जो १९४० के दशक में तराई क्षेत्रा में लगाए गए थे। यही परिस्थितियाँ थीं जिनमें रहकर आधुनिक नेपाल आर्थिक और सामाजिक विकास के रास्ते पर आगे बढ़ा।

१२.४.१ नियोजित आर्थिक विकास

नयी संवैधानिक शासन-व्यवस्था के आरंभिक चरण में राजा तथा राजनीतिक दलों के नेताओं के बीच मतभेद रहे। तथापि, देश के आर्थिक विकास एवं आधुनिकीकरण की आवश्यकता पर एक सर्वसम्मति थी। १९५६ से अपनायी गई पंचवर्षीय योजनाओं के तहत सामान्यतया उत्पादन एवं रोज़गार बढ़ाने, आधारभूत संरचना को विकसित करने; आर्थिक स्थिरता लाने; उद्योग, वाणिज्य एवं अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने; आर्थिक विकास में मदद के लिए प्रशासनिक एवं लोक सेवा संस्थाएँ स्थापित करने; तथा अल्प रोज़गार की स्थिति को कम करने के लिए श्रम-साधित उत्पादन तकनीकें लागू करने के लिए कठोर प्रयास किये गए। योजनाओं के सामाजिक लक्ष्य स्वास्थ्य एवं शिक्षा में सुधार लाने के साथ-साथ समाज आय वितरण को भी प्रोत्साहित करने वाले थे।

हर एक योजना की भिन्न विकास प्राथमिकताएँ रहीं। प्रथम चार योजनाओं ने आधारभूत ढाँचे को विकसित किए जाने को सर्वोच्च प्राथमिकता दी। ऐसा देश के भीतर माल व सेवाओं के समगतिक संचालन में मदद करने तथा घरेलू बाजार को विस्तार प्रदान करने की दृष्टिकोण से किया गया। इन योजनाओं ने प्रतिव्यक्ति आय में कोई वृद्धि नहीं की, न ही ग़रीबी के स्तर पर कोई खास प्रभाव डाला। कृषि-क्षेत्रा, जो सकल घरेलू उत्पाद के ५६ प्रतिशत का योगदान देता था, कमोबेश सुस्त ही रहा। इसने योजनाकारों पर विकास प्राथमिकताओं में परिवर्तन करने पर दबाव डाला। पाँचवीं तथा छठी योजनाओं (१९७५-८५) में ग़रीबी की समस्या को लिया गया और कृषि को उच्च प्राथमिकता दी गई। गन्ना और तम्बाकू जैसे नकदी फसलों के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण बढ़ोत्तरी के बावजूद, सार्वजनिक क्षेत्रा के उद्यमों द्वारा उठाये गए नुकसानों के कारण आर्थिक विकास में मंदी ही रही। सातवीं योजना अवधि में सरकार ने अन्तरराष्ट्रीय वित्त संस्थाओं द्वारा निर्धारित आर्थिक नीतियाँ अपनायीं। इस योजना ने अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्रा एवं स्थानीय शासन की भागीदारी को बढ़ावा दिए जाने का प्रयास किया। पहली बार योजना में लोगों की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। वन एवं मृदा संरक्षण, जन-संसाधन का विकास, निर्यात प्रोत्साहन, पर्यटन का विकास, जनसंख्या नियंत्राण, तथा घरेलू संसाधन संघटन को प्राथमिकता दी गई।

इन विकास योजनाओं को बाहरी स्रोतों से काफी मात्राा में वित्त प्रदान किया गया। शुरू-शुरू में, विदेशी सहायता अनुदानों एवं ऋणों के रूप में आयी। प्रमुख ऋणदाता देश थे – भारत, अमेरिका, चीन, जापान, सोवियत संघ, एवं अन्य विकसित देश। सत्तर के दशक से विश्व बैंक के बहुपक्षीय सहायता कार्यक्रम तथा एशियाई विकास बैंक इन विकास योजनाओं को वित्त प्रदान करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे।

दलरहित पंचायत व्यवस्था (१९६१-१९९०) के अंतर्गत नियोजित विकास प्रयासों का एक आलोचनात्मक मूल्यांकन दर्शाता है कि पंचवर्षीय योजनाएँ अपने उद्देश्यों को पूरा करने में कुल मिलाकर असफल ही रहीं। सड़कों के विस्तार, उच्च ऊर्जा उत्पादन क्षमता, संवर्धित सिंचाई सुविधाओं, साक्षरता दरों एवं स्वास्थ्य रक्षा में सुधारों के बावजूद जनसंख्या की तीव्र वृद्धि पर नियंत्राण नहीं रखा जा सका। परिणामत: प्रतिव्यक्ति आय कम ही रही। इसके अतिरिक्त, आम जनता के बीच व्यापक आय विषमता थी। अपर्याप्त रूप से क्रियान्वित योजना देश के पर्वतीय क्षेत्राों व तराई के इलाकों के बीच बढ़ी क्षेत्राीय विषमता में भी परिणत हुई। ऐसा मुख्य तौर पर विभिन्न भौगोलिक क्षेत्राों में असमान निवेशों के कारण हुआ, जिसने देश के नाजुक परितंत्रा पर भी प्रतिकूल प्रभाव डाला। इसके अलावा, योजना प्रक्रिया जन भागीदारी उत्पन्न करने में भी असफल रही क्योंकि सभी फैसले उन राजनेताओं व नौकरशाहों द्वारा लिए जाते थे जिन पर विदेशी ऋणदाताओं का प्रभाव रहता था। राष्ट्रीय विकास परिषद् तथा राष्ट्रीय योजना आयोग जो कि योजना कार्य में मुख्य अंग थे, के सदस्यगण जन-साधारण के प्रति अनुत्तरदायी रहे।

१२.४.२ नब्बे के दशक में आर्थिक सुधार

बहुदलीय लोकतंत्रा के लागू होने के बाद, सकल घरेलू उत्पाद वृद्धि में ५ प्रतिशत की सालाना बढ़ोत्तरी के उद्देश्यों को लेकर अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के संवर्धित संरचनात्मक संमजन सुविधा (ESAF) के तहत गत कुछ वर्षों में शुरू किए गए संरचनात्मक कार्यक्रम आगे बढ़ाए गए। नेपाली कांग्रेस के नेतृत्व में प्रथम लोकतांत्रिाक सरकार द्वारा निरूपित आठवीं पंचवर्षीय योजना (१९९२-९७) में ग़रीबी के स्तर को ४९ प्रतिशत से घटाकर ४२ प्रतिशत पर लाने का उद्देश्य सामने रखा गया (जिसको खाद्य एवं अन्य अल्पतम इतर-खाद्य वस्तुओं के २१२४ कैलोरी का उपभोग करने के पर्याप्त आय-स्तर के रूप में परिभाषित किया गया)। इस पंचवर्षीय योजना में कृषिक विकास, सतत विकास, क्षेत्राीय असंतुलनों में कमी और संसाधन परिरक्षण के लिए एक दीर्घकालिक संदर्श योजना तैयार की गई।

इस योजना अवधि में दूरगामी बाजारोन्मुखी आर्थिक सुधार लागू किए गए। सरकार ने निजीकरण कानून और उसी के साथ नियम व दिशा-निर्देश लागू कर दिए जिनका उद्देश्य था – सरकार पर बोझ घटाना और अन्य क्षेत्राों के लिए संसाधन लोकार्पित करना। बड़े पैमाने पर वित्तीय सुधार भी लागू किए गए ताकि उदारीकरण प्रक्रिया मज़बूत हो। नेपाली मुद्रा को सभी चालू खाता लेन-देनों में विनिमेय बनाया गया। मौद्रिक नीति में सुधार लाया गया ताकि घरेलू संसाधन संघटन में वृद्धि हो, पूँजी की साधकता बढ़े, और साथ ही प्राथमिकता एवं उत्पादक क्षेत्राों को ऋण उपलब्ध कराया जाए। बदले प्रसंग में व्यापार नीति का उद्देश्य था – सुधारीकृत आयात प्रबंधन, निर्यात प्रोत्साहन एवं विविधता के माध्यम से व्यापार असंतुलन को कम करना।

इन नीतिगत पहलकारियों के परिणामस्वरूप, कुटीर एवं लघु उद्योग, यथा रोज़गार का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत, ११ प्रतिशत की वार्षिक दर से बढ़ा। पर्यटन जो कि नेपाली अर्थव्यवस्था की रीढ़ है, इस अवधि में साढ़े छह प्रतिशत की औसत दर से बढ़ा। कृषि क्षेत्रा के अनिष्पादन के बावज़ूद, देश ने ४.६५ प्रतिशत प्रति वर्ष की समग्र आर्थिक वृद्धि दर्ज की।

नौवीं योजना (१९९८-२००२) ने पिछली योजना के दौरान शुरू किए गए संरचनात्मक परिवर्तनों को सामने रखा। एक महत्त्वाकांक्षी दीर्घावधि विकास योजना भी तैयार की गई ताकि नेपाल को एक प्रतिस्पर्धी, सक्षम और तकनीकी रूप से अनुस्थापित समाज बनाया जा सके। तथापि, राजनीतिक अस्थिरता और इस अवधि में माओवादी विद्रोह द्वारा मचायी गई हिंसा का सभी क्षेत्राों पर प्रतिकूल

प्रभाव पड़ा है। सकल घरेलू उत्पाद ने पाँच से कम वर्षों में एक नकारात्मक वृद्धि दर दर्ज की अथवा मंद ही रही; पर्यटन को धक्का लगा, श्रमिक एवं राजनीतिक अशांति की वजह से औद्योगिक उत्पादकता घटी। नेपाल में बने-बनाये वस्त्रों, पश्मीना उत्पादों तथा ऊनी कालीनों से होने वाली निर्यात आय को विदेशों से माँग कम होने के कारण घाटा उठाना पड़ा। बढ़ते व्यापार घाटे के बावज़ूद नेपाल का भुगतान शेष देश से बाहर जाकर काम करने वाले नेपालियों द्वारा घर भेजे जाने वाले धन की वजह से बढ़ा है।

१२.५ आर्थिक क्षेत्र

१२.५.१ कृषि क्षेत्र

कृषि नेपाली अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार है। यह जनसंख्या के लगभग ८०% को जीविका प्रदान करती है और सकल घरेलू उत्पाद के ४५% का दायित्व लेती है। ऊबड़-खाबड़ ज़मीन के कारण कुल मिलाकर केवल २० प्रतिशत भूमि ही जोतने योग्य है। यथार्थतः, नेपाल के पास विश्व में सबसे कम प्रतिव्यक्ति खेती योग्य भूमि है। कृषि मुख्य रूप से देश के तराई क्षेत्रों तक ही सीमित है, जबकि पर्वतीय क्षेत्रा में खेती अधिकांशतः स्थानीय उपभोग के ही लिए है। कृषि उत्पादों में शामिल हैं – चावल, भुट्टा, गेहूँ, गन्ना, कंद-मूल फसलें आदि। चावल सबसे महत्त्वपूर्ण फसल है चूँकि नेपाल का मुख्य आहार यही है। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना से कृषि को शीर्ष प्राथमिकता दी गई। कृषि उत्पादन को बढ़ाने और कृषि आधार में विविधता लाने के लिए सरकार ने सिंचाई-सुविधाओं को सुधारने, किसानों को ऋण-सुविधाएँ मुहैय्या कराने तथा उच्च-उत्पादक-किस्म के बीजों, उर्वरकों, कीटनाशकों व कृतन्कनाशकों, आदि के प्रयोग को बढ़ावा दिए जाने पर ध्यान देना शुरू किया है। इन उपायों के बावज़ूद कृषि ने २.४% की निराशाजनक दर से वृद्धि की और जनसंख्या वृद्धि दर के साथ सामंजस्य रखने में विफल रही, जो कि २.६% प्रतिवर्ष के बराबर थी। कार्यक्षम वितरण प्रणाली के अभाव तथा अवैज्ञानिक कृषि प्रथाओं के कारण पर्यावरणीय ह्रास ने नेपाल में कृषि प्रगति को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किया है।

१२.५.२ भूमि सुधार

नेपाल सीमित खेती-योग्य भूमि वाला एक कृषि-प्रधान समाज है। स्थल मार्ग और खेत का आकार आर्थिक विकास से महत्त्वपूर्ण रूप से जुड़े होते हैं। तथापि, नेपाल में ज़मीन कुछ मुट्ठीभर लोगों के ही पास है, जो कि लम्बे समय तक इस भू-भाग पर छायी रही सामन्तिक व्यवस्था की बपौती है। १९६० के दशक-मध्य में सरकार ने भूमि-सुधारों वे ज़मीनी बंदोबस्त की दोहरी नीति पर काम करना शुरू किया। भूमि-सुधार का मूल उद्देश्य था – काश्तकार किसानों की रक्षा करना, भू-स्वामियों से अतिरिक्त जोतों को ले लेना और छोटे पट्टों व भूमिहीन कुटुम्बों वाले किसानों को सम्पत्ति वितरित करना। १९६३ के कृषि पुनर्गठन अधिनियम तथा १९६४ के भूमि-सुधार अधिनियम ने पट्टेदार किसानों की निश्चिंतता पर ज़ोर दिया और भूमि जोतों का सीमा-निर्धारण कर दिया। इसी अवधि के आसपास भूमि विकास और बंदोबस्त कार्यक्रम शुरू किए गए ताकि अतिरिक्त भूमि को खेती के तहत लाया जा सके और भूमिहीन व छोटे किसानों को स्थायी रूप से बचाया जा सके। दुर्भाग्यवश, सभी भूमि सुधारों व पुनर्वास कार्यक्रमों में ढेरों खामियाँ थीं, जिन्होंने इन योजनाओं के प्रभावी क्रियान्वयन में बाधा डाली। १९९१ में एक विश्व बैंक सर्वेक्षण ने अनुमान लगाया कि पाँच प्रतिशत मालिकों के हाथ में लगभग ४० प्रतिशत कृष्ट भूमि है, जबकि ६० प्रतिशत जनता के पास सिर्फ़ २० प्रतिशत कृष्ट भूमि ही हैं। १९७० वें दशक के उत्तरार्ध से सरकार ने विशेष रूप से छोटे किसानों के सहायतार्थ योजनाएँ शुरू की हैं, परन्तु एक बाद फिर इनका सीमित प्रभाव ही पड़ा है।

१२.५.३ उद्योग-धन्धे

नेपाल का औद्योगिक आधार सीमित है। उद्योग सकल घरेलू उत्पाद के लगभग २० प्रतिशत का योगदान देते हैं। १९९९ के वित्त वर्ष में औद्योगिक उत्पादन ८.७% की दर से बढ़ा। अधिकतर उद्योग

कृषि-आधारित उद्योग हैं, जैसे – चीनी, पटसन, और चाय। अन्य उद्योग कच्ची सामग्रियों पर निर्भर हैं, जो कि विदेशों से आयात की जाती हैं, खासकर भारत से। बियर, तिलहन, गलीचे, पोशाकें, सिगरेट, जूते, माचिस, रसायन, कागज़, आदि। अधिकांश विनिर्माण उद्योग लघु अथवा कुटीर उद्योगों के रूप में हैं। मध्यवर्ती अथवा पूँजीगत माल उद्योग नेपाल में बहुत कम हैं।

नेपाल के अधिकांश विनिर्माण उद्योग काठमाण्डू और पूर्वी तराई क्षेत्रा में स्थित हैं। बड़े पैमाने के उद्यम काठमाण्डू घाटी, हेतौदा, वीरगंज, जनकपुर, विराटनगर और झापा में संघनित हैं। वस्त्रा-उद्योग, अभियांत्रिकी, निर्माण, खाद्य-प्रसंस्करण उद्योग, इमारती लकड़ी एवं वनाधारित उद्योग, चीनी, सिगरेट, माचिस तथा धातु-कर्म उद्योग इस औद्योगिक गलियारे में प्रमुख उद्योग हैं। नेपालगंज, वीरगंज, विराटनगर, जनकपुर व भैरवा जैसे कुछ औद्योगिक केन्द्र भारतीय रेल-मुहानों के नज़दीक स्थित हैं जो कलकत्ता व अन्य भारतीय बाज़ारों को एक आसान पहुँच-मार्ग मुहैया कराता है। हेतौदा के अलावा, जो कि एक नए औद्योगिक केन्द्र के रूप में स्थापित किया गया था, सरकार की संतुलित क्षेत्राीय औद्योगिक विकास लाने वाली नीति के बावज़ूद उद्योगों का भौगोलिक प्रतिमान वही रहा।

१२.५.४ औद्योगिक नीतियाँ

नेपाल ने विभिन्न उद्योगों में निवेश को बढ़ावा देकर औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देने का प्रयास किया। १९५७ औद्योगिक नीति विवरण में औद्योगिक निवेशों को बढ़ाने के लिए अनेक उपायों की घोषणा की गई थी, जैसे – नए जोखिम कार्यों में कर में छूट, विदेशी निवेश में लाभों का प्रत्यावर्तन, आधारभूत ढाँचे का विकास, उपयुक्त श्रम कानून-निर्माण, बिजली व कच्चा माल निम्न व रियायती दरों पर उपलब्ध कराना, औद्योगिक संयत्रा लगाने के लिए भूमि उपलब्ध कराना, शुल्क दर संरक्षण, आदि। औद्योगिक उद्यम अधिनियम, १९६१ ने नए व्यवसाय जोखिम के लिए १० वर्षीय कर "अवकाश" व अन्य कई प्रोत्साहनों का प्रस्ताव रखा ताकि औद्योगिक निवेशों को बढ़ावा मिले। उद्योगीकरण को बढ़ावा देने के लिए १९६० के दशक में बालाजू, हेतौदा तथा पाटन औद्योगिक सम्पदाएँ स्थापित की गईं। सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्रा उपक्रम को भी स्थापित किए जाने को प्रोत्साहित किया क्योंकि उसे लगा कि निजी उद्योग औद्योगिक विकास के लक्ष्यों को हासिल करने में अक्षम हैं। १९८५-८६ में इस उद्योग-नीति की समीक्षा की गई। नई नीति ने उद्योगों के लिए पंजीकरण प्रक्रियाओं को सरलीकृत कर दिया, संसाधन-आधारित उद्योगों पर ज़ोर दिया और निर्यातोन्मुखी उद्योगों को प्रोत्साहन प्रदान किया। सरकार ने निजीकरण प्रक्रिया को भी शुरू किया। तथापि, सार्वजनिक क्षेत्रा के उपक्रमों में लाभों के निम्न स्तर की वजह से, इन उपक्रमों के शेयर खरीदने वाले लोग थोड़े ही थे। नब्बे के दशकारंभ में अर्थव्यवस्था के उदारीकरण से ही देश के औद्योगिक विकास में निजी क्षेत्रा की भागीदारी को अधिक सबल बनाने के प्रयास होते रहे हैं।

औद्योगीकरण के निम्न स्तर के मुख्य कारणों में एक है – निवेश की पूँजी का अपर्याप्त होना। अन्य कारणों में शामिल हैं – देश की भौगोलिक दूरस्थता, सीमित बाज़ार आधार, प्राकृतिक संसाधनों का अभाव, प्रयुक्त ऊर्जा संसाधन जैसे जल-विद्युत्, कुशल श्रमिकों का अभाव, ठेकेदारी व तकनीकी कौशलों का अभाव, आयात-निर्भरता का उच्च स्तर। प्रोत्साहन देने के बावज़ूद नेपाल औद्योगिक क्षेत्रा में विदेशी निवेशों को आकर्षित में असफल रहा।

१२.५.५ पर्यटन

पर्यटन ही नेपाल का सबसे बड़ा उद्योग है जो देश की कुल विदेशी मुद्रा आय के १५ प्रतिशत को आकर्षित करता है। यह नेपाल में तीन लाख से भी अधिक लोगों को रोज़गार मुहैया कराता है। नेपाल प्राकृतिक सुरम्य सुन्दरता, विपुल सांस्कृतिक विरासत तथा विविध सैर-सपाटा स्थलों एवं अपूर्व अनुभव अवसरों से सम्पन्न है। पर्यटन १९५० के दशक में आरम्भ किया गया, जिसको और अधिक बढ़ावा तब मिला जब विदेशी नागरिकों के प्रवेश पर से प्रतिबंध हटा लिया गया। तभी से दुनिया भर से नेपाल भ्रमण पर आने वाले पर्यटकों की संख्या में नियमित वृद्धि होती रही है। अधिकांश पर्यटक वैसे एशिया से आते हैं, खासकर भारत से; जापान का दूसरा नम्बर है। ये पर्यटन छुट्टियाँ

मनाने, लम्बी पदयात्राा करने और पर्वतारोहण आदि उद्देश्यों से यहाँ आते हैं। हाल के वर्षों में वैश्विक अर्थव्यवस्था के धीमे पड़ने, माओवादी विद्रोह और विश्व के विभिन्न भागों में आतंकवादी हमलों की वजह से नेपाल में पर्यटक प्रवाह पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

१२.५.६ व्यापार

नेपाल के विदेश व्यापार का अभिलक्षण है – निर्मित उत्पादों का आयात और कृषिक कच्ची सामग्रियों का निर्यात। नेपाल में होने वाले आयात में मुख्य रूप से शामिल हैं – सोना, कल-पुर्जे व उपकरण, पैट्रोलियम उत्पाद, उर्वरक, आदि। भारत ही नेपाल का प्रमुख व्यापार साझी है। नेपाल भारत को अपने माल के लगभग ४८ प्रतिशत का निर्यात करता है; इसके बाद अमेरिका और जर्मनी आते हैं, जिनका निर्यात नेपाल के कुल निर्यातों का क्रमशः २६ प्रतिशत व ११ प्रतिशत है। इसी प्रकार, नेपाल अपने माल का ३९ प्रतिशत आयात भारत से करता है; उसके बाद आते हैं सिंगापुर और चीन, अपने कुल आयातों के क्रमशः १० प्रतिशत एवं ९ प्रतिशत के साथ। निर्यात बढ़ाने के लिए नेपाल ने अनेक वित्तीय एवं आर्थिक कदम उठाये, जैसे – निर्यात पात्राता कार्यक्रम तथा कर छूट एवं नगद अनुदानों के साथ दूना विदेश विनिमय। आयातों ने बहरहाल, गत वर्षों में बढ़ोत्तरी दर्ज की। १९८९ में नेपाल ने अन्य बातों के अलावा, व्यापार घाटे की भरपाई के लिए संरचनात्मक समंजन कार्यक्रम शुरू किया और देश के आर्थिक विकास को और आगे बढ़ाने का प्रयास किया।

१२.६ नेपाल-भारत व्यापार संबंध

नेपाल की भौगोलिक अवस्थिति एवं ऐतिहासिक बंधनों ने नेपाली अर्थव्यवस्था को भारत के साथ अखण्ड्य रूप से जोड़ा है। दक्षिण की ओर भारत के साथ निर्यात बाज़ार को विकसित करने की संभावना सुलभ है क्योंकि यहाँ परिवहन अवरोध पर्वतीय उत्तर के मुकाबले कम हैं। इसके अतिरिक्त, नेपाल के अनेक कृषिक एवं औद्योगिक केन्द्र तराई क्षेत्रा में संकेन्द्रित हैं। १९५० के दशक में ९० प्रतिशत से भी अधिक विदेश व्यापार भारत से ही होता था, परन्तु गत वर्षों में भारत और नेपाल के बीच व्यापार की कुल मात्राा पर्याप्त रूप से घटी है। तिस पर भी, विदेश व्यापार में विविधता लाने और उसे भारत पर कम निर्भर बनाने के बावज़ूद, भारत नेपाल का प्रमुख व्यापार साझी बना ही हुआ है। नेपाल की अधिकांश मूल उपभोक्ता वस्तुएँ और औद्योगिक कल-पुर्जे एवं उपकरण भारत से ही आयात किए जाते हैं; जबकि कृषिक वस्तुएँ भारत को निर्यात की जाती हैं। दोनों देशों के बीच कानूनी कारोबार के अलावा, विशाल अलिखित व्यापार भी है, जो कि दोनों देशों के बीच चलता ही रहता है।

भारत के अलावा अन्य देशों के साथ नेपाल के व्यापार में शामिल हैं – भारतीय सीमाक्षेत्रा से होकर बाहरी देशों से माल का लाना-ले जाना। इसी कारण, भारत के एक ओर से दूसरी ओर तक पारगमन दोनों देशों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों पर ही निर्भर करता है। १९५० में भारत और नेपाल के बीच व्यापार एवं वाणिज्य संधि के तहत, भारत नेपाल को पारगमन सुविधाएँ उपलब्ध कराने पर सहमत हो गया। तदोपरांत, भारत के मार्फ़त भेजने-ले जाने वाले माल पर से सीमा-शुल्क हटा दिया गया, २१ सीमा पारगमन स्थल प्रदान किए गए और भेजने-लाने में माल के भण्डारण के लिए नेपाल को कलकत्ता बंदरगाह पर गोदामघर उपलब्ध कराया गया। भारत और नेपाल ने १९६० में और फिर १९७१ में व्यापार एवं पारगमन संधियों पर हस्ताक्षर किए। इन संधियों ने एक पारस्परिक आधार पर एक-दूसरे को सर्वाधिक समर्थित राष्ट्र का दर्जा दिलवाया और एक इतर-पारस्परिक आधार पर भारत द्वारा कुछ वरीयताओं को विस्तार भी। १९७८ में दोनों देशों की सरकारों के बीच व्यापार और पारगमन हेतु पृथक् संधियों पर हस्ताक्षर किए गए। मार्च १९८३ में इस संधि को नवीकृत किया गया, जो कि तदोपरांत मार्च १९८८ में समाप्त हो गयी। तभी से क्योंकि दोनों के बीच कोई नयी संधि पर सहमति नहीं बन सकी, भारत ने नेपाल में प्रवेश के लिए मात्रा दो स्थलों को छोड़कर शेष सभी बन्द कर दिये।

दोनों देशों के बीच व्यापार वार्ताओं में १९८९ की ज़िच ने नेपाली अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। नेपाल के निर्यात ऊँची शुल्क दरों के अधीन हो गए और भारत से होने वाले आयात पर भी लागतें अधिक पड़ने लगीं। अनिवार्य उपभोक्ता वस्तुओं, जैसे नमक, ईंधन, शिशु-आहार, दवाओं, आदि का पूरी तरह अभाव हो गया। अन्ततोगत्वा, दोनों ही देशों में हो रहे राजनीतिक परिवर्तनों के चलते, व्यापार एवं पारगमन विवाद जून १९९० में हल हो गया। इसीलिए नेपाल के लिए, किन्हीं भी आर्थिक कठिनाइयों से बचने के लिए ज़रूरी है कि वह भारत के साथ एक दोस्ताना संबंध कायम रखे।

बोध प्रश्न २

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में आदर्श उत्तर देखें।

१) प्रारंभिक पंचवर्षीय योजनाओं का मुख्य उद्देश्य क्या था?

....

....

....

....

....

२) नेपाल का सबसे महत्त्वपूर्ण व्यापार साझीदार कौन है और क्यों?

....

....

....

....

३) नेपाली अर्थव्यवस्था पर ऊँची जनसंख्या वृद्धि का क्या प्रभाव पड़ा है?

....

....

....

....

१२.७ सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि भू-वेष्टित देश नेपाल तीन विशिष्ट अक्षांतरीय भौगोलिक क्षेत्रों में बँटा है। नेपाल की जलवायु उत्तर में गर्मियों से कड़ाके की सर्दियों तक तथा दक्षिण में हल्की सर्दियों तक ठण्डी है। चूँकि यह एक चारों ओर ज़मीन से घिरा देश है जहाँ समुद्र तक कोई सीधी पहुँच नहीं है, नेपाल को अटकावों, टूट-फूट आदि तथा योजना व निवेश संबंधी अनिश्चितताओं के रूप में अनेक कठिनाइयों को सामना करना पड़ा है। पारगमन सुविधाओं में अवरोध निर्यात हतोत्साहन के रूप में सामने आये हैं। इसके अलावा, नेपाल अपने सभी क्षेत्रों के विकास के लिए आयातों पर निर्भर करता है। ऊँची पारगमन लागत ने भी विकास लक्ष्यों पर और मुद्रा-स्फीति को नियंत्रित करने के लिए निवेश लागतों को कम करने में एक नकारात्मक प्रभाव डाला है।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने नेपाल को विश्व में एक अल्पतम विकसित राष्ट्र घोषित किया है, जिसकी लगभग आधी आबादी ग़रीबी-रेखा से नीचे है। नेपाल एक कृषि-प्रधान देश है। यहाँ एक सामन्तिक समाज है जिसमें सुपरिभाषित सामाजिक स्तरीकरण देखा जाता है। हमने देखा कि लोगों का नानारूप नृजातीय-धार्मिक घालमेल नेपाल को एक अनोखी सांस्कृतिक विरासत प्रदान करता है।

राजतंत्रा द्वारा बहुदलीय लोकतंत्रा का मार्ग खोले जाने के साथ ही, नेपाली अर्थव्यवस्था और समाज दोनों ही व्यापक परिवर्तनों की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। तथापि, जैसा कि हमने देखा, राजनीतिक अस्थिरता और आबादी की उच्च वृद्धि दरें मुख्य अवरोध बनी ही हुई हैं।

१२.८ कुछ उपयोगी पुस्तकें

करण, प्रद्युम्न व अन्य (१९९४), *नेपाल : डवलॅपमण्ट एंड चेन्ज इन ए लैंडलॉक्ड हिमालयन किंग्डम,* टोक्यो : एशिया तथा अफ्रीका भाषा एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान्।

चौहान, आर.एस. (१९८९), *सोसाइटी एण्ड स्टेट बिल्डिंग इन नेपाल,* नई दिल्ली : स्टर्लिंग पब्लिशर्ज़ प्राइवेट लिमिटेड।

जोशी, एस.सी. (सं.), *नेपाल हिमालय ईकॉलॅजीकल पर्सपैक्टिव्ज़,* नई दिल्ली : हिमालयन रिसर्च ग्रुप।

पन्त, वाई.पी. (१९९१), *ट्रेड एण्ड कॉपरेशन इन साउथ एशिया: ए नेपालीज़ पर्सपैक्टिव,*नई दिल्ली : विकास पब्लिशिंग हाउस।

शर्मा, के.एन. (१९९४), *नेपाल'ज़ इकॉन्मिक डिवॅलॅपमण्ट पॉलिसीज़ – पॅलिटिकॅल इम्पिलकेशन,* नई दिल्ली : रिलाइन्स पब्लिशिंग हाउस।

१२.९ बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न १

१) नेपाली जीवन और समाज में धर्म की एक अभिन्न स्थिति है। यद्यपि नेपाल संवैधानिक रूप से एक हिन्दू राज्य घोषित है परन्तु यहाँ हिन्दू और बौद्ध धर्म के घालमेल की बहुतायत है। तथापि, नवीनतम जनगणना के अनुसार, ८० प्रतिशत जनसंख्या हिन्दू है, ११ प्रतिशत बौद्ध और ४ प्रतिशत मुस्लिम।

२) नेवाड; मागर

बोध प्रश्न २

१) आधारभूत ढाँचे का विकास

२) भारत ही नेपाल का सबसे प्रमुख व्यापार साझी है क्योंकि नेपाल के निर्यात का ४८% भारतीय बाज़ारों के लिए ही नियत है और वह भारत से अपने माल का ३९% आयात करता है। इसके अलावा, भौगोलिक रूप से भी, नेपाल के लिए यह सुखद और लाभदायक है कि वह भारत के साथ अपने व्यापार संबंध बढ़ाये।

३) तीव्र जनसंख्या वृद्धि के परिणामस्वरूप, प्रतिव्यक्ति आय कमोबेश स्थिर रही है। बिगड़ते भूमि-जन अनुपात ने फसलों, ईंधन और चारा आदि के लिए वन-आवरण के नि:शेषीकरण की ओर प्रवृत्त किया है।

इकाई १३ भूटान: अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति

इकाई की रूपरेखा

१३.० उद्देश्य

१३.१ प्रस्तावना

१३.२ भौगोलिक विवरण

१३.३ समाज

१३.३.१ भाषा

१३.३.२ धर्म

१३.४ राजनीतिक इतिहास

१३.५ राजनीतिक प्रक्रियाएँ

१३.५.१ शासन-तंत्रा

१३.५.२ राष्ट्र-निर्माण

१३.५.३ विदेश-संबंध

१३.६ अर्थव्यवस्था

१३.६.१ नियोजित आर्थिक विकास प्रयास

१३.६.२ सामाजिक क्षेत्रा

१३.७ सारांश

१३.८ कुछ उपयोगी पुस्तकें

१३.९ बोध प्रश्नों के उत्तर

१३.० उद्देश्य

इस इकाई में हम पढ़ेंगे भूटान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, उसकी सामाजिक संरचना, उसकी राजनीतिक प्रक्रिया के क्रम-विकास तथा उसके आर्थिक विकास के संबंध में। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- भूटान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को उकेर सकें;
- भूटानी समाज के अभिलक्षणों का विश्लेषण कर सकें;
- राजनीतिक प्रक्रियाओं के क्रमिक विकास का खाका खींच सकें;
- आर्थिक विकास में शामिल कारकों की पहचान कर सकें; और
- सामाजिक क्षेत्रा में मुख्य उपलब्धियों से तादात्म्य स्थापित कर सकें।

१३.१ प्रस्तावना

भूटान हिमालय की ऊँची-नीची पहाड़ियों में छिपा देश है। चारों ओर भूमि से घिरा भूटान जिसका कि काफ़ी बड़ा भाग ऊँचे हिमालयी क्षेत्रा में है, उसकी जनता व शासकों के इस निर्णय के लिए

व्यापक रूप से जिम्मेदार था कि १९५० के दशकांत तक वे दुनिया से अलग-थलग ही रहे। उसने अस्तित्व के अपने ही मानदण्ड का क्रमिक विकास किया – विशिष्ट सांस्कृतिक एवं धार्मिक प्रथाएँ। भूटान के निवासियों ने अपने देश का नाम रखा है – द्रुक युल अर्थात् ''विशालकाय ड्रैगन का देश'' और राजा को कहा जाता है द्रुक ग्योल्यो। राजा के पास राष्ट्र के मामलों में भाग लेने का अधिकार प्रमुखता से है। उसका लोकतंत्रा अपने ही तरीके का और अद्‌भुत है: उनके पास विधायिका है परन्तु वह इतर-चुनाव की राजनीति अपनाता है जहाँ विधानमंडल के सदस्य सर्वसम्मति से चुने जाते हैं और राजा द्वारा मनोनीत होते हैं।

यह इकाई भूटान में समाज, अर्थव्यवस्था एवं शासन-प्रणाली के मूल अभिलक्षणों पर सूक्ष्म दृष्टि डालती है। साथ ही, भूटान के राजनीतिक इतिहास को उकेरती है और उसकी अर्थव्यवस्था व समाज में हो रहे कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के आलोक में भूटान में चल रही राजनीतिक प्रक्रियाओं का वर्णन करती है। यह भूटान में आर्थिक विकास प्रक्रिया का भी विश्लेषण करती है, खासकर सामाजिक क्षेत्रा में प्रगति के संबंध में।

१३.२ भौगोलिक विवरण

भूटान दक्षिण एशिया में एक छोटा-सा देश है जिसका क्षेत्राफल लगभग ४७,००० वर्ग कि.मी. है। भूटान कोई ४०० कि.मी. तक हिमालय की दक्षिणी ढाल के साथ-साथ फैला है। तिब्बत उसकी उत्तरी सीमाओं की रक्षा करता है और दक्षिणी सीमाओं की रक्षा करते हैं पश्चिम बंगाल एवं असम। उसकी पूर्वी सीमाओं पर तैनात है अरुणाचल प्रदेश तथा पश्चिमी सीमाओं पर सिक्किम के साथ-साथ तिब्बत की चुम्बी घाटी भी।

तिब्बत से लगी भूटान की परंपरागत सीमा वृहद हिमालय पर्वतमाला की अधिकतर चोटियों के साथ-साथ ही फैली है। यद्यपि यह सीमा प्रथा व रीति के अनुसार शुद्धीकृत है, लेकिन चीन जिसने १९५१ में तिब्बत पर अपना अधिकार जमा लिया था, इस सीमा को नहीं मानता। भारत के साथ लगी इस देश की सीमा दुआर के मैदानी इलाकों में हिमालय पर्वत-शृंखला के दक्षिण तक फैली है। यह सीमा १९वीं शती-मध्य में दुआर क्षेत्रा के एक प्रमुख भाग को ब्रिटिश राज्य में मिला लिए जाने के परिणामस्वरूप निकल कर आयी।

भौगोलिक रूप से, देश को स्थूलत: तीन किनारे के क्षेत्रों में बाँटा जा सकता है, प्रत्येक की अपनी विशिष्ट पारिस्थितिकी है। तिब्बत की सीमा से लगे हैं उत्तरी पर्वतीय प्रदेश अथवा वृहद हिमालय पर्वतमाला। २४,००० फीट की ऊँचाई तक पहुँचते शिखरों में छह प्रमुख दर्रे उत्तरी भूटान के बहुत थोड़ी-सी आबादी वाले क्षेत्रों की ओर जाते हैं। यहाँ एल्पाइन चरागाह पाये जाते हैं जो याकों को चराने तथा कुछ अनाजी फसलों व आलू की खेती के लिए प्रयोग किए जाते हैं। तिब्बत पर चीन का कब्जा होने से पूर्व भूटानी व्यापारी दर्रों से गुजरकर वहाँ कपड़ा, मसाले व अनाज ले जाते थे और नमक, ऊन व कभी-कभी याकों के रेवड़ लेकर लौटते थे।

वृहद हिमालय क्षेत्रा के नीचे है अन्त: हिमालय क्षेत्रा जहाँ भूटान की जान बसती है। समुद्रतल से कम ऊँचाई और नम मानसूनी हवाओं के प्रभाव के कारण इस क्षेत्रा में वनस्पति विभिन्न रूपों में पायी जाती है, यथा निचले ढालुओं में सघन वन से लेकर ऊँचे तलों पर एल्पाइन वनस्पति तक। देश की अधिकांश खेती-योग्य भूमि इस प्रदेश में है, जहाँ चावल तथा जौ, व मक्का उगाए जाते हैं। देश की अधिकांश जनसंख्या को संकेन्द्रित करने वाला यह भूभाग भूटान का आर्थिक एवं सांस्कृतिक हृदय-प्रदेश कहलाता है।

अन्त: हिमालय का दक्षिणी भाग और उसके नीचे की छोटी पहाड़ियाँ ही संकरे दुआर मैदानी भाग हैं जो भूटान की दक्षिणी सीमाओं के साथ-साथ एक २०-२५ कि.मी. चौड़ी पट्‌टी का निर्माण करते हैं। अत्यधिक वर्षा से ग्रस्त दुआर मैदानी भागों में गर्म और सीलन भरा उष्ण कटिबंधीय मौसम होता

है। अस्वस्थकर जलवायु और सघन उष्ण कटिबंधीय वातावरण के कारण इस भूभाग में जनसंख्या बहुत कम है, हालाँकि हाल के बीते दिनों से कुछ एक बाज़ार-केन्द्र एवं नगर नज़र आने लगे हैं।

भूटान में भरपूर खनिज भण्डार हैं, जिनमें ग्रेफ़ाइट, सीसा-जस्ता, जिप्सम, तथा चूना-पत्थर, डोलोमाइट, स्लेट व संगमरमर शामिल हैं। उसके मुख्य प्राकृतिक संसाधन हैं उसकी बारहमासी व तीव्र-प्रवाह नदियों वाली जल-विद्युत् शक्ति तथा प्रचुर उष्ण कटिबंधीय एवं एल्पाइन वन-सम्पदा। मुख्य भौगोलिक क्षेत्रों में प्रमुख नदियों – तोर्सो, रैदाक, संतोख व मानस – का जाल अपना जल वर्षा व बर्फ़ से पाता है। वन उनके दो-तिहाई से भी अधिक क्षेत्रा में फैले हैं। कृषि क्षेत्रा ने खासकर जंगल साफ किए जाने के फलस्वरूप ही हाल के वर्षों में विस्तार पाया है। तिस पर भी वह, कुल क्षेत्राफल के नौ प्रतिशत से अधिक नहीं है। लगभग सात प्रतिशत पर चरागाह तथा घास के मैदान व झाड़ियाँ हैं। शेष भू-भाग बर्फ से ढकी भूमि है या फिर बंजर पड़ी ज़मीन।

१३.३ समाज

ऐसी वैविध्यपूर्ण भौतिक परिस्थितियों में, जहाँ जलवायु उत्तर में कड़ाके की सर्दियों से लेकर दक्षिण में गर्म व लू भरे उष्ण कटिबंधों तक पायी जाती है, अनेक नृजातीय समूह बसे हुए हैं। सन् २००१ में भूटान की जनसंख्या २,७६,००० थी। भूटान के लोगों को मोटे तौर पर दो सांस्कृतिक समूहों में बाँटा जा सकता है : द्रुकपा और ह्लोत्शाम्पा। द्रुकपाओं में अनेक समूह आते हैं, जैसे – पश्चिम में न्गालोपा; मध्य क्षेत्रा में मोन्गोलिपा, खेन्पा, बुम्थांगपा व कुर्तोएपा; तथा पूर्व में शार्कोपा। हालाँकि ये समूह अलग-अलग भाषाएँ व बोलियाँ बोलते हैं, सभी महायान बौद्ध धर्म की द्रुपका शाखा के अनुयायी हैं। न्गालोप तथा शार्कोप संख्या में अधिक हैं। न्गालोप, देश की जनसंख्या का लगभग २८ प्रतिशत हैं और मुख्य रूप से भूटान के पश्चिमी भाग में बसे हुए हैं। वे द्ज़ोन्गखा, एक तिब्बती बोली बोलते हैं जिसने गत कुछ शताब्दियों से अपने अलग ही विशिष्ट भूटानी लक्षण विकसित कर लिए हैं। शार्कोपा जनसंख्या के लगभग ४४ प्रतिशत का निर्माण करते हैं और देश के पूर्व भाग में रहते हैं। वे भारत के उत्तर-पश्चिमी राज्यों के निवासियों के सदृश होते हैं। वे ग़ैर-तिब्बती मूल की विभिन्न बोलियाँ बोलते हैं और उनके अपने अलग ही वेषभूषा, खानपान एवं त्यौहार हैं। मोन्गोलिपा, खेन्पा, बुम्थैगंपा तथा कुर्तोएपा संख्या में कम हैं, प्रत्येक जनसंख्या का २ से ४ प्रतिशत ही। वे सभी वहीं के जन्मे देशी लोग हैं और द्रुपका संस्कृति से संबंध रखते हैं जो कि भूटान की मुख्य संस्कृति है।

ह्लोत्शाम्पा नेपाली मूल के दक्षिणी भूटानी हैं। देश की जनसंख्या के लगभग एक-तिहाई का निर्माण करने वाले ह्लोत्शाम्पा आमतौर पर हिन्दू धर्म अपनाते हैं। वे भूटान में मुख्य नृजातीय समूह हैं क्योंकि वे एक विशिष्ट भाषायी एवं सांस्कृतिक समूह का हिस्सा हैं। उनमें से अधिकांश १९वीं सदी में भूटान आकर बसे। वे संभवत: उत्तरी बिहार व बंगाल के कोचे, उत्तरी बंगाल के राजबंसी तथा असम के शानाहोम लोगों के साथ घुल-मिल गए। यहाँ तक कि १९६० के दशकारंभ में सड़क-निर्माण कार्य शुरू हुए तो बड़ी संख्या में भारतीय तथा नेपाली गोरखे भी मज़दूरों के रूप में भूटान आये। हालाँकि इन लोगों को काम के परमिट जारी किए जाते थे, उन्हें सम्पूर्ण नागरिक का दर्जा नहीं दिया जाता था। १९५९ में भूटान के प्रवसन पर प्रतिबंध लगाते हुए एक कानून पारित कर दिया।

१३.३.१ भाषा

देश में चार मुख्य भाषाएँ प्रचलन में हैं : द्ज़ोंग्खा, भुम्थांगखा, शार्चाग्खा और नेपाली, तथा लगभग १४ कम महत्त्व की बोलियाँ। तथापि, द्ज़ोंग्खा ही भूटान की आधिकारिक राष्ट्रीय भाषा है। यह प्राचीन तिब्बती लिपि से गहरे जुड़ी है। यद्यपि द्ज़ोंग्खा देश के पश्चिमी भूभागों में व्यापक रूप से बोली जाती है, सरकार ने देशभर में सभी स्कूलों में उसका अध्ययन आवश्यक बनाकर इस भाषा के प्रसार और प्रतिष्ठा को बढ़ाने का प्रयास किया है। इस एक भाषा के अंगीकरण के पीछे उद्देश्य स्पष्टत: मिलकर रहने की ऐसी भावना उत्पन्न करना है जो कि विभिन्न घाटियों में रह रहे विभिन्न भाषाई समूहों को एक राष्ट्रीय समुदाय के अधीन लेकर आये।

१३.३.२ धर्म

भूटान के लोगों के सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक जीवन में धर्म एक अनोखी भूमिका निभाता है। भूटान का मूल धर्म 'बॉन' बताया जाता है। महायान बौद्ध धर्म का द्रुपका संप्रदाय (रैड हैट), जो कि भूटान का राज्य-धर्म है, माना जाता है कि ८वीं सदी में एक भारतीय बौद्ध भिक्षु गुरु पद्मसंभवे द्वारा भूटान में शुरू किया गया। वैसे, भूटान को एक विशिष्ट राजनीतिक पहचान देने वाले और धर्मतंत्रा की स्थापना करने वाले लामा नवांग नांग्याल हैं। बौद्ध धर्म भूटानी राज्य और समाज का अभिन्न अंग बन चुका है। यह पुरोहित वर्ग, यथा लामा, भूटानी समाज में एक बहुत शक्तिसम्पन्न समुदाय है। कुछ अनुमानों के अनुसार देश में लगभग ८५०० लामा हैं। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के साथ ही लामावाद की संस्था और भूटानी समाज में लामाओं की विशेषाधिकार प्राप्त स्थिति पर संदेह प्रकट किया जाने लगा है।

मठाविषयक संगठन के प्रमुख हैं – ज़ खेम्पो, अर्थात मुख्य पुरोहित। यद्यपि राजा अब राज्य के साथ-साथ धार्मिक संगठन का भी प्रमुख होता है, सभी धार्मिक विषयों पर अधिकार ज़ खेम्पो के पास ही हैं, और राजा के सिवाय वही एक मात्रा व्यक्ति है, जिसे सर्वोच्च अधिकार का प्रतीक, भगवा दुपट्टा पहनने की अनुमति है। भूटान का केन्द्रीय मठ ताशीद्ज़ोंग भूटान की राजधानी थिम्पू में स्थित है और देश के प्राचीनतम मठों में से एक है। यही भूटान सरकार का मुख्यालय है ।

बोध प्रश्न १

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में आदर्श उत्तर देखें।

निम्नलिखित को ध्यानपूर्वक पढ़ें और रिक्त स्थान भरें :

१) .... ने १७वीं शताब्दी में भूटान में एक धर्मतांत्रिक राज्य की स्थापना की।

२) भूटानियों की आधिकारिक भाषा .... है।

३) ह्लोत्शाम्पा .... हैं।

४) वह क्षेत्रा जो भूटान का आर्थिक एवं सांस्कृतिक हृदय-प्रदेश है, वो है .... ।

५) भूटान सरकार का मुख्यालय है – थिम्पू में भूटान केन्द्रीय मठ .... ।

१३.४ राजनीतिक इतिहास

एक स्वतंत्रा भौगोलिक सत्ता के रूप में भूटान प्रथम सहत्राब्दि के बड़े भाग तक अस्तित्व में ही नहीं था। ७वीं सदी के विख्यात् चीनी यात्राी ह्यून सांग के वर्णनानुसार, भूटान राजनीतिक ढाँचे से बाहर कोई अलग दर्जा नहीं रखता था। यह कामरूप राज्य (असम) के नियंत्राण में ही था। ६५० ईस्वी में कामरूप के राजा भास्कर वर्मा की मृत्यु उपरांत, उत्तर-पूर्वी भारत में अस्थिरता और उपद्रव का एक काल आया और कामरूप ने भूटान पर से नियंत्राण खो दिया। उसके बाद भूटानवासी कमोबेश पार्थक्य में – किसी भी बाहरी प्रभुत्व से मुक्त – रहे।

आठवीं शती के आरंभ में जब तिब्बत अपने सैन्य बल के शिखर पर था, तिब्बती सेनाओं ने भूटान पर आक्रमण कर दिया। भूटानियों की ओर से थोड़ा ही प्रतिरोध हुआ। कुछ बाशिंदे असम के मैदानी भागों में चले गए। बाकी ने तिब्बती शासन स्वीकार कर लिया। तिब्बती सेनाओं के पीछे-पीछे तिब्बती लामा, किसान व चरवाहे भी आ गए। भूटान पर तिब्बती लोगों का प्रत्यक्ष राजनीतिक आधिपत्य अल्पकालिक रहा जो नौवीं शती में तिब्बत के पतन के साथ ही समाप्त हो गया। तथापि,

तिब्बती सांस्कृतिक प्रभाव जारी रहा क्योंकि अधिकांश तिब्बती लोग टिके ही रहे। इस दौर में एक उल्लेखनीय घटना घटी – केन्द्रीय भूटान में एक स्थानीय राजा के निमंत्राण पर गुरु रिम्पोशे (अनमोल गुरु) के रूप में तिब्बत में प्रसिद्ध, पद्मसंभव का आगमन। गुरु पद्मसंभव ही भूटान में बौद्ध धर्म के पदार्पण के लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार हैं।

तिब्बती सेनाओं की वापसी के उपरांत भूटान में केन्द्रीय सत्ता ध्वस्त हो गयी और देश एक बार फिर से विखण्डित उपक्षेत्रों की दशा में आ गया। यह स्थिति १७वीं सदी तक जारी रही, फिर देश को एक असाधारण नेता द्वारा एकीकृत किया गया जो तिब्बत से आया था और जिसने भूटान को अपनी गृहभूमि मान लिया था।

सन् १६१६ में शाब्दुंग नवांग नांग्याल, द्रुक्पा पंथ का एक लामा, भूटान में शरण लेने आया। उसने अपनी धार्मिक विचारधारा के लिए एक गृहभूमि बनाने का निश्चय किया हुआ था और देश को एक स्थाई आधार पर संगठित करने का निश्चय भी। नवांग नांग्याल ने तिब्बत से होने वाले आक्रमणों को निष्फल कर दिया, भूटान के भीतर अनेक युद्धरत गुटों को नियंत्रित किया और पूरे देश पर एक सशक्त केन्द्रीकृत शासन लागू किया। अपनी सैन्य सत्ता स्थापित करने के बाद नवांग नांग्याल ने स्वयं को भूटान का धार्मिक (धर्म राजा) और राजनीतिक-प्रमुख भी घोषित कर दिया। भूटान इस प्रकार एक धर्मतांत्रिक राज्य बन गया। देव राज, ऐहलौकिक सत्ता लामाओं की परिषद् द्वारा चुनी गई थीं। राज्य प्रशासन पर पूरी तरह से धार्मिक नेतागण यानी लामाओं का प्रभुत्व था, तथापि १८वीं शती-मध्य से लामाओं का नियंत्रण घटता गया और धीरे-धीरे सामंती सरदार राज्य-व्यवस्था अपने हाथ में लेने लगे। शाब्दुंग बग़ावत की बाढ़ को रोकने और विद्रोह का सामना करने में पूरी तरह निष्प्रभावी था। वहाँ केन्द्रीय सत्ता नाम की दरअसल कोई चीज़ नहीं रह गई थी क्योंकि क्षेत्रीय शासकगण (पैन्लॉप) अपने-अपने स्वायत्त अधिकारों का दावा करते थे। इस झगड़े में तौसांगी पैन्लॉप और पारो पैन्लॉप दो प्रमुख व्यक्ति थे। अंतिम और निर्णायक गृह-युद्ध १८८४ में हुआ, जब उग्येन वांगचुक, तौंगसा विजयी होकर उभरा और सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति और देश का वास्तविक राजा बन गया। १९०७ में मठीय समुदाय की एक प्रतिनिधि सभा, लोक सेवकों, व जनता ने निर्विरोध रूप से तय किया कि देश के एक पुश्तैनी शासक के रूप में देवराज के पद के लिए दावेदारों के बीच से सर्वाधिक प्रभावशाली प्रमुख, उग्येन वांग्चुक को पदासीन किया जाये। इसके साथ ही, भूटान के राजनीतिक जीवन में पुश्तैनी राजतंत्रा के स्थान पर शाब्दुंग की उच्च गुणसम्पन्न संस्था आ गई।

पुश्तैनी राजतंत्रा को प्रयोग में लाकर देश को स्थिर करने संबंधी विचार को ब्रिटिश भारत सरकार से पूरा समर्थन मिला। उन्नीसवीं शताब्दी भर भारत में अंग्रेज और भूटान के साथ किसी सहमति पर पहुँचने के लिए हुई बातचीत का नुकसान ही रहा क्योंकि भूटान में केन्द्र-सरकार कमज़ोर थी। भूटान की पहाड़ियों में अठारह दुआर अथवा प्रवेश-द्वारों से होकर भारत में मैदानी इलाकों पर भूटानियों के बारंबार धावों से अंग्रेज परेशान थे। इस परेशानी का अंत १८६५ में भूटानियों के साथ एक पूर्णस्तरीय युद्ध के बाद इन दुआरों को अंग्रेजों द्वारा जीतकर अपने में मिलाये जाने के बाद ही हुआ। १८६५ की संधि के द्वारा भूटान भारत में ब्रिटिश सरकार का एक संरक्षण प्राप्त राज्य बन चुका था हालांकि वह एक भारतीय राज्य कभी नहीं बना। जब उग्येन वांग्चुक पुश्तैनी राजा बन गया, तो ब्रिटिश सरकार ने १९१० में १८६५ की संधि को संशोधित कर दिया। इस संधि के द्वारा भूटानी सरकार अपने बाहरी ताल्लुकों के संबंध में ब्रिटिश सरकार की सलाह द्वारा मार्गदर्शन किए जाने को सहमत हो गयी, और अंग्रेजों ने बदले में, भूटान के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप से दूर रहने के कदम उठाए। भारत में ब्रिटिश सरकार ने स्वयं को इस बात के लिए भी प्रतिबद्ध किया कि वह भूटान की चीनी विस्तारवादी नीतियों से रक्षा करेगी। भारत में ब्रिटिश राज की समाप्ति के साथ ही भूटान पर ब्रिटिश संरक्षा समाप्त हो गयी। यद्यपि १९४९ की भारत-भूटान संधि १९१० की आंग्ल-भूटानी संधि की तर्ज पर ही की गई थी, उसमें भूटान की संरक्षा का कोई दावा नहीं किया गया था।

१३.५ राजनीतिक प्रक्रियाएँ

१३.५.१ शासन-तंत्र

तीसरे राजा, ज़िग्मे दोर्जी वांग्चुक ने (१९५२-७२) जिसे आधुनिक भूटान का निर्माता माना जाता है, देश की सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था में अनेक सुधारों की शुरुआत की। वर्तमान राजनीतिक प्राधारों की स्थापना उसी के शासन-काल में हुई।

शासक अथवा द्रुक ग्याल्पो राज्य व सरकार के साथ-साथ चर्च का मुखिया भी होता है। उसके अलावा, शासन को सलाह देने के लिए राज्य परिषद् होती है। आठ सदस्यों वाली शाही परामर्शदात्राी परिषद् (लोदी सोक्दे) भूटान सरकार के मुख्य कार्यकारी अंग के रूप में उभरी है। एक अध्यक्ष के नेतृत्व में इसके पाँच सदस्य जनता के प्रतिनिधि, दो मठों के प्रतिनिधि, तथा एक भूटान सरकार का प्रतिनिधि होता है। परिषद् अभिलक्षणत: सलाहकारी होती है और उसकी मुख्य भूमिका दैनिक प्रशासन में शासन की मदद करना है। चूँकि इसके सभी सदस्य राष्ट्रीय सभा के भी सदस्य होते हैं, विधायिका के साथ उसका विचार-विरोध शायद ही कभी होता हो।

परामर्शदात्राी परिषद् के अलावा होती है मंत्रिापरिषद्। ये मंत्रिागण शासन द्वारा नियुक्त किए जाते हैं, परंतु राष्ट्रीय सभा की स्वीकृति के बाद ही। प्रथम मंत्रिापरिषद् १९६८ में गठित हुई थी। मंत्रिागण शासन के प्रति जवाबदेह होते हैं और उसी से आदेश प्राप्त करते हैं। चूँकि शासक सरकार का भी प्रमुख होता है, प्रधानमंत्राी की भाँति यहाँ कोई पद नहीं होता।

१९०७ में एक निरंकुश राजतंत्रा के रूप में स्थापित भूटान १९५३ में राष्ट्रीय सभा अथवा सौङ्ग्यू की स्थापना के साथ ही एक संवैधानिक राजतंत्रा की दिशा में चल पड़ा। यही है भूटान का कानून-निर्मात्राी निकाय और सभी नागरिक, आपराधिक व व्यक्तिगत कानून इसी से उत्पन्न होते हैं। राष्ट्रीय सभा की सभी कार्यवाहियों पर निषेधाधिकार द्रुक ग्याल्पो के पास ही रहा जब तक कि १९६९ में राष्ट्रीय सभा अपने १९६८ की विधान आज्ञा के अनुसार, राज्य की संप्रभु संस्था नहीं बन गई। सभा द्वारा पारित कोई भी विधेयक सिर्फ़ शासन द्वारा एक बार लौटाया जा सकता है, परन्तु यदि वह एक साधारण बहुमत से दोबारा पास हो जाता है तो यह स्वत: अधिनियम बन जाता है।

राष्ट्रीय सभा की सदस्य संख्या १४० से २०० के बीच रहती है क्योंकि हर पाँच साल में अपना आकार घटाने-बढ़ाने के लिए सभा को छूट प्राप्त है। सभा में सदस्यों की तीन श्रेणियाँ होती हैं : हर तीन साल बाद प्रत्यक्ष मत द्वारा निर्वाचित और राष्ट्रीय-सभा सदस्यता के आधे और दो-तिहाई के बीच जन-प्रतिनिधि; मठ प्रतिनिधि, तथा द्रुक ग्याल्पो द्वारा मनोनीत सरकारी अधिकारीगण तीन वर्षीय अवधि के लिए चुने जाते हैं और सदस्यता के एक-तिहाई का निर्माण करते है।

प्रशासनिक व्यवस्था जो कि शाबद्रुंग नवांग नांग्याल के काल से विरासत में मिली है, देश को २० ज़ौङ्खागों (ज़ौंग जिलों अथवा राज्यों) में बाँटती है। प्रत्येक जिले में एक द्रुक ग्याल्पो द्वारा नियुक्त एक जिला अधिकारी होता है। जबसे पैनलॅप व्यवस्था समाप्त कर दी गई, ये अधिकारी सीधे केन्द्रीय शासन के अधीन आ गए। बड़े जिलों को खंडों में बाँट दिया गया है, प्रत्येक में ५०० परिवार होते हैं। हर एक खंड का मुखिया ग्रामवासियों द्वारा चुना जाता है; वही उनके व ज़िला प्रशासन के बीच मुख्य सेतु होता है।

भूटान में कोई राजनीतिक दल नहीं है। परन्तु राजनीतिक संगठन पूरी तरह से गायब भी नहीं है। १९५२ में दक्षिणी भूटान से कुछ नेपालियों ने जो पश्चिम बंगाल व असम में बस चुके थे, भूटान राज्य कांग्रेस (बी.एस.सी.) बनायी। बी.एस.सी. ने १९५४ में एक सत्याग्रह (अहिंसात्मक प्रतिरोध) आन्दोलन के साथ भूटान में अपना क्रिया-व्यापार बढ़ाने का प्रयास किया। परंतु यह आन्दोलन भूटान में नेपालियों के बीच उत्साह की कमी से और भूटान की नागरिक सेना की लामबंदी की वजह से विफल रहा। बी.एस.सी. आन्दोलन और भी कमज़ोर पड़ गया जब सरकार ने अल्पसंख्यकों को रियायतें दीं और राष्ट्रीय सभा में नेपालियों के प्रतिनिधित्व को मंजूरी दी। बी.एस.सी. का पतन हुआ और अंतत: १९६० के दशकारंभ में वह गायब ही हो गई।

देश की न्यायिक प्रणाली, असैनिक और फ़ौजदारी दोनों, शाबद्रुंग नवांग नांग्याल द्वारा डाली गई नींव पर आधारित है। सर्वोच्च-स्तर न्यायालय है – पुनरावेदन उच्चतम न्यायालय(supreme Court of Appeal) – द्रुक ग्याल्पो ने स्वयं सभी नागरिकों को औपचारिक याचिकाएँ दायर करने का अधिकार प्रदान किया है। पुरावेदन उच्चतम न्यायालय उच्च न्यायालय (थ्रिमखांग गौङ्मा) द्वारा किए गए फैसलों से संबंधित अपीलों को सुनता है। उच्च न्यायालय में जिसकी स्थापना १९६८ में निचली अदालतों की अपीलों पर पुनर्विचार के लिए की गई थी, छह न्यायाधीश होते हैं – पंचवर्षीय अवधियों के लिए राष्ट्रीय सभा द्वारा निर्वाचित दो और द्रुक ग्याल्पो द्वारा नियुक्त चार। उच्च न्यायालय के नीचे ज़िला अदालतें एक ज़िला न्यायाधीश के नेतृत्व में होती हैं, जिसको सामान्यत: नागरिक सेवा के पदों से लिया जाता है। छोटे-मोटे नागरिक विवादों में एक ग्राम प्रमुख द्वारा फैसला सुनाया जाता है।

१३.५.२ राष्ट्र-निर्माण

युद्धोपरांत काल में भूटान के पड़ोस में हो रहे क्रांतिकारी परिवर्तनों ने जिनमें – भारत एक लोकतांत्रिक गणतंत्रा के रूप में उभर रहा था, चीन एक समाजवादी राज्य के रूप में उभर रहा था और नेपाल में राणा प्रणाली का पतन हो रहा था – इसने भूटान पर अपना प्रभाव छोड़ा। राजा को इतना बोध अवश्य हो गया था कि वह स्थिति को समझे और कई ऐसे सुधारों को भी लागू करे जिनकी लोगों ने माँग न भी की हो। उदाहरण के लिए, ज़िग्मे दोर्ज़ी वाग्चिक ने भूखण्डों पर ३० एकड़ की सीमा निर्धारित कर दी, भू-राजस्व को और अधिक न्याय-संगत बनाया, और छोटे भूखण्ड रखने वाले ग़रीब किसानों के मामले में भू-राजस्व समाप्त कर दिया। उसने देश में दास प्रथा और कृषि-दास प्रथा को ग़ैर-कानूनी करार दिया और तदोपरांत फाँसी की सजा को भी समाप्त कर दिया। उसने राष्ट्रीय सभा (National Assembly), यथा सरकार का विधायी अंग, की भी स्थापना की और अंततोगत्वा उसे एक संप्रभु संस्था में तब्दील कर दिया। परिणामत: भूटान अन्य पड़ोसी राज्यों से भिन्न, लम्बे समय तक शांत और स्थिर रहा।

भूटान के बाहरी दुनिया से मुखातिब होने और औद्योगिक संस्कृति से प्रभावित होने के साथ ही, वहाँ के लोगों की जीवन-शैली में परिवर्तन आना शुरू हो गया। सामन्ती समाज की पुरातन मूल्य व्यवस्था तेजी से बदल रही है। पारंपरिक अभिजात वर्ग, लामा जन और सामंती वर्ग उभरते मध्य वर्ग के सामने धीरे-धीरे आधार खोते जा रहे हैं। प्रशासनिक व तकनीकी पदों पर आदमी सरबराह करता यह वर्ग एक धर्मनिरपेक्ष परंपरा में अपेक्षाकृत अधिक शिक्षित है। परिणामत:, अभिजात वर्ग अपनी परंपरागत पहचान और रुतबे को कायम रखने के प्रति अधिक सचेत हो गए हैं।

तथापि, शासक अभिजात वर्ग को एक और दिशा से अपनी परंपरागत पहचान और प्रतिष्ठा को खतरा महसूस हो रहा है – दक्षिणी भू-भाग में नेपालियों द्वारा पृथक् पहचान का दावा किए जाने से। साठ के दशक में अपने आर्थिक विकास कार्यक्रमों को शुरू किए जाने के समय से ही देश में बड़ी संख्या में अकुशल व अर्ध-कुशल नेपालियों के अंतर्प्रवाह के साथ ही शासक अभिजात वर्ग को डर है कि नृजातीय नेपाली एक दिन संख्या में उनसे अधिक हो जायेंगे और राजनीतिक सत्ता हथिया लेंगे। यह भय उनके दिमाग में पक्का हो गया जब सिक्किम में नेपाली आप्रवासी जन जो जनसंख्या का ७५ प्रतिशत थे, १९७३ में सिक्किम के शासक के खिलाफ़ उठ खड़े हुए और उसे निरंकुश सत्ता से अलग कर दिया।

देश की प्रादेशिक अखण्डता और सांस्कृतिक पहचान को कायम रखने के लिए शासक अभिजात वर्ग ने एक द्वि-फलक रणनीति अपनायी है। सबसे पहले उसने नागरिक कानूनों को कड़ा किया। १९७७ में और फिर १९८५ में नागरिकता कानूनों का अधिनियमन किया गया, जिसमें ऐसे लोगों को जो १९५८ से भूटान में रह रहे हैं और जिनका नाम जनगणना सूची में दर्ज नहीं है, नागरिकता प्राप्त करने से रोक दिया गया। दूसरे, उसने द्रुपका पहचान को मज़बूत करने के कदम उठाए। १९८९ में राजा ने ड्रिग्लाम नामझा (राष्ट्रीय आचार व शिष्टाचार) नामक 'एक राष्ट्र, एक जन' नीति में भूटान की सांस्कृतिक पहचान को बचाए रखने पर अभिलक्षित आदेशों को जारी किया। इन आज्ञप्तियों ने

भूटानी जीवन-शैली को, पोशाक समेत अपनाना सभी नागरिकों के लिए अनिवार्य बना दिया। महिलाओं काा अपने बाल परंपरागत भूटानी शैली में छोटे कटे रखना अपेक्षित है। सभी व्यक्तियों का आचार-व्यवहार बौद्धधर्म के उपदेशों पर आधारित होना आवश्यक था, जिसे व्यवहार में लाने के लिए धर्म कानूनी रूप से मान्य था। सरकार ने जौङखा, मुख्य राष्ट्रीय भाषा के स्तरीयकरण एवं जनप्रचार पर भी बल दिया।

१५,००० नेपालियों को अवैध आप्रवासी घोषित किए जाने और द्रिग्लाम नामझा को सख्ती से लागू किए जाने से नृजातीय नेपालियों के बीच असंतोष फैल गया। १९९० में नेपाल में लोकतंत्रा की विजय से प्रेरित होकर भूटान में नेपालियों ने नव-स्थापित राजनीतिक दल, भूटान पीपल्स पार्टी (बी.पी.पी.) के झण्डे तले एक राजनीतिक आन्दोलन शुरू किया। बी.पी.पी. ने राजा को माँगों का एक घोषणा-पत्रा पेश किया, जिसमें अन्य माँगों के अलावा थीं – राजनीतिक बंदियों की बिना शर्त रिहाई, निरंकुश राजतंत्रा से संवैधानिक राजतंत्रा में परिवर्तन, मंत्रिमण्डल में विभिन्न नृजातीय समूहों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व, और नागरिक अधिनियम, १९८५ के संशोधन संबंधी मांगें। जब सरकार ने उसकी मांगों को मानने से इनकार कर दिया तो बी.पी.पी. ने हिंसक प्रदर्शन आयोजित किए। सरकार द्वारा इस विद्रोह के दमन का परिणाम हुआ नेपाल को भूटान से बड़ी संख्या में नृजातीय नेपालियों का निष्क्रमण, जहाँ वो अनेक शरणार्थी शिविरों में रहे इसी के साथ नेपाल सरकार भूटान में नृजातीय संघर्ष को समाप्त करने हेतु प्रयासों में एक मुख्य अभिकर्त्ता के रूप में उभरा है।

१३.५.३ विदेश-संबंध

भूटान के पर्वतीय लक्षण, किन्हीं भी अंत: सामाजिक माँगों का अभाव और सर्वोपरि, पहचान खोने के भय ने भूटान को प्रेरित किया कि वह एक गरिमापूर्ण पार्थक्य का जीवन व्यतीत करे। इस पार्थक्य ने शासक अभिजात वर्ग को बाहरी दुनिया की घटनाओं के प्रभाव से बचाए रखा। अपनी सीमित क्षमता से भिज्ञ और अपने स्वतंत्रा अस्तित्व को बचाए रखने के इच्छुक भूटान ने द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद भी बाहरी दुनिया के लिए अपने दरवाज़े बंद रखे।

तथापि, एशिया में चल रही परिवर्तन की भनक, खासकर भारत से अंग्रेजों की वापसी और चीन में एक सफल समाजवादी क्रांति, के साथ ही यह 'ड्रैगन किंग्डम' धीरे-धीरे और होशियारी से राज्यों के अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का सदस्य बन गया। १९४७ में नई दिल्ली में आयोजित एशियाई संबंध सम्मेलन में भूटान ने भाग लिया। तदोपरांत भूटान नरेश भूटान की प्रतिष्ठा व स्थिति के संबंध में भारत में नए शासकों से आश्वासन पाने के लिए भारत आए। बहरहाल, यह १९५८ में भारतीय प्रधानमंत्राी, जवाहरलाल नेहरू की भूटान-यात्राा ही थी जो सबसे निर्णायक घटना सिद्ध हुई जिसने अंतत: पृथकता संबंधी सदियों पुरानी नीति को समाप्त किए जाने को प्रवृत्त किया। इस दिशा में भूटान ने जो पहला कदम उठाया वो था भारत द्वारा प्रस्तावित आर्थिक व तकनीकी सहायता को स्वीकार करना।

इस परिवर्तन के पीछे स्पष्ट रूप से एक मुख्य तर्क था पचास के दशक में तिब्बत में चीनी हस्तक्षेप तथा भूटान, सिक्किम व भारत के 'नेफा' क्षेत्रा पर स्पष्ट दावों पर भूटान के नितांत अस्तित्व को खतरा। भूटान ने स्वीकार कर लिया कि वृहत्तर विश्व-समुदाय द्वारा मान्यता दिया जाना भूटान में एक तिब्बत दोहराए जाने को चीनियों की ओर से एक निरुत्साहकारी कारक के रूप में काम करेगा और उसके पृथक् अस्तित्व को सुनिश्चित करेगा। वह भूटान की ओर भारत की मंशाओं के संबंध में सभी अनिश्चितताओं को भी समाप्त करेगा। १९७१ में भूटान को संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अपने पूर्ण सदस्यता प्राप्त मेम्बर के रूप में स्वीकार कर लिए जाने पर यह सपना आखिरकार साकार हो गया। दो वर्ष बाद भूटान निर्गुट आन्दोलन में शामिल हो गया। सत्तर के दशक में भूटान ने आर्थिक व तकनीकी सहायता संबंधी विविधता लाने के प्रयास भी शुरू किए, खासकर संयुक्त राष्ट्र संघ की एजेंसियों एवं बहुआयामी वित्तीय संस्थाओं की मदद से भूटान अपने बाह्य संबंधों यथा एशियाई व यूरोपीय देशों के साथ में भी विविधता लाया, बंगलादेश व नेपाल के साथ भूटान के पूर्ण-सदस्यता प्राप्त राजदूतीय स्तर के राजनयिक संबंध हैं। एक स्वतंत्रा अभिकर्त्ता के रूप में भूटान की निश्चयात्मक भूमिका संयुक्त राष्ट्रसंघ, निर्गुट आन्दोलन व अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर स्पष्ट रही है।

सार्क (SAARC) की सदस्यता ने भी भूटान को सक्षम किया है कि वह अपनी स्वतंत्रा स्थिति को सामने रखे और क्षेत्राीय मामलों के प्रबंधन में एक सक्रिय भूमिका निभाये।

बोध प्रश्न २

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में आदर्श उत्तर देखें।

१) गुरु रिम्पोशे कौन हैं?

....

....

....

....

....

२) भूटान में १९वीं और २०वीं शती के दौरान राजनीतिक स्थिति कैसी थी?

....

....

....

....

....

३) भूटान की प्रमुख राजनीतिक व न्यायिक संस्थाएँ कौन-सी हैं?

....

....

....

४) देश में नेपाली शरणार्थियों की बढ़ती संख्या से निबटने के लिए भूटान ने कौन-कौन सी रणनीतियाँ अपनायी हैं?

....

....

१३.६ अर्थव्यवस्था

भूटान चूँकि दुर्गम भूभाग वाला एक भू-वेष्टित देश है, उसकी अर्थव्यवस्था साठ के दशकारंभ में नियोजित आर्थिक विकास के आगमन तक आमतौर पर पृथकता की एक उग्र अवस्था और चरागाही आत्मनिर्भरता से पहचानी जाती थी। अमूमन सारी आबादी बस भरण पोषण लायक खेती में लगी थी। वांछित आधारभूत ढाँचागत सुविधाएँ पूरी तरह नदारद थीं। कुशल श्रमिकों का कोई कार्मिक समूह था ही नहीं। देश में मात्रा ५९ प्राथमिक विद्यालय थे और मिडिल अथवा उच्चतर माध्यमिक विद्यालय थे ही नहीं। वहाँ मात्रा चार अस्पताल व ग्यारह औषधालय थे और केवल दो अस्पतालों

में ही सोपाधि डाक्टर उपलब्ध थे। अपने सामान्य नागरिक राजस्व तथा भारत में ब्रिटिश सरकार और फिर स्वतंत्रा भारत की सरकार द्वारा प्रदान की जाने वाली अपर्याप्त मदद के अलावा भूटान के पास कोई संसाधन नहीं थे। वहाँ कोई बैंक नहीं था, न ही किसी प्रकार की अन्य मौद्रिक संस्था। वहाँ कोई मोटर से चलने वाला वाहन नहीं होता था, न ही पक्की सड़कें होती थीं, बिजली भी नहीं थी। देश को बाहरी दुनिया से जोड़ने वाला कोई टेलीफोन नहीं था, न ही कोई डाक-व्यवस्था थी। आधुनिक विश्व से इस प्रकार का प्राकृतिक पार्थक्य भूटान की बंद अर्थव्यवस्था के लिए जिम्मेदार रहा। साठ के दशकोत्तर में प्रकाशित संयुक्त राष्ट्र संघ के आकलन में भूटान को निम्नतम प्रति व्यक्ति आय स्तर के साथ आर्थिक विकास की सीढ़ी के सबसे निचले पायदान पर रखा गया।

१३.६.१ नियोजित आर्थिक विकास प्रयास

भूटान के नियोजित आर्थिक विकास का विचार तब आया जब १९५८ में भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने उस देश की यात्राा की। तब तक भूटानी नेतागण इस बात से वाकिफ़ हो चुके थे कि उनका देश अनिश्चित काल के लिए निरंतर अलग-थलग नहीं रह सकता क्योंकि उसके आस-पास के देश संचार-साधनों व समाज-सेवा संबंधी विकास के पथ पर आगे बढ़ते ही जा रहे थे। इसके अलावा, भूटान को संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य के रूप में स्थान पाने की अभिलाषा थी और उसे पूरा करने के लिए भूटान को अपनी जनता के कल्याण में दिलचस्पी रखने वाले एक प्रगतिवादी देश के रूप में अपनी छवि दुनिया के सामने रखनी थी।

ज़िग्मे दोर्जी़ वांग्चुक ने इसी कारण तय किया कि पार्थक्य को समाप्त किया जाये और नियोजित विकास प्रयासों द्वारा परिवर्तन-प्रक्रिया का शुभारंभ किया जाये। भारत के योजना आयोग की मदद से १९६१-१९६६ के लिए पहली पंचवर्षीय विकास योजना की रूपरेखा तैयार की गई। दूसरी योजना के लिए भी वित्त पूरी तरह से भारत सरकार द्वारा जुटाया गया। इसके बाद की योजनाओं के लिए भी भारत द्वारा भरपूर वित्त प्रबंध किया गया। एक तरीके से गत चालीस वर्षों की अवधि में भूटानी अर्थव्यवस्था भारतीय मदद पर अत्यधिक निर्भर हो गई है।

१९७२ में, भूटान में एक योजना आयोग अस्तित्व में आया। भूटान नरेश इस योजना आयोग का पदेन अध्यक्ष होता है। गत चार दशकों में विभिन्न योजनाओं की प्राथमिकताएँ रही हैं : (१) एक वांछित आधारभूत ढाँचा तैयार करना; (२) कृषि व खाद्य में आत्मनिर्भरता; (३) शिक्षा; एवं (४) परिवहन। हाल के वर्षों में योजना का दबाव विविध रूपों में दिखाई दिया है – बागवानी का विकास, जल-विद्युत् उत्पादन, वन-संपदा का परिरक्षण एवं उचित उपयोग तथा मध्यम एवं लघु-उद्योगों को बढ़ावा। सभी भूटानी आर्थिक गतिविधियों में भारतीय सुविज्ञता एवं संसाधनों का प्रमुखता से बोलबाला है। उदाहरण के लिए, जल-विद्युत् निदेशालय भारतीय इंजीनियरों की मदद से स्थापित किया गया। इसी प्रकार, दूरसंचार व्यवस्था एवं राजमार्ग निर्माण भारतीय अभियंताओं द्वारा ही किए जाते हैं। भूटान सरकार ने १९६८ में अपना खुद का बैंक भी स्थापित कर लिया है – बैंक ऑफ भूटान। भारतीय मुद्रा व सिक्कों का प्रयोग भूटान में वैध है। मौद्रिक एवं बैंक संबंधी मामलों में भूटानी सरकार को सलाह देने के लिए बैंक ऑफ भूटान ने भारतीय स्टेट बैंक के साथ मिलकर सहयोग का लाभ प्राप्त किया है।

हाल ही में समाप्त हुई आठवीं पंचवर्षीय योजना (१९९८-२००२) के दौरान भूटान के वास्तविक सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) यानी राष्ट्रीय आय में ६.७ प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से वृद्धि हुई, जिसमें वनविद्या व पशुधन की मुख्य भूमिका रही। उद्योग क्षेत्रा में ७.१ प्रतिशत की वृद्धि हुई जिसमें निर्माण कार्य व विद्युत-उत्पादन का काम अच्छा रहा। नब्बे के दशक में जल-विद्युत विकास भूटान की तरक्की का मुख्य स्रोत बन गया। पैदा की गई बिजली भारत को निर्यात की जाती है जो भूटानी सरकार को राजस्व कमाकर देता है। भूटान की वार्षिक राष्ट्रीय आय में सेवा-क्षेत्रा का योगदान आठ प्रतिशत है। परिवहन एवं संचार व्यवस्था में शनैः-शनैः सुधार आ रहा है जो देश को विदेशी पर्यटकों को लुभाने में मदद कर रहा है।

भूटानी मुद्रा भारतीय रुपये से बंधी है और इस व्यवस्था के कारण ही भूटान की मौद्रिक नीति में लचीलेपन के लिए संभावना सीमित है। निजी क्षेत्रा का सीमित अस्तित्व घरेलू निवेश के उत्पादन को रोकता है। ऐसे बहुत की कम उद्यम हैं जिनको प्रमुख इकाइयाँ कहा जा सकता है। अर्थव्यवस्था का कुल मिलाकर छोटा आकार निजी उद्यमता पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। पर्याप्त घरेलू निवेश के अभाव में अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अर्थव्यवस्था को बाहरी कर्जों व देनदारों पर निर्भर रहना पड़ता है। भूटान के लिए भारत ही वित्तीय मदद का प्रमुख महाजन है। भूटान का ९० से ९५ प्रतिशत कारोबार भारत के साथ है।

१३.६.२ सामाजिक क्षेत्र

आर्थिक क्षेत्रा व सामाजिक क्षेत्रा में उपलब्धियों के बीच सीधा संबंध बना हुआ है। अस्सी के दशकारंभ से ही भूटान के सामाजिक क्षेत्रा में उल्लेखनीय सुधार आया है। मसलन, स्वास्थ्य संकेतकों के उदाहरण में, जीवन-प्रत्याशा १९६१ में ३६ वर्ष से बढ़कर २००१ में ६८ वर्ष हो गई। इसी प्रकार, १९८६ व २००१ के बीच शिशु मृत्युदर १४३ से घटकर ६२ प्रति १००० जीवित जन्म और मातृ मृत्युदर ७.८ से घटकर २.७ प्रति १००० जीवित जन्म हो गई। पाँच वर्ष से कम उम्र के बच्चों की मृत्युदर १६३ से घटकर ८५ प्रति १००० जीवित जन्म रह गई।

गत चार दशकों में भूटान ने साक्षरता स्तरों को ऊँचा उठाने में भी उल्लेखनीय प्रगति की है। १९६० में, देश भर में ५०० से भी कम बच्चों ने धर्मनिरपेक्ष प्राथमिक विद्यालयों में हाज़िरी दी और १९६४ तक तो देश में कोई माध्यमिक स्कूल ही नहीं था। अब २००१ में लगभग ७५ प्रतिशत बच्चे (कुल बच्चों की आबादी का) प्राथमिक विद्यालय में जाते हैं और उनमें से ४७ प्रतिशत बालिकाएँ हैं। कुल मिलाकर १९९८ में वयस्क साक्षरता दर ५५ प्रतिशत थी और महिलाओं के लिए यह दर ३० प्रतिशत थी।

रोज़गार के मोर्चे पर प्रदर्शन कुछ नातिशय है खासकर इसलिए कि निजी क्षेत्रा अभी पर्याप्त रूप से विकसित नहीं है और सार्वजनिक क्षेत्रा निश्चित सीमा से अधिक नौकरियाँ मुहैया नहीं करा सकता। वस्तुत: बेरोज़गार युवाओं को नौकरियाँ मुहैया कराना हाल के दिनों में एक प्रमुख चुनौती बन गया है। ज़रूरी बुनियादी ढाँचा, जैसे कि सड़कें, बिजली, दूरसंचार आदि का अभाव मध्यम एवं लघु उद्योग के विस्तार में बाधक है। भूटान में औद्योगिक विकास की पूँजी-साधित प्रकृति भी सार्वजनिक क्षेत्रा में रोजगार उत्पादन को सीमित कर रही हैं। सार्वजनिक क्षेत्रा में प्रमुख औद्योगिक गतिविधियाँ हैं – जल-विद्युत उत्पादन तथा सीमेंट, प्रबलित मिश्रधातुओं, कैल्शियम कार्बाइड, प्रसंस्करित खाद्य, कणिका पट्ट (particle board) आदि का उत्पादन, जो कुछ सीमित लोगों को ही नौकरियाँ उपलब्ध कराते हैं। यहाँ भी अनेक नौकरियाँ कम कुशलता की दरकार वाली हैं जो, भारतीय आप्रवासियों (भूटान में जा बसे) द्वारा हथियाई जा रही हैं। चूँकि बढ़ती हुई बेरोज़गारी भविष्य में सामाजिक अनिश्चितताओं को बढ़ा सकती है, सरकार ने बुनियादी ढाँचागत सुविधाओं को जुटाये जाने पर ध्यान देना शुरू कर दिया है और हाल के वर्षों में निजी क्षेत्रा को बढ़ावा देना भी शुरू किया है।

बोध प्रश्न ३

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में आदर्श उत्तर देखें।

१) भूटान के आर्थिक विकास में भारत की क्या भूमिका है?

....

....

२) सामाजिक क्षेत्रा में भूटान की उपलब्धियों का विश्लेषण करें।

....

....

१३.७ सारांश

क्षेत्राफल और जनसंख्या के लिहाज से भूटान विश्व में सबसे छोटा देश है। राजतंत्रा इस देश में अब तक विद्यमान है। हालाँकि उसके पास राष्ट्रीय-संसद है, परन्तु राष्ट्रीय मामलों में राजा की अधिक चलती है। वह ग़ैर-चुनावी राजनीति को अपनाता है और संसद में प्रतिनिधि जन सर्वसम्मति से निर्वाचित व राजा द्वारा नामज़द किए जाते हैं। लोग धर्मनिरपेक्षता के मसले पर कम ही ध्यान देते हैं। लामा जन देश के सामाजिक व धार्मिक जीवन का मुख्य आधार बनाते हैं।

१९४७ में अंग्रेजों द्वारा भारत छोड़ दिए जाने के बाद, स्वतंत्रा भारत ने १९४९ में एक संधि की जिसके तहत भारत ने बाहरी खतरे की स्थिति में भूटान की संप्रभुता का आश्वासन दिया। इस संधि के तहत ही भारत भूटान के बाहरी संबंधों को नियंत्रित करता है। भारत भूटान के आर्थिक विकास में भी एक प्रमुख भूमिका निभाता रहा है। अपनी आर्थिक तरक्की के रास्ते में भूटान को कठोर भौतिक-जलवायविक परिवेश, गंभीर संसाधन अल्पता व प्राकृतिक सुगमता, मानव संसाधनों का अभाव व प्रशासनिक अक्षमता, आदि से जूझना पड़ता है। भूटान का व्यापार पूरी तरह से भारत पर निर्भर है। भूटानी अर्थव्यवस्था के छोटे आकार को घरेलू निवेश उत्पन्न करने में एक मुख्य अवरोध के रूप में देखा जाता है। विनिर्माण कार्य में निजी उद्यम का प्रायः वहाँ कोई नामोनिशान नहीं है, जोकि रोज़गार अवसर पैदा किए जाने को सीमाबंधन में डालता है। सत्तर के दशकोत्तर से विकास की गति में सार्थक तेजी आयी है और देश ने शिक्षा व स्वास्थ्य के क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण प्रगति की है।

१३.८ कुछ उपयोगी पुस्तकें

ऑल्शाक, ब्लाश, सी. १९७१, *भूटान : लैण्ड ऑफ़ हिडिन ट्रैज़र्स* (नई दिल्ली)

गुप्ता, शान्तिस्वरूप, १९७४, *बिट्रिश रिलेशन्स विद् भूटान* (जयपुर)

रुस्तमजी, नारी, १९७८, *भूटान : द ड्रैगन किंगडम इन क्राइसिस* (न्यूयार्क)

राहुल, राम, १९८३, *रॉयल भूटान* (नई दिल्ली)

वाइट, क्लौड, जे., १९८४, *सिक्किम एण्ड भूटान* (नई दिल्ली)

वर्मा, रवि, १९८८, *इण्डिया'ज़ रोल इन दि इमर्जेन्स ऑफ़ कॉन्टैम्पॅरेरी भूटान* (दिल्ली)

१३.९ बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न १

१) नवांग नांग्याल

२) ज़ौङखा

३) भूटान के दक्षिणी भूभाग में रहने वाले नेपाली मूल के लोग

४) आंतरिक हिमालयी क्षेत्रा

५) ताशिद्ज़ोङ

बोध प्रश्न २

१) गुरु रिम्पोशे भारत से आये बौद्ध भिक्षु पद्संभव के लिए दिया गया तिब्बती नाम है। वह आठवीं सदी में भूटान आये और वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया।

१६१६ में एक तिब्बती लामा नवांग नांग्याल भूटान पधारे और धर्मराज के नाम से अपना राज्य स्थापित किया। उन्होंने एक विधिबद्ध प्रशासन प्रणाली चलाकर अराजक भूटान में व्यवस्था कायम की। लामाओं को कुछ उत्तरदायित्व, अधिकतर धार्मिक, सौंपे गए। तथापि, १६५१ में नवांग नांग्याल के गुज़रते ही सामंती आकाओं ने राजनीतिक शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली और इससे राज्य प्रशासन में लामाओं की भूमिका घट गई।

२) प्रारंभत: १९वीं सदी में भूटान एक अराजकता की स्थिति में था, खासकर इसलिए कि विभिन्न धर्मों के नेता एक दूसरे से लड़ रहे थे। १८६५ के युद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत के मैदानी इलाकों पर भूटानियों द्वारा किए जाने वाले हमलों पर काबू पा लिया। युद्धोपरांत आंग्ल-भूटान संधि पर हस्ताक्षर किए जाने के बाद भूटान एक ब्रिटिश संरक्षित राज्य हो गया भूटान अपनी विदेश नीतियों में अंग्रेजों द्वारा निर्देशित किए जाने पर सहमत हो गया और बदले में अंग्रेज देश के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने को राजी हो गए। १९४९ की भारत-भूटान संधि इसी सुलह की तर्ज पर है; यद्यपि भारत ने भूटान पर कोई संरक्षित राज्य होने का दावा नहीं किया। वर्तमान भूटान राजतंत्रा के अंतर्गत ही बना हुआ है, जहाँ राज्य प्रशासन की प्रमुख शक्ति राजा के हाथ में है। १९५२ से भूटान के पास एक राष्ट्रीय सभा हो गई है जिसके सदस्य सर्वसम्मति से चुने जाते हैं।

३) मुख्य राजनीतिक व न्यायिक संस्थाएँ हैं : द्रुक ग्याल्पो, शाही सलाहकार परिषद्, मंत्रिमण्डल, राष्ट्रीय सभा (सौङ्ग्ड्) और उच्च न्यायालय (थिम्खांग गौङ्मा)।

४) उसने नागरिक कानून कड़े किए और द्रुक्पा पहचान को दृढ़ता प्रदान करने के लिए कानून लागू किए।

बोध प्रश्न ३

१) भूटान के पास विपुल वन एवं खनिज संसाधन हैं परंतु वित्तीय एवं कुशल मानव संसाधनों का अभाव है। गत चालीस वर्षों में भारत ने वित्तीय सहायता प्रदान की है, शुरुआत में पंचवर्षीय योजनाओं में पूरी तरह से पैसा लगाया। उसने अनेक क्षेत्रों में तकनीकी सुविज्ञ राय भी दी है और बुनियादी ढाँचे को बनाने व सेवा-उद्योगों में भूटान की मदद कर रहा है।

२) भूटान विश्व के अल्पतम विकसित देशों में एक है। १९६४ तक वहाँ एक भी माध्यमिक स्कूल नहीं था। तथापि, १९८० से वहाँ सामाजिक सूचकों में क्रमिक प्रगति हुई है, खासकर स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्रा में। शिक्षित युवाओं की बेरोज़गारी सरकार के सामने सबसे बड़ी चुनौती है। वह मध्यम एवं लघु-उद्योग में निजी उद्यमशीलता को बढ़ावा देने का प्रयास कर रही है परन्तु घरेलू निवेशों की कमी उसकी प्रगति के मार्ग में बाधक है। भारत की मदद से भूटान इस मसले को निबटाने का प्रयास कर रहा है।

इकाई 14 श्रीलंका में राजनीतिक संरचनाएँ तथा प्रक्रियाएँ

इकाई की रूपरेखा

14.1 उद्देश्य

14.2 प्रस्तावना

14.3 संवैधानिक इतिहास

14.4 राजनीतिक दल तथा चुनाव

14.5 संवैधानिक परिवर्तन

14.6 स्थानीय शासन

14.7 हाल की राजनीतिक हलचलें

14.8 सारांश

14.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.1 उद्देश्य

यह इकाई श्रीलंका की राजनीति की संरचना तथा प्रक्रियाओं से संबद्ध है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- श्रीलंका में राजनीतिक संस्थाओं के विकास तथा उनकी विशेषताओं से अवगत हो सकेंगे;
- राजनीतिक प्रक्रिया में होने वाले संवैधानिक परिवर्तनों को समझ सकेंगे;
- जनसशक्तिकरण और स्थानीय शासन का वर्णन कर सकेंगे; तथा
- हाल के समय में राज्यव्यवस्था के समक्ष खड़े मुख्य मुद्दों को पहचान सकेंगे।

14.2 प्रस्तावना

150 वर्षों के ब्रितानी औपनिवेशिक शासन के दौरान उत्पन्न संवैधानिक शासन तथा विधायी नियमों की परिपाटी से श्रीलंका लाभान्वित हुआ है। इन परिपाटियों ने राजनीतिक प्रक्रियाओं में व्यापक जन भागीदारी द्वारा लक्षित राजनीतिक व्यवस्था के विकास, मानव तथा नागरिक अधिकारों के लिए विधिसम्मत आश्वासनों के सामान्यत: कड़े अनुपालन तथा निर्वाचित सरकारों के सुव्यवस्थित अनुक्रम को प्रोत्साहित किया है। हालांकि 1980 के दशक की शुरुआत से ही जातीय ध्रुवीकरण तथा हिंसा ने लोकतांत्रिक संस्थाओं को कमजोर करने तथा लोकतांत्रिक मूल्यों के क्षय का संकट पैदा किया। इस इकाई में हम वर्तमान संविधान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की रूपरेखा प्रस्तुत कर रहे हैं तथा श्रीलंका में राजनीतिक प्रक्रियाओं और दलीय व्यवस्था की विशेषताओं का वर्णन कर रहे हैं।

14.3 संवैधानिक इतिहास

जब सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पुर्तगाली इस द्वीप पर आए तब उन्होंने देखा कि द्वीप तीन स्वतंत्र साम्राज्यों में बँटा हुआ है। इन साम्राज्यों के बीच आंतरिक मतभेदों तथा प्रायः होने वाले फसादों ने पुर्तगालियों के लिए श्रीलंका के मामलों में हस्तक्षेप करने के अवसर पैदा किए। इस शताब्दी के अंत तक उन्होंने कोट्टे में स्थापित साम्राज्य पर नियंत्रण कर लिया तथा सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जफना में स्थापित साम्राज्य को भी अपने नियंत्रण में ले आए। लेकिन कंडयान साम्राज्य स्वतंत्र ही रहा। इस द्वीप पर पुर्तगाली सत्ता कम समय के लिए ही रही। 1756 में डच ईस्ट इंडिया कंपनी ने उनका स्थान लिया। फ्रांसीसी क्रांति के संग्राम के दौरान जब नीदरलैंड फांस के नियंत्रण में आया तब ब्रितानी लोग भारत से श्रीलंका गए और 1796 में उन्होंने डच लोगों को पराजित किया। इस द्वीप में ब्रिटेन के कोई स्थाई स्वार्थ नहीं थे इसलिए उसने मद्रास (चेन्नई) से ही द्वीप पर शासन किया। लेकिन जल्दी ही ब्रितानियों को द्वीप का सामरिक महत्व समझ आ गया और उन्होंने द्वीप पर स्थाई नियंत्रण करने का निर्णय कर लिया। 1802 में सीलोन को सर्वोच्च उपनिवेश बनाया गया। कई शताब्दियों में पहली बार ब्रितानियों ने 1815 से 1818 के बीच कंडयान साम्राज्य को समाविष्ट करके पूरे श्रीलंका को एकीकृत कर दिया।

श्रीलंका के सर्वोच्च उपनिवेश के स्तर का अर्थ था कि द्वीप के मामले उस समय भारत पर शासन करने वाली ईस्ट इंडिया कंपनी की बजाय लंदन में स्थित औपनिवेशिक कार्यालय द्वारा संचालित होंते थे। ब्रितानी हुकूमत द्वारा नियुक्त राज्यपाल प्रशासन संचालित करता था। पहली विधायिका, अर्थात् नामित विधायी परिषद 1833 में स्थापित की गई। इसकी संरचना सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व पर आधारित थी। सरकार के सभी मामलों में नेतृत्व राज्यपाल और सेना के कमांडर औपनिवेशिक सचिव तथा मुख्य न्यायाधीश जैसे अधिकारी किया करते थे। अगले सौ वर्षों तक विधायी परिषद के विधायी तथा वित्तीय अधिकारों में धीरे-धीरे वृद्धि हुई।

उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत से बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक सामाजिक तथा धार्मिक स्तरों में फैलने वाली राष्ट्रवादी चेतना धीरे-धीरे राजनीतिक क्षेत्र में फैल चुकी थी। कुछ प्रांतीय तथा सांप्रदायिक संस्थाएँ राजनीतिक सुधार के लिए प्रस्ताव प्रस्तुत करने लगीं थीं। उन्होंने कार्यकारी शाखा के लिए श्रीलंका से सहयोग माँगा। कार्यकारी शाखा विधायी प्रक्रिया में व्यापक क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व प्रदान करती और नामांकन की जगह निर्वाचन के सिद्धांत को स्वीकार करती। अपनी माँगों को मनवाने के लिए इन लोगों ने 1919 में मिलकर सीलोनीज राष्ट्रीय काँग्रेस का गठन किया। इसके परिणाम स्वरुप 1920 के संविधान के तहत प्रतिनिधि सरकार बनी। 1924 में राष्ट्रवादी माँगों को संतुष्ट करने के लिए इस संविधान में संशोधन किए गए। विधायिका में निर्वाचित बहुमत, क्षेत्रीय निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि और सांप्रदायिक प्रतिनिधियों के निर्वाचन का प्रावधान रखा गया। हालाँकि कार्यकारिणी राज्यपाल और आधिकारिक कार्यकारी परिषद के अधीन रही।

द्वीप की राजनीति का प्रमुख मोड़ 1931 में अर्ल ऑफ डनोगमोर की अध्यक्षता वाले शाही आयोग द्वारा सुझाए गए समग्र सुधारों को लागू करना था। तथाकथित डनोगमोर संविधान ने चली आ रही विधायी और कार्यकारी परिषदों को समाप्त कर दिया और विधायी और कार्यकारी कामों के लिए राज्य परिषद का प्रावधान रखा। आम चुनाव के बाद राज्य परिषद ने अपने को 7 कार्यकारी परिषदों में विभाजित कर दिया जिनमें से हरेक को सरकारी विभागों के समूहों का उत्तरदायित्व सौंपा गया। इस संविधान का प्रमुख पक्ष सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के सिद्धांत को लागू करना था। इससे श्रीलंका राजनीतिक प्रक्रिया में पूरी वयस्क जनसंख्या को शामिल करने वाला एशियाई राजतंत्र बन कर उभरा। इससे पहले संपत्ति और शैक्षिक योग्यता के आधार पर पुरुष जनसंख्या का केवल चार प्रतिशत ही मतदान कर पाता था।

डनोगमोर संविधान ने श्रीलंका के नेताओं को राजनीतिक शक्ति इस्तेमाल करने और भविष्य में स्वशासन के लिए तैयार होने की दृष्टि एवं सरकार चलाने का अनुभव प्राप्त करने का अवसर

प्रदान किया। संविधान में अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के प्रावधान ने समूह हितों को व्यक्त होने का अवसर दिया लेकिन इससे समूहों के आपसी संबंध बिगड़ गए। सिंहला महासभा और आल सीलोन तमिल काँग्रेस जैसे सांप्रदायिक संगठन अस्तित्व में आए। जहाँ सिंहली नेताओं ने सत्ता का उपयोग सिंहली मतदाताओं की स्थिति सुधारने में किया वहीं अल्पसंख्यक, विशेषकर तमिलों में उपेक्षा और दमित किए जाने की भावनाएं पनपीं और उन्होंने हर चरण पर सुरक्षा की मांग की जिसे सिंहली नेताओं ने स्व-शासन की राह में अड़ंगों की तरह देखा।

दूसरे विश्व युद्ध के दौरान, श्रीलंका के राष्ट्रीय नेताओं ने ब्रितानी युद्ध प्रयासों का साथ दिया लेकिन औपनिवेशिक शासकों पर स्व-शासन देने के लिए दबाव भी डाला। युद्ध समाप्त होते-होते ब्रितानियों ने लार्ड सोलबेरी की अध्यक्षता में एक संविधान आयोग की स्थापना की। सोलबेरी ने ब्रितानी वेस्टमिनिस्टर शासन पद्धति के आधार पर संविधान रचा। 1996 में पारित सोलबेरी संविधान के तहत जो संसद बनी उसमें दो सदन थे और उनकी अध्यक्षता ब्रितानी सम्राट को सौपी गई थी जिनके प्रतिनिधि के रूप में यह काम गवर्नर जनरल को करना था। दो सदन सीनेट और प्रतिनिधि सभा कहलाए जिनमें से प्रतिनिधि सभा अधिक शक्तिशाली था क्योंकि उसके सदस्य एकल या बहुल सदस्य निर्वाचन जिलों के मिले-जुले क्षेत्रों से जनता द्वारा चुनकर भेजे जाते थे। सीनेट में कुछ सदस्यों को मंत्रीमंडल की सिफारिश पर गवर्नर जनरल नामित करता था और अन्य सदस्य अनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर चुने जाते थे। कार्यकारी शक्तियाँ जो सम्राट के (या उसके प्रतिनिधि के तौर पर गवर्नर जनरल) के पास होती थीं वास्तविकता में प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रीमंडल द्वारा प्रयोग में लाई जाती थी। सोलबेरी संविधान 4 फरवरी 1948 में स्वतंत्रता मिलने के बाद श्रीलंका की सरकार का मूल दस्तावेज बन बया।

14.4 राजनीतिक दल एवं चुनाव

श्रीलंका में दलीय व्यवस्था के विकास को 1919 में सीलोन राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना के समय से देखा जा सकता है। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की तर्ज पर बनी सीलोन काँग्रेस ने ऑपनिवेशिक सत्ता से लड़कर आजादी पाई। अपने आरंभिक काल में यह व्यापक आधार वाली पार्टी थी जिसमें सभी जातीय समूहों के लोग सदस्य थे। चुनावी राजनीति के आगमन से काँग्रेस पार्टी के कार्यकर्ताओं में ही विभाजन हो गया। सिंहली नेता सामुदायिक प्रतिनिधित्व समाप्त कर क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व लागू करना चाहते थे लेकिन अल्पसंख्यक इसे बनाए रखते हुए अपने समुदायों के लिए सत्ता बचाए रखना चाहते थे। जैसे ही यह विभाजन और गहराया 1944 में तमिल काँग्रेस से अलग हो गए और उन्होंने अपना राजनीतिक दल तमिल काँग्रेस बना लिया। आने वाले वर्षों में इन दोनों दलों की संरचना में कई फेर बदल हुए।

श्रीलंका में औपनिवेशिक काल में वामपंथी दलों का भी उदय हुआ। इन दलों की स्थापना पश्चिमी देशों में शिक्षित और मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित उच्च्व मध्यम वर्ग के युवाओं ने की। लंका सम समाज पार्टी (एल एस एस पी), साम्यवादी पार्टी (सी पी) और बोल्शेविक लेनिनवादी पार्टी ऑफ इंडिया नामक तीन प्रमुख दल यहाँ की राजनीति में सक्रिय थे।

युनाइटेड नेशनलिस्ट पार्टी (यू एन पी) और श्रीलंका फीडम पार्टी (एस एम एफ पी) जैसे अन्य दल और उदार दलों का भी धीरे-धीरे विकास हुआ। 1946 में डान स्टेफन सेनानायके सीलोन काँग्रेस से अलग हो गए और उन्होंने यू एन पी का गठन किया। सेनानायके के नेतृत्व में यू एन पी बहुत लोकप्रिय हुई और उदारवादी जनतांत्रिक व्यवस्था की हिमायत करने वाले इस दल को निचले स्तर पर विभिन्न शक्तियों का समर्थन प्राप्त हुआ। उसने सिंहला महासभा के एस डब्ल्यू आर डी भंडानायके, सर जॉन कोटेलावाला, जे आर जयवर्धने और डुडले सेनानायके जैसे गण्यमान्य नेताओं को अपनी ओर आकृष्ट किया। यू एन पी ने कुछ प्रसिद्ध तमिल और मुसलमान राजनेताओं को भी दल में शामिल किया। इसलिए 1947 के चुनाव में यू एन पी को सभी

राजनीतिक दलों में सबसे ऊंचा स्थान मिला। भले ही दल में विभिन्न विचारधाराएँ और हस्तियाँ थीं, आर्थिक प्रगति और समाज कल्याण की अपनी प्रतिबद्धता के आधार में कृषि विकास में उसके विश्वास के मामले में दल में एकता थी।

राजनीतिक शक्तियों के पुनर्ध्रुवीकरण में यू एन पी में विभाजन होना एक महत्वपूर्ण घटना थी। जुलाई 1951 में एस डब्ल्यू आर डी भंडारनायके ने अपने समर्थकों के साथ यू एन पी छोड़ कर श्रीलंका फ्रीडम पार्टी (एस एम एफ पी) की स्थापना की। हालांकि वामपंथी और दक्षिणपंथी दोनों ही इसके सदस्य थे, यह दल एक सामान्य वाम दल के तौर पर उभरा जो वाम दलों और यू एन पी के बीच स्थित था। एस एल एफ पी सिंहलियों की सांस्कृतिक संवेदनाओं के प्रति अधिक लगाव रखता था इसलिए उसने राष्ट्रवादी और पश्चिम विरोधी रुख अख्तियार किया। इस तरह श्रीलंका की राजनीति के इंद्रधनुष में बहुदलीय व्यवस्था ने मतदाताओं को छिटपुट मार्क्सवादी समूहों से लेकर यू एन पी तक और प्रांतीय दलों से बहुजातीय दलों तक चयन करने का अवसर दिया।

दूसरी ओर अल्पसंख्यक तमिल कॉंग्रेस की छत्रछाया में चले गए जिसका नेतृत्व जी जी पोन्नमबालम कर रहे थे और जो तमिलों के हितों की अच्छी देखभाल कर रही थी। लेकिन 1951 में तमिल कॉंग्रेस का एक घटक टूटा और उसने फेडरल पार्टी (एफ पी) की स्थापना की। एस जे वी चेल्वनायकम के नेतृत्व में इस नए दल ने तमिल अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के लिए फेडरल व्यवस्था की गुहार लगाई। वहीं पोन्नमबालम के नेतृत्व वाली तमिल कॉंग्रेस के मध्यमार्गी दृष्टिकोण इसके विपरीत था जिसकी वजह से उसने भारतीय तमिलों के खिलाफ भेदभावपूर्ण नीतियाँ लागू करने वाली यू एन पी सरकार को समर्थन देना जारी रखा।

70वें दशक के पूर्वार्द्ध में तमिल कॉंग्रेस और फेडरल पार्टी सहित कई तमिल राजनीतिक दल तमिल संयुक्त मोर्चा (टी यू एफ) के झंडे तले एकत्रित हो गए जिसका 1976 में "धर्मनिरपेक्ष और समाजवादी तमिल एलम" के नाम से स्वतंत्र राज्य की मांग करने के बाद से नाम बदल कर तमिल संयुक्त मुक्ति मोर्चा (टी यू एल एफ) कर दिया गया। जुलाई 1977 के आम चुनाव में टी यू एल एफ ने संसद में 18 सीटें जीतीं जिसमें जाफना में उसके द्वारा लड़ी गई सभी 14 सीटें शामिल थीं। लेकिन अक्तूबर 1983 में टी यू एल एफ के सभी संसद सदस्यों को अपनी सीटों से हाथ धोना पड़ा क्योंकि उन्होंने संविधान के छठे संशोधन के तहत पृथक राज्य को अपना समर्थन देना बिना शर्त वापस लेने से इनकार कर दिया। टी यू एल एफ ने बाद में अपने रुख को लचीला बनाते हुए श्रीलंका के संविधान के अंतर्गत ही एक फेडरल व्यवस्था बनाने का प्रस्ताव रखा।

श्रीलंका में दलीय व्यवस्था काफी ज्वलंत रही है और उसने दलों के कई ध्रुवीकरण और पुनर्गठन देखे हैं। चुनावी राजनीति में कई नई और छोटी पार्टियाँ उभरीं और ओझल हो गई। यू एन पी और एस पी एल एफ जैसी दो प्रमुख पार्टियों ने कई चुनावों तक अपना अस्तित्व बनाए रखा लेकिन उन्हें भी प्रभावी तौर पर शासन करने के लिए छोटे दलों का सहारा लेना पड़ा।

1947 के पहले आम चुनाव में डान स्टेफन सेनानायके और उनकी नवगठित यू एन पी को स्पष्ट विजय प्राप्त हुई जिसने आजादी मिलने का श्रेय लिया। वामपंथियों के विभाजित होने की वजह से यू एन पी आधी से भी ज्यादा सीटें जीत पाई जबकि तमिल क्षेत्रों में तमिल कॉंग्रेस सबसे बड़ी पार्टी बनकर उभरी। इस प्रक्रिया में यू एन पी का दबदबा 1950 के पूर्वार्द्ध तक बना रहा।

1952 में डी एस सेनानायके के निधन के बाद उनके पुत्र डुडले सेनानायके ने कमान संभाली और उस वर्ष होने वाले आम चुनाव में यू एन पी को विजयी बनाया। इसके बावजूद यू एन पी को एक प्रमुख चुनौती तब मिली जब सोलोमन भंडारनायके दल से अलग हुए और उन्होंने एक नया दल एस एल एफ पी बनाया। एस एल एफ पी के राजनीतिक बदलाव, सामाजिक न्याय और विदेशियों के नियंत्रण से मुक्त स्वतंत्र अर्थव्यवस्था के लोक लुभावने कार्यक्रम ने जनता के मन पर असर किया क्योंकि उसने आर्थिक विकास और आर्थिक समानता पर जोर दिया था। इस दल के ग्रामीण क्षेत्रों का एक बड़ा मतदाता वर्ग और काफी संख्या में विरोधी मतदाताओं का समर्थन पाया

जो पहले यू एन पी के जनतांत्रिक विकल्प न होने की वजह से मार्क्सवादी दलों के कब्जे में था। 50 के मध्य तक यू एन पी की स्थिति कमजोर हो गई थी भले ही संसद पर उसका दबदबा बना हुआ था। समृद्धि के कुछ दिनों के बाद अर्थव्यवस्था की स्थिति बुरी थी। खाद्य सहायता के लिए बजट प्रावधानों में कटौती करने के प्रयास का वामपंथी दलों के विपक्ष ने जोरदार विरोध किया। इसके अलावा बौद्ध सिंहली भावनाओं के उभार से धार्मिक, सांस्कृतिक और भाषाई मुददे भी सिर उठा रहे थे। ऐसी परिस्थिति में भंडारनायके की एस एल एफ पी जो बौद्ध सिंहलियों के हितों की वकालत कर रही थी, 1956 के आम चुनावों में यू एन पी को पराजित करते हुए पूरा चुनाव अपनी झोली में भर लाई।

एस एल एफ पी के सत्ता में आने से अन्य अल्पसंख्यकों की कीमत पर बौद्ध सिंहलियों का एजेंडा लागू होने लगा। उदाहरण के लिए नई सरकार ने राजभाषा कानून बनाया जिसमें सिंहली भाषा को राजभाषा बनाया गया। इस कदम की तमिलों में प्रतिक्रिया हुई और उन्हें लगा कि उनकी भाषा, संस्कृति और आर्थिक स्थितियों पर आक्रमण हुआ है। फेडरल पार्टी ने सत्याग्रह अर्थात अहिंसात्मक विरोध आंदोलन चलाया जिसके परिणाम स्वरुप एस वी आर डी भंडारनायके और एस जे वी चेल्वनायकम के बीच समझौता हुआ। इस समझौते में उत्तरी और पूर्वी क्षेत्रों में व्यापक तौर पर तमिल स्वायत्तता प्रदान की गई। इसी में प्रशासकीय मामलों में तमिल भाषा के प्रयोग का भी प्रावधान था। पर यह समझौता लागू नहीं हो पाया क्योंकि यू एन पी के समर्थन से बौद्ध भिक्षुओं ने शांतिपूर्ण प्रदर्शन किया जिसमें इस समझौते को ''सिंहली बौद्ध जनता से विश्वासघात'' बता कर इसकी निंदा की गई। सिंहलियों और तमिलों के बीच के यह गंभीर मतभेद अंततः जातीय दंगों तक जा पहुँचे। आर्थिक मोर्चे पर श्रीमती भंडारनायके के नेतृत्व में एस एल एफ पी ने आर्थिक उद्यमों का राष्ट्रीयकरण लागू किया। सिंहली बौद्धों के हित में संतुलन के लिए समाजवादी ढांचे को ही अधिक सार्थक पाया गया क्योंकि द्वीप की अर्थव्यवस्था पर विदेशी पूंजी का आधिपत्य था।

1960 के मध्य में केंद्र में एक बार फिर राजनीतिक शक्तियों का ध्रुवीकरण हुआ और ट्राटस्कीवादी लंका सम समाज पार्टी ने एस एल एफ पी सरकार से गठबंधन कर लिया। वामपंथ की ओर एस एल एफ पी का झुकाव एक सोची-समझी चाल थी। इसका उद्देश्य श्रीमती भंडारनायके के नेतृत्व में हुए गंभीर जातीय और धार्मिक झगड़ों और आपातकाल शासन के विस्तृत दौर के बाद सरकार को स्थाईत्व प्रदान करना था। लेकिन एस एल एफ पी के भीतर पड़ी दरार की वजह से मार्च, 1965 के आम चुनाव में पार्टी ने अपना जनादेश खो दिया।

1965 के चुनावों में डुडले सेनानायके की यू एन पी के नेतृत्व में विभिन्न दलों का गठबंधन सत्ता में आया। इस बार यू एन पी नेतृत्ववाले गठबंधन ने खाद्यान्न उत्पादन में आत्म निर्भरता का लक्ष्य पाने के लिए कृषि उत्पादन को बढ़ाने का प्रयास किया। डुडले सेनानायके ने अपनी सरकार की नीतियों में जातीय एवं धार्मिक तत्वों को महत्व दिया क्योंकि उन्होंने फेडरल पार्टी के साथ गठबंधन करके सरकार बनाई थी। दूसरी ओर एस एल एफ पी के नेतृत्व में विपक्ष ने वामपंथियों के साथ ढीला-ढाला गठबंधन किया। राजनीतिक स्तर पर ऐसे शक्ति संतुलन ने इसकी पृष्ठभूमि में सिंहली बौद्धों का वर्चस्व का मुददा भी उठाया। धीरे-धीरे लोक लुभावनी राजनीति की इस होड़ में जातीय और धार्मिक अल्पसंख्यकों की दशा बिगड़ती गई।

1970 के आम चुनावों में एस एल एफ पी ने कम्युनिस्ट पार्टी और एल एस एस पी जैसे वाम दलों के साथ मिल कर चुनाव लड़ा। अपने घोषणा पत्र में उसने नई राजनीतिक संस्थाओं सहित एक ऐसा गणतंत्रीय संविधान लागू करने का वायदा किया जो 1946 के संविधान की तुलना में स्थानीय मूल्यों को अधिक सही ढंग से प्रतिबिम्बित करता। एस एल एफ पी के गठबंधन ने यू एन पी को हरा कर संयुक्त मोर्चे (यू एफ) के नाम से सरकार बनाई। 1972 में संयुक्त मोर्चे के बहुमत वाली संसद ने एक गणतांत्रिक संविधान पारित किया जिसमें अध्यक्षीय प्रणाली लागू की गई। फिर भी नई सरकार को पिछली यू एन पी सरकार की तरह ही खाद्यानों की कमी, बढ़ती कीमतों और बेरोजगारी जैसी गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ा। यह उल्लेखनीय है कि अन्य

विकासशील देशों की तरह श्रीलंका को भी सातवें दशक में आयात की कीमतों मे वृद्धि की गंभीर समस्या का सामना करना पड़ा। खाद्यानों को रियायते कम करने के सरकार के फैसले से संयुक्त मोर्चे की लोकप्रियता में कमी आई। इन परिस्थितियों में अप्रैल 1971 में सरकार को उस समय गंभीर संकट झेलना पड़ा जब जनता विमुक्ति पेरामुना या पीपुल्स लिबरेशन फ्रंट नाम के वामपंथी दल ने देश पर कब्जा करने के लिए सशस्त्र अभियान चलाया। जनता विमुक्ति पेरामुना के विद्रोह को सरकार द्वारा घोषित आपातकाल के दौरान लंबी लड़ाई के बाद ही कुचला जा सका। समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन के पेरामुना के आंदोलन का आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों पर असर पड़ा जैसा कि इस आंदोलन के बाद के विकास से परिलक्षित होता है।

आर्थिक और राजनीतिक संकट ने संयुक्त मोर्चा सरकार को हालात से निपटने के लिए तानाशाही रवैया अपनाने को मजबूर किया। उसने तेजी से बागान क्षेत्रों का राष्ट्रीयकरण किया। पेरामुना विद्रोह के बाद सरकार ने समाज के प्रतिक्रियावादी तत्वों पर नियंत्रण पाने के लिए एक नया गणतांत्रिक और देशज संविधान पारित करने का मन बनाया।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

1) सीलोन राष्ट्रीय कांग्रेस में किन मुददों को लेकर दरार पड़ी ?

....

....

....

2) 1956 में एस एल एफ पी की विजय के आधार के दो प्रमुख कारण थे :

....

....

....

14.5 संवैधानिक परिवर्तन

1970 के चुनाव अभियान के दौरान (युनाइटेड फ्रंट) ने देशज मूल्यों को अभिव्यक्ति देने वाला एक गणतंत्रीय संविधान घोषित करने का वायदा किया था। 1950 के दशक के मध्य में ही एस डब्ल्यू आ डी भंडारनायके ने मौजूदा व्यवस्था को गणतंत्रीय व्यवस्था की ओर ले जाने के लिए शुरुआती कार्यवाई की थी। 1956 में उन्होंने राष्ट्रकुल के सदस्य देशों के प्रधानमंत्रियों की सहमति प्राप्त कर ली थी। हालांकि गणतंत्र की घोषणा मई 1972 तक के लिए स्थगित कर दी गई क्योंकि इस बीच किसी भी सरकार के पास या तो पर्याप्त समय नहीं था या संविधान में संशोधन करने के लिए पर्याप्त बहुमत नहीं था।

जब युनाइटेड फ्रंट ने इस मुददे को उठाया तब कई लोग ऐसे भी थे जो संसदीय प्रणाली के आलोचक थे। वे संसदीय प्रणाली को श्रीलंका जैसे छोटे देश के सामने खड़ी नई चुनौतियों के लिए अनुपयुक्त मानते थे। इसलिए श्रीलंका फ्रीडम पार्टी की अगुवाई में युनाइटेड फ्रंट सरकार ने विभिन्न संविधानों से ली गई विशिष्टताओं सहित एक अध्यक्षीय प्रणाली को पसंद किया।

नये संविधान का स्वरुप लोकतांत्रिक, समाजवादी तथा गणतांत्रिक था। 1972 में इसे अपनाने के साथ ही श्रीलंका एक स्वतंत्र उपनिवेश नहीं रहा बल्कि एक स्वतंत्र प्रभुसत्ता सम्पन्न गणतंत्र बन गया। संविधान ने सीनेट को समाप्त कर एक सदन वाली राष्ट्रीय संसद की स्थापना की। संसद को राज्य की सत्ता के मूर्त रुप की तरह परिभाषित किया गया और संविधान में न्यायपालिका को इसकी कार्यवाइयों को चुनौती देने के अधिकार से वंचित रखा गया। कार्यपालिका को कई प्रकार के आपातकालीन अधिकार तथा विशेष अधिकार दिये गए और कार्यपालिका पर न्यायिक नियंत्रण बहुत हद तक सीमित कर दिये गए।

कार्यपालिका में सत्ता के केंद्रीकरण के अलावा 1972 के संविधान में दो विवादास्पद बातें थी। इसमें धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र बनाने की बात का परित्याग किया गया था जिसे 1946 के संविधान में बौद्ध धर्म को एक विशिष्ट स्थान देने की बात कहते हुए समाविष्ट किया गया था। इसमें केवल सिंहला को ही राजभाषा घोषित किया गया था। यह बातें तमिल अल्पसंख्यकों के विरोध के कारण विवादास्पद हो गईं थीं। यू एन पी ने भी एक सत्तावादी सरकार के उदय होने के डर से इन परिवर्तनों का विरोध किया। इसलिए अगले चुनावों के एक दिन पहले यू एन पी ने घोषणा की कि यदि वह सत्ता में आई तो संविधान में परिवर्तन करेगी और आवश्यक परिवर्तनों के साथ अध्यक्षीय सरकार को स्वीकार करेगी। जब यू एन पी ने चुनाव जीत लिया तब नेशनल स्टेट एसेम्बली ने अध्यक्षीय सरकार की स्थापना करते हुए एक संवैधानिक संशोधन किया और जे आर जयवर्धने सरकार के पहले कार्यकारी राष्ट्रपति बने। संशोधन द्वारा किए गए परिवर्तन पर्याप्त नहीं थे इसलिए सितम्बर 1978 में एक नया संविधान लागू किया गया।

1978 के संविधान ने देश के औपचारिक नाम श्रीलंका गणराज्य को बदलकर लोकतांत्रिक समाजवादी श्रीलंका गणराज्य कर दिया और फ्रांस के फिफ्थ रिपब्लिक की तर्ज पर सरकार की अध्यक्षीय प्रणाली लागू की। 1972 के संविधान की तरह इसके अंतर्गत बौद्ध धर्म को एक विशिष्ट दर्जा देने को मान्यता दी गई। (एक बार फिर बौद्ध धर्म को "प्रथम स्थान" पर रखने का आश्वासन देते हुए अन्य धार्मिक समुदायों की स्वतंत्रता का आश्वासन भी दिया गया) तमिल और सिंहला भाषा को "राष्ट्रीय" दर्जा प्रदान किया गया, हालांकि, केवल सिंहला ही राजभाषा के रुप में मान्य थी।

सरकारी संस्थानों को पारंपरिक तरीके से कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका में विभाजित किया गया। हालांकि संविधान में अधिकारों को वास्तविक तौर पर नहीं बाँटा गया था। राष्ट्राध्यक्ष और मुख्य कार्यकारी के रुप में राष्ट्रपति के अधिकार संसद सदस्यों के अधिकारों की तुलना में कहीं अधिक हैं। छः बर्षों तक के लिए निर्वाचित राष्ट्रपति युद्ध और शांति की घोषणा कर सकता है, माफी प्रदान कर सकता है और उच्चतम न्यायालय के आदेश पर या विधायिका की स्वीकृति से कोई भी कार्यवाई कर सकता है। संसद की स्वीकृति मिलने पर राष्ट्रपति प्रधानमंत्री और मंत्रिमंडल को नियुक्त करता है। इसके अलावा प्रधानमंत्री की बजाय मंत्रिमंडल की बैठकों में राष्ट्रपति अध्यक्षता करता है। राष्ट्रपति किसी भी मंत्रालय का विभाग अपने पास रख सकता है। संसद का कार्यकाल भी ६ वर्षों के लिए होता है लेकिन राष्ट्रपति को किसी भी समय संसद को भंग करने और नये चुनाव कराने का अधिकार है।

1978 का संविधान राष्ट्रीय एकता और क्षेत्रीय अखंडता की सुरक्षा जैसी कुछ अत्यावश्यक समस्याओं से निपटने के उद्देश्य से लागू किया गया था। जेसा कि हमने देखा, सरकार की नई अध्यक्षीय प्रणाली के तहत तमिल के साथ सिंहला भाषा को श्रीलंका की राजभाषा घोषित करते हुए अल्पसंख्यकों के अधिकारों को उचित महत्व दिया गया है। 1950 के दशक के मध्य से अब तक का यह एक बड़ा कदम था क्योंकि इसने तमिलों का विश्वास लौटाया। इसके तहत अभिव्यक्ति और धर्म की स्वतंत्रता तथा व्यापार संगठन का गठन करने जैसे मामलों के लिए वैयक्तिक अधिकारों पर अधिक जोर दिया गया। नये संविधान की एक अन्य विशेष बात यह थी कि इसने "निवास" और "नामांकन" के आधार पर नागरिकता के अधिकार को समाप्त कर

दिया। इससे भारतीय तमिलों को लाभ हुआ जिनके साथ अब तक की सरकारें दूसरे दर्जे के नागरिकों की तरह पेश आती थीं। अब बागानों के इलाकों में बसे भारतीय तमिलों को सभी नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों का आश्वासन प्राप्त था। इसके जवाब में भारतीय तमिलों ने इन मैत्रीपूर्ण संकेतों को सकारात्मक रूप में लिया और उनके प्रतिनिधित्व वाली मुख्य राजनीतिक पार्टी और व्यापार संगठन अर्थात कांग्रेस वर्किंग कमेटी जयवर्धने सरकार में भी शामिल हो गई। लेकिन अधिकांश तमिलों को यह लगा कि यह कदम बहुत देर से उठाये गए हैं और उनके लिए बहुक कम हैं। तमिल राजनीतिक मोहभंग के चलते पैदा हुई अलगाववादियों की तमिल ईलम या ''अनमोल भूमि'' की माँग ने जल्दी ही सरकार पर हमलों का रूप धारण कर लिया।

सरकार को आतंकवाद रोकथाम कानून पारित करवाने को बाध्य होना पड़ा। आरंभ में अस्थाई कदम होने के बावजूद बाद में यह एक स्थाई कानून बन गया जिसने सेना और पुलिस को खोज और गिरफ्तार करने की बेलगाम ताकत दी। जयवर्धने ने बाद में द्वीप के प्रमुख तमिल राजनीतिक संगठनों से वृहत स्वायत्तता पर वार्ताओं की श्रृंखला आरंभ की। बहरहाल तमिल टाइगर्स के आतंकवादी हमले बढ़ाने की प्रतिक्रिया यह हुई कि सिंहलियों ने भी तमिलों पर प्रहार किए। 1981 में गंभीर झड़पें हुई और जुलाई 1983 के दंगे तो उससे भी बड़े थे। जिन्होंने हिंसा का ऐसा दौर प्रारंभ किया जिससे श्रीलंकाई समाज विभाजित हो गया। जयवर्धने के सिंहलियों और तमिलों के राजनीतिक समझौतें के लिए किए गए प्रयास विफल हुए क्योकि उदारवादी टी यू एल एफ, एल टी टी ई (लिबरेशन टाइगर्स आफ तमिल एलम) के सामने बेकार साबित हो चुकी थी क्योंकि टाइगर्स तमिल एलम अर्थात पृथक राज्य की स्थापना करने को कटिबद्ध थे। इसी बीच वह सिंहली उग्रवादी भी सिंहली बहुल इलाकों में सक्रिय हो गए जो तमिलों को सत्ता में जगह देने की किसी भी योजना का विरोध कर रहे थे।

विभिन्न मोर्चों पर गंभीर आंतरिक संकट झेल रही जयवर्धने सरकार ने भारतीय सरकार के साथ एक समझौता किया जिसमें 1987 के भारत श्रीलंका समझौते के तहत सैनिक सहायता का प्रावधान था। इस बारे में हम किसी अन्य इकाई में विस्तार से चर्चा करेंगे। मोटे तौर पर यू एन पी शासन में जातीय विवाद बदतर हुए और द्वीप राष्ट्र के उत्तरी और पूर्वी क्षेत्रों में तमिल पृथकतावादियों ने खूनी संघर्ष छेड़ा।

दिसम्बर 1988 में यू एन पी ने प्रधानमंत्री रणासिंघे प्रेमदासा को राष्ट्रपति के चुनावों के लिए मनोनीत किया। प्रेमदासा बहुत आसानी से चुनाव जीत गए। एस एल एफ पी की श्रीमावो भंडारनायके को 45 प्रतिशत वोट मिले। इन चुनावों के बाद काफी हिंसा और तोडफोड हुई क्योंकि जे वी पी और एल टी टी ई ने चुनाव का विरोध किया और हिंसा का रवैया अपनाया। बाद में फरवरी 189 में संसदीय चुनाव हुए जिनमें यू एन पी को 225 में से 125 सीटें प्राप्त हुई। इस चुनाव में भी व्यापक हिंसा हुई और इसे स्वतंत्र श्रीलंका का सबसे खूनी चुनाव माना गया।

बाद में आंतकवादी हिंसा और असुरक्षा बढ़ने की वजह से सरकार ने कुछ कड़े कदम उठाए और जनतांत्रिक अधिकारों और न्याय के सिद्धांत से समझौते करते हुए कुछ काले कानून लागू किए। स्थाईत्व के प्रयासों के लिए राष्ट्रापति के अधकारों को बढा दिया गया। लेकिन ऐसा लगा कि हालात तब निमंत्रण से बाहर हो गए थे जब 1 मई 1993 को एल टी टी ई के लोगों ने राष्ट्रपति रणसिंघे की हत्या कर दी। बाद में बदलते हुए राजनीतिक माहौल में एस एल एफ पी सत्ता में आ बैठी जब श्रीमती भंडारनायके की पुत्री चंद्रिका भंडारनायके कुमारतुंग 1994 के आम चुनाव में प्रधानमंत्री बनीं। बाद में नवम्बर 1994 में वह राष्ट्रपति बन गई और उन्होंने अपनी माँ को प्रधानमंत्री नियुक्त किया।

दिसम्बर 1999 के राष्ट्रपति के चुनाव में चंद्रिका कुमारतुंग एक बार फिर राष्ट्रपति चुनी गई। इसके अगले साल हुए आम चुनावों में एस एल एफ पी गठबंधन ने वापस सत्ता पाई। फिर भी 2003 के चुनावों में एस एल एफ पी हार गई और यू एन पी के रानिल विक्रमसिंघे प्रधानमंत्री बने और उन्होंने एल टी टी ई से वार्ता आरंभ की।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

1) 1972 के संविधान के विवादास्पद पहलू क्या थे ?

....

....

....

2) 1978 के संविधान की प्रमुख विशेषताएं क्या थीं ?

....

....

....

14.6 स्थानीय शासन

संसदीय लोकतंत्र के रूप में श्रीलंका को विभिन्न स्तरों पर राजनीतिक शक्ति के गठन और कार्यान्वयन का अनुभव था। इस संदर्भ में सरकार की संस्थाओं की एकदम निचले स्तर से पड़ताल करना उपयुक्त है। औपनिवेशिक काल में सरकारी प्रतिनिधि बहुत प्रभावशाली थे और केंद्रीय सरकार के महत्वपूर्ण प्रतिनिधि थे। हालांकि वे मुख्यत: राजस्व एकत्र करने वाले अधिकारी थे लेकिन उन्हें उनके क्षेत्रों में सभी सरकारी गतिविधियों को नियंत्रित करने के अधिकार भी दिये गए थे। स्वतंत्रता के बाद इनका प्रभाव कम हुआ क्योंकि इनके मुकाबले में संसद के निर्वाचित सदस्य और सरकार के अन्य अधिकारी आ गए थे।

स्थानीय शासन का दायरा गाँवों, शहरों और नगरों की परिषदों तक था। इसके तहत सरकारों के पास राजस्व सीमित था और इनके काम भी अपेक्षाकृत कम होते थे जैसे अपने अधिकार क्षेत्र में किसी गाँव या शहर में सार्वजनिक कार्यों का निरीक्षण करना। 1981 में इन गाँव, शहर तथा नगर परिषदों की जगह जिला विकास परिषदों ने ले ली। जिला विकास परिषदों का गठन मुख्यत: अल्पसंख्यकों की स्थानीय स्वशासन की अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए किया गया था। इनकी संरचना विशेष रूप से, जैसा कि नाम से ही जाहिर है, विकास और आर्थिक नियोजन के क्षेत्रों के कार्यान्वयन में स्वायत्तता के लिए की गई थी। लेकिन यह जिला परिषदें अपने शुरुआती दिनों में ही लड़खड़ाने लगी। प्रमुख विपक्षी दलों - श्रीलंका फ्रीडम पार्टी, लंका सम समाज पार्टी एवं कम्युनिस्ट पार्टी ने इस योजना का विरोध करते हुए 1981 में हुए जिला विकास परिषदों के चुनावों का बहिष्कार किया। इस योजना पर अगली सरकारों ने भी ध्यान नहीं दिया और अंतत: 1988 में इसका स्थान प्रांतीय परिषदों ने ले लिया।

आज की तारीख में द्वीप के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों के लिए आठ प्रांतीय परिषदें हैं। भारत-श्रीलंका समझौते के तहत द्वीप के पूर्वी तथा उत्तरी क्षेत्रों के तमिल इलाकों को किसी प्रकार की स्वायत्तता प्रदान करने के उद्देश्य से 1988 में उत्तर-पूर्वी परिषद का पहला चुनाव हुआ। प्रत्येक प्रांत में एक निर्वाचित परिषद है जिसके अंतर्गत एक मुख्यमंत्री तथा परिषद द्वारा स्वीकृत मंत्रियों का समूह है। इन परिषदों ने स्थानीय प्रशासन की पुरानी प्रणाली को त्यागना शुरू कर दिया है। प्रत्येक प्रांत को दो या तीन प्रशासनिक जिलों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक जिले में कुछ सरकारी कार्यालय हैं जिन्हें कचेरी कहा जाता है और जो मुख्य रूप से इन जिलों में काम करते हैं।

कचेरी और प्रांतीय परिषदों के अलावा प्रत्येक जिले में कुछ निर्वाचित स्थानीय स्वशासित परिषदें हैं जो छोटे-मोटे कुछ काम करती है।

सामान्यतः श्रीलंका में स्थानीय शासन की स्थिति कमजोर रही। एक एकीकृत राज्य के रूप में सरकार द्वारा अर्जित अधिकांश राजस्व कोलंबों में राष्ट्रीय सरकार के अधिकार में रहता है। अक्सर राष्ट्रीय सरकार द्वारा लिए गए फैसलों को स्थानीय शासन को पूरा करना पड़ता है। कुछ हद तक जिला विकास परिषदों के तहत विकेन्द्रीकरण के प्रयोग के विफल होने के कारण एक पृथक राज्य की तमिलों की माँग का परिणाम यह हुआ कि राजनीति का और अधिक केंद्रीकरण हुआ और सरकार इस चुनौती से निपटने के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर आपातकालीन कानून और अन्य अधिनायकवादी कदम उठाने लगी।

14.7 हाल की राजनीतिक हलचलें

कुछ ताजा राजनीतिक संकेतों के अनुसार देश इस समय आर्थिक संकट, जातीय ध्रुवीकरण और राजनीतिक अनिश्चितताओं के दौर से गुजर रहा है। उदाहरण के लिए अप्रैल 2004 में हुए पिछले आम चुनाव में राष्ट्रपति चंद्रिका कुमातुंग के नेतृत्व में युनाइटेड पीपल्स फ्रीडम एलायंस 225 सदस्यों वाली संसद में सबसे बड़े गठबंधन के तौर पर उभरा, लेकिन अपने जोर पर सरकार बनाने का बहुमत नहीं जुटा पाया। कहने का तात्पर्य यह कि कुमारतुंग की एस एल एफ पी और जे वी पी जैसी केंद्र से वाम की ओर झुकी हुई पार्टियों का मोर्चा यू पी एफ ए बहुमत के लिए आवश्यक 113 सीटें नहीं जुटा पाया। दूसरी ओर विक्रमसिंघे की यू एन पी को मात्र 82 सीटें मिलीं और वह कुमारतुंग के मोर्चे के सामने सत्ता गँवा बैठे। यह हाल के चुनाव संवैधानिक तौर पर शक्तिशाली कार्यकारी राष्ट्रपति कुमारतुंग और यू एन पी नीत गठबंधन के प्रधानमंत्री रानिल विक्रमसिंघे के कड़वे सहअस्तित्व वाली सरकार के पतन के बाद पिछले चार वर्षों में तीसरी बार हुए थे।

वर्तमान चुनावी राजनीति का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू है जातीय आधार पर मतदान करने की प्रवृत्ति। उदाहरण के लिए एल टी टी ई द्वारा समर्थित चार दलों के तमिल राष्ट्रीय गठबंधन (टी एन ए) ने उत्तर और पूर्व के तमिल बहुल इलाकों में भारी विजय प्राप्त की। 22 सीटें प्राप्त कर वह तीसरी सबसे बडी पार्टी के तौर पर उभरी। दूसरी ओर जतिका हेला उरुमाया (जे एच यू) ने सभी निर्वाचन क्षेत्रों में बौद्ध भिक्षुओं को चुनाव लड़वाया और उनमें से 9 को संसद भेजने में सफल रहीं। इसी तरह श्रीलंका मुस्लिम कांग्रेस (एस एम एल सी) ने मुस्लिम बहूल क्षेत्रों में 5 सीटें जीतीं। मोटे तौर पर मतदान का ढर्रा जातीय ध्रुवीकरण दर्शाता है क्योंकि देश के दक्षिणी और उत्तरी क्षेत्रों में क्रमशः कट्टर सिंहली और तमिल दलों ने चुनाव जीते। इसके अलावा आनुपातिक प्रतिनिधित्व व्यवस्था के तहत कराए गए चुनावों ने फिर वहीं स्थिति पैदा कर दी जिसमें प्रमुख दल बिना छोटे दलों का समर्थन लिए सरकार नहीं बना सकते थे।

इसलिए वर्तमान राजनीतिक ध्रुवीकरण देश के लिए स्वस्थ जनतांत्रिक और स्थाई राजनीति के कोई सकारात्मक संकेत नहीं दे रहा है। दूसरी बात यह है कि समय से चार साल पहले कराए गए संसदीय चुनावों का कारण एस एल एफ पी - जे वी पी गठबंधन की सत्ता में आने की राजनीतिक चाल थी। भले ही दोनों दल केंद्र से वाम की ओर झुके हुए हैं, तमिल समस्या और शांति प्रक्रिया जैसे अहम मुद्दों के बारे में दोनों में मतभेद हैं क्योंकि इस बारे में उनके दृष्टिकोण एक दूसरे के विपरीत हैं। जनवरी 2004 में जब वार्ताओं के लंबे दौर के बाद एस एल एफ पी और जे वी पी ने हाथ मिलाया तो उन्होंने दशकों पुराने पृथकतावादी संकट को सुलझाने के मूलभूत मुद्दे पर असहमत होने पर सहमति प्रकट की। जहाँ एस एल एफ पी एकीकृत राज्य के दृष्टिकोण से हटते हुए सता के बृहत्तर अवमूल्यन की मदद से इस संकट को हल करना चाहता था वहीं जे वी पी इस विचार का कट्टर विरोधी था और वह वर्तमान राज्य में किसी भी प्रकार का अवमूल्यन नहीं चाहता

था। इस मुद्दे पर जे वी पी के विचार बौद्ध भिक्षुओं की जे एच यू से मिलते थे। दूसरी ओर एस एल एफ पी और यू एन पी के तमिल मुद्दे पर विचारों में कुछ समानता थी जो श्रीलंका की राजनीति पर हावी था। लेकिन अपनी ऐतिहासिक दुश्मनी और राजनीतिक अस्तित्व की वजह से वह साथ नहीं आ सकते।

दूसरी ओर तमिल पार्टी (टी एन ए) ने दो मुद्दों पर चुनाव लड़ा। एक तो यह कि वह जातीय तमिलों के एकमात्र प्रतिनिधि के तौर पर एल टी टी ई को स्वीकार करती है और दूसरा यह कि बातचीत के आधार के तौर पर उसने अंतरिम स्वशासन प्राधिकरण (आई एस जी ए) का प्रस्ताव रखा। चुनाव में पहली बार हिस्सा लेने वाली एल टी टी ई के तमिल क्षेत्रों में आए नतीजे अंतर्राष्ट्रीय समुदाय और श्रीलंका दोनों के लिए एक संदेश था। विरोधाभास यह था कि वह एल टी टी ई जिसने यू एन पी सरकार के साथ बातचीत के दौरान हथियार डालने या हिंसा छोड़ने से मना किया था वहीं अब अपने प्रतिनिधियों द्वारा संसद में मौजूद थी। इसलिए टी एन ए और जे एच यू के उभरने की वजह से श्रीलंका की संसद में तमिल और सिंहली कट्टरपंथियों का प्रवेश हुआ और इनकी कट्टर विचारधाराओं के बीच झड़प का माहौल बना। संसदीय गणित की सफलता यू पी एफ ए को प्राप्त मतों से होती है। 2001 चुनावों में एस एल एफ पी को 37.2 प्रतिशत और जे वी पी के 9.1 प्रतिशत मत मिलाकर कुल 46.3 प्रतिशत मत प्राप्त हुए थे जबकि यू एन पी के हिस्से में 45.6 प्रतिशत मत आए थे। 2004 के चुनावों में यू पी एफ ए ने 45.6 मत प्राप्त किए जबकि सी डब्ल्यू सी और एस एल एम सी के साथ चुनावी गठबंधन में पिछले चुनावों में यू एन पी को बहुमत प्राप्त हुआ। एक अर्थ में कुमारतुंग के नेतृत्व वाली यू पी एफ ए की विजय एस एल एफ पी-जे वी पी गठबंधन के चुनावी गणित का परिणाम थी और उसके इस आरोप पर भी मोहर लगाती थी कि यू एन पी लंबे समय से रुकी हुई वार्ताओं में एल टी टी ई को कुछ ज्यादा तरजीह दे रहा है।

लेकिन आज सरकार में शांति प्रक्रिया फिर शुरू करने की इच्छा है क्योंकि उस पर सहायता देने वाले देशों का बाहरी दबाव है। भारत ने भी श्रीलंका में जनतांत्रिक प्रक्रिया बनाए रखने में सकारात्मक भूमिका निभाई है क्योंकि यह दक्षिण एशिया में प्रगति और शांति के लिए महत्वपूर्ण है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

1) तमिलों के पृथकतावादी आंदोलन का समाधान निकालने में एस एल एफ पी और जे वी पी की क्या भूमिका है ?

....

....

....

14.8 सारांश

श्रीलंका में राजनीतिक प्रक्रिया हालाँकि समय-समय पर कई परिवर्तनों से गुजरी है लेकिन लोकतंत्र ने यहाँ की राज्यव्यवस्था में अपनी जड़ें जमा ली हैं। इस प्रक्रिया में राजनीतिक दलों और दबाव समूहों ने मुख्य भूमिका निभाई है। आज के समय की आवश्यकताओं के मद्देनजर सरकार ने संविधान में आवश्यक परिवर्तन किए हैं। इसके तहत देश में राजनीतिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं की स्थिति को सुदृढ किया गया है। लेकिन जातीय आधार पर बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धात्मक

और लोक-लुभावन राजनीति एक विभंजित राज्य व्यवस्था की तस्वीर पेश करती है जो लोकतंत्र के लिए अच्छा संकेत नही हैं। इसलिए यहाँ राष्ट्रीय समस्याओं के निदान के लिए सभी राजनीतिज्ञों को राष्ट्रीय तथा स्थानीय स्तरों पर द्विदलीय राजनीति पर अमल करने की सख्त जरुरत है।

14.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डि सिल्वा, चंद्र रिचर्ड (1987) *श्रीलंका : ए हिस्ट्री*, नई दिल्ली, विकास प्रकाशन

कीयरनी, रॉबर्ट एन (1967) *कम्युनिलिज्म एंड लैंग्वेज इन द पॉलिटिक्स ऑफ सीलोन* डुरहाम, एन सी ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस

मानोर, जेम्स (संपादन) (1984) *श्रीलंका इन चेंजेज एंड क्राइसिसेस* लंदन, क्रूम हेल्म

फडनिस, उर्मिला (1976) *रिलीजन एंड पॉलिटिक्स इन श्रीलंका*, लंदन, सी हर्स्ट एंड कं. लि.
—(1973) श्रीलंका, नई दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट

विल्सन, ए. जे. (1979) *पॉलिटिक्स इन श्रीलंका 1947-1979*, दूसरा संस्करण, लंदन, मैकमिलन
—(1988) *द ब्रेकअप ऑफ श्रीलंका*, लंदन, सी हर्स्ट एंड कं.

14.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) प्रतिनिधित्व के मुददे पर कांग्रेस पार्टी में दरारें पैदा हुईं। बहुसंख्यक सिंहली सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व से छुटकारा पाकर क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व को सर्वव्यापक बनाया चाहते थे लेकिन अल्पसंख्यक, विशेषकर तमिल, सत्ता हासिल करने के लिए इसे बचाए रखना चाहते थे।

2) पचास के दशक में वह आर्थिक संकट जिसने देश को जकड़ रखा था और सिंहली बौद्ध भिक्षुओं की भावनाओं का उभरना।

बोध प्रश्न 2

1) कार्यपालिका में सत्ता का केंद्रीकरण, धर्मनिरपेक्षवाद को त्यागना और सिंहला को आधिकारिक भाषा के रूप में घोषित करना - 1972 के संविधान के कुछ विवादास्पद पक्ष थे।

2) फ्रांसीसी मॉडल पर आधारित 1978 के संविधान के तहत सत्ता के पृथकीकरण के प्रावधान को समाप्त किया गया और कार्यकारी अधिकार राष्ट्रपति को प्रदान किए गए जिसे बहुत ही प्रभावशाली बना दिया गया था।

बोध प्रश्न 3

एस एल एफ पी एकीकृत राज्य के अपने दृष्टिकोण से हटते हुए सत्ता के बृहत्तर विकेंद्रीकरण के जरिए पृथकतावादी आंदोलन को सुलझाना चाहती है जबकि जे वी पी इस अवधारणा का विरोध करती है और वर्तमान राज्य की प्रकृति में किसी भी प्रकार का अवमूल्यन नहीं चाहती।

इकाई 15 श्रीलंका की अर्थव्यवस्था और समाज

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 भौगोलिक परिदृश्य

15.3 समाज और संस्कृति

- 15.3.1 जातीयता
- 15.3.2 जातीय व्यवस्था

15.4 अर्थव्यवस्था

- 15.4.1 स्वतंत्रता के बाद की अर्थव्यवस्था

15.5 श्रीलंका की राजनीतिक अर्थव्यवस्था

- 15.5.1 जातीय अस्मिताओं का विकास
- 15.5.2 शिक्षा और रोजगार
- 15.5.3 तमिलों से भेदभाव

15.6 सारांश

15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

यह इकाई श्रीलंका की अर्थव्यवस्था और सामाजिक की विशेषताओं की विस्तार से व्याख्या करती है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित बातें कर पाएंगे –

- श्रीलंका के समाज की संजातीय संरचना का वर्णन;
- वहाँ की अर्थव्यवस्था और समाज पर उपनिवेशवाद के प्रभाव की व्याख्या;
- विरासत में मिली और मौजूदा आर्थिक संरचना का वर्णन; तथा
- उन नीतियों की पहचान जिनके कारण वहाँ जातीय समस्या बढ़ी।

15.1 प्रस्तावना

श्रीलंका, जिसे पहले सीलोन कहा जाता था, हिंद महासागर में सामरिक महत्व का छोटा सा द्वीप - राष्ट्र है। भारतीय प्रायद्वीप से उबले पानी की एक संकरी सी पटटी, जिसे "पाक स्ट्रीट" कहते हैं, से विलग इस देश का इतिहास, भाषा और यहाँ रहने वाली जातियाँ भारत से साम्य रखती हैं। यह बहुजातीय देश है जहाँ कई प्रकार की जातियों और धर्म के लोग रहते हैं। लेकिन हाल ही के दिनों में इस देश में बहुसंख्यक सिंहली और तमिलों के बीच लंबा खूनी जातीय संघर्ष दिखाई पड़ा है। इस संघर्ष की जड़ें औपनिवेशिक काल की देन हैं। स्वतंत्र श्रीलंका की प्रतिद्वंद्वितापूर्ण राजनीति में आर्थिक और राजनीतिक शक्ति तलाशती सिंहल-बहुल सरकार को बहुसंख्यक सिंहली बौद्धों का पक्ष लेने वाली नीतियाँ अपनाने को बाध्य होना पड़ा। 70 के दशक में तमिल अल्पसंख्यकों की शिकायतों को तमिल मुक्ति मोर्चे (तमिल युनाइटेड लिबरेशन फ्रंट) की माँग में स्वर मिला।

तमिल समुदाय के इस प्रमुख राजनीतिक दल ने उत्तरी और पूर्वी क्षेत्रों में स्वतंत्र तमिल राज्य बनाने की माँग की। इस इकाई में हम जातीय और सामाजिक विभाजनों के संदर्भ में श्रीलंका के समाज का जायज़ा लेंगे। इस इकाई में इस द्वीप-राष्ट्र को विरासत में मिली और मौजूदा आर्थिक संरचना की व्याख्या उन कारणों पर पूरा ध्यान देते हुए की जाएगी जिनकी वजह से श्रीलंका के दो जातीय समुदायों अर्थात् सिंहली और तमिलों के बीच खाई बढ़ती चली गई।

15.2 भौगोलिक परिदृश्य

भारत के दक्षिण में ''पाक स्ट्रेट'' नामक पानी के छोटे से गलियारे की वजह से भारत से कटे हुए श्रीलंका के इस द्वीप का कुल क्षेत्रफल 65525 कि.मी. है। उत्तर से दक्षिण तक इसकी अधिकतम लंबाई 432 कि.मी. और पूरब से पश्चिम तक इसकी अधिकतम चौड़ाई 224 कि.मी. है। भौगोलिक तौर पर इस द्वीप को तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है यथा तटीय मैदान, दक्षिण केंद्रीय भाग में 3000-7000 फीट ऊंचाई का पहाड़ी भाग और देश के मध्य क्षेत्र में पहाड़ों को घेरे हुए 1000 से 3000 फीट की उंचाई वाला क्षेत्र। पहाड़ी क्षेत्र केन्द्र में होने की वजह से इस क्षेत्र में नदियाँ तकरीबन सभी दिशाओं में बहती हैं। महाबली गंगा जो सबसे लंबी और महत्वपूर्ण नदी है, उच्च क्षेत्र की पश्चिमी ढलान से आरंभ होती है और उत्तर-पूर्व की ओर बहती है।

40 लाख एकड़ विकसित कृषि भूमि के एक बड़े हिस्से में चाय, रबर और नारियल की खेती होती है और लगभग 15 लाख एकड़ भूमि धान की खेती के उपयोग में लाई जाती है। द्वीप में खेती मुख्यतः दो मानसूनों पर निर्भर करती है मई से सितम्बर तक दक्षिण-पश्चिमी और दिसम्बर से फरवरी तक उत्तर-पूर्वी मानसून हालाँकि द्वीप के कुछ हिस्सों में बड़ी और छोटी सिंचाई परियोजनाएँ चल रही हैं। यह देश व्यापक कृषि-जलवायु क्षेत्रों में विभाजित है जिनमें से आर्द्र क्षेत्र में मुख्यतः दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्र तथा शुष्क क्षेत्र में मुख्यतः उत्तर-पूर्वी क्षेत्र शामिल हैं। आर्द्र क्षेत्र में 100 से 200 इंच तक तथा शुष्क क्षेत्र में प्रायः 75 इंच से कम औसत वार्षिक वर्षा होती है।

15.3 समाज और संस्कृति

स्वतंत्र होने के समय श्रीलंका की आबादी 65 लाख थी जो 2000 की शुरुआत में बढ़कर 190 लाख से अधिक हो गई थी।

1970 के शुरुआती दौर में औसत आबादी विकास दर 2.66 प्रतिशत थी जो अगले दो दशकों में गिरकर 1.7 प्रतिशत हो गई । आबादी घनत्व प्रति वर्ग किलामीटर 289 है।

15.3.1 जातीयता

आकार में छोटा होने के बावजूद जातीय समूहों की अपेक्षाकृत व्यापक विषमता श्रीलंका की विशेषता है। समाज भाषा, धर्म और बहुत कम हद तक जाति के आधार पर बँटा हुआ है। भाषाई और धार्मिक विभेद एक दूसरे को सुदृढ़ करते हैं अर्थात प्रत्येक मुख्य भाषाई समूह के सदस्य एक ही धर्म को अपनाते हैं। आबादी का 74 प्रतिशत हिस्सा सिंहलियों का है जो श्रीलंका का मुख्य जातीय समुदाय है। दूसरा सबसे बड़ा जातीय समुदाय तमिलों का है जो आबादी के 18 प्रतिशत हैं। इन दो बड़े जातीय समुदायों के अलावा श्रीलंका में मूर (आबादी का 7 प्रतिशत), बरघर, मलय और बेद्धा जातियाँ भी हैं।

इंडो-आर्य भाषा सिंहला बोलने वाले सिंहली एक विशिष्ट जातीय समूह के लोग हैं। उत्तरी भारत से आए यह लोग अपने आपको द्वीप पर सबसे पहले बसे ''सुसंस्कृत'' निवासी होने का दावा करते हैं। अधिकतर सिंहली थेरावडा बौद्ध धर्म के एक प्रकार को मानते हैं। जिसे राजाओं ने तीसरी शताब्दी ई.पू. में इसकी शुरुआत के समय से ही निरंतर प्रोत्साहित किया। औपनिवेशिक

काल में हालांकि अच्छी खासी संख्या में अल्पसंख्यक सिंहलियों का ईसाई धर्म में धर्मान्तरण किया गया, 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्वाद के उभरने के साथ-साथ बौद्ध धर्म।

आज अधिकतर सिंहली मानते हैं कि वे ही बौद्ध धर्म के रक्षक हैं। भौगोलिक दृष्टिकोण से सिंहलियों को निम्नदेशीय और उच्च देशीय सिंहली या कांडयान सिंहली कहा जाता है। निम्नदेशीय सिंहली द्वीप के पश्चिमी और दक्षिणी हिस्सों में केंद्रित हैं। यूरोपीय शासन के 400 वर्षों के दौरान कई महत्वपूर्ण परिवर्तनों के अनुभव हुए। कई सिंहलियों ने ईसाई धर्म अपनाया और अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की। लंबे समय तक अपनी स्वतंत्रता बरकरार रखने वाले कांडयन राज को यूरोपीय प्रभाव में आने में काफी समय लगा। कांडयन या उच्च देशीय सिंहली लोगों ने अपने सामन्तवादी, सोपानबद्ध और रुढ़िवादी सामाजिक ढाँचे को बचाए रखा। अपने को विशुद्ध सिंहली परंपरा के रक्षक मानने वाले इन कांडयन सिंहलियों ने अंग्रेजी शिक्षा के बजाय पारंपरिक बौद्ध शिक्षा पर जोर दिया। अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में तमिलों की एक विशेष जातीय एवं सांस्कृतिक पहचान है। वह अपने पूर्वजों का काल वही बताते हैं जो सिंहलियों के आगमन का है और इस प्रकार वह श्रीलंका के ऐतिहासिक उत्पत्ति के सिंहली संस्करण को चुनौती देते हैं। उनमें से अधिकतर हिंदु हैं और दक्षिण भारतीय द्रविड़ भाषा तमिल बोलते हैं। यूरोपीय सत्ता स्थापित होने के बाद बड़ी संख्या में लोगों ने ईसाई धर्म अपनाया।

तमिलों को उनके उदगम स्थान के अनुसार श्रीलंकाई और भारतीय मूल के तमिलों में बाँटा जा सकता है। अधिकांश तमिल श्रीलंकाई मूल के तमिल हैं जो उत्तरी और पूर्वी हिसों में बँसे हुए हैं और कुल आबादी का 12.6 प्रतिशत हैं। जो अपने आपको बहुत पहले से यहाँ बसा हुआ बताते हैं और एक तरह से यहीं के अल्पसंख्यक मूल निवासी हैं। इन लोगों को अंग्रेज कॉफी, रबर तथा चाय के बागानों में काम कराने के लिए भारत से यहाँ लाए थे।

अंग्रेजों के शासन में भारतीय मूल के तमिलों को द्वीप के मूल निवासी न होने पर भी सिंहलियों और श्रीलंकाई तमिलों के जैसा कानूनी दर्जा प्राप्त था। स्वतंत्रता के बाद सिंहली प्रभुत्व वाली पहली सरकार ने भारतीय मूल के तमिलों की नागरिकता को इस आधार पर अस्वीकार करने के लिए कदम उठाए कि उनमें से कईयों का जन्म श्रीलंका में होने के बावजूद वह द्वीप के अस्थाई निवासी थे और उनका श्रीलंका से दीर्घकालीन संबंध नहीं रहा था। सरकार ने अधिकांश भारतीय तमिलों और अन्य गैर नागरिकों को भारत और पाकिस्तान भेजने का फैसला किया। भारत और पाकिस्तान दोनों ही इन लोगों के देशप्रत्यावर्तन के इच्छुक नहीं थे क्योंकि इनमें से कईयों का जन्म श्रीलंका में हुआ था इसलिए यह लोग नागरिकताहीन ही रह गए। 1964 के सिरीमाओ-शास्त्री समझौते तथा 1974 के सिरीमावो-इंदिरा गाँधी समझौते के तहत इन राष्ट्रहीन लोगों की समस्याओं को सुलझाने के प्रयास किए गए। इन दोनों समझौतों के तहत भारत और श्रीलंका ने क्रमश: 6,00,000 और 4,00,000 तमिलों को नागरिकता प्रदान करना स्वीकार किया। यह प्रक्रिया हालांकि धीमी रही और 1980 में बढ़ती हुई जातीय हिंसा को देखते हुए देशप्रत्यावर्तन स्थगित करना पड़ा। 1988 में संसद के भीतर और बाहर एक लंबे संघर्ष के बाद भारतीय तमिल सरकार से अपने नागरिक अधिकार प्राप्त करवाने में सफल हुए।

अन्य महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक समुदाय मूरों या मूसलमानों का है। इनकी आबादी कुल आबादी की 7.4 प्रतिशत है। इनके पूर्वज वह अरब व्यापारी थे जो आठवीं से पंद्रहवीं शताब्दी के बीच दक्षिण भारत और श्रीलंका आए। इन्होंने तमिल भाषा अपनाई जो हिंद महासागर के रास्ते होने वाले व्यापार की आम भाषा थी और श्रीलंका में स्थाई रूप से बस गए।

मूरों के अलावा मलय और बर्घर जैसे अन्य अल्पसंख्यक समुदाय भी यहाँ हैं जिनकी आबादी मूल आबादी की 0.4 प्रतिशत है। मलय लोग जावा निवासियों के वंशज हैं जिन्हें सेना में शामिल होने तथा शहर निर्माण कार्य के लिए डच (1640-1796) यहाँ लाए थे। यह लोग मलय भाषा (भाषा मेलयु) बोलते हैं जिसमें सिंहली तथा तमिल भाषा से लिए गए कई शब्द शामिल हैं। बर्घर समुदाय उन डच और पुर्तगाली लोगों का है जिन्होंने श्रीलंका में अंतर्विवाह किए और यहाँ के

स्थाई निवासी बन गए। औपनिवेशिक काल में यह लोग उच्च शैक्षिक तथा प्रशासनिक पदों पर थे लेकिन द्वीप के स्वतंत्र होने के बाद इनका प्रभुत्व समाप्त हो गया। अब यह समुदाय उत्प्रवासन के कारण छोटा होता जा रहा है।

15.3.2 जातीय व्यवस्था

श्रीलंका में जातीय व्यवस्था ने अपना स्वरूप खुद विकसित किया जहाँ व्यावसायिक भूमिकाओं के संबंध में वह भारतीय स्वरूप से मेल खाती है वहीं श्रीलंका में जाति शुद्धता और अशुद्धता के सिद्धांतों के बजाय कार्यों और भूमिकाओं की अनुवांशिकता पर आधारित है। बौद्ध धर्म ने हमेशा ही जाति भेद को सिद्धांततः हतोत्साहित किया है लेकिन उसने भी यहाँ इसके कठोर अनुपालन से बचने की चेष्टा की। जाति व्यवस्था का एक विशेष पक्ष यह है कि सिंहलियों और तमिलों में उच्च जाति के लोगों की संख्या अधिक है। इन दोनों ही नृजाति समुदायों में खेतिहर जाति को सामाजिक सोपान में सबसे ऊपर रखा गया है। गोईगामा सिंहलियों में खेतिहर जाति है जिसका जनसंख्या और प्रभाव के संदर्भ में सबसे अधिक वर्चस्व है। अधिकांश अनुमानों के अनुसार यह लोग सिंहली आबादी के लगभग आधे हैं। स्वतंत्रता के बाद श्रीलंका के सभी राज्याध्यक्ष गोईगामा जाति के ही रहे हैं। गाईगामा के नीचे गैर खेतिहर जाति का वह छोटा समूह है जिसे कम हैसियत दी गई है। यह करावा (मछुआरे), सलागामा (दालचीनी तोड़ने वाले) और बुरावा (ताड़ी निकालने वाले) कहलाते हैं। यह लोग प्रमुखतः द्वीप के दक्षिण-पश्चिमी तटीय क्षेत्रों में रहते हैं और समान्यतः उन क्षेत्रों में बहुसंख्यक माने जाते है।

श्रीलंकाई तमिलों में खेतिहर जाति के लोगों को वेल्लाला कहा जाता है जो जाति व्यवस्था में सबसे ऊपर हैं। सिंहलियों में गोईगामाओं की तरह वेल्लाला संख्या में अधिक हैं। श्रीलंका में तमिल आबादी की आधा संख्या वेल्लालाओं की है। वेल्लाला जाति से नीचे कई महत्वपूर्ण जातियाँ हैं जैसे कोवियार (घरेलू नौकर) और कारायार तथा मुक्कूवार जैसी मछुआरों की ही जातियाँ। तमिलों में पल्ला (खेतिहर मजदूर), अंबात्तार (नाई), वलावा (ताडी निकालने वाले) और पराया (मेहतर) जातियाँ अस्पृश्य मानी जाती हैं। अनुमानतः तमिलों की एक चौथाई आबादी इन अस्पृश्य जातियों की है।

अपने विभिन्न जाति सोपानों के भीतर भी सिंहली और तमिल समुदायों में कई रिवाज हैं जो उन्हें ऊंची जातियों और निम्न जातियों में बाँटते हैं। अंतर्जातीय विवाह नहीं के बराबर होते हैं। निम्नजातियों समूहों के कुछ सदस्य आधुनिक अर्थव्यवस्था से प्राप्त अवसरों का लाभ उठाकर अमीर बन गए हैं। धन-दौलत के इस अंतर ने विभिन्न वर्गों के बीच गहन मतभेद पैदा कर दिए हैं जो जाति, धर्म और भाषा की सीमाओं को लाँघ चुके हैं। इन मतभेदों की वजह से श्रीलंका का समाज झगड़े के कई कारणों को समेटे हुए काफी जटिल है। जैसा कि हम इस इकाई में आगे पाएंगे, असमान आर्थिक विकास तथा कालिक आर्थिक संकट ने जिन्होंने देश को जकड़ रखा है, इन मतभेदों को और भी सुदृढ़ किया है।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

1) श्रीलंका द्वीप पर बसने वाले मूल निवासी कौन थे ?

....

....

....

....

2) नागरिकताहीन भारतीय तमिलों ने नागरिकता कैसे प्राप्त की ?

....

....

....

....

15.4 अर्थव्यवस्था

श्रीलंका में 1975 में विदेशियों के स्वामित्व वाली भूमि के राष्ट्रीयकरण के समय से पहले खेतिहर राज के प्रमुख पहलू ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन (1830-1870 तक) के आरंभिक चरण में दिखलाई दिये जब कॉफी उत्पादन के क्षेत्रों को मध्य पहाड़ियों पर स्थापित किया गया। 1840 में पारित कानून में अधिकांश वन-क्षेत्र का स्वामित्व सरकार को सौंपा गया। औपनिवेशिक प्रशासन ने निर्यात के लिए कॉफी का उत्पादन बढ़ाने के लिए बड़े-बड़े भू-भाग उन लोगों को बेच दिये जो कॉफी बागान लगाने के इच्छुक थे। इस चरण में ब्रितानी नागरिकों और सैन्य अधिकारियों ने 80000 हेक्टेयर भूमि खरीदी। ब्रितानी लोगों के पास न सिर्फ भूसम्पति का स्वामित्व था बल्कि वे ब्रिटिश बैंकों द्वारा पोषित कई भूखंडों का प्रबंधन भी करते थे। यही वह समय था जब औपनिवेशिक शासकों ने कॉफी की फसल करने के समय मजदूरों की कमी को पूरा करने के लिए दक्षिण भारत से अनुबंध पर मजदूरों को लाना शुरू किया। फसल के मौसम के बाद तमिल मजदूर वापिस भारत भेज दिये जाते थे। ब्रिटिश निर्यात व्यापार नियंत्रित करते थे और अपनी जायदाद के लिए भोजन सहित सभी सामग्री आयात करते थे। 1850 और 1860 के दशक "शाही कॉफी" के वर्ष थे।

1870 के दशक में पत्तियों में बीमारी फैलने से कॉफी बागानों का सफाया हो गया लेकिन इस स्थिति ने बागान व्यवस्था के विकास के लिए रास्ता बनाया। जल्दी ही कॉफी की जगह चाय ने ले ली क्योंकि चाय की खेती पहाड़ी क्षेत्र की ऊपरी और निचली ढलानों पर तेजी से की जाने लगी। लगभग उसी समय रबर और नारियल के बागान भी लगाए गए। कई मध्यवर्गीय श्रीलंकाई लोगों ने रबर और नारियल के बागों के लिए जमीन के छोटे-छोटे टुकड़े प्राप्त कर बागान अर्थव्यवस्था में भूमिका निभाई। बढ़ती हुई बागान खेती के इस दौर का यह एक महत्वपूर्ण पक्ष था। यह विशेषकर नारियल के उत्पादन में देखने को मिला जहाँ 70 प्रतिशत जमीन छोटे भूखंडों के स्वामियों की थीं।

पश्चिमी देशों में चाय की बढ़ती हुई माँग और यूरोप और उत्तरी अमेरिका में कार उद्योग में रबर की आवश्यकता की वजह से बीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चाय और रबर उत्पादन बड़े उद्योगों के तौर पर उभरे। पूंजी का निवेश हुआ और औपनिवेशिक सरकार ने चाय बागानों में भारतीय मजदूरों को स्थाई तौर लगाने के कदम उठाये क्योंकि चाय की खेती पूरे साल चलती है और इसमें स्थाई श्रम शक्ति की जरुरत होती है। निर्यात व्यापार के बढ़ने की वजह से केवल कोलंबो बंदरगाह का विकास ही नहीं हुआ, रेल मार्ग और सड़कों का निर्माण भी हुआ। इसकी वजह से श्रीलंकाई उद्यमियों के लिए अवसर बढ़े और अंग्रेजी शिक्षित लोगों के लिए रोजगार की संभावनाएँ खुलीं। इन कृषि निर्यातों की वजह से निर्यात आमदनी बढ़ी जिससे औपनिवेशिक सरकार को भोजन, कपड़ा और अन्य उपभोक्ता उत्पाद आयात करने का मौका मिला। स्वतंत्रता के समय इस द्वीप की लगभग संपूर्ण विदेशी विनिमय आय चाय, रबर और नारियल से होती थी।

फिर भी यह बात ध्यान देने योग्य है कि पूंजीवादी उद्यमिता को शहरी क्षेत्र और खेतिहर इलाको तक सीमित रखा गया। बाकी का देश पारंपरिक अर्थव्यवस्था में जीता रहा जिसमें सूखा-क्षेत्र में 2

से 5 एकड़ और आर्द्र क्षेत्र में लगभग आधा एकड़ के भूस्वामी धान, अन्य दालों और मिर्च और प्याज की खेती करते थे। बागान क्षेत्रों से अलग पारंपरिक क्षेत्र में बहुत कम या नगण्य पूंजी निवेश हुआ। इस तरह की उद्यमिता का आधार पारिवारिक श्रम या किराये के मजदूर होते थे। प्रौद्योगिकी का स्तर भी सामान्य था। उत्पादन या तो स्वयं के लिए था या सीमित स्थानीय बाजार के लिए जिसका नतीजा यह हुआ कि उपभोग किए गए चावल का आधे से ज्यादा निर्यात करना पड़ता था। कुल मिलाकर औपनिवेशक सरकार के बागान क्षेत्रों पर जोर देने की परिणति छोटे किसानों की खेती की अवहेलना में हुई जिसमें पहले से ही रुकावट और गिरावट देखी जा रही थी।

15.4.1 स्वतंत्रता के बाद की अर्थव्यवस्था

आजादी के बाद की आर्थिक नीतियाँ औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों से कोई विशेष भिन्न नहीं थीं। पहले दशक में अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार बागान क्षेत्र ही थे। ऐशोआराम के सामानों, सहित लगभग सभी प्रकार के खाद्य तथा उपभोक्ता उत्पादों का आयात देश में बड़ी उदारता से होता था। मतदाताओं की अपेक्षाओं की संतुष्टि के लिए चलाई जा रही समाज कल्याण कार्यवाई जो 1930 और 1940 के दशकों में निर्वाचित विधायिका ने शुरु की थी बाकायदा जारी रही।

निर्भरता की इन नीतियों के दोषों के संकेत कुछ निर्यात्य प्राथमिक वस्तुओं, सभी उपभोक्ता सामानों के निर्यात तथा मंहगी कल्याण नीतियों के पालन में 1950 के दशक के अंत में देखने को मिले जब अंतर्राष्ट्रीय बाजार में नारियल, रबर और चाय के दामों में लगातार कमी होते जाने के कारण विदेशी मुद्रा का कोष कम होना शुरू हुआ। बढ़ती हुई आबादी की बढ़ती हुई माँगों तथा शिक्षित युवा वर्ग में बेरोजगारी के बढ़ने से विदेशी मुद्रा के क्षीण होते जाने की समस्या और बढ़ती गई। इस संकट की स्थिति के प्रतिक्रियास्वरूप सरकार ने मुख्य रूप से मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में सीधे हस्तक्षेप करते हुए आयात और निर्यात पर रोक लगाई और सरकारी क्षेत्र का विस्तार किया। 1960 के दशक के शुरू में आलू प्याज चीनी तथा दालों जैसे खाद्य पदार्थों से लेकर कृषि उपकरण, यातायात साधन जैसी उपभोक्ता वस्तुओं का आयात तेजी से कम कर दिया गया। कृषि तथा उद्योग को नये और प्रभावशाली तरीकों से प्रोत्साहित किया गया। इस दशक के अंत तक कृषि के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति की गई। धान उत्पादन दुगुना हुआ तथा आलू और मिर्च का उत्पादन भी कई गुना बढ़ा। इसी के साथ सीमेंट, कागज, प्लाईवुड, चीनी, खनिज तथा चमड़ा उद्योग जैसे सरकार द्वारा प्रायोजित कई उद्योग लगाए गए। महत्वपूर्ण बात यह थी कि यह विकास बहुत ही कम विदेशी मुद्रा निधि तथा बेरोजगारी की बढ़ती हुई समस्या के संदर्भ में किए गए थे।

दुर्भाग्यवश 1970 के दशक में ऊर्ध्वगामी अर्थव्यवस्था बनाए नहीं रखी जा सकी जबकि सरकार ने इसकी पुन:संरचना और इसमें परिवर्तन लाने के लिए जोरदार प्रयास किए। इसके लिए सरकार ने भूमि के उच्चतम मूल्य तय किए, (धान के खेतों के लिए 50 एकड और 25 एकड के उच्चतम मूल तय किए गए थे) बडे बागानों का राष्ट्रीयकरण किया और पर्यटन तथा रत्न उद्योग को विकसित किया। 1977 में यू.एन.पी. के सत्ता में आने के बाद आयात प्रतिस्थापन की पुरानी नीतियों के बदले में उन नीतियों की ओर झुकाव पैदा हुआ जो निर्यात को प्रोत्साहित तथा अर्थव्यवस्था का उदारीकरण करने के लिए लक्षित थीं। कृषि तथा उत्पादन में सरकारी क्षेत्र को ध्वस्त करने, निजी क्षेत्र को बढ़ावा देने, विदेशी निवेश का स्वागत करने तथा आयात नियंत्रण कम करने के प्रयास किए गए। इन नीतियों में समाज कल्याण और रियायतों पर खर्च करने की राह छोड़ कर राष्ट्रीय ढाँचागत सुविधाओं में निवेश पर ध्यान दिया गया। इनमें सबसे अधिक महत्वाकांक्षी निवेश महावेल्ली गंगा कार्यक्रम की विशाल सिंचाई परियोजना रहा जिसका उद्देश्य द्वीप को चावल के मामले में आत्मनिर्भर बनाना और देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए पनबिजली पैदा करना था। इन नीतियों के परिणामस्वरूप 1980 के पूर्वार्द्ध में आर्थिक विकास की गति बढ़कर 6 प्रतिशत प्रति वर्ष तक जा पहुँची। हालांकि यह वृद्धि बढ़ते हुए विदेशी कर्ज की कीमत पर हुई। अमेरिका, पश्चिमी यूरोप, जापान और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों से प्राप्त विदेशी सहायता ने अर्थव्यवस्था को चलाया।

1980 के मध्य से विकास की दर में गिरावट दर्ज की गई जिसका प्रमुख कारण आर्थिक गतिविधियों पर जातीय संघर्षों के अवरोधात्मक प्रभाव थे। अधिकांश विश्लेषकों के अनुसार इसकी वजह आंतरिक सुरक्षा के खतरों से निपटने के लिए बढाया गया रक्षा खर्च और विदेशी निवेश सहित पूँजीगत खर्च में की गई कमी थी। भुगतान संतुलन के संकट से निपटने के लिए श्रीलंका ने 1987 में अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष से मदद माँगी। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा सुझाए गए सुधारों में निजीकरण, शुल्क में कटौती और वित्तीय घाटे में कमी करना शामिल था। इन सुधारों से 1990 के पूर्वाद्ध में अर्थव्यवस्था की विकास दर को 5 प्रतिशत से कुछ ऊपर जाने में मदद मिली। इसी दौरान एल.टी.टी.ई. के विद्रोह पर नियंत्रण ने भी विदेशी निवेश को आकर्षित करने और विकासात्मक गतिविधियों पर ध्यान केंद्रित करने में मदद की।

1960 के दशक से लागू आयात प्रतिस्थापन नीतियों तथा 1970 के दशक मे अंतिम चरण में लागू बाजारोन्मुख निर्यात प्रोत्साहन नीतियों के नतीजों ने अर्थव्यवस्था का स्वरूप बड़े ही प्रभावशाली ढंग से बदला। आज अर्थव्यवस्था अधिक विविधता लिए हुए है। आज खाद्य प्रसंस्करण, कपड़ा और वस्त्र, पेय एवं आहार, दूरसंचार, बैंक तथा बीमा उद्योग श्रीलंका के सबसे अधिक सफल उद्योग हैं। निर्यात में विविधता लाने में भी देश को कुछ सफलता मिली है। बागान खेती से जुड़े निर्यात का अनुपात बड़ी तेजी से कम हुआ है। यह अनुपात 1960 के दशक में 90 प्रतिशत से घटकर 1980 के दशक में 46 प्रतिशत और 1990 के दशक के अंत तक 20 प्रतिशत रहा। आज कपड़े और वस्त्र उद्योग से श्रीलंका को 60 प्रतिशत से अधिक की निर्यात आय हो रही है। विदेशी मुद्रा के अन्य महत्वपूर्ण सौदों में विदेशों में काम करने वाले श्रीलंकाईयों द्वारा प्रेषित रकम, विदेशी मदद तथा पर्यटन से होने वाली आय शामिल हैं।

अर्थव्यवस्था की स्थिति मुख्यतः जातीय संघर्ष और समग्र शांति प्रक्रिया से जुड़ गई है। यह मामले पश्चिमी राजधानियों में सहायता देने वाले सम्मेलनों में भी प्रमुखता से उठे हैं। उदाहरण के लिए 2004 में जापान, अमेरिका और यूरोपीय संघ ने 4.5 बिलियन की सहायता इस शर्त पर दी कि 2001 में जो शाति प्रक्रिया आरंभ हुई थी उसे सरकार और लिट्टे के बीच वार्ता फिर शुरू करने के साथ आगे चलाया जाए। इसके अलावा श्रीलंका की अर्थव्यवस्था में शांति प्रयासों के लाभ दिखाई दिये हैं क्योंकि हाल के दिनों में अर्थव्यवस्था फिर सुदृढ़ हुई है और कुछ विश्लेषकों ने 21वीं सदी के पहले दशक में 7 प्रतिशत की विकास दर की भविष्यवाणी की है।

15.5 श्रीलंका की राजनीतिक अर्थव्यवस्था

ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेश श्रीलंका के लंदन के साथ घनिष्ठ संबंध थे। इसलिए ब्रिटिश औपनिवेशक शासन एक पारंपरिक कृषिक समाज पर आधुनिकीकरण और विकास की अपनी आर्थिक नीतीयाँ थोप सका। जैसा कि हमने जाना ब्रिटिश लोगों ने पारंपरिक कृषिक अर्थव्यवस्था को चाय और रबर की खेती पर आधारित "निर्यातोन्मुख" अर्थव्यवस्था में परिवर्तित कर दिया। श्रीलंका के आजाद होने के बाद भी यह बागान राज अर्थव्यवस्था तब तक बरकरार रही जब तक राजनीतिक माहौल को गंभीर सामाजिक-आर्थिक समस्याओं का सामना न करना पड़ा।

असमान पूँजीवादी विकास ने, जो कि बागान राज की विशेषता थी, श्रीलंकाई समाज में सामाजिक आर्थिक विभाजन पैदा कर दिया। जब अंग्रेज शासकों ने कांडयान क्षेत्र की पहाड़ियों पर कब्जा कर बागवानी का काम शुरू किया तब कांडयान सिहलियों ने अंग्रेजों का बहिष्कार किया क्योंकि वे अपनी ही भूमि पर अपना अधिकार खो चुके थे। कांडयानवासी अपनी पारंपरिक संस्कृति से जुड़े रहे और उन्होने अंग्रेजी शिक्षा की अवहेलना की। ब्रिटिशों ने बागानों की खेती का काम तुरंत उन भारतीय तमिलों को सौंप दिया जो दक्षिण भारत से अनुबंध पर लाए गए थे। कांडयान क्षेत्र में यातायात तथा आपूर्ति जैसी अन्य सेवाएं और थोक एवं खुदरा व्यापार मैदानों में रहने वाले सिंहलियों ने अपने अधिकार में ले लिये। यह सिंहली ब्रिटिश राज के समय के पहले से ही

पश्चिमी माहौल से परिचित थे। परिणामस्वरूप मैदानी सिंहलियों और कांडयानवासियों के बीच सामाजिक विभाजन हुआ और उन्होंने महसूस किया कि उनके हित एक दूसरे से भिन्न हैं। 1920 के दशक में कांडयान राष्ट्रीय एसेम्बली ने एक संघीय राष्ट्र का समर्थन किया जिसमें कांडयान समुदाय को प्रांतीय स्वायत्तता मिलने का आश्वासन मिल सके।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बागान खेती में बढ़ोतरी होने से भूस्वामियों, बागान मालिकों, यातायात एजेंटों, ठेकेदारों और व्यापारियों जैसे नये व्यवसायों और व्यापारों की कतार लग गई। मछुआरों (करावा) और दालचीनी तोड़ने वालों (सलागामा) जैसे कुछ सिंहली जातीय समूहों ने नई आर्थिक व्यवस्था से फायदा उठाया लेकिन पारंपरिक किसानों (गोईगामा) को इससे नुकसान हुआ। मैदानी सिंहलियों और कांडयान अभिजात वर्गों में मुखिया तथा सरदारों जैसे पारंपरिक संभ्रांत लोगों ने एक नया वर्ग बनाया जो जातीयता के विभाजन से परे था। अधिकतर लोग शहरी क्षेत्रों में बस गए। उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण की और चिकित्सा, अभियांत्रिकी तथा शैक्षिक क्षेत्रों में नौकरियाँ कीं।

उत्तरी और पूर्वी शुष्क क्षेत्रों में, जहाँ कृषि विकास की सीमित संभावनाएँ थीं, लोगों ने रोजगार के अन्य साधन ढूँढे। यहाँ कई तमिलों ने, जिनमें अधिकतर वेल्लाला जाति के किसान थे, अमेरिकी मिशनरियों द्वारा स्थापित स्कूलों और कॉलेजों में अंग्रेजी शिक्षा के अध्ययन से लाभ उठाया। उन्होंने औपनिवेशिक प्रशासन तथा विभिन्न उच्च व्यवसायों में नौकरियाँ तलाशीं। मर्यादित परिवारों के बड़ी संख्या में सामान्य परिवेश वाले तमिल भी सामने आए और व्यापार के क्षेत्र में आए उछाल से उत्पन्न अवसरों से लाभ उठाने के लिए कोलंबो में बस गए।

इस तरह श्रीलंकाई समाज आर्थिक और सामाजिक आधार पर विभाजित हो गया। जातीयता के आधार पर बँटा हुआ समाज आर्थिक और सामाजिक विषमताओं के स्तर पर विभाजित हो गया। पूंजीपति वर्ग दो हिस्सों में बँटा था जो बागानों की खेती और व्यापार क्षेत्र से जुडा था और दूसरा हिस्सा औपनिवेशिक नौकरशाहों तथा पेशेवर वर्गों से संबद्ध था। दूसरी ओर पारंपरिक खेतीबाड़ी को बागान क्षेत्र के विस्तार से नुकसान हुआ, जिसके परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक रूप से एक बड़े विपन्न वर्ग का उदय हुआ।

स्वतंत्रता के बाद भी यह प्रवृति जारी रही और पूँजीवादी संरचना के सतत उद्घटित होते जाने से बाह्योन्मुख अर्थव्यवस्था का विकास हुआ। इसके विभिन्न चरण "औपनिवेशिक उत्पादन पद्धति" (जैसा कि बागान क्षेत्र में था) से स्थानीय पूँजीवादी क्षेत्र और फिर "राज्य पूँजीवाद" में संक्रमण के दौर के रूप में वर्णित किए जा सकते हैं। देश में औपनिवेशिक काल से "विरासत" में मिली आर्थिक नीतियाँ जारी रहीं। स्वतंत्र श्रीलंका की निर्यातोन्मुख अर्थव्यवस्था विश्व बाजार पर निर्भर रही। जिस कृषि क्षेत्र पर अधिकांश ग्रामीण अपने जीवनयापन के लिए निर्भर थे उसकी इस अर्थव्यवस्था ने पूरी तरह उपेक्षा की। इसके परिणमस्वरूप एक ओर जहाँ भूस्वामियों के एक छोटे वर्ग का उदय हुआ वहीं दूसरी ओर दिवालिया हो चुके भूमिहीन मजदूरों का वर्ग भी पैदा हुआ। विश्व बाजार की अनिश्चितताओं ने निर्यातोन्मुख अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया जिससे विषम विकास और समाज में जातीय मतभेद और गहराये।

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीलंका का सांस्कृतिक-सामाजिक ढाँचा विभिन्न समूहों के मतभेदों के काण खंडित हो चुका था। उदार आधार वाला ऐसा कोई राजनीतिक मंच नहीं था जहाँ देश के वृहत हितों की पूर्ति के लिए समाज के सभी वर्ग एकत्र हो सकें। किसी संगठित जन आंदोलन की लगभग अनुपस्थिति से उत्पन्न रिक्तता के कारण समाज में काफी गहरी दरार पैदा करने वाली राजनीति को बढ़ावा मिला जिसका चरित्र जातीय था।

यहाँ सिहलियों और तमिलों के बीच उपजे जातीय विभाजन को जिसकी जड़ें ब्रिटिश औपनिवेशिक काल में थीं, परखना प्रासंगिक है।

15.5.1 जातीय अस्मिताओं का विकास

श्रीलंका में दो मुख्य समुदायों में अस्मिता की पहचान को सुदृढ करने में बौद्ध पुरुत्थानवादी आंदोलन एक महत्वपूर्ण कदम था। विश्व में श्रीलंका ही ऐसा देश है जहाँ थेरावडा बौद्ध धर्म के सबसे अधिक अनुयायी हैं। 19वीं शताब्दी के मध्य में ईसाई धर्म के बढ़ते प्रभाव और सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में अंग्रेजी भाषा के बढ़ते चलन के प्रतिक्रियास्वरूप बौद्ध धर्म का सही स्थान सुनिश्चित कराने के उद्देश्य से सिंहला बौद्ध सांस्कृतिक आंदोलन चलाया गया। इस आंदोलन की विचारधारा ने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का सिद्धांत प्रस्तुत किया जिससे बौद्ध धर्म, सिंहलियों तथा द्वीप के बीच विशेष संबंध स्थापित हुए। इसका मुख्य उद्देश्य यह स्पष्ट करना था कि बुद्ध की भूमि या धम्मद्वीप और सिंहलियों की भूमि या सिहंलद्वीप पर केवल सिंहली बौद्धों के मूल अधिकार हैं। इस विचार के चलते तो तमिलों, मुसलमानों, ईसाइयों और अन्य गैर-सिंहली लोगों का कहीं स्थान ही न था। स्वतंत्रता मिलने के समय तक इस प्रकार का सिंहल-बौद्ध-जातीय-राष्ट्रवाद लोकप्रिय हो चुका था। सिंहला बौद्धों के प्रवचनों में भारत के प्रभुत्व का भय, विशेषकर पाक जलडमरुमध्य के पार से तमिलों द्वारा परेशान किए जाने का भय स्पष्ट रूप से दिखता था। सामाजिक तथा राजनीतिक विकास पर बाद में इसका गंभीर प्रभाव पड़ा।

शुरू में श्रीलंकाई तमिलों को सिंहलियों के पुनरुत्थानवाद से भय नहीं लगा। अंग्रेजी में शिक्षित सिंहली और संभ्रांत तमिल लोगों ने संवैधानिक सुधारों के साथ-साथ काम किया। 1919 में सीलोन नेशनल काँग्रेस के नेतृत्व में वे एकत्र हुए। एक प्रतिष्ठित तमिल श्री पोन्नमबालम अरुणाचलम इसके प्रथम अध्यक्ष थे। इसके बावजूद दोनों समुदायों के बीच 1920 के संविधान सुधारों के दौरान मतभेद हुए। इस सुधार में क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व को स्थान दिया गया और गैर आधिकारिक बहुमत सहित विधानमंडल का विस्तार किया गया। यह मतभेद सामुदायिक प्रतिनिधित्व के सवाल पर उभर कर आये। श्रीलंका के तमिल अपनी संख्या से अधिक प्रतिनिधित्व चाहते थे जबकि सिंहली जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व पर जोर दे रहे थे। सिंहली पुनरुत्थानवादियों के भाषाई और जातीय अस्मिता के बढ़ते हुए आग्रह के साथ मिलकर इस राजनीतिक कदम ने दोनों समुदायों के बीच दूरियाँ बढ़ाई। 1940 के पूर्वाद्ध में तमिल काँग्रेस से अलग हो गए और उन्होंने एक पृथक राजनीतिक समूह बना लिया।

15.5.2 शिक्षा और रोजगार

आजादी के बाद जातीय विभाजन तेजी से उभरा क्योंकि कुछ सिंहली नेताओं ने अन्य समुदायों की कीमत पर बहुसंख्यक समुदाय के हितों की रक्षा करने के लिए लोक-लुभावने कदम उठाये। विशेषकर सिंहलियों के प्रभुत्व वाली सरकार द्वारा अपनाई गई भाषा और शिक्षा नीतियों ने तमिल अल्पसंख्यकों की शिक्षा और रोजगार की संभावनाओं को प्रभावित किया। 1956 में पारित राजभाषा कानून ने सिंहली भाषा को तमिल और अंग्रेजी से ज्यादा महत्व दिया। प्रमुख सिंहलीदलों ने अंग्रेजी विरोधी और विशिष्ट वर्ग विरोधी आंदोलन को तमिल विरोधी आंदोलन के साथ गड्ड-मड्ड करते हुए इस कदम का समर्थन किया। सत्य यह है कि साम्राज्यवादी औपनिवेशिक काल में सिंहलियों ने पश्चिमी शिक्षा का लाभ नहीं उठाया क्योंकि वह मानते थे कि बौद्ध सिंहली संस्कृति विशुद्ध और श्रेष्ठ है। दूसरी ओर अल्पसंख्यक तमिलों ने ईसाई मिशनरी शिक्षा का लाभ उठाया और रोजगार तथा अन्य संभावनाओं के मामलों में फायदे में रहे। 1948 में जब औपनिवेशिक शासन खत्म हुआ तब बहुसंख्यक सिंहलियों की तुलना में तमिलों की नौकरियों और आर्थिक स्थिति की दशा काफी बेहतर थी। अंग्रेजी शिक्षा के अभाव में बहुसंख्यक सिंहली पिछड़ गए थे। यह मुद्दा 1950 के मध्य तक प्रमुख मुद्दा बन गया था क्योंकि राजनीतिक क्षेत्र में लोक लुभावन राजनीति और प्रतिद्वंदिता बढ़ गई थी और मुख्यधारा के राजनीतिक दल रोजगार और शिक्षा के क्षेत्र में सिंहली लोगों के लिए अधिक हिस्सा माँग रहे थे ।

इस संदर्भ में 1960 के बाद विश्वविद्यालय में प्रवेश के मामलों से शिक्षा के स्तर में असंगति का होना स्पष्ट हो जाता है। 1956 के पहले विश्वविद्यालय की परीक्षाएँ अंग्रेजी में हुआ करती थीं जो

संभ्रांत वर्ग की भाषा थी। विश्वविद्यालय में संभावित आवेदकों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती थी और सभी आवेदकों का केवल 30 प्रतिशत हिस्सा ही प्रवेश पाता था। 1960 के दशक के मध्य तक परीक्षाओं का माध्यम सिंहली और तमिल हो गया था जिससे विश्वविद्यालयों के रास्ते बड़ी संख्या में उन आवेदकों के लिए खुल गए थे जो सरकारी माध्यमिक स्कूलों में ही देशी भाषाएं सीख लेते थे। इसी के साथ धन के अभाव के कारण विश्वविद्यालय के विस्तार की गति धीमी हो गई थी और बड़ी संख्या में पहुँचे योग्य उम्मीदवारों को प्रवेश दे पाना असंभव हो गया था। 1965 में विश्वविद्यालयों में प्रवेश लेने के इच्छुक उम्मीदवारों में केवल 20 प्रतिशत को और 1969 में केवल 11 प्रतिशत को ही प्रवेश मिल सका। जिन विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय में प्रवेश मिल पाया उन्होंने स्नातक की उपाधि पाने का पारंपरिक तरीका तब तक अपनाया जब तक सरकार और निजी उद्योगों को स्नातकों की इस फौज को रोजगार देना मुश्किल नहीं हुआ। इस प्रकार 1960 के दशक के अंत तक शैक्षिक विस्तार की दिशा ने विश्वविद्यालय व्यवस्था से संबद्ध दो मुख्य समस्याओं को जन्म दिया। पहली समस्या थी प्रवेश पाने में बढ़ती हुई मुश्किलें और दूसरी थी उदारवादी कला शिक्षण की रोजगार के लिए बढ़ती हुई निरर्थकता।

सिंहली समुदाय के लोगों को सबसे अधिक हानि उठानी पड़ी क्योंकि उन्होंने अंततः स्कूल और विश्वविद्यालय की डिग्री तो हासिल कर ली लेकिन उससे आगे पढ़ाई जारी रखना उनके लिए मुश्किल हो गया था। इससे उत्पन्न कुंठा ने कुछ सिंहली युवाओं को उग्र सुधारवाद का रास्ता दिखाया। 1970 के दशक की शुरुआत में इनमें से कुछ ने पीपल्स लिबरेशन फ्रंट (जनता विमुकित पेरामुना) पार्टी के नेतृत्व में सरकार पलटने के असफल प्रयास किए।

15.5.3 तमिलों से भेदभाव

दूसरी ओर 1956 की "केवल सिंहला" नाम की भाषा नीति से तमिल बुरी तरह प्रभावित हुए क्योंकि अधिकांश तमिलों की शिक्षा अंग्रेजी में हुई थी। हालाँकि भाषा समस्या को 1978 के संविधान में तमिल को राष्ट्रीय भाषा का दर्जा देकर आंशिक तौर पर सुलझा लिया गया था, सिंहली तब भी ऊंचे दर्जे की राजभाषा बनी रही और प्रशासनिक सेवाओं में आने वाले लोगों से इस भाषा में दक्षता प्राप्त करने की उम्मीद की जाती थी। अन्य क्षेत्रों में जहाँ तमिलों को भेदभाव दिखलाई दिया उनमें सरकारी नौकरियों और विश्वविद्यालयों के दाखिलों में सिंहली उम्मीदवारों को दी जाने वाली प्राथमिकता थी। 1970 तक विश्वविद्यालयों में दाखिले केवल शैक्षिक योग्यता के आधार पर दिये जाते थे। तमिलों के शैक्षिक स्तर सामान्यतः औरों से ऊंचे होने की वजह से विश्वविद्यालयों में होने वाले दाखिलों में उनकी तादात जनसंख्या में उनकी प्रतिशतता से अधिक होने लगी। उदाहरण के तौर पर 1969 में देश के चिकित्सा संस्थानों में 50 प्रतिशत और अभियांत्रिकी संस्थानों में 48 प्रतिशत विद्यार्थी तमिल थे। 1970 के दौरान सरकार ने वरीयता प्रवेश व्यवस्था लागू की जिसे मानकीकरण की नीति भी कहते हैं। यह भौगोलिकता पर आधारित थी लेकिन दोनों जातीय समुदायों के क्षेत्रीय स्तर पर अलग-अलग होने के कारण ऐसी नीति की वजह से सिंहलियों के दाखिले बढ़े। इस योजना में विश्वविद्यालयों के स्थानों के 70 प्रतिशत के लिए राजस्व जिलों के आधार पर कोटा व्यवस्था लागू की गई और इसमें 15 प्रतिशत स्थान शैक्षिक रूप से पिछड़े जिलों के लिए, जिनमें सिंहलियों की संख्या अधिक थी, आरक्षित किए गए। देश भर में योग्यता के आधार पर होने वाले दाखिले केवल 30 प्रतिशत तक सिमट गए। 1980 के पूर्वार्द्ध में यह नीति बुरी तरह से विफल हुई क्योंकि इसकी वजह से तमिलों को रोजगार के अवसरों से वंचित रखा गया। 1983 में चिकित्सा में केवल 22 प्रतिशत और अभियांत्रिकी में 28 प्रतिशत विद्यार्थी तमिल थे।

इसके अलावा सिविल सेवा में तमिलों की संख्या घटने में राजनीतिक कारणों ने भी अपनी भूमिका अदा की। तथाकथित चिट व्यवस्था के तहत सरकारी नौकरियाँ पाने के लिए सांसदों का प्रभाव आवश्यक हो गया था। चिट अपने चहेते विद्यार्थियों के बारे में कार्मिक अधिकारियों को सूचना देने के लिए सांसदो द्वारा लिखा गया अनुस्मारक होता है। जयवर्धने सरकार ने आश्रय की इस पद्धति को और अधिक खुला बनाया क्योंकि उन्होंने निम्नस्तरीय पदों के "जॉब बैंक" हर

सांसद को दिये ताकि वह अपने समर्थकों में यह नौकरियाँ वितरित कर सके। सरकारी सेवाओं में हर स्तर पर प्रश्रय की भूमिका बढ़ने का तमिलों पर दो तरह से असर पड़ा। पहला शिक्षित तमिलों को जिस योग्यता से लाभ मिलता उसे मालिक-सेवक राजनीति के लिए तिलांजलि दे दी गई। दूसरा प्रश्रय व्यवस्था ने तमिलों को सरकारी नौकरियों में कोई लाभ नहीं दिया क्योंकि 1977 के आम चुनाव के बाद उनके राजनीतिक प्रतिनिधियों का प्रभाव बहुत सीमित हो गया था।

सिंहलियों के प्रभुत्व वाली सरकार द्वारा अपनाई गई शैक्षिक और रोजगार नीतियों का कुल परिणाम यह हुआ कि श्रीलंका के तमिल समाज की मुख्यधारा से कट गए। राजनीतिक क्षेत्र में भी तमिलों ने अपने को पूरी तरह उपेक्षित पाया। तमिल युवकों में जो विभ्रम घर कर गया था उसकी वजह से एलम के अर्थात केवल तमिलों के लिए पृथक राज्य की माँग उठी। 1980 के पूर्वार्द्ध में सिंहलियों और तमिलों के बीच का मतभेद हिंसक संघर्ष में बदल गया जिसका अर्थव्यवस्था पर निर्बल कर देने वाला प्रभाव पड़ा।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

1) औपनिवेशिक काल में निर्यातोन्मुख अर्थव्यवस्था का क्या प्रभाव हुआ ?

....

....

....

....

....

....

....

2) स्वतंत्रता के बाद के दौर में तमिलों के साथ जातीय भेदभाव के कौन से मुख्य मुददे थे ?

....

....

....

....

....

....

....

3) अल्पसंख्यक तमिलों को "मानकीकरण की नीति" ने कैसे प्रभावित किया ?

....

....

....

....

....

....

....

15.6 सारांश

दक्षिण एशिया के अन्य देशों की तरह श्रीलंका भी एक बहु-जातीय देश है जहाँ धर्म और भाषा को लेकर सामाजिक मतभेद हैं। ब्रिटिशों द्वारा लागू की गई निर्यातोन्मुख बागान अर्थव्यवस्था ने विषम विकास और सामाजिक तथा आर्थक संकट की स्थिति पैदा की। इसके बावजूद श्रीलंका अपने सामाजिक तथा आर्थिक सूचकांको के आधार पर बेहतर जीवन उपलब्ध कराने वाला अग्रणी देश बना रहा।

1960 के दौर में श्रीलंका ने अंतर्राष्ट्रीय बाजार में बागानों की फसलों के मूल्यों में आई अनियमितताओं के कारण आयात प्रतिस्थापन नीति अपनाई। 1970 के दशक में श्रीलंका ने निर्यात को बढ़ावा देने वाली बाजारोन्मुख नीति अपनाई जिसने अर्थव्यवस्था का स्वरूप बड़े कारगर ढंग से बदल दिया। आज यहाँ की अर्थव्यवस्था विविधता लिए हुए है और यहाँ से किए गए निर्यात में इसकी झलक दिखती है। चाय और रबर अब यहाँ से निर्यात की जाने वाली मुख्य वस्तुएं नहीं रहीं। श्रीलंका के सबसे अधिक सफल क्षेत्र हैं खाद्यसंस्करण और वस्त्र उद्योग तथा बैंकिंग और पर्यटन। जातीय संघर्ष के कारण आर्थिक विकास के लाभ गंभीर रूप से कम हुए हैं।

15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

प्रदीप भार्गव, 1987, *पॉलिटिकल एकोनोमी ऑफ श्रीलंका*, नई दिल्ली

चंदू रिचर्ड, डी सिल्वा, *श्रीलंका : ए हिस्ट्री*, 1987, नई दिल्ली

के.एम.डी. सिल्वा (संपादक), 1977, *श्रीलंका : ए सर्वे*, लंदन

बी.एच. फार्मर, 1963, *सीलोन : ए डिवाएडेड नेशन*, लंदन

उर्मिला फडनिस, 1973, *ए श्रीलंका*, नई दिल्ली

15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) श्रीलंका द्वीप के मूल निवासियों को लेकर परस्पर-विरोधी विवरण जरूर हैं लेकिन ऐसा माना जाता है कि सिंहली बौद्ध ही भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पूर्व से सबसे पहले यहाँ आकर बसे।

2) राष्ट्रहीन भारतीय तमिलों ने 1988 में अपने नागरिकता अधिकार तब प्राप्त करे जब वह एक सशक्त राजनीतिक दल के रूप में उभरे। यह भारतीय प्रयासों के कारण संभव हो सका जब 1964 के सिरीमावो-शास्त्री समझौते तथा 1974 के सिरीमावो-इंदिरा गाँधी समझौते पर दस्तखत किए गए जिनकी बदौलत राष्ट्रहीन लोगों की समस्याओं का हल निकालने के प्रयास किए गए।

बोध प्रश्न 2

1) इस ने अभिजात भूस्वामियों, पूँजीपतियों और नौकरशाहों के एक छोटे संभ्रांत वर्ग को जन्म दिया जिनके राजनीतिक स्वार्थ एक जैसे थे। दूसरी ओर ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक रूप से विपन्न लोगों की संख्या में वृद्धि होती रही।

2) राजनीतिक क्षेत्र में सिंहली नेताओं ने दूसरे लोगों की कीमत पर बहुसंख्यक समुदाय के हितों की रक्षा करने के लिए लोक-लुभावन तरीके अपनाए। भाषा और रोजगार के मामलों में जो शिक्षा के माध्यम और मानकों से जुड़े थे, सरकारी नीतियाँ अल्पसंख्यक तमिलों के साथ भेदभाव होने देने में परिणत हुईं।

3) विश्वविद्यालय में प्रवेश के मामलों में सभी क्षेत्रों और लोगों को उनकी संख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व देने के लिए मानकीकरण की नीति अपनाई गई जिससे बहुसंख्यक सिंहलियों को शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र में लाभ पहुँचा। दूसरी ओर विश्वविद्यालय में प्रवेश और रोजगार के अवसर जैसे मामलों में तमिलों की हिस्सेदारी बड़ी तेजी से कम हुई।

इकाई 16 श्रीलंका की राजनीति में जातीयता का समावेशन

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 जातीय संघर्ष का विकास

16.3 स्वतंत्रता के बाद जातीय विभाजन

16.4 तमिल उग्रवाद का उदय

16.5 अंतर्जातीय संवाद

- 16.5.1 थिंपू वार्ता
- 16.5.2 भारत-श्रीलंका समझौता
- 16.5.3 मंगला मूनसिंघे चयन समिति
- 16.5.4 चंद्रिका योजना
- 16.5.5 सरकार और एल टी टी ई शांतिवार्ता
- 16.5.6 भावी संभावनाएँ

16.6 सारांश

16.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

16.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम सिंहली और तमिलों के जातीयता संबंधी दृष्टिकोणों की विभिन्नताओं, राष्ट्रनिर्माण और राजनीतिक समझौतों और वार्ताओं के माध्यम से दोनों समुदायों के बीच संघर्ष समाप्त करने के प्रयासों का विश्लेषण करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित बातें जान पाएँगे-

- श्रीलंका में जातीय संघर्ष का उद्भव;
- तमिल उग्रवाद के जन्म के कारणों की पहचान; तथा
- अंतरजातीय संवाद के महत्वपूर्ण पड़ाव।

16.1 प्रस्तावना

स्वतंत्रता प्राप्ति के शुरुआती वर्षों में श्रीलंका को एक आदर्श उपनिवेश न केवल इसलिए कहा जाता था कि ब्रितानी अफसरों और श्रीलंकाई राष्ट्रवादियों के बीच स्वतंत्रता का समझौता शांतिपूर्ण तरीके से हुआ था बल्कि इसलिये भी कि वहां ऊपरी तौर पर सांप्रदायिक सौहार्द का वातावरण दिखता था। यह विश्वास किया जाता था कि देश जल्द ही राजनीतिक स्थायित्व प्राप्त कर लेगा और मुख्य जातीय समूह संगठित हो एक राष्ट्र स्थापित करेंगे। तब से श्रीलंका के दो मुख्य जातीय समूहों, सिहलियों और तमिलों के बीच मतभेद बढ़ते गए। उग्रवादी तमिल समूहों ने एक अलग

तमिल ईलम राष्ट्र की मांग रखनी शुरू की और एक लम्बा गुरिल्ला युद्ध जारी रखा। तमिल गुरिल्लाओं द्वारा छेड़ी गई हिंसा और श्रीलंकाई सेना की प्रतिहिंसा ने श्रीलंका को दक्षिण एशिया का एक बदनाम "वध क्षेत्र" बना दिया। इस इकाई में हम श्रीलंका में जातीय संघर्ष के लिए उत्तरदायी तथ्यों तथा इस संघर्ष को सुलझाने के लिए किए गए प्रयासों की जांच करेंगे।

16.2 जातीय संघर्ष का विकास

औपनिवेशिक श्रीलंका में हालांकि बाहरी तौर पर सांप्रदायिक सौहार्द दिखता था, लेकिन उन्हीं दिनों सिंहली और तमिल लोगों के बीच मतभेद पनपने लगे थे। औपनिवेशिक काल में सिंहली और तमिल लोगों के बीच पारस्परिक संदेह बिलकुल पांठ्य पुस्तकों के ढांचे पर चला। जैसा कि अकसर होता है औपनिवेशिक नीति में कुछ पक्ष अल्पसंख्यकों के बजाय बहुसंख्यकों के हितों पर अधिक ध्यान देते हैं क्योंकि अल्पसंख्यक अपनी कमज़ोर स्थिति को पहचानते हुए बहुसंख्यकों की तरह नीतियों के इन पक्षों पर कड़ाई से प्रतिक्रिया नहीं जाहिर कर पाते, लेकिन जैसे ही बहुसंख्यक इन नीतियों पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं वह अप्रत्यक्ष रूप से अल्पसंख्यकों के हितों को नुकसान पहुंचाते हैं या कम से कम माना ऐसा ही जाता है। इस प्रक्रिया में फूट पड़ जाती है। ऐसा ही श्रीलंका में हुआ जब 1867 की मॉर्गन कमीशन रिपोर्ट प्रस्तुत की गई।

सिंहलियों का पुनरुत्थान

सिंहलियों की शंका थी कि ईसाई मिशनरी स्कूलों को बढ़ावा देकर शिक्षण की देसी पद्धति की कीमत पर अंग्रेज़ी शिक्षा को प्रोत्साहित किया जा रहा था। सांप्रदायिक पद्धति के नाम से जानी जाने वाली इस पद्धति ने सभी धार्मिक संप्रदायों को अपने-अपने बच्चों के लिए स्कूल खोलने की आजादी दी जिसमें धार्मिक शिक्षा पर किसी तरह की पाबंदी नहीं थी। ऊपरी तौर पर तो यह एक लोकतांत्रिक नीति थी लेकिन इसका प्रभाव भेदभाव पैदा करने वाला था। धन की कमी तथा राजनीतिक मदद के अभाव के कारण ईसाई संगठनों की तरह हिंदू और बौद्ध संगठन अधिक लाभ पाने की स्थिति में नहीं थे। इसलिए असली लाभभोगी ईसाई धर्म प्रचारक ही थे। 1868 में स्कूल जाने वाले 65 प्रतिशत बच्चे ईसाई थे और केवल 27 प्रतिशत बौद्ध। ब्रितानी नीति ने माध्यमिक शिक्षा का विकास बहुत हद तक निजी स्कूलों पर छोड़ दिया था। 1884 के बाद इस नीति से ईसाइयों को इस परंपरा को जारी रखने का अवसर मिला।

ब्रितानी शिक्षा नीति ने ईसाइयों की तुलना में न केवल सिंहली बौद्धों को हानि पहुंचाई बल्कि इसके कुछ पक्षों ने तमिलों की तुलना में भी उन्हें प्रभावित किया। उदाहरण के लिए, 1869 में सहायक अनुदान की विभिन्न योजनाओं के तहत स्कूलों को आर्थिक मदद देने के लिए लोक शिक्षण विभाग खोला गया। इसके चलते कुछ सिंहली बौद्ध स्कूल स्थापित किए गए। इस व्यवस्था का तमिल बहुल जफना में एक अलग ढंग का प्रभाव पड़ा। यहां शिक्षा के प्रसार की पूरी ज़िम्मेदारी ईसाई मिशनरियों पर छोड़ दी गई थी। लोगों को इस शिक्षण पद्धति से लाभ पहुंचा क्योंकि उनके बच्चों ने साधारण खर्च में शिक्षा ग्रहण की। समय के साथ वह अंग्रेज़ी और गणित में इतने निपुण हो गए कि निजी और वाणिज्यिक क्षेत्रों की अधिकतर नौकरियों और महत्वपूर्ण पदों पर उन्होंने कब्ज़ा कर लिया। कोई अचरज की बात नहीं थी कि उत्साह से भरे सिंहली जल्दी ही सांप्रदायिक शिक्षा पद्धति को खत्म करने की मांग करने लगे। बहुमत में होने के बावजूद उन्हें इस पद्धति में अपने पिछड़ेपन का मुख्य कारण दिखाई देने लगा।

अपनी भाषा के प्राचीन गौरव को पुन: प्रतिष्ठित करने में भी सिंहली पुनरुत्थान को अभिव्यक्ति मिली। 1920 और 1940 के दशकों के सिंहली साहित्य के जाने-माने साहित्यकार मुनिदासा कुमारतुंग (1887-1944) ने अपनी भाषा में उद्धृत पाली, संस्कृत या किसी अन्य मूल के भारतीय तथा यूरोपीय शब्दों को हटाकर प्राचीन एलू पर आधारित नये शब्दों को लाकर सिंहली भाषा के शुद्धिकरण के लिए एक आंदोलन शुरू किया। 12वीं शताब्दी की सिंहली भाषा के व्याकरण रूपों

में भी उन्होंने परिवर्तन किए। उनका उद्देश्य सिंहली भाषा को एक आंदोलन और मिशन के स्तर तक उठाना था। उन्होंने इस पुनरुत्थान को "हेलेस" का नाम दिया। "भाषा,राष्ट्र और देश" नारे का वास्तव में अर्थ था "हेलेस भाषा, हेलेस राष्ट्र और हेलेस देश"।

धर्म के मामले में भी सिंहली पुरुत्थान का असर रहा है। महाबोधि समिति, यंग मेन्स बुद्धिस्ट एसोसिएशन, आल सीलोन बुद्धिष्ट कांग्रेस और बौद्ध जातिका बलवेगया (बुद्धिस्ट नेशनल फोर्स) जैसे कई सिंहली बौद्ध संगठनों का जन्म हुआ। इन्होंने वह कार्य किया जो कभी संघ किया करता था लेकिन बाद मे संघ उतने प्रभावी ढंग से काम करने की स्थिति में नहीं रहा क्योंकि ब्रितानी सरकार ने उस पर प्रतिबंध लगा दिया था। फिर भी, यह बात ध्यान देने योग्य है कि सिंहली बौद्धों के हितों का प्रवक्ता होने के नाते संघ ही अंतिम सत्ता के रूप में बना रहा और ये संगठन जिनमें से कई अल्पकालिक थे, कभी इसका स्थान नहीं ले पाए। राजनीतिक बौद्ध धर्म के पुनः स्थापन ने कई सिंहली मिथकों को निश्चित रूप देना जारी रखा। सिंहली लोगों को यूरोपीय और तमिल और विशेषकर तमिलों के "अधमी" कब्जों से अपने धर्म की रक्षा करने वालों की तरह देखा गया। तमिल आक्रमणकारियों को खदेड़ने और बौद्धों का समर्थन करने वाले प्राचीन सिंहली राजा दुथ्थुगामिनी को सिंहली राष्ट्रीय नायक के रूप में उभारा गया।

तमिल पुनरुत्थान

तमिल पुनरुत्थान सिंहली पुनरुत्थान के जैसा था। इसे हिंदू पुनरुत्थान की तरह नहीं समझना चाहिए क्योंकि श्रीलंका की परिस्थितियां भिन्न थीं। यहां बौद्ध धर्म से हिंदू धर्म को खतरा नहीं था। यदि हिंदू धर्म के लिए कोई खतरा था भी तो वह ईसाई प्रवर्तकों की ओर से था। हिंदू समुदाय होने के नाते तमिलों को सिंहली बौद्धों की जिस चुनौती का सामना करना पड़ा वह केवल सामाजिक संस्थाओं के क्षेत्र तक ही सीमित थी। तमिल पुनरुत्थान के अगुआ आरुमुगा नवलार (1833-1870) ने रुढ़िवाद की ओर लौटने पर ज़ोर दिया जिसमें अस्पृष्यता का संस्थापन शामिल था। सदियों से तमिलों के राजनीतिक तथा आर्थिक मामलों पर अधिकार रखने वाले जफना के वेल्लाला लोगों की श्रेष्ठता उभारी गई। वेल्लाला समुदाय ने सिंहली प्रभुत्व को अपने मूलभूत मूल्यों के लिए एक चुनौती समझा क्योंकि वह इसकी अवांछनीय विशिष्टताओं को हटाने के बहाने तमिल सामाजिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करने को प्रवृत्त था।

हिंदू धर्म ने तमिल चेतना के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाई लेकिन इसे बनाने में समुदाय की ऐतिहासिक छवि ने यथेष्ठ योगदान दिया। इसे राज्यक्षेत्र, शासन (नल्लूर शासन) और भाषा संबंधी धारणाओं से प्रेरणा मिली। समय के साथ यह धारणाएँ "सिंहली ग्रामीण झुंड क्रूर दमन की ओर मुड़े" जैसे "अन्य" के मिथकों की बदौलत सुदृढ़ हुईं।

जातीयता तथा राष्ट्रवादी आंदोलन

महात्मा गांधी के नेतृत्व में चले भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन के विपरीत श्रीलंकाई आंदोलन में विशिष्ट वर्ग मुख्य रूप से शामिल था जिसमें सिंहली और तमिल दोनों ही थे। लेकिन यह संभ्रात विशिष्टता जातीयता की प्रबल उपस्थिति से भी स्पष्ट थी जिसमें एक समुदाय को अपनी हानि और दूसरे को लाभ पहुंचता हुआ लग रहा था। यह अविश्वास जो 1919 में सीलोन नेशनल कांग्रेस के गठन के दौरान स्पष्ट था, 1931 में सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के लागू होते ही और गहराया। सिंहली बहुमत से हाशिए पर आ जाने के डर से तमिलों ने विधायिका में "संतुलित प्रतिनिधित्व" की मांग करनी शुरू की जिसका अर्थ था अल्पसंख्यकों के लिए 50 प्रतिशत का आरक्षण और एक बहुजातीय व्यवस्था बनाने का प्रयास। 1937 में आल सीलोन तमिल सम्मेलन की ओर से औपनिवेशिक राष्ट्र के सचिव को भेजे गए एक ज्ञापन में कहा गया कि "... सिंहलियों के मन में सामूहिक एकता की धारणा मुख्य समुदाय में अल्पसंख्यकों के विलय और समावेशन के रूप में है। संयुक्त सीलोन का सही और सटीक अर्थ एक गौरवशाली एकमत भाईचारे के वातावरण में सांप्रदायिक चेतना की विविधता से गढ़ी और सजी एक समृद्ध तथा शानदार बहुरंगी तस्वीर है"।

16.3 स्वतंत्रता के बाद जातीय विभाजन

स्वतंत्रता के बाद सिंहलियों और बौद्धों की बहुसंख्यक राजनीति को खुला खेलने का अवसर मिला। इस आंदोलन की अगुआई दो मुख्य दबाव समूह कर रहे थे। पहला समूह बौद्ध जांच समिति था जो मुख्य बौद्ध मठवासियों तथा सामान्य जन की गैर सरकारी समिति थी और जिसे श्रीलंका में बौद्ध धर्म की स्थिति की पड़ताल करने के लिए 1954 में आल सीलोन बुद्धिस्ट कांग्रेस ने नियुक्त किया था। दूसरा समूह "एकसाथ बुद्धिस्ट पेरामुना" (ई.बी.पी.) था जो बौद्ध मठवासियों का संयुक्त दल था। 1956 में बौद्ध जांच समिति द्वारा छापी गई रिपोर्ट "बौद्ध धर्म से विश्वासघात" में सत्तारुढ़ संयुक्त राष्ट्रीय पार्टी (युनाईटेड नेशनल पार्टी) पर बौद्ध हितों की उपेक्षा और ईसाइयों की तरफदारी करने का गंभीर अभियोग था। इस रिपोर्ट की मुख्य मांगे थीं : बौद्ध शासन परिषद का गठन, संविधान में अल्पसंख्यकों से संबद्ध संरक्षण धारा पर विचार करने वाले अनुच्छेद को रद्द करना, सरकारी मदद से चलने वाले सभी स्कूलों और प्रशिक्षण कालेजों पर राष्ट्र का नियंत्रण और सरकारी अस्पतालों में कार्यरत ईसाई ननों की सेवाएँ समाप्त करना। यह सभी मांगे जनसाधारण को स्वीकार्य थीं और अधिकांश सिंहलियों ने अपने संकीर्ण पक्षपाती दृष्टिकोण के साथ इसका समर्थन किया।

इस प्रकार 1956 का वर्ष वास्तव में श्रीलंका की राजनीति में परिवर्तन लाने वाला था। उस वर्ष वर्तमान राष्ट्रपति चंद्रिका कुमारतुंग भंडारनायके के पिता श्री एस. डब्ल्यू. आर. डी. भंडारनायके सत्ता में आए। भंडारनायके कट्टरपंथी बौद्धों की भावनाओं के साथ जुड़कर अपनी पहचान स्थापित करना चाहते थे। बौद्ध धर्मगुरुओं द्वारा स्थापित दस धर्मादेशों के प्रति निष्ठा रखने का निर्णय लेते हुए उन्होंने सिंहली को राजभाषा घोषित किया। श्रीलंका के इतिहास में पहली बार 1956 में संस्कृति मंत्रालय की स्थापना ने भी सरकार की बौद्धों के प्रति वचनबद्धता प्रदर्शित की।

इस तरह भारत के विपरीत जहां सरकार ने यह फैसला किया कि उसे राष्ट्र का निर्माण धर्म के आधार पर नहीं करना है, श्रीलंका में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया का आधार बहुसंख्यक समुदाय की भाषा सिंहला और उनका धर्म बौद्ध धर्म ही था। भंडारनायके सरकार के भाषा, शिक्षा तथा आवास से संबद्ध कुछ फैसलों ने तमिल समुदाय को राजनीतिक और आर्थिक तौर पर प्रभावित किया। 1956 में सिंहली के राजभाषा बनने, 1960 में सांप्रदायिक व्यवस्था को समाप्त करने और उच्च तथा तकनीकी शिक्षा में प्राथमिकता देने की व्यवस्था लागू करने से तमिलों के हित भौतिक रूप से भी प्रभावित हुए।

सिंहली आबादी द्वारा तमिलों की पारंपरिक भूमि का "उपनिवेशन" एक अन्य कारण था जिसने तमिलों के दमन और हाशिए पर किए जाने के उनके भय को बढ़ाया। तमिलों के लिए द्वीप का उत्तरी और पूर्वी हिस्सा उनकी पारंपरिक भूमि है क्योंकि अतिप्राचीन काल से ही यह इन क्षेत्रों में आ बसे थे। लेकिन स्वतंत्रता मिलने के कुछ ही समय पहले सिंहलियों ने श्रीलंका के पूर्वी और उत्तरी क्षेत्रों में बसना शुरू कर दिया। उदाहरण के लिए 1921 में त्रिंकोमाली में केवल तीन प्रतिशत सिंहली थे। 1946 तक इनकी संख्या बढ़कर कुल आबादी का 20.6 प्रतिशत हो गई। इस संदर्भ में भंडारनायके सरकार द्वारा प्रायोजित आवास योजनाओं को संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा क्योंकि यह योजनाएँ तमिल आबादी की पारंपरिक भूमि पूर्वी प्रांत की जनसांख्यिकी संरचना को बदलने का प्रयास थी। लेकिन श्रीलंका में किसी भी समुदाय के द्वीप के किसी भी भाग में जाकर बसने के अधिकार पर मुख्य पार्टियाँ सामान्यतः नियंत्रण चाहती थीं। दूसरी ओर अपने ही देश में अल्पसंख्यक बन जाने से चिंतित तमिल लोगों ने यह दावा किया कि तमिल बहुल क्षेत्रों में उपनिवेशन को विशेष रूप से तमिलों के लिए ही आरक्षित रखा जाए।

तमिल प्रतिक्रिया: अगस्त 1956 में मुख्य तमिल पार्टी यानी फेडरल पार्टी ने त्रिंकोमाली में आयोजित अपने वार्षिक सम्मेलन में निम्नलिखित चार मांगे रखीं और उनके एक वर्ष के भीतर न पूरा होने की स्थिति में अहिंसात्मक युक्तियों से तात्कालिक कार्यवाई करने की धमकी भी दी।

1) संघीय सिद्धांतो पर आधारित एक लोकतांत्रिक संविधान लागू करना तथा एक या अधिक तमिल भाषाई राज्य या राष्ट्र की स्थापना करना।

2) तमिल भाषा को उसके उचित स्थान पर पुन: प्रतिष्ठित करना जिससे उसे राजभाषा सिंहली के समान पूर्ण बराबरी का दर्जा मिल सके।

3) देश में बसे हुए उन सभी व्यक्तियों की साधारण रिहायशी पड़ताल के आधार पर पूर्ण नागरिकता अधिकार सुनिश्चित करने वाला कानून लागू करना।

4) सिंहली लोगों द्वारा परंपरागत तमिलभाषी क्षेत्रों के उपनिवेशन को तत्काल प्रभाव से समाप्त करना।

भंडारनायके ने तमिल लोगों की शिकायतों के निपटारे के लिए क्षेत्रीय परिषद बिल लाने का प्रयास किया और 1957 के भंडारनायके-चेल्वानायगम ''बी-सी'' समझौते के तहत भाषा नीति में संशोधन किये। दोनों समुदायों के बीच सौहार्दपूर्ण संबंध स्थापित करने में न तो बी-सी समझौता और न ही 1965 में नेकनीयती से किया गया डुडलें-सेनानायके-चेल्वानायगम डी सी समझौता कोई खास योगदान दे सका। तमिलों के बीच पनपे मोहभंग के चलते एक ''अलग राष्ट्र'' बनाने के विचार ने जन्म लिया जिसका तमिल युनाइटेड लिबरेशन फ्रन्ट ''तमिल संयुक्त मुक्ति मोर्चा'' नाम के राजनीतिक दल ने समर्थन किया। 1977 के चुनाव में तमिलों का बढ़ता हुआ यह असंतोष तब प्रकट हुआ जब उत्तरी प्रांत में 68.5 प्रतिशत मतों के साथ तमिल संयुक्त मुक्ति मोर्चे ने सभी 14 सीटों पर कब्जा कर लिया जबकि पूर्वी प्रांत में इस मोर्चे ने चार में से तीन सीटें जीत लीं। केवल एक निर्वाचन क्षेत्र पर यह मोर्चा हारा जो कि मुसलिम बहुल निर्वाचन क्षेत्र था। लेकिन चुनाव के बाद द्वीप के कई हिस्सों में सांप्रदायिक दंगे भड़क उठे जिनमें अनुमानत: 300 तमिल मारे गए और हज़ारों लोग बेघर हो गए। संयुक्त राष्ट्रीय पार्टी ने दंगों को दबाने के लिए प्रभावी कदम उठाये। जब अगस्त 1977 में नई संसद का पहला सत्र शुरू हुआ तब सरकारी नीति के वक्तव्य में घोषित किया गया कि ''तमिलभाषी लोग कई समस्याओं का सामना कर रहे हैं। उनकी समस्याओं का समाधान न हो पाने के कारण तमिलभाषी लोग एक अलग राष्ट्र की स्थापना की मांग करने वाले आंदोलन को समर्थन देने पर मजबूर हो गए हैं''।

16.4 तमिल उग्रवाद का उदय

तमिल उग्रवादी आंदोलन के विकास में वर्ष 1977 और 1978 बहुत ही महत्वपूर्ण थे। 1977 के चुनाव के कुछ ही पहले जाफना के दो वरिष्ठ राजनेताओं, फेडरल पार्टी के संस्थापक एस जे वी चेल्वानायगम तथा तमिल कांग्रेस के संस्थापक जी जी पोन्नमबालम का निधन हो गया था। तमिलों के लिए यह दोनों ही उन्हें जोड़ने तथा नियंत्रित करने वाली ताकत रहे थे। उनकी अनुपस्थिति में पहले से ही सक्रिय उग्रवादी समूहों को खुली छूट मिल गई जिन्होंने 1974 में जफना के एस. एल. एफ. पी मेयर एल्फ्रेड दुरयप्पा की हत्या कर अपनी उपस्थिति का अहसास कराया था। इन उग्रवादी समूहों में तमिल ईलम के मुक्ति चीते या एल.टी.टी.ई श्रीलंकाई राष्ट्र के साथ हिंसात्मक तथा रक्तपातपूर्ण मुकाबला करके ईलम या एक अलग राष्ट्र प्राप्त करने के लिए प्रतिबद्ध थे। तमिल राजनीति में इनका आना अप्रैल 1978 मे वेल्वेटटीथुरई में चार पुलिसकर्मियों की हत्या के बाद स्पष्ट हुआ। इस घटना ने सरकार के साथ विरोध की स्थिति पैदा कर दी जिसने श्रीलंका की जातीय समस्या को एक नई और अति जटिल दिशा की ओर मोड़ा और अंतत: देश को एक वास्तविक गृहयुद्ध की ओर धकेल दिया।

जयवर्धने सरकार ने इस स्थिति और उसके कारण में भेद न करते हुए गुरिल्ला छापामारों का सैन्य दमन आरंभ किया और इस चुनौती से निपटने के लिए राजनीतिक प्रयास नहीं किये। वेल्वेटटीथुरई कांड के प्रतिक्रियास्वरूप सरकार ने मई 1978 में पहले एल टी टी ई और ऐसे ही अन्य समूहों पर

प्रतिबंध लगाया और फिर जनवरी 1979 में जाफना में आपातकाल लागू कर दिया जो एक वर्ष तक जारी रहा। आतंकवाद समस्या पर सरकार के सामरिक स्तर पर विचार करने के बावजूद राष्ट्रीय एसेम्बली ने 19 जुलाई 1979 को आतंकवाद विरोधी बिल पारित कर दिया। इस बिल का कोई विरोध नहीं हुआ क्योंकि टी यू एल एफ सदस्य उस समय वावूनियां जिले के प्रशासनिक समायोजन के खिलाफ विरोध प्रकट करते हुए सदन का बहिष्कार कर रहे थे। हालांकि सदन में एस एल एफ पी ने इस बिल पर प्रहार किया लेकिन इसके किसी भी सदस्य ने इसके विरोध में मत नहीं डाले। एस एल एफ पी की मौन स्वीकृति का कारण सूचना राज्यमंत्री आनंद टिस्सा डी एल्विस की पार्टी को जारी अपील हो सकती है जिसमें पार्टी के मतभेदों को उस समय दबाने की बात कही गयी थी जब अल्पसंख्यकों द्वारा पूरे सिंहली बहुमत पर प्रहार किया जा रहा था। आतंकवाद विरोधी विधेयक ने आतंकवाद का खात्मा नहीं किया। इसके विपरीत इसने उग्रवादियों को और उग्र बनाया और तमिलों में उनकी लोकप्रियता को बढ़ाया। एल टी टी ई के अलावा पीपल्स लिबरेशन आरगेनाइजेशन आफ तमिल ईलम, द तमिल ईलम लिबरेशन आरगेनाइजेशन, द तमिल ईलम लिबरेशन आर्मी, द ईलम पीपल्स रिवोल्यूशनरी लिबरेशन फ्रंट तथा ईलम रिवोल्यूशनरी आरगेनाइजेशन आफ स्टूडेंट्स जैसे पांच अन्य सक्रिय तमिल छापामार समूह थे। इनमें वैचारिक मतभेदों तथा भीतरी दलबंदी होने के बावजूद यह समूह राजनीतिक सौदेबाजी के अनिच्छुक थे और तमिल समस्या का सशस्त्र समाधान चाहते थे। टी यू एल एफ की तुलना में सरकार का रोष बढ़ाने पर इनकी सफलता ने तमिलों में इनकी लोकप्रियता में वृद्धि की। एल टी टी ई ने टी यू एल एफ यानी तमिल संयुक्त मुक्ति मोर्चे का मखौल उड़ाते हुए उसे तमिल संयुक्त वकील मोर्चा कहा।

1983 के दंगे

संवैधानिक तथा राजनीतिक जरियों के माध्यम से जातीय संघर्ष को सुलझाने के प्रयासों में ठहराव तब आया जब जुलाई 1983 में तमिल विरोधी दंगों से देश हिल उठा था। दंगे पहले भी हुए थे। पर 1983 के दंगे अभूतपूर्व थे क्योंकि इनमें तमिल समुदाय के संभ्रांत सदस्यों को भी निशाना बनाया गया था। यही वह समय था जब तमिलनाडु में तमिल लोगों ने भारत सरकार पर इस जातीय संकट का समाधान करने के लिए दबाव डाला। इस प्रयास से भारत को श्रीलंका की जातीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण स्थान मिला। जयवर्धने सरकार ने स्पष्ट अनुभव किया कि समय निकला जा रहा है और कुछ न कुछ करने की आवश्यकता है।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

1) श्रीलंका में जातीय विभाजन में औपनिवेशिक शिक्षा नीति की क्या भूमिका रही है?

....

....

....

....

2) औपनिवेशिक काल में किन बातों ने तमिल चेतना को आकार दिया?

....

....

....

....

3) 1950 के दशक के मध्य में फेडरल पार्टी ने भंडारनायके सरकार के सामने कौन-कौन सी मांगें रखीं?

....

....

....

....

4) श्रीलंका में तमिल उग्रवाद कैसे और कब पैदा हुआ?

....

....

....

....

16.5 अंतर्जातीय वार्ता

1983 के बाद के सभी विवरणों की तह तक जाना आवश्यक नहीं है। अपने विषय के संदर्भ में अंतर्जातीय वार्ता के विकास में कुछ महत्वपूर्ण बातों को जानना आवश्यक हो सकता है। यह महत्वपूर्ण बातें हैं:

थिंपू वार्ता (1985), भारत-लंका संधि (1987), मंगला मूनसिंघे चयन समिति (1991), राष्ट्रपति चंद्रिका कुमारतुंग द्वारा घोषित अन्तरण प्रस्ताव (1995-97) और अंत में रानिल विक्रमसिंघे तथा एल टी टी ई के साथ नार्वे के सहयोग से वर्तमान में चल रही शांति वार्ता।

16.5.1 थिंपू वार्ता

1983 के अंत में भारत तथा श्रीलंका सरकार के बीच कई वार्ताएं हुईं जिनका नतीजा परिशिष्ट "स" प्रस्ताव में शामिल कथित पार्थसारथी योजना थी। राजीव गांधी के प्रधानमंत्री बनने के बाद विदेश सचिव रोमेश भंडारी द्वारा पार्थसारथी की भूमिका तय कर दी गई थी। उन्होंने श्रीलंका के अधिकारियों के साथ कई बार विचार-विमर्श किया। जून 1985 में नई दिल्ली में आयोजित शिखर सम्मेलन इसी का परिणाम था। सम्मेलन का निष्कर्ष स्पष्ट नहीं था लेकिन उसके कारण कम से कम श्रीलंका सरकार के प्रतिनिधियों और नरमपंथी तमिल संयुक्त मुक्ति मोर्चा और पांचों उग्रवादी समूहों के बीच जुलाई 1985 में थिंपू वार्ता का रास्ता तैयार हो सका।

थिंपू वार्ता में श्रीलंका सरकार द्वारा रखे गए प्रस्ताव पुराने थे जिनमें जिला परिषदों के माध्यम से अन्तरण की बात उठाई गई थी। इन प्रस्तावों को तमिल प्रतिनिधिमंडल ने अस्वीकार कर दिया। इनमें समस्या के समाधान के लिए कम से कम जरूरी चार मूलभूत सिद्धांतों की घोषणा की गई थी जो पुरानी तमिल मांगों की पुनरावृत्ति थे।

यह सिद्धांत थे:

1) *श्रीलंका के तमिलों को विशिष्ट नागरिकता देने को मान्यता*

2) एक अभिन्न तमिल राष्ट्र को मान्यता और उसकी क्षेत्रीय अखंडता का आश्वासन

3) उपरोक्त पर आधारित तमिल राष्ट्र के स्व-निर्धारण संबंधी अहस्तान्तरकरणीय अधिकार को मान्यता

4) द्वीप को अपना देश मानने वाले तमिलों के पूर्ण नागरिकता तथा अन्य मूलभूत लोकतांत्रिक अधिकारों को मान्यता।

16.5.2 भारत-श्रीलंका समझौता

1987 के अंत में जाफना में यह अफवाह फैली कि श्रीलंका प्रशासन जाफना पर "हमला" करने की तैयारी में लगा हुआ है। तमिल क्षेत्र में पहले से ही बमबारी और सैन्य गतिविधियां जारी थी और जाफना को आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति बंद कर दी गई थी। तमिलनाडु सरकार की ओर से भारतीय सैन्य हस्तक्षेप का भारी दबाव था क्योंकि जाफना के हज़ारों तमिल लोग उत्तरी श्रीलंका में हो रही नृशंसता से बचने के लिए भारत के तट पर आ पहुंचे थे। कूटनीतिक तथा भीतरी दबाव के चलते भारत ने जाफना को नावों से राहत आपूर्ति भेजने का फैसला किया। जब श्रीलंका की नौसेना ने नौकाओं को जफना पहुंचने से रोका तब भारत ने जाफना के पास हवाई जहाजों से रसद तथा सब्जियां गिराईं।

इस कार्यवाई को कोलंबो की तीखी प्रतिक्रिया का सामना करना पड़ा। श्रीलंका सरकार ने भारत की ओर से की गई इस कार्यवाई को एक "कायरतापूर्ण" कार्यवाई कहा और जून में भारतीय वायुसेना के प्रवेश को "देश की प्रभुसत्ता, स्वतंत्रता और क्षेत्रीय अखंडता का उल्लंघन" करार देते हुए संयुक्त राष्ट्र महासचिव के समक्ष विरोध प्रकट किया।

भारत का आशय कोलंबो को स्पष्टत: ज्ञात था। जिस दिन रसद लेकर भारत से हवाई जहाज उड़े श्रीलंका सरकार ने जाफना प्रायद्वीप पर छ: महीने पुराना ईंधन निषेध समाप्त कर दिया। राष्ट्रीय सुरक्षा मंत्री ललिथ अथुलथमुदाली ने "सदभावना कार्यवाई" की घोषणा की जिसके तहत वाडामराची क्षेत्र में, जहां श्रीलंका की सेना ने नियंत्रण कर लिया था तमिलों को 900 टन खाद्य सामग्री उपलब्ध कराई गई।

राहत अभियान के बाद इस कलह का राजनीतिक समाधान ढूँढने की संभावनाओं की ओर ध्यान दिया गया। 19 जुलाई 1987 को राष्ट्रपति जयवर्धने ने उत्तरी और पूर्वी प्रांतों को मिला कर एक स्वायत्त इकाई बनाने का प्रस्ताव रखा। प्रस्ताव पर उत्तरी और पूर्वी प्रांतों सहित एक पृथक इकाई की स्थापना करने पर विचार किया गया जिसमें एक राज्यपाल और एक मुख्यमंत्री नियुक्त करने का प्रावधान था। दो प्रांतों को विशेष रूप से प्रशासनिक उद्देश्यों के लिए रखा गया। उत्तरी क्षेत्रीय परिषद में 36 तथा पूर्वी में 35 सीटों का प्रावधान था। यदि योजना को स्वीकार किया जाता तो पूर्वी प्रांत में विशेष जनमत संग्रह होता जो यह निर्णय करता कि उसका उत्तरी प्रांत में विलय होना है या नहीं। यह भी प्रस्तावित किया गया कि उग्रवादी अपने हथियारों की सुपुर्दगी प्रांतीय परिषद चुनाव के पहले कर दें और सेना अपने बैरकों में लौट जाए। मुख्य न्यायाधीश के नेतृत्व में एक स्वतंत्र समिति चुनावों का निरीक्षण करे। भारत ने योजना पर हस्ताक्षर करना स्वीकार किया और समझौते के तहत किसी भी दल की ओर से बची-खुची हिंसा को दूर करने में सहायता करने का वायदा किया।

जयवर्धने के प्रस्ताव ने शांति प्रक्रिया को प्रेरित किया जिसका असर जल्दी ही 29 जुलाई 1987 को दिखा जब भारत और श्रीलंका ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। इसे भारत-श्रीलंका समझौता कहा गया। समझौते का महत्व केवल उसके प्रावधानों में ही नहीं बल्कि दोनों सरकारों के बीच लगभग साथ-साथ चले पत्र व्यवहार में भी था। समझौते के अनिवार्य रूप से दो पहलू थे। पहला श्रीलंका की प्रभुसत्ता और क्षेत्रीय अखंडता को कायम रखने वाली भारत की इस शर्त पर वचनबद्धता कि श्रीलंका तमिलों को संतुष्ट करने लायक उचित स्वायत्तता देना स्वीकार करे।

दूसरा पहलू श्रीलंका की वचनबद्धता थी कि वह किसी भी गैर क्षेत्रीय ताकत को उसके मामलों में दिलचस्पी लेने से रोके जो क्षेत्र में भारत के सुरक्षा हितों को नुकसान पहुँचाने वाला या तो कोई ज्ञात या संभावित इरादा रखती है।

भारत-श्रीलंका समझौते पर हस्ताक्षर करने के बाद भारत ने शांति स्थापित करने वाला एक दल यह सुनिश्चित करने के लिए भेजा कि उपद्रव-ग्रस्त तमिल क्षेत्रो में शांति स्थापित हो सकी है या नहीं। कार्यात्मक अर्थ में यह एल टी टी ई के सदस्यों को निरस्त्र करना था। राजनीतिक स्तर पर इस संदर्भ में श्रीलंका सरकार ने एक ऐसी आदर्श नीति बनाने की तैयारी शुरू की जिसके माध्यम से संगठित प्रांतीय परिषदें सत्ता में मिलायी जा सकें। इस नीति की दृष्टि से उत्तरी और पूर्वी प्रांतों का एकीकरण संभव था। तमिलों का दावा था कि यह क्षेत्र उनकी ''पारंपरिक भूमि'' है।

समझौते में एक त्रुटि निहित थी क्योंकि एल टी टी ई ने इसे स्वीकार नहीं किया था। एल टी टी ई के मुखिया वेल्लुपिल्लई प्रभाकरण ने स्पष्ट किया कि असंवैधानिक सिंहली उपनिवेशन की समाप्ति, तमिलों की एक राष्ट्र के रूप में मान्यता, उत्तरी और पूर्वी प्रांतों का स्थायी विलय तथा प्रांत से श्रीलंकाई सेना को हटाने जैसी कोई भी तमिल मांग समझौते में नहीं रखी गई है। सिंहलियों के कुछ वर्गों में भी समझौते को लेकर तीखी प्रतिक्रिया थी। प्रधानमंत्री प्रेमदासा स्वयं इसके पक्ष में नहीं थे। जनता विमुक्ति पेरुमना नाम के एक अति उग्रवादी ट्रास्ट्सकाइट दल सहित कई श्रीलंकाई आई पी के एफ को ''कब्ज़ा करने वाली सेना'' मानने लगे थे। राष्ट्रपति की लोकप्रियता घटने लगी और उन्हें मार डालने का प्रयास किया गया ।

भारत सरकार और एल टी टी ई के संबंधों में अभूतपूर्व गिरावट देखी गई। एल टी टी ई की राजनीतिक ताकत उसकी बंदूकों से प्रकट हो रही थी और स्वाभाविक ही था कि उसने बिना किसी पक्के आश्वासन के कि राजनीतिक सत्ता उसे सौंपी जाएगी, अपने हथियार समर्पित करना अस्वीकार कर दिया।

16.5.3 मंगला मूनसिंघे चयन समिति

अगस्त 1991 में ''देश में राजनीतिक स्थिरता तथा शांति स्थापित करने के साधनों और तरीकों पर सुझाव'' देने के लिए एक संसदीय चयन समिति का गठन किया गया। एस एल एफ पी के सांसद मंगला मूनसिंघे के नेतृत्व में गठित इस समिति ने लिखित प्रतिवेदन मांगे। इसे 253 प्रतिवेदन प्राप्त हुए जिनमें आश्चर्यजनक रूप से कोई भी यू एन पी और एस एल एफ पी की ओर से नहीं था।

शुरुआत से ही संसदीय चयन समिति एक ही मुददे को लेकर उलझी रही कि उत्तरी-पूर्वी प्रांत के विलय को स्वीकार किया जाए या नहीं। जहां सीलोन श्रमिक कांग्रेस (सी डब्ल्यू सी) सहित सभी तमिल दल उत्तर और पूर्व के विलय की मांग दोहराते रहे, वहीं संसदीय चयन समिति में शामिल एस एल एफ पी और यू एन पी के सदस्यों सहित सिंहली दल इसका विरोध करते रहे। विचार-विमर्श के दौरान यह स्पष्ट हो गया कि श्रीलंका मुस्लिम कांग्रेस (एस एल एम सी) एक इच्छुक दल के रूप में सामने आई है और वह अपना हिस्सा भी चाहती है जिसका अर्थ हुआ कि प्रांतों में मुस्लिमों के हितों के पर्याप्त सुरक्षा उपायों के बिना वह उत्तर-पूर्व के विलय के पक्ष में नहीं होगी। जून 1992 में संसदीय चयन समिति ने एक ''परिकल्पना पर्चा'' वितरित किया जिसमें निम्नलिखित बातें कही गईं थीं:

1) दो पृथक परिषदें होनी चाहिए, एक उत्तरी प्रांत के लिए और दूसरी पूर्वी प्रांत के लिए।

2) ''दोनों परिषदों के लिए समान नीतियों की योजना और दोनों परिषदों से संबद्ध कार्यक्रमों का समन्वयन करने के लिए'' परिषदों के सदस्यों द्वारा एक ''शिखर सभा'' का चुनाव।

3) विभिन्न मुख्यमंत्रियों को शामिल करने वाला ''एक राष्ट्रीय सदन'' बनाना जिसका मुख्य कार्य होगा ''राष्ट्र को सुदृढता से एकीकृत करते हुए केन्द्र और परिधीय इकाइयों के बीच सौहार्द्र तथा समन्वय स्थापित करना।''

4) अंतरिम कार्यवाई के रूप में ''सभी प्रांतीय ताकतों के निर्विघ्न तथा तत्काल कार्यान्वियन का निरीक्षण करने के लिए एक पृथक संस्थान की स्थापना होनी चाहिए।'' इस संदर्भ में ''परिकल्पना पर्चे'' में सुझाया गया कि उत्तरी और पूर्वी प्रांतों के लिए संसद के बाहर से तथा संसद में शामिल राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों को स्वीकार करने वाला एक अंतरिम प्रशासन नियुक्त किया जाए।

उसी दिन संसद में प्रतिनिधित्व करने वाले तमिल दलों जैसे ई पी आर एल एफ, टी यू एल एफ, ई एन डी एल एफ, टी ई एल ओ, ई आर ओ एस के साथ पी एल ओ टी ई तथा ए सी टी सी ने जिनका संसद में प्रतिनिधित्व नहीं था, संसदीय चयन समिति को अपने चार सूत्री नियम प्रस्तुत किए। यह नियम थे:

1) स्थाई तौर पर विलयित उत्तरी-पूर्वी प्रांत के लिए एक एकीकृत राजनीतिक-प्रशासनिक सत्ता,

2) इस स्वीकृत इकाई को अर्थपूर्ण स्वायत्तता सुनिश्चित करने वाली सत्ता का पर्याप्त अन्तरण,

3) मुस्लिमों के लिए उनकी सांस्कृतिक पहचान तथा सुरक्षा सुनिश्चित करने वाले एकीकृत उत्तरी-पूर्वी प्रांत के वृहद ढांचे के भीतर ही संस्थागत व्यवस्था

4) उत्तरी-पूर्वी प्रांत के सिंहलियों को वह सभी अधिकार मिलें जो बाकी देश के अन्य अल्पसंख्यंको को मिले हैं ।

दोनों पक्षों के बीच अंतर पूर्णतया स्पष्ट था लेकिन 14 अक्टूबर 1992 को संसदीय चयन समिति ने जो ''विकल्प पर्चा'' वितरित किया उसमें किसी मध्य मार्ग की झलक थी। इसकी सिफारिशें थीं:

1) पूरे उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र के लिए एक क्षेत्रीय परिषद जो दो चयनित प्रांतीय परिषदों से बनी हो।

2) पूरे उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र के लिए बनी क्षेत्रीय परिषद का नेतृत्व मुख्यमंत्री करे।

3) दोनों प्रांतो के दो कार्यकारी मंत्री प्रतिवर्ष बारी-बारी से पूरे क्षेत्र के मुख्यमंत्री के तौर पर काम करें।

4) क्षेत्र के लिए एक राज्यपाल हो।

5) प्रत्येक प्रांत में अल्पसंख्यकों के जातीय तथा धार्मिक अधिकारों की संवैधानिक व्यवस्था सुनिश्चित की जाए।

''विकल्प पर्चे'' में कही गई एक बात कुछ-कुछ अस्पष्ट थी। इसमें सरसरी तौर पर कहा गया था कि क्षेत्रीय परिषद तभी गठित की जाएगी ''जब दोनों प्रांतीय परिषदें पूरे क्षेत्र के मुददों पर बात करने के लिए मिलेंगी।'' यह निश्चित नहीं था कि दोनों प्रांतीय परिषदें विशेष विषयों पर एक ही क्षेत्रीय परिषद की तरह कार्य करेंगी या नहीं।

संसदीय चयन समिति के पूरे कार्यकाल में केवल एक अवसर ऐसा आया जब उत्तर-पूर्व विलय के पक्षधर मजबूत तमिल मोर्चे में कुछ दरारें देखी गईं। 11 नवम्बर 1992 को जफना के सांसद के. श्रीनिवासन ने संसदीय चयन समिति को एक प्रस्ताव भेजा जिसका शीर्षक था ''राष्ट्रीय संकट का यथार्थवादी समाधान''। इसके मुख्य घटक थे:

1) राष्ट्रीय जनमत संग्रह के अधीन श्रीलंका के संविधान का ऐकिक स्वरूप संघीय स्वरूप में बदला जाए।

2) अन्तरण और पर्याप्त अन्तरण की निश्चित इकाइयों में उत्तरी और पूर्वी प्रांतों का पृथकीकरण।

3) प्रत्येक इकाई के मुसलमानों की सुरक्षा के लिए विशेष संस्थागत व्यवस्था की जाए।

4) प्रत्येक ज़िले में जनसांख्यिकी संरचना का अनुरक्षण करते हुए सरकारी भूमि हस्तांतरित की जाए और पहले से ही विस्थापित हुए सिंहलियों की बस्तियों का स्थानांतरण किये बगैर प्रत्येक इकाई का जातीय संतुलन 1971 की गणना के अनुसार बनाए रखा जाए।

जहां तक उत्तरी-पूर्वी प्रांतों के पृथकीकरण का प्रश्न था, प्रस्ताव को यू पी एन पी, एस एल एफ पी, एल एस एस पी, एस एल एम पी तथा सी पी से समर्थन मिला लेकिन यह समर्थन श्रीलंका को संघीय राष्ट्र बनाने के लिए नहीं था। तमिल दलों ने किसी प्रकार श्रीनिवास प्रस्ताव को ''पाखंड'' के रूप में परख लिया था जिसे यू एन पी के मुस्लिम नेता पी सी एस हमीद ने टी यू एल एफ और एस एल एम सी के बीच चल रही वार्ताओं को ध्वस्त करने के लिए तैयार किया था। तीन दिन बाद 14 दिसम्बर 1992 को एक संयुक्त वक्तव्य में तमिल दलों ने घोषणा की कि ''अब यह भली-भांति स्पष्ट हो गया है कि संसदीय चयन समिति की पूरी प्रक्रिया वर्तमान में विलयित उत्तर-पूर्वी प्रांत को पृथक करने के उस वायदे को निभाने के लिए बनी है जो 1988 के राष्ट्रपति चुनाव के समय के घोषणा पत्र में किया गया है। यह योजना एस एल एफ पी के भी अनुकूल है''।

फिर भी संसदीय चयन समिति ने तमिल दलों की बात पर ध्यान नहीं दिया और दो दिन बाद 16 दिसम्बर 1992 को अपनी अंतरिम रिपोर्ट जारी की जिसका विषय था ''विषय जिन पर अधिकांश सदस्य सहमत हैं''। यह सहमतियां थीं :

क) उत्तरी और पूर्वी प्रांतो के लिए दो पृथक प्रशासनिक इकाइयां स्थापित करना।

ख) भारत के संविधान में दी गई नीति के समान अन्तरण योजना नीति अपनाना।

ग) तीसरी सूची के अन्य विषयों को शामिल करना या उन्हें छोड़ देना।

तमिल दलों ने इन सहमतियों को उसी दिन अस्वीकार कर दिया और कहा कि ''चाहे सत्तारुढ़ यू एन पी हो या मुख्य विरोधी पक्ष एस एल एफ पी, संसद में प्रस्तुत सिंहली राज्यतंत्र का तमिल लोगों की आकांक्षाओं और उनकी वैध शिकायतों को न समझने की इच्छा के अभाव की हम पुष्टि करते हैं''।

इस प्रकार संसदीय चयन समिति की विफलता प्रकट हो गई थी क्योंकि न तो सिंहली और न ही तमिल लोग उत्तर-पूर्व विलय को लेकर अपनी-अपनी अटल स्थितियों से टस से मस होने को तैयार थे। लेकिन कुछ अन्य संगठनात्मक समस्याएं भी थीं। 40 सदस्यों वाली समिति का आकार किसी सार्थक कार्य को करने के लिए बहुत बड़ा था। राजनीतिक दलों ने न तो कोई कागजात तैयार किये थे और न ही विभिन्न मुददों पर समिति का मार्गदर्शन करने के लिए तकनीकी जानकार थे। इसलिए जातीयता के प्रश्न पर संसदीय चयन समिति की विफलता मुख्यत: राजनीति और उसकी शैली की विफलता थी जिसने विवाद का समाधान न होने दिया।

16.5.4 चंद्रिका योजना

जैसा कि 1994 के संसदीय और राष्ट्रपति चुनाव प्रचारों में वायदा किया गया था, राष्ट्रपति चंद्रिका कुमारतुंग ने नये प्रस्तावित संघीय संविधान की परिधि के भीतर ही एक विस्तृत अन्तरण योजना प्रस्तुत की। इसमें संघीय इकाइयों को पहले से कही अधिक अधिकारों की व्यवस्था थी। इसमें उत्तरी और पूर्वी प्रांतों के स्थायी विलय की बात भी उठाई गई थी जिससे तमिलों को अपनी बात कहने का अवसर मिल सके। लेकिन जनगठबंधन सरकार ''पीपल्स एलांयस'' विशेष रूप से और सिंहली-बौद्ध ताकतें सामान्य रूप से यू एन पी के दबाव में थीं इसलिए यह प्रस्ताव संघवाद के अपने मूल सिद्धांत से मुकर गया और केन्द्रीय सत्ता के बचाव के पक्ष में खड़ा हो गया। यह देखा गया कि केन्द्र की ताकत कम नहीं हुई थी और राष्ट्र की सुरक्षा तथा अखंडता पर कोई समझौता नहीं हुआ। यदि परिस्थिति की मांग होती तो किसी भी विघटनकारी प्रवृत्ति को शुरुआती दौर में ही क्षेत्रीय मामलों में हस्तक्षेप करके दबा दिया जाना चाहिए था। तमिल स्वदेश के तथाकथित विचार को भी पूर्वी प्रांत के क्षेत्रीय पुन: संगठन के संदर्भ में विभिन्न संभावनाएँ

उपलब्ध करा कर धुंधला कर दिया गया। मुस्लिम एक महत्वपूर्ण राजनीतिक ताकत थे इसलिए यह उपाय आसानी से संभव हो सकता था।

अन्तरण योजना प्रस्तावित करते समय जनगठबंधन "पीपल्स एलायंस" ने सबसे बड़ी गलती यह की कि उसने इस बात को ध्यान में नहीं रखा कि जब संसद में उसका बहुत ही कम बहुमत है तब यह योजना कैसे पारित होगी। पारित होने के लिए कम से कम दो-तिहाई बहुमत चाहिए था क्योंकि संविधान में संशोधन लाने का प्रश्न था। इसलिए यू एन पी की मदद के बगैर यह संभव ही नहीं था और सहयोग लेने के लिए कोई राजनीतिक प्रयास भी नहीं किए गए थे। दूसरी समस्या यह थी कि 1995 में एल टी टी ई की प्रारंभिक सैन्य पराजय के बाद चंद्रिका अति आश्वस्त हो गई थीं जिसमें जाफना में सत्ता की वापसी एल टी टी ई की पूरी तरह उपेक्षा करने के लिए हुई और अन्य समूहों से बातचीत के जरिए समस्या का हल निकालने की कोशिश की गई जो वास्तविकता में निरर्थक रही।

16.5.5 सरकार-एल टी टी ई शांतिवार्ता

अक्टूबर 2000 में हुए आम चुनाव में किसी भी दल को सरकार बनाने के लिए पूर्ण जनादेश नहीं मिला। जनादेश के लिए न्यूनतम आवश्यक संख्या 113 थी जो किसी भी दल के पास नही थी। भविष्य अनिश्चित लग रहा था क्योंकि जे वी पी ने पी ए या यू एन पी के साथ गठबंधन करने से इन्कार कर दिया था। अंततः पी ए ने ई पी डी पी और एस एल एम पी की शाखा मुस्लिम एन यू ए की मदद से सरकार बनाई। बहुमत का अंतर बहुत कम था इसलिए कुमारतुंग की सरकार असुरक्षित महसूस कर रही थी और एक वर्ष बाद ही उसे दोबारा चुनाव कराना पड़ा क्योंकि जे वी. पी के साथ गठबंधन को निभाने के उसके प्रयास लड़खड़ाने लगे थे। दिसम्बर 2001 में मध्यावधि चुनाव हुए जिसमें 26 राजनीतिक दलों और 120 स्वतंत्र समूहों ने भाग लिया। यू एन पी के पक्ष में फैसला हुआ हालांकि अपने बूते पर सरकार बनाने के लिए उसे पर्याप्त सीटें नहीं मिल सकीं थीं। रानिल विक्रमसिंघे के नेतृत्व में यू एन पी ने अपने चुनाव-पूर्व गठबंधन सहयोगी एस एल एम पी की मदद से सरकार का गठन किया।

चुनाव प्रचार में अन्तरण के मुद्दे पर चर्चा नहीं की गई। यू एन पी और एस एल एम पी बड़ी कठिनाई से सरकार बना पाए थे इसलिए यह अपेक्षा भी नहीं की जा रही थी कि तमिलों को उनके क्षेत्रों में राज करने के लिए प्रभावी अधिकार देने के साहसिक कदम उठाए जाएंगे। सरकार के लिए असली चुनौती यह थी कि एल टी टी ई से दोबारा बातचीत कैसे शुरू की जाए जबकि राष्ट्रपति कुमारतुंग का सुस्पष्ट मत था कि सैन्य कार्यवाही ही इसका एकमात्र हल है। फिर भी एल टी टी ई के साथ शांति वार्ता शुरू करने के विचार से सरकार ने दिसम्बर में एक महीने का युद्ध विराम घोषित किया। अगले ही दिन एल टी टी ई की ओर से इसका प्रतिकार हुआ। एक महीने की समाप्ति पर 24 जनवरी 2002 को सरकार ने युद्ध विराम के समय को एक महीना और बढ़ा दिया। विश्वास स्थापित करने का यह तरीका सफल रहा और 22 फरवरी 2002 को श्रीलंका सरकार तथा एल टी टी ई के बीच एक दीर्घावधि युद्ध विराम समझौते पर दस्तखत हुए। सितम्बर के शुरू में सरकार ने "चीतों" पर लगा प्रतिबंध उठा लिया और कुछ ही दिनों के अंदर थाइलैंड में नार्वे के सहयोग से शांति वार्ता आरंभ हुई। वार्ता के पहले चरण में यह निर्णय लिया गया कि 31 अक्टूबर 2002 से 3 नवंबर, 2 से 5 दिसंबर 2002 और 6 से 9 जनवरी 2003 तक के तीन और चरणों में वार्ता की जाएगी। दिसम्बर और जनवरी में वार्ता के निर्धारित चरण सबसे अधिक महत्वपूर्ण होंगे क्योंकि उनमें तमिल बहुल प्रांत या प्रांतों को अधिकार सौंपने से संबद्ध विवादास्पद प्रश्न तथा हस्तांतरण इकाई जैसे मुद्दे उठाये जाएँगे।

16.5.6 भावी संभावनाएँ

उपरोक्त बातों से यह प्रकट होता है कि जातीयता और राष्ट्र निर्माण के प्रश्न पर तमिलों और सिंहलियों के बोध में विरोध निहित है, लेकिन बातचीत तथा राजनीतिक समझौतों के जरिए इस

विवाद को सुलझाने के प्रयास भी निरंतर किए जा रहे हैं। इसी तरह सरकार और एल टी टी ई के बीच लगातार जारी शांति वार्ताएँ दोनों दलों द्वारा पूरी गंभीरता से ली जा रही हैं। श्रीलंका की राजनीति के ध्रुवीकरण की स्थिति में हमें प्रक्रिया के परिणाम की प्रतीक्षा करनी होगी। महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि प्रांतीय इकाइयों को कितने अधिकार सौपें जाएं। असल प्रश्न यह है कि क्या उत्तरी और पूर्वी प्रांतों को एक स्थाई एकीकृत इकाई के रूप में देखा जाए? क्या सिंहली कुल मिलाकर ऐसी व्यवस्था पर राजी होंगे? इसके अलावा क्या पूर्वी प्रांत के मुस्लिम राजी हो पाएँगे? बेशक पूर्वी प्रांत की सीमाओं को सुनिश्चित कर सिंहलियों और मुस्लिमों की आशंकाओं के हल निकालने की संभावना है लेकिन इस तथ्य से नहीं बचा जा सकता कि अपनी अनुपातहीन संख्या शक्ति वाले तमिलों का भूत जो क्षेत्र के एक बड़े भाग पर नियंत्रण किये हुए है, सिंहलियों का पीछा करना जारी रखेगा। क्योंकि एल टी टी ई उत्तरी और पूर्वी प्रांत को दो पृथक प्रांतीय सत्ताओं के रूप में कभी स्वीकार नहीं करेगा इसलिए इस महत्वपूर्ण मुद्दे पर बातचीत अंततः समाप्त हो सकती है।

दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या एल टी टी ई अंततः केवल एक ही प्रांत पर शासन कर, जो कि उसके स्वतंत्र ईलम के स्वप्न की तुलना में बहुत ही कम हरजाना है, संतुष्ट हो सकेगा। यदि एल टी टी ई को एकीकृत उत्तरी-पूर्वी प्रांत पर शासन करने की अनुमति दे दी जाए तो भी यह बहुत ही छोटा क्षेत्र होगा क्योंकि श्रीलंका अपने आप में ही छोटा देश है। इन दोनों प्रश्नों का उत्तर अब केवल समय ही बता सकता है।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

1) 1987 के भारत-श्रीलंका समझौते की मुख्य सीमाएँ क्या है ?

....

....

....

....

....

....

16.6 सारांश

हमने देखा कि श्रीलंका के दो मुख्य समुदायों, सिंहलियों और तमिलों के बीच जातीय विभाजन के कारणों को औपनिवेशिक काल से जोड़ा जा सकता है। स्वतंत्रता के बाद बहुसंख्यकों की भाषा सिंहली और बहुसंख्यक समुदाय के बौद्व धर्म पर आधारित राष्ट्र निर्माण प्रयोग ने दोनों समुदायों के बीच पड़ी दरार को और भी बढ़ाया। 1970 के दशक के मध्य में पनपे राजनीति के ध्रुवीकरण से, जिसने एक ओर तमिल अतिवाद और दूसरी ओर श्रीलंका की सशस्त्र सेना की प्रतिहिंसा को बढ़ाया, बातचीत और राजनीतिक समझौतों के जरिए मतभेद सुलझाने के प्रयासों के अभी तक कोई महत्वपूर्ण परिणाम नहीं मिल सके हैं। जातीयता और राष्ट्र निर्माण के विभिन्न बोधों से उपजी घरेलू हिंसा से इस द्वीपीय देश का जूझना जारी है।

16.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

उर्मिला फड़नीस और अन्य, 1986, *डोमेस्टिक कन्फिल्कट्स इन साउथ एशिया, पॉलीटिकल डाइमेंशन्शंस*, नई दिल्ली, साउथ एशिया पब्लिशर्स

राधिका कुमारस्वामी, 1984, *द क्राइसिस ऑफ एंग्लो-अमेरिकन कंस्टीटयूशनल ट्रेडिशन्स इन अ डेवलपिंग सोसायटी*, नई दिल्ली : विकास पब्लिशिंग हाउस।

एस एस मिश्रा, 1995, *एथनिक कंफिलक्ट एंड सेक्योरिटी क्राइसिस इन श्रीलंका*, नई दिल्ली: कलिंग पब्लिशर्स।

तांबियाह, एस जे, 1986, *श्रीलंका : एथनिक फ्रेट्रीसाइड एंड द डिसमैंटलिंग ऑफ डेमोक्रेसी*, शिकागो: द युनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।

16.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) औपनिवेशिक शिक्षा नीति का श्रीलंकाई समाज पर विभेदी प्रभाव पड़ा। मुख्य तौर पर ईसाइयों और तमिलों को आधुनिक शिक्षा व्यवस्था का लाभ मिला जिसकी बदौलत उन्हें सार्वजनिक तथा व्यापारिक क्षेत्रों में रोजगार मिल सका। हालांकि सिंहली संख्या में अधिक थे लेकिन औपनिवेशिक नीतियों से उन्हें कोई लाभ नहीं पहुंचा।

2) धर्म से अधिक समुदाय की ऐतिहासिक छवि और इनका अल्पसंख्यक आधार ही वह घटक था जिसने औपनिवेशिक काल में तमिल चेतना को आकार दिया।

3) फेडरल पार्टी की मुख्य माँगें संघीय संविधान को लागू करने, तमिल को सिंहली भाषा के साथ राजभाषा के रूप में मान्यता देने, विद्यमान नागरिकता नियमों को रद्द करने और तमिल प्रधान क्षेत्रों के उपनिवेशन को समाप्त करने से संबद्ध थीं।

4) नरमपंथी तमिल नेताओं को सरकार से कोई मुआवजा न मिल पाने की विफलता और 1970 के दशक की शुरुआत में इनमें से कुछ नेताओं के गुजर जाने की वजह से दशक के अंत तक अतिवादी समूहों का पदार्पण हुआ।

बोध प्रश्न 2

1) भारत ने सरकार तथा तमिल छापामारों के बीच शांति बनाने का जिम्मा लिया लेकिन एल टी टी ई वार्ताओं में शामिल नहीं था। उसने तमिलों की माँगों को सामने नहीं रखा।

इकाई 17 मालदीव में अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 देश और लोग

- 17.2.1 जलवायु, मृदा और वनस्पति
- 17.2.2 जनसांख्यिकीय रूपरेखा

17.3 समाज

- 17.3.1 नृजाति और भाषा
- 17.3.2 सामाजिक व्यवस्था

17.4 राजनीति

- 17.4.1 संवैधानिक विकास
- 17.4.2 1940 तथा 1950 के दशकों की राजनीतिक घटनाएँ
- 17.4.3 1960 का समझौता
- 17.4.4 राष्ट्रपति नासिर के समय की राजनीतिक व्यवस्था
- 17.4.5 मामून अब्दुल गयूम का शासन

17.5 अर्थव्यवस्था और वित्तीय नीति

17.6 विदेश नीति

17.7 सारांश

17.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

17.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

यह इकाई मालदीव के समाज, अर्थव्यवस्था तथा राजनीति की कुछ महत्वपूर्ण विशिष्टताओं की पड़ताल कर रही है। इसे पढ़ने के बाद आप:

- मालदीव की जनसांख्यिकीय रचना का वर्णन कर सकेंगें;
- मालदीव के समाज की महत्वपूर्ण विशिष्टताओं को पहचान सकेंगें;
- मालदीव में आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं को जन्म देने वाले राजनीतिक घटनाक्रम के बारे में पता लगा सकेंगे;
- मालदीव के राजतंत्र की विशिष्टताओं का वर्णन कर सकेंगे; और
- मालदीव के समक्ष मौजूद आर्थिक मुद्दों तथा चुनौतियों का विश्लेषण कर पाएंगे।

17.1 प्रस्तावना

मालदीव नाम का द्वीप समूह लंबे अरसे से एक अलग-थलग पड़ा देश रहा है। हालांकि अपने राजनीतिक दबावों और निरंतर परिवर्तनशील वैश्विक राजनीतिक परिदृश्य के चलते यह देश बाह्य विश्व तक पहुंचने के लिए अपनी विदेश नीति में विविधता ला सका है। भले ही मालदीव एक छोटा देश है, पर यह कई अंतरराष्ट्रीय संगठनों का सक्रिय सदस्य है और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व तथा गुट निरपेक्षता के सिद्धांतो के लिए प्रतिबद्ध है। हिंद महासागर में इसकी सामरिक स्थिति और इन वचनबद्धताओं की बदौलत इस छोटे से द्वीप समूह की ओर विभिन्न राष्ट्रों का ध्यान गया। इन बातों का हिंद महासागर में भावी राजनीतिक विकास से भी संबंध है।

17.2 देश और लोग

मालदीव मूंगे के 1195 द्वीपों का समूह है। यह द्वीप प्रवालद्वीपों में समूहित किए गए हैं और हिंद महासागर में 90,000 वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र मे फैले हुए हैं। हालांकि केवल 202 द्वीप ही बसे हुए हैं। प्रशासनिक प्रयोजन से मालद्वीव सरकार ने माले के साथ् एक अलग इकाई बनाते हुए 26 प्रवालद्वीपों को 19 प्रशासनिक इकाइयों में संगठित किया है। सामरिकता की दृष्टि से मालदीव की राजधानी माले कन्याकुमारी से 480 कि.मी. दक्षिण-पश्चिम में, श्रीलंका से 670 कि.मी. पश्चिम में तथा हिंद महासागर में डिएगो गार्सिया द्वीपसमूह पर बने अमेरिका के सैन्य अड्डे से 282 कि.मी. उत्तर में स्थित है।

यह देश उत्तर से दक्षिण में 823 कि.मी. तथा पूर्व से पश्चिम में 130 कि.मी. तक फैला हुआ है। मूंगे के द्वीप समूहों का कुल क्षेत्रफल 282 वर्ग कि.मी. है। मालदीव का लगभग 99 प्रतिशत भाग समुद्र में है और यह कई छोटे द्वीपों से बना है और अधिकतर प्रवालद्वीप अंगूठी के आकार की मूंगे की बड़ी समुद्री चट्टानों से बने हैं। इन छोटे द्वीपों में गहरी प्राकृतिक नदियां और ताल हैं। प्रवालद्वीप या अंग्रेज़ी में ''अटाल'' मालद्वीव द्वीपसमूह के लिए प्रयुक्त देसी नाम ''अबोल्लु'' से बना है जो इस तरह की संरचना का एक विशिष्ट उदाहरण है। चट्टानी संरचना मालदीव की विशिष्टता है जिसे ''फारु'' कहा जाता है। यह चट्टाने हवा और लहरों से प्राकृतिक रूप से बचाव करती हैं।

मूंगे के द्वीपों का औसत क्षेत्रफल एक से दो वर्ग किलोमीटर है और समुद्र स्तर से इनकी औसत ऊँचाई लगभग 1.6 मीटर है। सबसे अधिक ऊँचा स्थान अड्डू प्रवालद्वीप में विलिंग्ली द्वीप पर 2.4 मीटर की औसत ऊँचाई पर है। यह द्वीप कुछेक टीलों सहित प्राय: समतल है। यहां पहाड़ियां और नदियां नहीं हैं। कुछ बड़े द्वीपों में ताज़े पानी की कुछ छोटी झीलें हैं जबकि अन्य द्वीपों में पानी खारा है और किनारों पर गरान या वनस्पति उगी हुई है।

17.2.1 जलवायु, मृदा और वनस्पति

मालदीव की जलवायु उष्ण कटिबंधीय है जो बहुत हद तक मानसून से निर्धारित होती है। हालांकि भौगोलिक रूप से भूमध्य रेखा से इसकी निकटता के कारण मानसून का असर इतना प्रभावशाली नहीं होता जितना कि अन्य दक्षिण-एशियाई देशों में होता है। आर्दृता के अपेक्षाकृत अधिक होने के बावजूद समुद्री हवा लगातार बहती रहती है जिससे द्वीपवासिंयों को राहत मिलती है। मालदीव में दो तरह की ऋतुएँ होती हैं। पहली मई से अक्टूबर तक चलने वाली वर्षा ऋतु जो मानसून से शुरू होती है। इस मौसम में तेज़ हवाओं के साथ भीषण बरसात होती है। उत्तर से दक्षिण की ओर वर्षा अधिक होती है। उत्तर में हर वर्ष 254 सें.मी. औसत वर्षा होती है जबकि दक्षिण में यह बढ़कर 380 सें.मी. हो जाती है। दूसरी ऋतु शीतकाल है जो नवम्बर से अप्रैल तक चलता है और उत्तर पूर्व मानसून से संबद्ध है। हवा कम चलती है और मौसम खुश्क रहता है। यहां की रेतीली और क्षारीय मृदा में नाइट्रोजन, पोटाशं और लौह तत्व कम मात्रा में मिलते हैं। इससे यहां कृषि उत्पादन

की क्षमता गंभीर रूप से प्रभावित होती है। मालदीव का केवल 10 प्रतिशत भाग ही कृषि योग्य है। यहां उगाई जाने वाली फसलों के आधार पर मालदीव को मोटे तौर पर तीन तरह के क्षेत्रों में बांट सकते हैं: उत्तरी क्षेत्र जहां बाजरे की खेती होती है, मध्यवर्ती क्षेत्र, जहां अनुपजाऊ मृदा होने की वजह से नारियल, पपीता, ब्रेडफ्रूट और उद्यानों में उगाई जाने वाली छोटी-मोटी फसलों को छोड़कर बहुत कम कृषि उत्पादन होता है। तीसरा क्षेत्र है दक्षिणी क्षेत्र जहां कई द्वीपों में सर्वाधिक खेती की जाती है। इस क्षेत्र में केवल फुआह मुलाकू नाम के द्वीप पर संतरे और कुछ हद तक अन्नास जैसे फलों की पैदावार होती है क्योंकि यहां का भूभाग अधिकतर सभी द्वीपों से अधिक ऊँचाई पर है जिससे जमीन के पानी में समुद्र का पानी कम मिल पाता है। मालदीव में मुख्य रूप से खाया जाने वाला अनाज चावल यहां नहीं पैदा होता बल्कि अन्य देशों से इसका आयात किया जाता है।

मालदीव की प्राकृतिक वनस्पति बारहों महीने हरी-भरी रहती है। ब्रेडफूट और नारियल के खेत प्रधानता से मिलते हैं। छोटे-छोटे झाड़ीदार पौधों तथा फूलों के पौधों के घने झंखाड़ के ऊपर यह वृक्ष छाये रहते हैं। पीने और कृषि में प्रयोग किया जाने वाला ताज़ा पानी समुद्र के जल के ऊपर ताल या परतों के रूप में तैरता रहता है। द्वीप की चूने और मूंगे की रेत में से धीरे-धीरे छन कर यह ताज़ा पानी ज़मीन के नीचे मिलने वाले पानी का स्रोत बनता है।

17.2.2 जनसांख्यिकीय रूपरेखा

2001 की जनगणना के अनुमानों के अनुसार इस देश की कुल आबादी 310,764 है। इसमें से 159.232 पुरुष हैं और 151,532 स्त्रियां। आबादी की औसत विकास दर 3.01 प्रतिशत है। मोटे तौर पर जन्मदर "38.15 जन्म प्रति 100 की आबादी में" और मृत्यु दर "8.09 मृत्यु प्रति 100 की आबादी में" दर्शाते हैं कि इन दोनों दरों में बहुत बड़ा अंतर है जिसके कारण आबादी बहुत तेज़ी से बढ़ती है। कुल प्रवास शून्य है अर्थात कुल आबादी में किसी भी प्रकार के परिवर्तन में प्रवास का कोई हाथ नहीं है। तेज़ी से बढ़ती हुई इस आबादी के बावजूद जो कि एक गंभीर समस्या खड़ी कर रही है, मालदीव के पास नियंत्रण की कोई प्रभावी नीति नहीं है।

इस देश का औसत आबादी घनत्व 706 व्यक्ति प्रतिवर्ग कि.मी. है 1980 के दशक के मध्य में किए गए एक सरकारी सर्वेक्षण के अनुसार, बसे हुए 200 द्वीपों में से केवल 28 में 200 से भी कम लोग थे, 107 द्वीपों की आबादी 200 से 500 व्यक्ति, 8 द्वीपों की आबादी 500 से 1000 व्यक्ति और 25 द्वीपों की आबादी 1000 से अधिक थी। देश की आबादी का लगभग 25 प्रतिशत भाग राजधानी में रहता है अर्थात माले में सबसे अधिक लोग रहते हैं। मालदीव में शायद ही कोई अन्य शहर हो। बसे हुए द्वीपों की अधिकतर बस्तियां ही गांव हैं। द्वीपों पर आबादी की विरल प्रकृति आर्थिक रूप से व्यवहार्य अवसंरचनात्मक सुविधाएँ विकसित करने में बहुत मुश्किलें पैदा करती है। इससे अंतर्द्वीपीय पारस्परिक गतिविधियां सीमित हो जाती है जिससे देश का सर्वांगीण विकास बुरी तरह प्रभावित होता है।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

1) मालदीव की एक चौथाई आबादी .... में रहती है।

2) मालदीव की जलवायु .... से निर्धारित होती है।

3) मालदीव द्वीपसमूह .... के मूंगे के द्वीपों से बना है।

4) पेय जल के मुख्य स्रोत .... और .... हैं।

17.3 समाज

पुरातत्वीय दृष्टि से मालदीव का इतिहास शुरुआती 2000 ई.पू. आंका गया है। उस समय मालदीव के संबंध प्राचीन मिस्र, मेसोपोटेमिया तथा सिंधु घाटी सभ्यताओं से थे। जहाज़रानी विशेषज्ञ और जाने-माने अन्वेषक हेअरडाह्ल का मानना था कि सूर्य उपासक प्राचीन समुद्री यात्री जिन्हें रेडिन कहा जाता था, मालदीव में सबसे पहले बसे थे। आज भी, मालदीव में मस्जिदों का मुंह सूर्य की ओर होता है न कि मक्का की ओर। छठी शताब्दी के बाद से दक्षिण भारतीयों तथा श्रीलंकावासियों के उपनिवेश के कारण थेरावड़ा बौद्ध धर्म लोगों का प्रमुख धर्म बन गया। कुछ लोगों का मानना है कि मालदीव नाम संस्कृत के शब्द ''मालद्वीप'' से लिया गया है जिसका अर्थ है द्वीपों की माला।

अपनी महत्वपूर्ण भौगोलिक स्थिति के कारण मालदीव महत्वपूर्ण समुद्री व्यापार मार्गों को फैला सका और कौड़ियों की बहुतायत के कारण, जो 16वीं शताब्दी तक पूरे एशिया और अफ्रीका में मुद्रा के रूप में इस्तेमाल की जाती थीं, 10वीं शताब्दी में मध्यपूर्व के व्यापारियों का ध्यान आकृष्ट कर सका। हिंद महासागर के व्यापार मार्गों पर अरब के समुद्री यात्रियों के एकाधिकार स्थापित करने से उनकी संस्कृति मालदीव समाज पर गहरा प्रभाव छोड़ने लगी। 1153 ईस्वी में बौद्ध राजा ने इस्लाम और मुस्लिम पदवी तथा नाम सुल्तान मुहम्मद अल दीदी अपना लिया। उसने 6 राजवंशो की श्रृंखला का प्रारंभ किया जिसमें 84 सुल्तान और सुल्तानाएं शामिल थीं। निर्वाचित सल्तनत बनने तक यानी 1932 तक पुरानी सल्तनतें चलती रही थीं।

16वीं तथा 17वीं शताब्दियों में यूरोपीय देशों के समुद्री ताक़त के रूप में उभरने पर समुद्री व्यापार मार्गों पर अरबों का आधिपत्य समाप्त हो गया। 1558 में मालदीव में पुर्तगालियों का शासन शुरू हुआ जिसे भारत के पश्चिमी तट पर स्थित गोवा से संचालित किया गया। इनका शासन अल्पकालिक था। पंद्रह वर्षों बाद मोहम्मद ठाकुरुफान नाम के एक स्थानीय गुरिल्ला नेता ने जनविद्रोह संगठित कर पुर्तगालियों को मालदीव से खदेड़ दिया। इस घटना को आज मालदीव के राष्ट्रीय दिवस के रूप में मनाया जाता है।

सोलहवीं शताब्दी के मध्य में जब श्रीलंका में पुर्तगालियों का स्थान डच लोगों ने लिया तब कुछ समय के लिए मालदीव भी डच लोगों के नियंत्रण में रहा। हालांकि डच लोगों ने मालदीव के सदियों पुराने इस्लामिक तरीके से संचालित आंतरिक मामलों पर किसी प्रकार का सीधा नियंत्रण नहीं रखा। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अंग्रेज़ों ने डच लोगों को श्रीलंका से निकाल बाहर किया और मालदीव को ब्रितानी संरक्षित राज्य के रूप में शामिल कर लिया। 1887 में अंग्रेज़ शासक तथा मालदीव के सुल्तान के बीच हुए समझौते के तहत मालदीव पर ग्रेट ब्रिटेन का आधिराज्य औपचारिक रूप से स्वीकारा गया और मालदीव पर उसके संरक्षण को मान्यता प्राप्त हुई। इस समझौते के तहत सुल्तान की मान्यता तथा नियुक्ति की ज़िम्मेदारी और साथ ही देश की रक्षा तथा विदेश नीति पर नियंत्रण ग्रेट ब्रिटेन के ज़िम्मे आ गया। औपनिवेशिक शासन से मालदीव के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाने की अपेक्षा की गई। ब्रितानी शासन के दौरान 1887 से 1965 तक मालदीव में सुल्तानों का राज चलता रहा। सुल्तानों का यह क्रम वंशानुगत था लेकिन 1932 में सल्तनत को निर्वाचित बनाने का प्रयास किया गया जिससे कि सुल्तानों की निर्बाध ताकत को सीमित किया जा सके। उसी दौरान पहली बार संविधान लागू किया गया, हालांकि सल्तनत को अगले 21 वर्षों तक बनाए रखा गया। 1953 तक मालदीव ब्रितानी संरक्षित राज्य रहा जिसके बाद सल्तनत बर्खास्त कर दी गई और मोहम्मद अमीन दीदी के अल्पकालिक राष्ट्रपतित्व में पहले गणतंत्र की घोषणा की गई। 1954 में सल्तनत दोबारा स्थापित की गई। 1956 में ब्रिटेन ने दक्षिण में स्थित अडडू प्रवालद्वीप में गन पर अपना युद्धकालीन विमान क्षेत्र पुनर्स्थापित करने की अनुमति प्राप्त की। ब्रिटेन के साथ हुए एक समझौते के तहत 26 जुलाई 1965 को मालदीव ने स्वतंत्रता प्राप्त की। हालांकि ब्रितानी सरकार ने गन और हिराडू द्वीपों में

उपलब्ध सुविधाओं का उपयोग करना जारी रखा। 1968 में हुए राष्ट्रीय जनमत-संग्रह में मालदीव ने सल्तनत समाप्त कर दी और राष्ट्रपति इब्राहिम नासिर के नेतत्व में गणतंत्र बन गया।

17.3.1 नृजाति और भाषा

मालदीव की आबादी पांच नृजाति समुदायों से बनी हैं। यह जातियां हैं- सिंहली, द्रविड़, अरबी, आस्ट्रेलियाई तथा अफ्रीकी। लंबे समय तक इस देश में विभिन्न समुदायों के प्रवसन के परिणामस्वरुप आबादी में विभिन्न समुदायों का मिश्रण देखने को मिलता है जो समुद्री व्यापार मार्गो के जरिए स्थानीय आधिपत्य में आए विभिन्न ऐतिहासिक परिवर्तनों की ओर भी इशारा करता है। क्लेरेंस मालोनी नाम के मानव-विज्ञानी के अनुसार दक्षिण भारत से आए द्रविड़ लोग मालदीव में सबसे पहले बसे थे। धीरे-धीरे इस समूह की जगह श्रीलंका से यहां आने वाले धिवेड़ी भाषी सिंहली लोगों ने ले ली। आज इन्हीं की भाषा मालदीव की राजभाषा है। सबसे अंत में अरबों के एक बड़े समुदाय ने 9वीं शताब्दी से मालदीव में बसना शुरु किया। मालदीव में रावारे और गिरावरु नाम से पहचाने जाने वाले अफ्रीकी मूल की आबादी का एक उपसमूह भी है हालांकि केवल 200 सदस्यों वाला यह उपसमूह बहुत तेज़ी से लुप्त हो रहा है। उपर्युक्त समुदायों के अलावा 19वीं शताब्दी से मालदीव में गया भारतीयों का व्यापारिक समुदाय भी मालदीव का एक विशिष्ट जातीय तथा धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय है।

मालदीव इस्लामिक राष्ट्र है जहां अधिकतर आबादी सुन्नी मुसलमानों की है। मालदीव की राष्ट्रभाषा मालदीवी धिवेडी है। यह भाषा इन्डो-ईरानी भाषा परिवार से है। यह सिंहली के प्राचीन रूप ''एलु'' (''श्रीलंका में बोली जानेवाली भाषा'') से निकली है। इस भाषा में अरबी, तमिल और हिंदी से कई शब्द लिए गए हैं। पारंपरिक लिपि को ''थाना'' कहा जाता है और यह दाएँ से बाएँ की ओर लिखी जाती है।

17.3.2 सामाजिक व्यवस्था

ऐतिहासिक दृष्टि से सामाजिक महत्व को देखते हुए मालदीव समाज मोटे तौर पर चार श्रेणियों में बांटा गया था। सामाजिक संरचना के इस क्रम में सबसे पहला स्थान सुल्तान और उसके वंशजों का था जिन्हें ''मन्निपुल'' कहा जाता था। सत्तारुढ सुल्तान की चौथी पीढ़ी के वंशजों और भूतपूर्व सुल्तान के रिश्तेदारों को ''दीदी'' की उपाधि प्रदान की जाती थी। सुल्तान और उसके वंशजों के बाद सामंतों का स्थान था जिन्हें ''किलेगेफनु'' और ''ताकुरुफनु'' कहा जाता था। इस श्रेणी में राज्य के अधिकारी और वह व्यक्ति शामिल होते थे जो सुल्तान को अपनी इन उपाधियों के बदले में उसके खज़ाने के लिए रक़म देते थे। तीसरी श्रेणी में अभिजात वर्ग आता था जिसे ''मनिकु'' कहा जाता था। यदि मनिकु को सुल्तान से कोई मानोपाधि मिलती थी तो उन्हें ''मनिकुफनु'' कहा जाता था। चौथी श्रेंणी में आते थे सामान्य जन जिन्हें ''कालो'' कहा जाता था। ''रा-वेरी'' कहलाए जाने वाले लोग ताड़ी निकालने का काम करते थे और वह जाति व्यवस्था में सबसे नीचे थे। ''किलेगेफनु'' और ''ताकुरुफनु'' श्रेंणियों को छोड़कर बाकी सभी श्रेणियां जन्मजात ही थीं। हालांकि मालदीव में जाति व्यवस्था इतनी सुदृढ़ नहीं थी लेकिन तब भी सगोत्रता तथा श्रेष्ठता की मूलभूत आर्थिक ज़रुरतों को पूरा करने के लिए अस्तित्व में थीं। सामाजिक व्यवहार प्रचलित रिवाजों से नियंत्रित किया जाता था और संबोधन करने, उठने-बैठने तथा खान-पान जैसी रोजमर्रा की बातों के लिए जातियों की सामाजिक श्रेणियों के बीच संबंध आचार-व्यवहार की एक सख्त पद्धति द्वारा निर्धारित किए जाते थे। इस्लाम ने आने के बाद काज़ी (न्यायाधीश) नायब तथा खातिब (द्वीप-न्यायाधीश) जैसे पद बनाए गए और असमान सामाजिक व्यवस्था को जारी रखा गया। हालांकि मालदीव में जाति व्यवस्था को और सुनिश्चित करने से रोकने के लिए इस्लाम ही उत्तरदायी था। उपर्युक्त जाति संरचना के अलावा गुलाम और बंधुआ मज़दूर भी हुआ करते थे। इन बंधुआ मजदुरों को ''फेमुसेरी'' कहा जाता था और जाति-व्यवस्था से बाहर इनकी एक अलग श्रेणी थी। विभिन्न श्रेणियों में इस वर्गीकरण के बावजूद मालदीव की सामाजिक व्यवस्था में सुल्तान को विभिन्न पदवियां बांटने के अधिकार की छूट थी। इस तरह सामान्य लोगों का स्तर

नीचा होते हुए भी वह शाही मेहरबानी के ज़रिये उच्च दर्जा प्राप्त कर सकते थे। बंधुआ मज़दूर भी अपने कर्ज़े चुकाने के बाद आज़ाद हो सकते थे और विभिन्न जाति-क्रमों में शामिल किए जा सकते थे।

आज के मालदीव समाज में आधुनिकता की प्रक्रिया धीरे-धीरे जाति व्यवस्था को तोड़ रही है। इससे समाज में अधिक समरूपता और समानता पैदा हो रही है। आज मालदीव में केवल दो विशिष्ट समुदाय ही हैं: अभिजात आबादी जो माले में रहती है तथा शेष आबादी जो बाहरी द्वीपों में रहती है।

माले सुल्तानों और कुलीन वर्ग का परंपरागत स्थान रहा है और अब भी यह राजनीतिक तथा आर्थिक ताकतों को नियंत्रित करने वाले अभिजात वर्ग का स्थान है। परंपरा से सुविधा प्राप्त विभिन्न शासकों के परिवार के सदस्य, सरकारी अधिकारी, व्यापारी, धार्मिक नेता, व्यावसायिक लोग तथा विद्वान यहां रहते हैं। माले अन्य द्वीपों से इस अर्थ में भी भिन्न है कि यहां रहने वाले करीब 40 प्रतिशत लोग प्रवासी हैं। माले से बाहर अन्य द्वीपीय समुदाय अधिकतर आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयां हैं जो चारों ओर फैले समुद्र से अपर्याप्त साधन ही जुटा पाती हैं। ऐसे कई उदाहरण हैं जहां द्वीपवासी विवाह के माध्यम से आपस में जुड़े हुए हैं और इनका एक छोटा तथा सघन समूह है जिसका मुख्य आर्थिक आधार मछली पकड़ना है। स्थानीय प्रभाव तथा नियंत्रण विभिन्न परिवारों के मुखियाओं के अलावा सरकार की ओर से नियुक्त खातिबों द्वारा होता है। प्रत्येक प्रवालद्वीप पर क्षेत्रीय नियंत्रण के लिए 'अटोलू वेरिन' या प्रवालद्वीप मुखिया तथा ''गाजी'' या सामुदायिक धार्मिक नेता होते हैं। नौका मालिकों का भी स्थानीय अर्थव्यवस्था पर वर्चस्व रहता है और कई मामलों में तो माले की सत्ता व्यवस्था में वह अनौपचारिक लेकिन प्रभावी संपर्क भी जुटाते है।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

1) मालदीव के कुछ जातीय समुदायों के नाम बताइए।

2) सामान्य जन को ....कहते हैं।

3) मालदीव इस्लामी राष्ट्र कैसे और कब बना ?

....

....

....

....

17.4 राजनीति

17.4.1 संवैधानिक विकास

मालदीव का वर्तमान संविधान अपना निश्चित स्वरूप धारण करने से पहले विकास के कई दौरों से गुज़र चुका है। नीचे बताए गए विभिन्न घटनाक्रमों ने इसे स्वरूप और आकार दिया है।

बहुत पहले राजनीतिक ताक़त के स्रोत तथा संचालन के नियम इस्लामी कानून और प्रचलित रीति-रिवाज़ों तथा परंपराओं के अनुसार स्वीकृत थे। 1930 के दशक की शुरुआत सुल्तान मोहम्मद

शमसुद-दीन-इसकंदर 3 का उत्तराधिकारी न होने की वजह से राजनीति में उत्पन्न हलचल ने राजनीतिक सत्ता के परिपालन संबंधी नियमों और कानून को परिभाषित करने वाले एक लिखित संविधान की आवश्यकता पैदा की। मालदीव की राजनीति और समाज में अपना प्रभावी स्थान सुरक्षित रखने के लिए सुल्तान ने मालदीव में एक लिखित संविधान लाने के लिए ब्रितानी सरकार से मदद मांगी। नतीज़तन 1932 का संविधान सामने आया। मोटे तौर पर श्रीलंका के डोनोहमोर संविधान पर आधारित 1932 के संविधान में 47 निर्वाचित सदस्यों वाली जनसभा का प्रावधान था। केवल साक्षर पुरुषों को ही मतदान का अधिकार था। इसमें 28 सदस्यों वाली विधायी परिषद का भी प्रावधान था जिसमें 7 सदस्य सुल्तान द्वारा नामित होते थे और बाकी जनता द्वारा निर्वाचित होते थे। प्रधानमंत्री परिषद का अध्यक्ष होता था और विधायी परिषद की सलाह से सुल्तान द्वारा नियुक्त किया जाता था। अन्य मंत्री सुल्तान की सहमति से प्रधानमंत्री द्वारा चुने जाते थे। विधायी परिषद को जनसभा में अविश्वास-प्रस्ताव पास कर मंत्रिपरिषद को बर्खास्त करने का अधिकार था।

1932 का संविधान सफल नहीं रहा। उसने सुल्तान और उसकी मंडली के अधिकारों और सुविधाओं को वैधता प्रदान की। संविधान के अनुसार मंत्रियों को किसी तरह का व्यापार या कारोबार करने की मनाही थी लेकिन मंत्री निजी व्यापार करना जारी रखे हुए थे। उन्होंने सरकार से सामान खरीदने के कई सुविधाजनक रास्ते बना लिए थे इसलिए संविधान के ऐसे किसी प्रावधान का उन्होंने बड़ी सख्ती से विरोध किया जिससे उन पर रोक लगती। इस तरह मालदीव की सरकार एक राजशाही बनी रही जिसमें सत्ता कुछ लोगों तक ही सीमित थी।

दूसरे विश्व युद्ध के दौरान यह द्वीप अपनी सामरिक अवस्थिति के कारण मित्र देशों के लिए महत्वपूर्ण साबित हुआ। मालदीव के सुल्तान पर अंग्रेजों ने दबाव डाला कि वह संविधान में संशोधन करे ताकि वह इस द्वीप पर अपना अड्डा बना सकें। बाद में 1952 में सुल्तान की मृत्यु के बाद सल्तनत को समाप्त कर मालदीव को गणतंत्र घोषित करने के लिए एक नया संविधान लागू किया गया। ऐसा संवैधानिक ढांचे को उदार बनाने के लिए किया गया। पहले राष्ट्रपति के तौर पर अमीन दीदी ने कई संवैधानिक सुधार किए। उन्होंने 18 साल से ऊपर की आयु के सभी नागरिकों को सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के तहत मतदान का अधिकार दिलाया। संविधान में 80 सदस्यों वाली निर्वाचित सीनेट में 13 महिलाओं सहित 46 सदस्यों वाले निचले सदन का प्रावधान किया गया। यह बहुत कम समय के लिए चला। उन्होंने शिक्षा व्यवस्था में कई सुधार किए और महिलाओं के अधिकारों को प्रोत्साहित किया। उनका शासन काल अल्पकालिक था। 1953 में मुसलमान कट्टरपंथियों की मदद से उप राष्ट्रपति इब्राहिम मोहम्मद दीदी ने उनसे सत्ता छीन ली। इसके बाद 1954 में सल्तनत व्यवस्था को दोबारा लागू किया गया।

सल्तनत का पुनर्स्थापन होते ही एक नया संविधान 1954 में जारी किया गया। संवैधानिक इतिहास और राजनीतिक उदारीकरण की दिशा में यह संविधान मील के पत्थर की तरह देखा गया। 48 सदस्यों वाली (मजलिस) विधायिका की स्थापना हुई। अभिजात वर्ग के साथ-साथ इसने सुल्तान को निर्वाचित किया। इसके अलावा मजलिस को सुल्तान के वीटो को रद्द करने का अधिकार भी था। मजलिस द्वारा अपनायी गई एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्यवाही मालदीव में "अनुचित" जबरन श्रम व्यवस्था को समाप्त करना थी। यह संविधान मार्च 1968 तक लागू रहा तभी एक राष्ट्रीय जनमत ने सल्तनत को समाप्त किया और गणतंत्र की स्थापना हुई।

नया संविधान 1968 में लागू हुआ और मालदीव में प्रशासन का वर्तमान संरचनात्मक ढांचा इसी पर आधारित है। इस संविधान को 1970, 1972 और 1975 में बाकायदा संशोधित किया गया। इस संविधान ने एक अत्यंत राष्ट्रपति केंद्रित सरकार का आधार बनाया। इसका दार्शनिक ढांचा इस्लाम से लिया गया है। लोगों के बुनियादी अधिकारों संबंधी संवैधानिक धाराएँ विस्तार से लिखी गयी हैं। इनमें अभिव्यक्ति की आज़ादी और सभाएँ करने का अधिकार शरीयत के अनुसार ही लागू हो सकते हैं।

1968 के संविधान का अनुच्छेद 23 राष्ट्रपति के चुनाव की प्रक्रिया बताता है। राष्ट्रपति का चुनाव केवल जनता के मतों से नहीं होता। उसे पहले मजलिस नामित करती है। उसके बाद उसका चुनाव जनमत संग्रह के अनुमोदन पर ही निर्धारित होता है जिसमें पूरा राष्ट्र शामिल होता है। यदि रायशुमारी का नतीजा उसके पक्ष में नहीं होता तो उसे गणतंत्र का राष्ट्रपति नहीं चुना जाता। इस स्थिति में मजलिस उम्मीदवार से लिखित स्वीकृति पाने पर सीमित मतदान से कोई अन्य उम्मीदवार चुनती है। फिर राष्ट्रपति के चुनाव की वही प्रक्रिया अपनाई जाती है। चयनित राष्ट्रपति का कार्यकाल पांच वर्ष का होता है जिसे दोहराया जा सकता है।

संविधान के प्रावधानों के अनुसार राष्ट्रपति को कई अधिकार प्राप्त हैं। राष्ट्रपति के पास सभी कार्यकारी अधिकार होते हैं। कोई कानून या विधान केवल राष्ट्रपति की स्वीकृति से ही अधिनियमित किए जाते हैं। राष्ट्रपति के अधिकारों में अपराधियों को क्षमादान देना एवं विभिन्न उपाधियां तथा पुरस्कार प्रदान करना भी शामिल है। आपातकाल की स्थिति में राष्ट्रपति अंतरिम आदेश जारी कर सकता है जो संविधान की अवज्ञा नहीं है। वह मंत्रीमंडल के सदस्यों को नामित करता है जिसमें सभी लोगों का विधायिका का सदस्य होना आवश्यक नहीं है। राष्ट्रपति को विधायिका तथा न्यायपालिका के कुछ सदस्यों को नामित करने का भी अधिकार होता है।

विधायिका मजलिस एक सदन वाली होती है। इसमें पांच वर्ष तक के लिए चुने गए 48 सदस्य होते हैं। यह सदस्य वयस्क मताधिकार वाले आम चुनाव से चुने जाते हैं और कुछ को राष्ट्रपति नामित करते हैं। 48 में से 8 सदस्यों को राष्ट्रपति चुनते हैं और बाकी सभी लोकमत के आधार पर चुने जाते हैं जिनमें माले से दो तथा 19 प्रशासनिक द्वीपों से प्रत्येक में से दो सदस्य होते हैं। मजलिस को संवैधानिक संशोधनों को छोड़कर कानून लागू करने का अधिकार होता है। मजलिस बजट भी अनुमोदित करती है। यह किसी भी मंत्री के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव भी पारित कर सकती है। यदि प्रस्ताव पारित हो जाता है तो विचाराधीन मंत्री को इस्तीफा देना पडता है। राष्ट्रपति और उसके मंत्रियों को मजलिस की कार्यवाही में शामिल होने का अधिकार प्राप्त है। मंत्री मताधिकार का प्रयोग तभी कर सकते हैं जब वह मजलिस के सदस्य हों।

संवैधानिक संशोधनों के अधिनियम के लिए नागरिकों की एक विशेष मजलिस गठित करने के लिए भी संविधान में प्रावधान है। मंत्रीमंडल और विधायी सदस्यों के साथ-साथ नागरिकों की इस मजलिस में 48 अतिरिक्त सदस्य होते है। इन 48 सदस्यों में से 4 सदस्य विभिन्न द्वीपों से चुने जाते हैं और 8 को राष्ट्रपति नामित करते हैं। मालदीव के राज्यतंत्र में राजनीतिक दलों का न होना उल्लेखनीय बात है। संविधान में राजनीतिक दलों के गठन की मनाही नहीं है, लेकिन समाज में सामाजिक-सांस्कृतिक एकरूपता व्याप्त होने के कारण राजनीतिक दलों के गठन की बात ही नहीं उठ पाती। मजलिस के चुनाव गैर-पक्षपाती तरीके से होते हैं। उम्मीदवार स्वतंत्र रूप से अपनी योग्यताओं के आधार पर चुनाव लड़ते हैं।

न्यायिक अधिकारों के लिए संविधान में केवल दो ही अनुच्छेद हैं - अनुच्छेद 85 और अनुच्छेद 86। इन अनुच्छेदों के अनुसार "न्याय तथा शरीयत का संचालन गणतंत्र के राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त समिति करेगी और संविधान का विरोध करने वाला कोई भी कानून लागू नहीं किया जाएगा।" मालदीव का न्यायतंत्र तीन सतही है। न्यायिक तंत्र के अनुक्रम में सबसे ऊपर मुख्य न्यायाधीश, फिर प्रवाली स्तर पर काजी, और द्वीपीय स्तर पर मुदीम होते हैं।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

1) मालदीव को स्वतंत्रता कब प्राप्त हुई ?

2) मालदीव की विधायिका का क्या नाम है ?

3) राष्ट्रपति का चुनाव किस प्रकार होता है ?

....

....

....

17.4.2 1940 और 1950 के दशकों की राजनीतिक घटनाएँ

अपने सामरिक महत्व के कारण दूसरे विश्व युद्ध के दौरान मालदीव मित्र देशों की सेनाओं के लिए बहुत महत्वपूर्ण साबित हुआ। 1942 में अंग्रेज़ों ने अडडू प्रवालद्वीप के गन द्वीप पर "पोर्ट टी" नाम का एक गुप्त अड्डा बनाया। इस घटना ने और लोगों में फैले असंतोष ने सुल्तान को 1943 में गद्दी छोड़ने को मजबूर कर दिया। नतीजतन नए सुल्तान ने मालदीव में शासन की बागडोर संभाली। 1948 में श्रीलंका को अंग्रेज़ों से मिली आज़ादी का अनुकरण करते हुए सुल्तान ने अंग्रेज़ सरकार के साथ एक समझौते पर दस्तखत किए जिसके अनुसार मालदीव ब्रिटेन के संरक्षण में आ गया। लेकिन ब्रिटेन ने 1948 का यह समझौता संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र के 102वें खंड में दर्ज नहीं किया। ब्रिटेन की अजब दलील यह थी कि संयुक्त राष्ट्र में केवल वही समझौते दर्ज हो सकते हैं जो "अंतरराष्ट्रीय व्यक्तियों" के बीच किए गए हों और "मालदीव का सुल्तान एक अंतरराष्ट्रीय व्यक्ति" नहीं है। असल में, ब्रिटेन मालदीव का इस्तेमाल अपनी सामरिक तथा रक्षा ज़रूरतों के लिए करना चाहता था।

1952 में सुल्तान की मृत्यु और मालदीव के गणतंत्र घोषित होने के बाद अमीन दीदी को मालदीव का पहला राष्ट्रपति चुना गया। उसने सभी अधिकारों को अपने नियंत्रण में कर लिया वह न केवल राष्ट्रपति था बल्कि मजलिस "विधायिका" का नेता होने के साथ-साथ मुख्यमंत्री, गृह और विदेश मामलों का मंत्री, वाणिज्य तथा नागरिक सुरक्षा एवं वित्त और शिक्षा मंत्री भी था। 1953 में उपराष्ट्रपति ने उसका तख्ता उलट दिया और सल्तनत दोबारा कायम की गई जिसमें मोहम्मद फरीद दीदी सुल्तान थे और इब्राहिम अली दीदी प्रधानमंत्री थे।

1950 के दशक से मालदीव का राजनीतिक इतिहास बहुत हद तक द्वीप में मौजूद ब्रितानी सेना द्वारा प्रभावित हुआ। 1956 में ब्रिटेन ने दक्षिणी अडडू प्रवालद्वीप में गन पर अपना युद्धकालीन विमान-क्षेत्र पुनर्स्थापित करने की अनुमति प्राप्त की। दोनों सरकारों के बीच हुए समझौते के अनुसार ब्रिटेन को गन पर 2000 पाउंड भुगतान प्रतिवर्ष की दर से सौ वर्षों का पट्टा प्रदान किया गया। "मुफ्त भेंट" के रूप में उसे हिटाडू द्वीप पर रेडियो केंद्र स्थापित करने के लिए कोई 44 हेक्टेयर भूमि भी अनुदान के रूप में दी गई। मजलिस ने समझौते का समर्थन करना इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि वह मालदीव की स्वतंत्रता और प्रभुत्व का उल्लंघन करता है। इससे उत्पन्न राजनीतिक संकट ने प्रधानमंत्री अली दीदी को इस्तीफा देने को मजबूर किया। 1957 में बने नए प्रधानमंत्री इब्राहिम नासिर ने समझौते के पुनरीक्षण की मांग की जिसमें पट्टे की अवधि कम करने, वार्षिक भुगतान बढ़ाने और गन द्वीप का इस्तेमाल केवल मालदीव के नागरिकों की सुरक्षा के लिए करने की बात रखी। नासिर सरकार ने भी 1887 की संधि में संशोधन की मांग की जिसमें मालदीव को ब्रिटेन के हस्तक्षेप के बिना अपने आर्थिक तथा सांस्कृतिक संबंधों को संचालित करने का अधिकार मिल सके। नासिर सरकार की शर्तों को स्वीकार करते हुए ब्रितानी सरकार ने समझौते की समाप्ति पर तुरंत 10,000 पांउड का भुगतान करने, पट्टे की अवधि को 100 से 50 वर्ष करने तथा पांच वर्षों तक आर्थिक मदद देने का प्रस्ताव रखा।

ब्रितानी प्रशासन द्वारा गन द्वीप का इस्तेमाल वायुसेना क्षेत्र के रूप में करने और गन द्वीप के लोगों को सुविधाएँ प्रदान करने से मालदीव और ब्रिटेन के बीच दरार पड़ गई। मालदीव सरकार का आरोप था कि ब्रिटेन अडडू प्रवालद्वीप पर पृथकतावाद को बढ़ावा दे रहा है। अडडू प्रवालद्वीपवासियों को विभिन्न ब्रितानी परियोजनाओं से मिल रही आर्थिक समृद्धि ने भी उन्हें माले से दूर करने में

मदद की। इसलिए, लोगों को ब्रितानी परियोजनाओं में काम करने से रोकने के मालदीव सरकार के निर्णय ने दक्षिणी द्वीपवासियों को 1959 में पृथकतावादी आंदोलन शुरू करने का रास्ता दिखाया। पृथकवादी लोगों के इस समूह ने मालदीव सरकार से अपने रिश्ते तोड़ दिये और राष्ट्रपति के रूप में अब्दुल्ला अफ्रीक दीदी को लेकर एक स्वतंत्र राष्ट्र बना लिया। संयुक्त सुवादीवी गणतंत्र नाम के अल्प-कालिक (1959-62) राष्ट्र में सुवादीव,(तब से नया नाम उत्तरी हुवाडु और दक्षिणी हुवाडु) अडडू और फुआ मुलाकू द्वीपों में मिलाकर 20,000 की आबादी थी।

17.4.3 1960 का समझौता

हिंद महासागर सामरिक क्षेत्र में ब्रिटेन अपना आधार बनाए रखना चाहता था और गन द्वीप पर से अपना अधिकार त्याग देने की उसे कोई जल्दी नहीं थी। दूसरी ओर, दक्षिणी प्रवालद्वीपों में उठे विद्रोह ने मालदीव सरकार की स्थिति को कमज़ोर बना दिया था। इसलिए उसने पड़ोसी देशों से राजनयिक समर्थन जुटाने की कोशिश करनी शुरू की। काफी संधि वार्ताओं के बाद अंततः मालदीव और ब्रिटेन के बीच चल रहा संघर्ष शांतिपूर्वक सुलझ गया। 1960 में दोनों सरकारों के बीच एक समझौते पर दस्तखत हुए जिसके अनुसार अडडू प्रवालद्वीप पर ब्रिटेन का अधिकार 100 वर्षो से घटकर 30 वर्ष हो गया। माले सरकार को तुरंत एक लाख पाउंड का भुगतान किया गया और विकासात्मक कार्यो के लिए पांच वर्षों तक साढ़े सात लाख पाउंड के भुगतान करने का वायदा किया गया।

दक्षिणी प्रवालद्वीपों में समानांतर सरकार की समस्या का हल हालांकि इस समझौते से नहीं निकल सका। तीन वर्ष बाद 1963 में समझौते की वह स्थिति बन सकी जब माले प्रशासन ने अपने सभी विरोधियों को माफ कर दिया। इस घटना से मालदीव में ब्रिटिश विरोधी प्रदर्शनकारी भड़क उठे। इस प्रकार मालदीव के स्वतंत्रता संघर्ष में गन द्वीपों ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। सैन्य-क्षेत्र की स्थापना और पृथकतावादियों में ब्रिटेन की तथाकथित मदद को मालदीव के लोगों ने अपने प्रभुत्व के लिए एक चुनौती के रूप में लिया। उन्होंने पूर्ण स्वतंत्रता की मांग की और ब्रिटेन के खिलाफ प्रदर्शन किए। अंततः 26 जुलाई 1965 को ब्रिटेन के साथ हुए एक समझौते के तहत मालदीव ने स्वतंत्रता प्राप्त की। लेकिन ब्रितानी सरकार ने गन और हिटाडू द्वीपों की सुविधाओं का उपयोग करना जारी रखा। नवम्बर 1968 में इब्राहिम नासिर के राष्ट्रपतित्व में द्वितीय गणतंत्र की घोषणा की गई।

17.4.4 राष्ट्रपति नासिर के समय की राजनीतिक व्यवस्था

संविधान के तहत राष्ट्रपति को इतने अधिकार मिले हैं कि यदि वह चाहे तो वह एक पूर्ण केंद्रित सत्ता व्यवस्था बना सकता है। राष्ट्रपति इब्राहिम नासिर ने अपने पद को किसी भी तरह की चुनौती से मुक्त रखने के लिए ठीक यही किया। प्रधानमंत्री अहमद जकी की बढ़ती लोकप्रियता से अपने पद के लिए खतरा भांपते हुए 1975 में राष्ट्रपति नासिर ने आपातकाल की घोषणा की और प्रधानमंत्री को बर्खास्त कर दिया। जब अहमद जकी दोबारा चुने गए तो राष्ट्रपति ने उन्हें फिर हटा दिया। अपनी स्थिति को और मजबूत करने के लिए राष्ट्रपति ने विशिष्ट नागरिकों की मजलिस आयोजित की और कुछ संवैधानिक संशोधन सामने रखे। प्रधानमंत्री का पद समाप्त कर दिया गया और उसकी जगह कार्यकारी अधिकार प्राप्त चार उप प्रधानमंत्री लाए गए। अन्य द्वीपों के साथ माले के प्रतिनिधित्व को बराबरी पर लाते हुए सदस्यों की संख्या 54 से घटाकर 48 कर दी गई। चयनित प्रवाल समितियां रद्द कर दी गईं और उनकी जगह प्रवाल प्रमुखों ने ली जो राष्ट्रपति के तहत गृह विभाग से नामजद थे। कई मंत्रालय जैसे विदेश, वित्त, संचार, सूचना और प्रसारण, मत्स्य तथा शिक्षा समाप्त कर राष्ट्रपति कार्यालय के तहत लाए गए।

मजलिस की स्थिति काफी कमज़ोर रही क्योंकि राष्ट्रपति के तहत केंद्रित सभी अधिकारों पर नियंत्रण रख पाने में वह नाकामयाब रही। राजनीतिक विरोधियों के असहमत स्वरों को दबाने के एक साधन के रूप में इसका इस्तेमाल किया गया था। राष्ट्रपति नासिर ने अपने प्रतिद्वंद्वियों को

राजनीतिक अपराधी या विरोधी घोषित किया और उन्हें निर्वासित कर दूर विलिंग्ली द्वीपों में भेज दिया। वर्तमान राष्ट्रपति अब्दुल गयूम भी कुछ समय के लिए निर्वासित रहे क्योंकि उन्होंने भी नासिर सरकार के खिलाफ आवाज उठाई थी।

17.4.5 मामून अब्दुल गयूम का शासन

1978 में मामून अब्दुल गयूम मालदीव के राष्ट्रपति बने और उन्होंने नागरिक अधिकारों को पुन:स्थापित करने तथा संतुलित क्षेत्रीय विकास की ज़िम्मेदारी लेते हुए देश को निष्पक्षता तथा अधिक उदारवादी तरीके से चलाने की शपथ ली। उनके नेतृत्व की इस नई उदारवादी शैली से विधायिका अधिक सक्रिय हुई लेकिन राष्ट्र के स्वतंत्र और शक्तिशाली अंग के रूप में नहीं। मुख्यत: इसका कारण विधायिका के सदस्यों का सरकार के विभिन्न पदों पर आसीन होना था। 1980 में संविधान में संरचनात्मक सुधार लाने के लिए विशिष्ट नागरिकों की मजलिस आयोजित की गई। 1981 में काफी विचार-विमर्श के बाद राष्ट्रपति ने नये संविधान के एक "प्रारूप" का प्रस्ताव रखा। उन्होंने घोषणा की कि नया संविधान प्रशासन का तरीका, राष्ट्र की संस्थाओं की स्थिति, नागरिकों के अधिकार तथा सरकार और नागरिकों के संबंधों को स्पष्ट करने वाले संविधान के लिए आवश्यक बारीकियों सहित होगा। अभी तक यह नया संविधान निश्चित रूप नहीं ले पाया है।

संवैधानिक सुधारों को लागू करने और मालदीव के राज्यतंत्र को अधिक लोकतांत्रिक तथा धर्मनिरपेक्ष बनाने के अलावा राष्ट्रपति गयूम ने मालदीव समाज के सर्वांगीण विकास के लिए प्रयास किए। उन्होंने देश के तीव्र आर्थिक विकास, दूरस्थ क्षेत्रों को राष्ट्र की मुख्य धारा में शामिल करना तथा महिलाओं के उत्थान संबंधी सुधारों को लागू करने के लिए कदम उठाया। दुर्भाग्यवश राष्ट्रपति द्वारा शुरू किए गए यह सुधार देश के विभिन्न क्षेत्रों का संतुलित विकास करने में असफल रहे। परिणामस्वरूप, कम विकसित प्रवालद्वीपों, विशेषकर दक्षिणी द्वीपों की आबादी असंतुष्ट रही और इस आर्थिक विषमता के विरोध में आवाज उठाती रही।

गयूम को 1988 में कुछ स्वार्थी तत्वों द्वारा अपनी सरकार के खिलाफ चलाए गए असफल तख्ता पलट का सामना करना पड़ा। इसे केवल भारत सरकार की मदद से ही दबाया जा सकता था। बाद में 1990 के दशक में राष्ट्रपति द्वारा चलाए गए आमूल सुधारों का इस्लामी रुढ़िवादियों ने विरोध किया। वह परंपरागत जीवन जीने का तरीका थोपना चाहते थे। इसके अलावा राजनीति में सक्रिय कई नेता तथा पत्रिकाएँ जैसे सोंगु (शंख) भी गयूम सरकार में कथित भ्रष्टाचार तथा भाई-भतीजावाद के खिलाफ विरोध प्रकट कर रहे थे। बढ़ते हुए मतभेदों के बावजूद राष्ट्रपति गयूम ने अपनी ताक़त समेटनी शुरू की और बड़ी प्रबलता से अपने राजनीतिक विरोधियों के खिलाफ खड़े रहे। 1980, 1983 और 1988 में विद्रोह के प्रयासों के बावजूद गयूम की लोकप्रियता मजबूत बनी रही। किसी वैकल्पिक नेतृत्व के अभाव में अब्दुल गयूम बाद में सभी चुनाव जीतते हुए मालदीव के राष्ट्रपति बने हुए हैं।

17.5 अर्थव्यवस्था और वित्तीय नीति

मालदीव की अर्थव्यवस्था आधुनिक तथा परंपरागत क्षेत्रों, दोनों पर आधारित है। पर्यटन तथा मछली पकड़ना दो सबसे अधिक महत्वपूर्ण उद्योग है। इसके अलावा, कृषि, नौ परिवहन और अन्य पारंपरिक उद्योग भी देश की अर्थ व्यवस्था में पर्याप्त योगदान देते हैं।

उष्ण कटिबंधी द्वीप और आसपास की समुद्री चट्टानें देश को प्राकृतिक सुरम्य सौंदर्य से समृद्ध करती हैं जिन्हें 1970 के दशक से पर्यटन के लिए विकसित तथा इस्तेमाल किया जा रहा है। आज पर्यटन मालदीव के लिए सबसे निर्णायक उद्योग बन कर उभरा है जो देश के कुल सकल घरेलू

उत्पाद के 30 प्रतिशत से अधिक है और 80 प्रतिशत से अधिक विदेशी मुद्रा की आय जुटाता है। पर्यटन के विस्तार के साथ सकल घरेलू उत्पाद लगभग प्रति व्यक्ति आय लगातार बढ़ी है जो अब 2002 में प्रति व्यक्ति 2200 अमरीकी डालर हो गई है।

मत्स्य उद्योग विदेशी मुद्रा अर्जित करने का दूसरा बड़ा स्रोत है। मत्स्य उद्योग में श्रमिक वर्ग का लगभग 20 प्रतिशत हिस्सा काम करता है और सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 10 प्रतिशत जुटाता है। मछली पकड़ने के लिए जाल का प्रयोग ग़ैर कानूनी है इसलिए उसे कांटे से पकड़ा जाता है। मछली पकड़ने के बेड़े में चपटे तले वाली कोई 1,400 छोटी नौकाएँ हैं जिन्हें ''धोनी'' कहते है। मत्स्य उत्पाद में मुख्यत: स्किपजैक टयूना मछलियां ही शामिल होती है। उत्पाद का लगभग 50 प्रतिशत श्रीलंका, जर्मनी, थाइलैंड, ब्रिटेन, जापान तथा सिंगापुर जैसे देशों को निर्यात किया जाता है। सूखी, डिब्बा बंद, जमी हुई या ताज़ी मछलियां निर्यात की जाती है।

अन्य उद्योग सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 7 प्रतिशत जुटाते हैं। पारंपरिक उद्योगों जैसे नौका निर्माण, चटाई बुनना, रस्सी बंटना, लोहारगिरी, हस्तशिल्प तथा अन्य कुटीर उद्योगों में कुल श्रमिक शक्ति के एक चौथाई हिस्से की आवश्यकता पड़ती है। आधुनिक उद्योगों में मछली को डिब्बों में बंद करना, वस्त्र उत्पादन, पॉली विनायल क्लोराइड पाइप बनाना, फाइवर ग्लास की नौकाएँ बनाना, सफाई में प्रयुक्त होने वाले द्रव्य, साबुन, फर्नीचर तथा खाद्य एवं बोतलबंदी संयत्र बनाना शामिल है।

अनुपजाऊ मृदा तथा अपर्याप्त कृषि योग्य भूमि की वजह से कृषि केवल सीमित मात्रा में कुछ ही फसलों की पैदावार तक सीमित है, जैसे नारियल, केला, ब्रेडफ्रूट, पपीता, आम, अरबी, पान, मिर्च, शकरकंद तथा प्याज़। कृषि से सकल घरेलू उत्पाद का 6 प्रतिशत प्राप्त होता है।

वित्तीय नीति

सामाजिक आर्थिक दृष्टि से मालदीव को संयुक्त राष्ट्र और अन्य विकास एजेंसियों ने उसके निम्न सकल राष्ट्रीय उत्पाद दर तथा रहन-सहन के स्तर को देखते हुए विश्व के सबसे कम विकसित देशों की श्रेणी में रखा है। स्वतंत्रता मिलने के बाद के शुरुआती वर्षो मे मालदीव की अर्थव्यवस्था काफी कमज़ोर रही जिसमें बहुत धीमी गति से आर्थिक विकास हुआ। उसके बाद, 1970 के बाद से सरकार ने अर्थव्यवस्था में सुधार लाने के लिए नियोजित प्रयास करने शुरू किए। अर्थव्यवस्था के विकास के लिए नौ परिवहन जैसे नए क्षेत्रों में कुछ मापदंड तय किए गए। मत्स्य उद्योग के आधुनिकीकरण के लिए नए तकनीकी तरीके अपनाये गए। इन सबके बावजूद छोटे घरेलू बाजार, कुशल तथा कम कुशल मानव शक्ति की कमी, कच्चे माल की अनुपलब्धता, अपर्याप्त आधारभूत संरचना और बहुत ही ज्यादा क्षेत्रीय असंतुलन जैसे कई कारण थे जिनकी वजह से औद्योगिक तथा वित्तीय विकास तेज़ी से नहीं हो सका। अर्थव्यवस्था की बढ़ती हुई मांगों को पूरा करने के लिए उद्योगों का विकास बहुत आवश्यक है। 1989 में मालदीव सरकार ने एक आर्थिक सुधार कार्यक्रम शुरू किया। इसमें आयात कोटे में वृद्धि हुई तथा निजी क्षेत्रों के लिए कुछ निर्यात शुरू किए गए। इस कार्यक्रम के तहत अधिक विदेशी निवेश के लिए नियमों को उदार बनाया गया। यह अपेक्षा की जाती है कि यातायात, संचार तथा अन्य आधारभूत सुविधाओं के विकास के साथ देश का आर्थिक आधार और मज़बूत बनेगा। इन वर्षो में मालदीव में संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम, एशियाई विकास बैंक और विश्व बैंक जैसी बहु आयामी विकास एजेंसियों से आर्थिक मदद प्राप्त हुई है। जापान, भारत, आस्ट्रेलिया, यूरोपियन तथा अरब देशों (इस्लामी विकास बैंक तथा कुवैती निधि सहित) जैसे विभिन्न देशों ने भी मालदीव के विकास में योगदान दिया है। मालदीव विश्व व्यापार संगठन तथा स्माल आइलैंड डेवलेपिंग स्टेट्स का सदस्य है। आज मालदीव का सकल घरेलू उत्पाद 435 मिलियन अमरीकी डालर का है और यह 7.6 प्रतिशत की प्रभावी दर से बढ़ रहा है।

17.6 विदेश नीति

मालदीव की विदेश नीति मुख्यतः इसकी सामरिक तथा भौगोलिक स्थिति से तथा इसके सीमित संसाधनों से निर्देशित होती है। बहुत पहले मालदीव के श्रीलंका और भारत के पश्चिमी तट पर बसे मलबारी या मापिला लोगों से घनिष्ठ सांस्कृतिक तथा आर्थिक संबंध थे। मध्य पूर्व के "मूर" अफ्रीकी तथा अरब देश के लोगों से भी मालदीव ने संबंध विकसित किए। इन निकट सांस्कृतिक तथा आर्थिक संबंधों ने मालदीव के समाज और संस्कृति पर गहरी छाप छोड़ी जिसे इसके इस्लामीकरण से जाना जा सकता है। हालांकि मालदीव ने बाहरी देशों से कभी भी राजनीतिक संबंध नहीं बनाए। जब यह ब्रितानी संरक्षित क्षेत्र घोषित हुआ तब विश्व के अन्य देशों के साथ मालदीव के संबंध कम थे या बिल्कुल भी नहीं थे। इसके विदेश संबंध केवल पड़ोसी दक्षिण एशियाई देशों तक ही सीमित थे। स्वतंत्र होने के बाद विकास की अनिवार्यता ने मालदीव को अपने नजदीकी देशों से परे भी सोचने को प्रेरित किया। तब यह संयुक्त राष्ट्र तथा इसकी कोलंबो योजना, संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम, विश्व स्वास्थ्य संगठन, एशियाई विकास बैंक जैसी एजेंसियों का सदस्य बना। मालदीव ने उन दाता देशों से भी संबंध स्थापित किए जो इसकी विकासात्मक गतिविधियों में आर्थिक मदद देते हैं।

इस प्रकार मालदीव ने अपने दक्षिण एशियाई पड़ोसी देशों की गुट-निरपेक्षता के सिद्धांतों के प्रति वचनबद्धता और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व जैसी नीतियों का अनुसरण किया। 1989 में संयुक्त राष्ट्र महासभा में मालदीव ने छोटे देशों की सुरक्षा के लिए एक प्रस्ताव का समर्थन किया। हिंद महासागर को शांति क्षेत्र घोषित करवाने के लिए मालदीव ने संयुक्त राष्ट्र में कई प्रयास किए। 1982 में मालदीव को कॉमन वेल्थ की विशेष सदस्यता प्रदान की गई तथा 1985 में मालदीव दक्षेस (दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संघ) के संस्थापक सदस्यों में से एक सदस्य बना। बाद में 1990 में माले में दक्षेस (सार्क) का पाँचवां वार्षिक सम्मेलन आयोजित किया गया। भारत के साथ मालदीव के निकट संबंध हैं। 1976 में भारत और मालदीव के बीच समुद्री सीमा निर्धारित करने संबंधी समझौते पर दस्तख्त किए गए। आक्रामक सैनिकों के एक समूह को रोकने के लिए किए गए राष्ट्रपति गयूम के अनुरोध पर मालदीव को भारत से सैन्य मदद भी प्राप्त हुई। आजकल यह छोटा देश भी वैश्विक उष्णता और जलवायु परिवर्तन जैसे अंतरराष्ट्रीय मुद्दों में उलझा हुआ है क्योंकि इसके आसपास के द्वीपों में समुद्र स्तर बढ़ रहा है। इससे इस प्रवाल देश के भविष्य को लेकर कई प्रश्न खड़े हो रहे है।

17.7 सारांश

मालदीव हिंद महासागर में फैले हुए महत्वपूर्ण व्यापार मार्गो के बीच स्थित है। इस अनुकूल स्थिति ने इस देश के इतिहास और सामाजिक राजनीतिक वातावरण को प्रभावित किया है। बहुत समय तक मालदीव एक सल्तनत थी जो पहले डच लोगों के अधीन और फिर ब्रितानी साम्राज्य के संरक्षण में रही। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान मालदीव मित्र देशों के लिए एक अनुकूल स्थान बना। 1948 में मालदीव ने ब्रिटेन के साथ एक समझौते पर दस्तख्त किए जिसके अनुसार वह ब्रितानी साम्राज्य का संरक्षित-क्षेत्र बना रहा। उसके बाद देश का राजनीतिक विकास अधिकांशतः ब्रिटेन के साथ उसके संबंधों से निर्धारित होता रहा। 1965 में मालदीव स्वतंत्र हुआ। तीन वर्ष बाद 1968 में उसे गणतंत्र घोषित किया गया। अब्दुल गयूम, जो 1978 में देश के राष्ट्रपति बने, आज तक इस पद पर आसीन है। मालदीव अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों में काफी सक्रिय रहा है। वह संयुक्त राष्ट्र संघ, इस्लामिक सम्मेलन संगठन और दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन जैसे विभिन्न अंतरराष्ट्रीय संगठनों का सदस्य है। मालदीव के अपने पड़ोसियों से अच्छे संबंध है। भारत से उसकी घनिष्ठ और प्रगाढ़ मित्रता है।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई के अंत में संकेत देखें।

1) मालदीव के प्रमुख उद्योग क्या है ?

....

....

....

2) मालदीव की अर्थव्यवस्था में कृषि का क्या स्थान है ?

....

....

....

3) मालदीव की विदेश नीति निर्धारित करने वाले मुख्य सिद्धांत क्या है ?

....

....

....

4) मालदीव निम्नलिखित में से किसका सदस्य नहीं है :

क) कॉमन वेल्थ

ख) दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ

ग) संयुक्त राष्ट्र संघ

घ) दक्षिण-पूर्वी एशियाई संधि संगठन "सिएटो"

17.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

दीदी अमीन ए.एम. (1952) *द मालदीव्स आइसलैंड*, कोलंबो,सीलोन गवर्नमेंट प्रेस

बैल एच.सी.पी. (1883) *द मालदीव्स आइसलैंड्स:एन अकाउंट आफ द फिज़िकल फीचर्स, क्लाइमेट, हिस्ट्री,इनहेबिटेंट्स, प्रोडक्शन एंड ट्रेड*, कोलंबो, सीलोन गवर्नमेंट प्रेस

मेलोनी, सी. (1980) *पीपुल्स आफ द मालदीव्स*, मद्रास, ओरिएंट लांगमेन लिमिटेड

फड़निस उर्मिला एवं इला दत्त (1985) *मालदीव्स: विंड्स आफ चेंज इन एन एटोल स्टेट*, नई दिल्ली, साउथ एशियन पब्लिशर्स लि.

ज़ाकी ए (1954) *कंस्टीट्यूशन आफ मालदीव्स आइसलैंड*, कोलंबो, एच.डब्ल्यू केव

17.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) माले

2) मानसून

3) 1195

4) भूगर्भीय और बरसात का पानी

बोध प्रश्न 2

1) सिंहली, द्रविड़, अरबी, आस्ट्रेलेशियाई और अफ्रीकी

2) कालो

3) दसवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच मालदीव अरब समुद्री व्यापारियों के लिए महत्वपूर्ण हो गया था जिन्होंने हिन्द महासागर के व्यापार मार्गों पर एकाधिकार हासिल कर लिया था। मालदीव के लोगों पर उनका गहरा असर था। 12वीं शताब्दी के मध्य में बौद्ध राजा ने इस्लाम धर्म कबूला और सुल्तान की उपाधि अपनाई।

बोध प्रश्न 3

1) 26 जुलाई 1965

2) मजलिस

3) मालदीव का राष्ट्रपति पहले मजलिस नामित करती है फिर उसे जनता से समर्थन प्राप्त करना होता है। वह पुन: दोहराए जा सकने वाले पांच साल के लिए चुना जाता है।

बोध प्रश्न 4

1) पर्यटन, मत्स्य पालन और कुछ पारंपरिक हस्त शिल्प मालदीव की अर्थ व्यवस्था का औद्योगिक आधार हैं।

2) मालदीव की अर्थ व्यवस्था का कृषि आधार कमज़ोर है क्योंकि वहाँ की भूमि सीमित और कम उपजाऊ है। फिर भी नारियल, केला, ब्रेडफ्रूट, पपीता, पान, मिर्च जैसी कुछ फसलें यहां होती हैं।

3) मालदीव ने मोटे तौर पर गुट निरपेक्षता और शांतिपूर्ण सह अस्तित्व की अपने पड़ोसी देशों की नीतियों को अपनाया है।

4) घ

इकाई 18 मानवाधिकार

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 मानवाधिकारों का अर्थ

    18.2.1 मानवाधिकारों की बदलती अवधारणा: कानूनी और राजनीतिक से सामाजिक और आर्थिक अधिकार

18.3 मानवाधिकारों का इतिहास

    18.3.1 औपनिवेशिक काल में मानवाधिकार आंदोलन

    18.3.2 उपनिवेशोपरांत काल में मानवाधिकार व्यवहार

18.4 मानवाधिकारों संबंधी मुद्दे

18.5 दक्षिण एशिया में मानवाधिकार तथा भूमण्डलीकरण

18.6 दक्षिण एशिया तथा पश्चिम में मानवाधिकारों की तुलना

18.7 सारांश

18.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

18.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है – दक्षिण एशिया भूभाग में मानवाधिकार स्थिति को स्पष्ट करना, ताकि उसकी विशिष्टता का महत्त्व दर्शाया जा सके। इसको पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- मानवाधिकारों के विभिन्न अर्थों को स्पष्ट कर सकें;
- दक्षिण एशिया में मानवाधिकारों का क्रम-विकास उकेर सकें; और
- इस भूभाग में मानवाधिकार समस्याओं की विशिष्ट प्रकृति को स्पष्ट कर सकें।

18.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई दक्षिण एशिया में मानवाधिकारों की स्थिति मुख्य तौर पर तीन स्तरों पर स्पष्ट करने का प्रयास करती है। प्रथम, यह मानवाधिकारों के विभिन्न अर्थों को स्पष्ट करने के प्रयास करती है, जो कि कभी-कभी एक-दूसरे के ख़िलाफ़ होते हैं। दूसरे, यह दक्षिण एशिया में मानवाधिकारों के क्रम-विकास का संबंध उसकी औपनिवेशिक बपौतियों और एतद् द्वारा राष्ट्र-राज्यों के निर्माण से जोड़ती है। तीसरे, यह मानवाधिकार विषय के अन्तरराष्ट्रीयकरण के संदर्भ में मानवाधिकार व्यवहार की समकालीन गति को तलाश करती है। यह इस भाग में मानवाधिकार समस्या की विशिष्ट प्रकृति को उजागर करती है।

18.2 मानवाधिकारों का अर्थ

मानवाधिकारों को विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों में समझा जाता है। प्राय: वे विरोधाभासी अर्थ प्रदान करते हैं। मानवाधिकारों को समझने सबंधी इस अनियत रूपी प्रकृति को ध्यान में रखते हुए, मानवाधिकारों के विभिन्न प्रयोगों को स्पष्ट करना आवश्यक है।

अधिकारों को विभिन्न रूपों में परिभाषित किया जाता है, जैसे – अवसर, हित और व्यक्तियों की स्वतंत्रता संबंधी शर्तें। आज के प्रसंग में, अधिकारों को उत्तरोत्तर पात्रताओं या हक़दारियों के रूप में देखा जाता है। तथापि, अधिकारों के दो मुख्य आयाम इतिहास के माध्यम से मानवाधिकारों के अवबोधनों एवं प्रयोग में लगातार बने रहते हैं: राज्य द्वारा सत्ता के यादृच्छिक प्रयोग को सीमित करना एवं स्वतंत्रता की मूल शर्तें; और समानता एवं न्याय।

चलिए, सबसे पहले उन अधिकारों की शृंखला पर नज़र डालते हैं जिनके विषय में लोग बहुत ही जातिगत रूप से बात करते हैं – प्राकृत अधिकार, कानूनी अधिकार, राजनीतिक अधिकार, सामाजिक-आर्थिक अधिकार, वैयक्तिक अधिकार, सामूहिक अधिकार, इत्यादि। अधिकार स्थूलत: राज्य, नागरिक समाज एवं बाज़ार आदि क्षेत्रों में यादृच्छिक सत्ता और दमन से संरक्षण पाने के प्रयास के लिए प्रयोग किये जाते हैं। उपर्युक्त सभी अधिकार किसी न किसी तरीके से इन्हीं तीन क्षेत्रों में अनुभव किये जाते हैं। तथापि, उन प्रसंगों के कारण जिनमें कि वे अर्थग्रहण करते हैं, अधिकारों की कुछ श्रेणियों को स्पष्ट करना आवश्यक है।

अधिकारों पर चर्चा का इतिहास 17वीं एवं 18वीं शताब्दी में यूरोप से शुरू होता है जब प्राकृत अधिकारों संबंधी अवधारणा का आह्वान जॉन लॉक जैसे सामाजिक संविदावादियों द्वारा राजपद के दैवी उद्गमों तथा सामंतिक व धार्मिक व्यवस्था की यादृच्छिक सत्ता का सामना करने के लिए किया गया। यह कहा जाता है कि अधिकार मानव व्यक्तित्व की प्रकृति के प्रति आधारिक हैं। व्यक्ति जनों के अधिकार और स्वतंत्रता न तो राज्य द्वारा बनाए जाते हैं और न ही किसी दैवी शक्ति द्वारा। इस धारणा ने किसी भी सत्ता अथवा प्राधिकार से परे व्यक्तियों की स्वतंत्रता की अधिकार-माँग की है और उन्हें बाह्य दबावों से मुक्त किया है। इसने ही इंग्लैण्ड में 1688 की गौरवपूर्ण क्रांति, 1775 में अमेरिकी क्रांति और 1789 में फ्रांसीसी क्रांति को प्रेरित किया। तदनुसार, अधिकारों के उद्गम राज्य के यादृच्छिक प्राधिकार के विरुद्ध संघर्षों के साथ गहरे जुड़े थे।

18.2.1 मानवाधिकारों की बदलती अवधारणा: कानूनी एवं राजनीतिक से सामाजिक एवं आर्थिक अधिकार

तथापि, 19वीं शती के अंत तक आते-आते पूँजीवादी विकास पर आयात असमानताओं के जन्म लेने के साथ ही अधिकारों ने नए अर्थ जन्म और 1929 की विश्व आर्थिक मन्दी पूँजीवादी बाज़ार की सीमाबद्धताओं को प्रकाश में ले आये। पूँजीवादी व्यवस्था में अनियंत्रित बाज़ार अनियंत्रित असमानताओं में परिणत हुआ। इसने राज्य को प्रमुखता प्रदान कर दी। यह महसूस किया गया कि बाज़ार अहस्तक्षेप नीति के वहमों से बचने के लिए अर्थव्यवस्था पर राज्य नियंत्रण का कुछ अंश आवश्यक है।

तदनुसार, अधिकारों को समझने में बदलाव आया – उन नकारात्मक अधिकारों से जो राज्य अथवा समाज अथवा अर्थव्यवस्था के नितांत नियंत्रणाभाव में विश्वास करते थे, सकारात्मक अधिकारों की ओर जो सामाजिक प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप के लिए राज्य की ओर से सरकारी कार्यवाही का प्रयास करते हैं। यह परिवर्तन अधिकारों का अर्थ बदलने की ओर महत्त्वपूर्ण रूप से इशारा करता है। यह राजनीतिक व कानूनी कार्यक्षेत्रों से खिसककर सामाजिक और आर्थिक कार्यक्षेत्रों की ओर पहुँच गया, जिसके अनुसार मानवाधिकारों का अर्थ अब न सिर्फ राज्याधिकार से स्वतंत्रता रहा बल्कि सामाजिक और आर्थिक समानता के लिए भी हो गया।

अधिकारों की अवधारणा में इस प्रकार का परिवर्तन तीसरी दुनिया के संदर्भ में अधिक सुस्पष्ट है क्योंकि विश्व के इस भाग में उपनिवेशवाद ने नई संस्थाओं और संगठनों को शुरू कर प्रचलन में लाने का काम किया। दक्षिण एशिया में और तीसरी दुनिया में कहीं भी राज्य का औपनिवेशिक और उपनिवेशोपरांत गठन मानवाधिकारों के प्रश्न को पश्चिमी अनुभवों से विशिष्ट रूप में भिन्न बनाता है। यहाँ, लोगों को शोषणकारी विदेशी शासन के विरुद्ध अपने संघर्षों के माध्यम से मानवाधिकारों संबंधी चेतना की दरकार थी। उपनिवेशवाद के उपरांत, वे भारत जैसे देशों में कानूनी व राजनैतिक

अधिकार तो प्राप्त कर सकते थे, परन्तु सामाजिक एवं आर्थिक अधिकार वहाँ प्रतिभासिक ही रहे। यहाँ तक कि दक्षिण एशिया के भीतर भी मानव अधिकारों का प्रयोग कोटि और प्रकार में भिन्न-भिन्न है।

वर्तमान में मानवाधिकारों की धारणा महज राजनीतिक लोकतंत्र से संबद्ध नहीं है, बल्कि वह संयुक्त राष्ट्र समझौतों की उस संपूर्ण शृंखला को आत्मसात् करती है जिन्हें एक ओर नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार नाम दिया जाता है तो दूसरी ओर सामाजिक एवं आर्थिक अधिकार। 'मनुष्य के अधिकार' जो कि अमेरिकी और फ्रांसीसी क्रांतियों में सुस्पष्ट किए गए, महज नागरिक और राजनैतिक अधिकार ही थे। उनका लहजा और भाव उन आवश्यकताओं एवं आशयों में तलाशा जा सकता है जिन्हें उन सामाजिक क्रांतियों द्वारा सामने लाया गया जो आर्थिक जीवन के दंग के रूप में पूँजीवाद के आकर्ष के साथ ही हुईं। परन्तु ग़रीबों, महिलाओं, नृजातीय अल्पसंख्यक वर्गों, संगठित श्रमिकों के क्रांतिक आन्दोलनों तथा समाजवाद के लिए राजनीतिक आन्दोलन ने अपने कार्य-क्षेत्र विस्तार के लिए पूरा ज़ोर लगाया और बीसवीं शती उत्तरार्ध तक उस मनुष्य के अधिकारों संबंधी धारणा में, जो पूँजीवाद के उदय के साथ ही जन्मा था, मानवाधिकारों के शीर्षक तले उन अधिकारों की एक शृंखला शामिल की गई जिनमें सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्षेत्रों में परिवर्तन लाने का दम था।

वर्तमान में अन्तरराष्ट्रीय घोषणापत्र द्वारा मान्यताप्राप्त मानवाधिकारों को दो प्रकार की श्रेणियों में रखा जा सकता है: नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार, तथा सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक अधिकार। पूर्ववर्ती पूँजीवाद के साथ ही जन्मी और परवर्ती असमान सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था पर संदेह करती है, कमोबेश उसके विरोध में।

बीसवीं शताब्दी, खासकर बीसवीं शती उत्तरार्ध ने मानवाधिकार स्थिति में स्पष्टतया एक विरोधाभास को जन्म दिया है। मानवाधिकार कानूनी एवं राजनीतिक कार्यक्षेत्रों में राज्याधिकार पर नियंत्रण रखते हैं और सामाजिक एवं आर्थिक कार्यक्षेत्रों में एक तरक्कीपसंद अभिकरण के रूप में राज्य के कार्यक्षेत्र को बढ़ावा देते हैं। यह बात मानवाधिकारों के व्यवहार और बोध में प्रतिवादों को जन्म देती है।

18.3 मानवाधिकारों का इतिहास

लोकतंत्र और नागरिक स्वतंत्रता संबंधी धारणाओं ने उन अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों के बीच जड़ पकड़ना शुरू किया जो सत्रहवीं शताब्दी की अंग्रेजी क्रांतियों, अठारहवीं शताब्दी की फ्रांसीसी क्रांति तथा उन्नीसवीं शताब्दी के विभिन्न यूरोपीय क्रांतिक लोकतांत्रिक आन्दोलनों से अवगत हो चुके थे। टॉम पेन, जॉन स्टुअर्ट एवं अन्य के लेखों का ज़ोरदार प्रभाव पड़ा। उदाहरणार्थ, यह बात, रोचक है कि टॉन पेन कृत द राइट्स ऑफ़ मैन चोरीछिपे भारत लाया गया और कलकत्ता की गलियों में कालाबाज़ारी के दामों में बेचा गया जो कि उसके सामान्य मूल्य से तीस गुना था।

राजनीतिक रूप से सचेत भारतवासी इन विचारों के प्रति जबर्दस्त आकर्षित हुए और उन्होंने उम्मीद की कि ब्रिटिश शासक समय के साथ भारत में लोकतंत्र और नागरिक अधिकारों को लागू कर देंगे। परन्तु उन्हें निराशा ही हाथ लगी। धीरे-धीरे इन शासकों ने एक नया राजनीतिक सिद्धांत प्रस्तुत कर दिया। उन्होंने यह प्रचार करना शुरू कर दिया कि भारत की उष्ण एवं आर्द्र जलवायु तथा भारतीय लोगों की ऐतिहासिक परम्पराओं एवं उनके धार्मिक व सामाजिक प्राधार की प्रकृति की वजह से लोकतंत्र भारत के लिए उपयुक्त नहीं है – यथा भारत पर एक सत्तावादी एवं निरंकुश, तथापि परहितकारी ढंग से, शासन किया जाना चाहिए। अंग्रेजों ने उत्तरोत्तर गुप्त प्रभाव भी डाला और भाषण तथा प्रेस संबंधी स्वतंत्रताओं पर प्रहार किया।

अत: लोकतंत्र के लिए लड़ने और उसे स्थानीय बनाने का काम यानी उसे देश की मिट्टी से जोड़ने का काम भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर छोड़ दिया गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस आरम्भ से ही

सार्वजनिक चुनावों के आधार पर सरकार के एक प्रतिनिधि स्वरूप को लागू किये जाने के लिए लड़ी।

औपनिवेशिक राज्य के खिलाफ नागरिक अधिकारों के लिए संघर्ष और उपनिवेशोपरांत राज्य के खिलाफ जो संघर्ष है, उनमें एक गौरतलब फ़र्क है। जहाँ तक जन-आन्दोलनों के प्रति देश की प्रतिक्रिया का संबंध है, अनेक विद्वजनों के साथ कार्यकर्त्ता जन भी भारत में उपनिवेशोपरांत राज्य को उसके औपनिवेशिक प्रतिपक्ष से, किंचित भिन्न मानते हैं। परन्तु वास्तव में कुछ असमानताएँ हैं। एक यहाँ जो हमसे संबंधित है, वो है राष्ट्रवादी संलाप का प्रयोग।

18.3.1 औपनिवेशिक काल में मानवाधिकार आंदोलन

औपनिवेशिक काल में नागरिक अधिकारों के समर्थक जन स्वयं ही राष्ट्रवादी विचारों की बुद्धिजीवी उपज थे और राष्ट्रवाद को एक सशक्त समर्थनकारी बल के रूप में धारण करने का विशेषाधिकार रखते थे। परन्तु वर्तमान मानक-धारकों को विदेशी शासन के साथ नहीं, बल्कि 'पराई' के रूप में अपने स्वयं की चुनी गई संप्रभु सरकार के साथ गिनना होता है, परवर्ती को नागरिक अधिकार कार्यकर्त्ताओं के विरुद्ध, उन्हें विध्वंसक और राष्ट्र-विरोधी बताकर, राष्ट्रवादी संलाप प्रयोग का लाभ प्राप्त है।

प्राचीन काल में नागरिक-अधिकारवादी जन स्वतंत्र रूप से मैङ्गाकार्टा ऑफ़ द राइट्स ऑफ़ मैन का वास्ता दे सकते थे, और फिर भी राष्ट्रवादी बने रह सकते थे। परन्तु आज, वे जो यूनिवर्सल डिक्लेरेशन ऑफ़ ह्यूमन राइट्स, संयुक्त राष्ट्र समझौतों अथवा एम्नेस्टी इण्टरनेशनल'ज़ स्टैण्डर्ड मिनिमम रूल्स की दुहाई देते हैं, दो-तिहाई ख़तरा पाल लेते हैं। राज्य द्वारा उनपर अक्सर आरोप लगाया जाता है कि वे राष्ट्रीय हितों के खिलाफ़ विदेशी सहायता पर काम कर रहे हैं, और बुद्धिजीवियों व संचार-माध्यमों के वर्ग-विशेष द्वारा भी यह आरोप लगाया जाता है कि वे अपने सांस्कृतिक परिवेश की वास्तविकताओं को नकार रहे हैं।

नागरिक अधिकारों के विषय में चेतना का प्रारम्भिक चरण शिक्षित प्रजाजनों की माँगों में व्यक्त हुआ, जो रोजगार में समान अवसर, प्रेस की आज़ादी और कानूनी कार्यवाहियों में से प्रजातीय भेदभाव को मिटाने के पक्ष में था। एक अन्वेषक, वस्तुतः सुझाते हैं कि 'उन अनेक कारणों में, जो 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गठन की ओर प्रवृत्त थे, एक यह था कि भारतीय जन इबर्ट विधेयक को पारित कराने में असफल रहे थे, जो अपने मूल स्वरूप में भारतीय न्यायाधीशों को आपराधिक मामलों में ब्रिटिश प्रजाजनों की न्यायिक जाँच कराने के अधिकार दिए जाने का प्रस्ताव करता था। शताब्दी बीत जाने पर यह चेतना नए विचारों एवं नई धारणाओं के साथ एक नई पीढ़ी में स्पष्ट होती है, जो अपनी पराधीन दशा से अवगत है और ब्रिटिश साम्राज्य के स्वतंत्र नागरिकों के रूप में अपने अधिकारों की माँग में लगी है।

भारतीय नागरिक अधिकार संघ (ICLU) की स्थापना 24 अगस्त 1936 को बम्बई में की गई। रवीन्द्रनाथ टैगोर इसके अध्यक्ष बनाए गए, और सरोजिनी नायडू इसकी कार्यकारी अध्यक्ष। कृष्ण मेनन ने महासचिव का कार्यभार संभाला। शीघ्र ही इस संघ की शाखाएँ बम्बई के अलावा कलकत्ता, मद्रास तथा पंजाब में भी स्थापित हो गईं।

उक्त संघ के अभियानों के परिणामस्वरूप, नागरिक अधिकारों के विषय में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख दल, कांग्रेस के भीतर एक महत्त्वपूर्ण चेतना पैदा हुई। 1937 में, जब कुछ प्रांतीय सरकारों में कांग्रेस सत्ता में आयी तो उसके सभी मंत्रालयों को एक परिपत्र भेजा गया जो नागरिक अधिकारों की रक्षा किए जाने के संबंध में था। एक समकालीन टीकाकार गोपीनाथ श्रीवास्तव, के अनुसार 'जनप्रिय सरकारों का मुख्य कार्य था – नागरिक अधिकारों के कार्यक्षेत्र और विषयवस्तु का विस्तारण'। तिस पर भी, कांग्रेस-शासित प्रांतों में इन अधिकारों को रक्षा प्रदान करने में खामियाँ बनी रही रहीं, और इसने इस संघ के भीतर गंभीर मतभेदों की ओर अग्रसर किया चूँकि इसका बहुमत भाग कांग्रेस से ही बना था।

18.3.2 उपनिवेशोपरांत काल में मानवाधिकार व्यवहार

सन् 1947 में जब भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हो गई, राज्य की बागडोर उन्हीं लोगों के हाथ आ गयी जिन्होंने कभी 'सरकार के विरोध के अधिकार' का समर्थन किया था। और विडम्बना ही थी कि उनकी धारणाएँ अब बदल चुकी थीं। अब उन्हें लगा, कि 'शिशु राज्य', की रक्षा कुछ नागरिक अधिकारों की लागत पर भी की जानी चाहिए थी। दूसरी ओर, जनता के मन में, नयी उमंगें भरी थीं। लोग चाहते थे कि राज्य उनकी क्षुधा को तत्काल शांत करे – न सिर्फ रोटी, कपड़ा और मकान जैसी मौलिक मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति अपितु उन अधिकारों एवं न्याय के लिए भी जो दो-शताब्दी लम्बे औपनिवेशिक शासनकाल में उनसे दूर कर दिए गए थे। राज्य के हित और जनता के हित एक-दूसरे के आमने-सामने थे। पूर्ववर्ती परवर्ती का मुँह बंद करना चाहता था। फलत: नागरिक अधिकारों का हनन किया गया, और उनकी रक्षा के लिए नागरिक-अधिकार आंदोलन फिर से सक्रिय हो गया। सटीक रूप से यही वह बिन्दु है जिसमें दक्षिण एशिया में उपनिवेशोपरांत राज्य की दुविधा छिपी है। अपने अपर्याप्त संसाधनों के साथ, जनता की आकांक्षाओं को पूरा करने में असफल राज्य और अधिक दमनकारी हो जाता है। इससे दोनों ही मोर्चों पर मानवाधिकारों को ख़तरा पैदा हो जाता है – जनता के नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार तथा उनके सामाजिक एवं आर्थिक अधिकार; यही असमंजस मानवाधिकार चिन्तन में दिखाई पड़ता है। सामाजिक एवं आर्थिक अधिकारों को सुनिश्चित किए जाने की दिशा में हस्तक्षेपवादी राज्य के कार्यक्षेत्र को बढ़ाया जाता है। यह बात मानवाधिकारों की बुनियादों के खिलाफ़ जाती है। यह स्थिति उदारीकरण और निजीकरण के पदार्पण के साथ ही दक्षिण एशिया में और जटिल हो गई है। यह तर्क रखते हुए कि राज्य उन वायदों को पूरा करने में विफल रहा है जो उसने किए थे बाज़ार ने प्रमुखता प्राप्त कर ली है। इसने अधिकारों पर केन्द्रित ध्यान को एक भिन्न दिशा में मोड़ दिया।

भारत में आपातकाल-उपरांत दौर में अधिकांश नागरिक-अधिकारवादी समूह अपनी गतिविधियों का केन्द्र बिन्दु बढ़ाकर राजनीतिक अधिकारों की रक्षा से भी परे ले गए। ग़रीबों, धार्मिक एवं नृजातीय अल्पसंख्यकों, महिलाओं व बच्चों के प्रति सामयिक एवं आर्थिक भेदभाव के विरुद्ध संघर्ष, सभी को समान महत्त्व मिला। पर्यावरण-संबंधी अधिकार तथा सतत विकास संबंधी अधिकार जैसे नए मुद्दों को पुराने नागरिक-अधिकार समूहों के साथ-साथ नए-नए सामने आये समूहों द्वारा भी उठाया गया है, जैसे 1993 में पर्यावरण एवं मानव अधिकारों के लिए गठित भारतीय जन न्यायाधिकरण।

इस केन्द्र-बिन्दु के फैलने के पीछे अन्य कारणों में से एक है – अन्तरराष्ट्रीय मानवाधिकार संगठनों के साथ भारतीय कार्यकर्त्ताओं की अधिक अन्योन्य क्रिया। 1977 में भारत के लिए एमनेस्टी इण्टरनेशनल का प्रचार-दल और उसके तदोपरांत मुद्दे इस संबंध में उल्लेखनीय हैं। 'नए सामाजिक आन्दोलनों', जैसे दलित आन्दोलनों, नारी आन्दोलनों तथा पर्यावरण आन्दोलनों का भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा था।

18.4 मानवाधिकारों संबंधी मुद्दे

जैसा कि पहले कहा गया, यद्यपि दक्षिण एशिया में अनेक देशों को एक सी ही औपनिवेशिक विरासत का अनुभव प्राप्त है, मानवाधिकारों को सुनिश्चित करने में उनकी भिन्न-भिन्न समस्याएँ हैं। चलिए, पहले उन समानताओं पर बात करते हैं जो वस्तुत: दक्षिण एशिया को एक क्षेत्र के रूप में आकार प्रदान करती हैं और तत्पश्चात् उन भिन्नताओं पर, जो अधिकारों का अनुभव करने में भिन्नता के स्तरों को स्पष्ट करती हैं।

भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, श्रीलंका तथा मालदीव सभी ने उपनिवेश-विरुद्ध संघर्षों का अनुभव किया था: नागरिक अधिकारों संबंधी चेतना उनको विरासत में मिली। नेपाल और भूटान जो ब्रिटिश संरक्षित राज्य थे, राजतंत्रों के रूप में ही रहे। मानव अधिकार चेतना का विकास सदा ही नागरिक समाज के विकास पर निर्भर रहता है, जो राज्य-सत्ता के प्रति समतुल्य बल के रूप में काम करता

है। अधिकार आन्दोलन को लेकर उपनिवेश-विरोधी संघर्षों के दौरान राष्ट्रवादी अभिजात-वर्ग के करीब-करीब एकाधिकार के कारण स्वतंत्रता प्राप्ति उपरांत नागरिक अधिकार चिन्तन संबंधी धारणा में स्वाभाविक रूप से भ्रम ही रहा। तथापि, जब राष्ट्र-निर्माण प्रक्रिया में विभिन्न वर्गों को समायोजित करने में ये अभिजात शासक वर्ग विफल रहे, तो दक्षिण एशिया क्षेत्र के विभिन्न भागों में अशांति दिखाई दी। यह मुख्य रूप से दो-तिहाई स्थिति में फलित हुई: एक ओर, उपान्तिक वर्गों की विभिन्न आवाज़ों के उठने के साथ ही राज्य-सत्ता की वैधता क्षीण होने लगी, और दूसरी ओर, राज्यतंत्र अधिकाधिक अवपीड़क और उत्पीड़क हो गए।

यह स्थिति इस भूभाग के भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रकट हुई। भारत में, यह सत्तर के दशक में इंदिरा गाँधी के शासनकाल में आपात स्थिति लागू किए जाने में फलित हुई और उसके बाद से राजनीतिक दलों जैसी राज्य संस्थाएँ कम उत्तरदायी हो गई हैं जो अनेक स्वायत्त गैर-पार्टी आन्दोलनों की ओर अग्रसर रही हैं। दलित एवं पिछड़ी जाति आंदोलनों, नारी, पर्यावरण एवं उप-क्षेत्रीय आन्दोलनों के उत्कर्ष के साथ अभिजात शासक वर्ग का अधिकार भी बेहद संकुचित हो गया। इन आन्दोलनों को राज्य की सामाजिक एवं विकास नीतियों पर संदेह है।

पाकिस्तान में यह संवैधानिक प्रयोगों में 'हनीमूनों' के साथ नित्य सैनिक तानाशाहियों में फलित हुआ जो कि जनता के लिए पूर्ण लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए किसी भी अर्थ में कभी भी फलीभूत नहीं हुआ। पाकिस्तान में सेना, नौकरशाही तथा भूमिगत अभिजात तंत्र के बीच अन्तर्संबंध द्वारा प्रबलित राज्य ने नागरिक समाज को कभी भी पनपने नहीं दिया। यह साम्प्रदायिक संघर्ष में भी परिणत हुआ है, जैसे – कराची में मुजाहिरों, पाकिस्तान के पंजाब क्षेत्र में सुन्नियों का कत्लेआम।

यद्यपि श्रीलंका को निष्पक्ष रूप से एक बेहतर लोकतांत्रिक सांस्थानिक व्यवस्था का अनुभव है, समाज काफी लम्बे समय से एक व्यापक नृजातीय हिंसा से अतिक्रांत है। श्रीलंका में तमिल राष्ट्रवाद ने राज्य की प्रभुसत्ता को चुनौती दे रखी है। गत बीस वर्षों में जनता को बुनियादी हिफ़ाजत मुहैया कराने में सक्षम हुए बग़ैर दमनकारी राज्य का उदय ही देखा गया।

बांग्लादेश का अनुभव अन्य देशों से भिन्न नहीं है। हालाँकि यह एक नवीन उद्गमों का देश है, राजनीतिक संस्थापन में हिंसक परिवर्तनों के कारण वह सशक्त लोकतांत्रिक संस्थाएँ कभी स्थापित नहीं कर सका। विश्व में अपने निम्नतम आर्थिक आधार के साथ बांग्लादेश लोगों को बुनियादी सुख-सुविधाएँ मुहैया कराने में कभी सक्षम नहीं हुआ।

अपनी-अपनी राजतंत्रीय विरासतों वाले नेपाल और भूटान में मानवाधिकार सबसे बड़ी दुर्घटना थे। नेपाल में माओवादी हिंसा और भूटान की शरणार्थी समस्या शायद इस तरीके का एक अच्छा उदाहरण हैं जिसमें मानवाधिकार रूपायित हुए हैं। यद्यपि नेपाल में राजनीतिक संस्था के लोकतंत्रीकरण के लिए माँगें उठती रही हैं जो पंचायतों अथवा पार्टी-आधारित चुनावों में सुधार लाने जैसे प्रयोगों में फलित हुई हैं, राजनीतिक सत्ता अभी भी प्रधानता से नेपाल नरेश के पास ही है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई-अंत में संकेत देखें।

1) मानवाधिकारों से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

2) दक्षिण एशिया में औपनिवेशिक काल में मानवाधिकारों की क्या स्थिति थी?

....

....

....

....

....

3) दक्षिण एशिया में मुख्य मानवाधिकारों की पहचान करें।

....

....

....

....

....

18.5 दक्षिण एशिया में मानवाधिकार तथा भूमंडलीकरण

हाल के दिनों में, अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकारों पर बहस की एक नई बाढ़ आयी हुई है। 1948 में जबसे संयुक्त राष्ट्र संघ ने मानव अधिकारों के सार्वत्रिक विकास को अपनाया, देश के किसी भी हिस्से में मानवाधिकारों के उल्लंघन को अंतरराष्ट्रीय समुदाय के लिए चिंता के विषय के रूप में लिया जाता है। तथापि, भूमंडलीकरण के वर्तमान विस्तार के संदर्भ में मानव अधिकार के मुद्दे ने जटिल अभिलक्षण ग्रहण कर लिया है।

अन्तरराष्ट्रीय शासन-प्रणाली के अधीन मानवाधिकारों के मुद्दों को तीसरी दुनिया में तथा अन्यत्र लाने के लिए विश्व महाशक्तियों की ओर से प्रयास होते रहे हैं। मानव को अब व्यापार मुद्दों से जोड़कर देखा जाता है। विश्व बैंक तथा अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसे वैश्विक आर्थिक अभिकरण मानव अधिकारों के उल्लंघनों की बोगी उठाये हुए तीसरी दुनिया के देशों पर दबाव डाल रहे हैं। हालाँकि इन देशों में से इस बीमारी को दूर करने में यह कुछ हद तक मदद कर सकता है। इसने अन्तरराष्ट्रीय मंचों पर समझौता करने के लिए तीसरी दुनिया के देशों की क्षमताओं में गंभीर रूप से अड़चन भी डाली है। यद्यपि अन्तरराष्ट्रीयवाद के साधन प्रयोग के माध्यम से मानवाधिकारों के उल्लंघनों को नियंत्रित करना ग़लत नहीं है, एक अनिवार्यत: असमान वैश्विक व्यवस्था में विकासशील देशों पर पाश्चात्य आधिपत्य को प्रोत्साहन देने के लिए एक वैचारिक अस्त्र के रूप में मानवाधिकारों के मुद्दे को प्रयोग करना भी गंभीर चिंता का विषय है।

इसी संदर्भ में दक्षिण एशिया जैसे क्षेत्र आंतरिक एवं बाह्य रूप से भारी दुविधा का सामना करते हैं। प्राय: ही मानवाधिकारों के उल्लंघनों, जैसे पाकिस्तान में आणविक मुद्दा, श्रीलंका में, नृजातीय संघर्ष, बांग्लादेश में पुलिसिया बर्बरता, नेपाल में माओवादी हिंसा तथा भारत में जातीय एवं साम्प्रदायिक मुद्दे अथवा पाकिस्तान और भारत के बीच कश्मीर मुद्दा, वैश्विक सत्ता राजनीति में विदेश नीति के उपकरण बन गए हैं।

उपर्युक्त अनुच्छेद का एक विस्तृत विश्लेषण यहाँ उपयोगी होगा। मानव अधिकारों के अन्तरराष्ट्रीयकरण में हम दो बातें होते देखते हैं। महाशक्तियों व उनके आदेश पर काम करने वाली वैश्विक वित्तीय एजेंसियाँ तीसरी दुनिया के देशों में मानवाधिकार उल्लंघनों का प्रयोग वैश्विक राजनीति में अपने आधिपत्य को बढ़ावा देने के लिए कर रही हैं। ये शक्तियाँ, खासकर, अमेरिका, दुनिया की पुलिस की भूमिका का स्वांग भरती हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया, कमज़ोर आर्थिक आधार की वजह से दक्षिण एशिया में राज्य अक्सर ही लोगों की माँगों को पूरा करने में असफल रहने के कारण दमनकारी हो जाता हैं और मानवाधिकारों का उल्लंघन करता है। अनुचित लाभ उठाने के उद्देश्य से बहुपक्षीय एवं द्विपक्षीय मंचों पर महाशक्तियों द्वारा इन उल्लंघनों के लिए उकसाया जाता है। विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, डी.एफ.आई.डी. तथा एशियाई विकास बैंक जैसी वैश्विक वित्त एजेन्सियों द्वारा सभी सहायता, ऋण आदि प्रदान करने में मानव अधिकार रिकॉर्ड को एक पूर्व शर्त बना दिया जाता है, जो कि जहाँ तक हो अमेरिका व अन्य विकसित देशों द्वारा ही नियंत्रित की जाती है। तथापि, दक्षिण एशिया व अन्य तीसरी दुनिया के देशों की व्याख्या उनके अपने हितों के उपयुक्त होने के लिए ही की जाती है।

एक ओर दक्षिण एशिया क्षेत्र में पहचानों के उदय साथ ही, स्थानीय समुदाय मानव अधिकारों के राज्य द्वारा उल्लंघन के विरुद्ध सीमापार समर्थन की अपेक्षा करता है। यह स्थिति इस भूभाग में वैश्विक हस्तक्षेप के लिए कहीं अधिक उपयुक्त है।

यद्यपि मानवाधिकारों के संबंध में भूमंडलीय स्तर पर जो बदलाव आ रहे हैं। दक्षिण एशियाई क्षेत्र में कुछ सकारात्मक परिणाम दिखते हैं। यह राज्य के कार्यक्षेत्र को भी सख्ती से प्रतिबंधित कर सकता है ताकि अपनी समस्याओं को अन्त: एवं बृहद् रूप से सुलझाने के लिए राज्य स्वतंत्र रूप से काम कर सके। ऐसा तब अधिक होता है जब यह प्रभावशाली देशों के हितों द्वारा प्रबलित एक विश्व व्यवस्था में किया जाता है।

18.6 दक्षिण एशिया तथा पश्चिम में मानवाधिकारों की तुलना

तीसरी दुनिया के देश यह तर्क देते रहे हैं कि मानवाधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा तथा नागरिक व राजनीतिक अधिकारों विषयक प्रसंविदा केवल पाश्चात्य विचारों को प्रकट करते हैं। ये दस्तावेज व्यक्तिवाद के सिद्धांतों पर आधारित है। इसी कारण, इन मूल्यों पर पूर्वानुमानित मानव अधिकारों को तीसरी दुनिया पर नहीं थोपा जा सकता है।

दक्षिण एशियाई देश सामाजिक-आर्थिक अधिकारों पर ज़ोर देते रहे हैं। ये देश पक्के तौर पर यह मानते हैं कि सामाजिक आर्थिक अधिकार ही नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों को साकार किए जाने के लिए परिस्थितियाँ तैयार करते हैं। वे नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों के खिलाफ नहीं हैं। उनका कहना है कि इस भूभाग में ग़रीबी, बेरोजगारी, सामाजिक असमानताओं जैसी वास्तविकताएँ सामने है, अत: प्राथमिकता सामाजिक-आर्थिक अधिकारों को दी जानी चाहिए। परन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों के उल्लंघन के प्रति संवेदनशील है। तथापि, सामाजिक-आर्थिक अधिकारों की अवहेलना पर ध्यान नहीं जाता। इसी कारण से तीसरी दुनिया के देश पाश्चात्य जगत् पर यह आरोप लगाते हैं कि वह उनके संसार में हस्तक्षेप करने के लिए एक विचारधारा के रूप में मानवाधिकारों का प्रयोग कर रहा है।

इस पृष्ठभूमि के विरुद्ध, दक्षिण एशिया और तीसरी दुनिया के देशों में मानवाधिकारों को अपनाने वाले लोग न केवल सामाजिक-आर्थिक अधिकारों पर ज़ोर देने का अपितु अपनी आवश्यकता के अनुरूप मानवाधिकारों की भिन्न शृंखला को बढ़ावा दिए जाने का भी प्रयास कर रहे हैं। इन अधिकारों में शामिल हैं – विकास का अधिकार, शांति का अधिकार, पर्यावरण का अधिकार, संचार

का अधिकार तथा मानवजाति का सुलभ विरासत पर स्वत्व का अधिकार। इन नव-पीढ़ी अधिकारों में से तीसरी दुनिया के देश विकास के अधिकार को प्राथमिकता देते रहे हैं।

ये अधिकार निर्माण के नितांत प्रारम्भिक चरण में ही हैं। विकास के अधिकार का सर्वप्रथम प्रयोग 1986 में किया गया। काफी वाद-विवाद के बाद संयुक्त राष्ट्र-संघ की जनरल असेम्बली ने विकास के अधिकार विषयक घोषणा को अपना ही लिया। यह अधिकार एक पात्रता के रूप में है। तदनुसार विकास को एक हकदरी के रूप में ही देखा जाना चाहिए। यह बाहरी हस्तक्षेप के बिना आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था चुनने के अधिकार की गारण्टी देता है। विकास के प्रयास में लगा राज्य भी इस माँग का हक रखता है कि अन्य राज्य उससे वो न छीनें जो उसका है अथवा उससे वंचित न करें जो उसे देय है। राज्य उसमें न्यायसंगत हिस्से का हकदार है जो कि सामान्य सम्पत्ति है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई-अंत में संकेत देखें।

1) दक्षिण एशिया में मानवाधिकारों का भूमंडलीकरण के संदर्भ में प्रस्तुत करें।

....

....

....

....

....

2) दक्षिण एशिया और पाश्चात्य जगत् के बीच मानवाधिकारों की दशाओं की तुलना करें।

....

....

....

....

....

18.7 सारांश

मानव अधिकारों के अवबोधन में फ्रांसीसी एवं अमेरिकी क्रांतियों के बाद से तेजी से परिवर्तन आया है। इसने राज्य-सत्ता से रक्षा करने के प्रयास से लेकर सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में समान अवसरों के लिए शर्तें सुनिश्चित करने तक का सफर तय किया है। इस समांतरगमन ने बीसवीं शताब्दी में मानव अधिकार प्रयोग को नए आयाम दिए। बीसवी शती के अंत में सामाजिक आंदोलनों ने मानव अधिकारों को सांस्कृतिक आयाम भी प्रदान किए।

इसी प्रकार, दक्षिण एशिया क्षेत्र ने भी इन अवस्थान्तरगमनों का अनुभव किया। मानव-अधिकारों संबंधी समझ जन-आन्दोलनों प्रथमत: राजनीति के क्षेत्र में, फिर सामाजिक एवं आर्थिक मोर्चों के माध्यम से बढ़ गई है। उपनिवेश-विरोधी संघर्षों की विरासत ने उन्हें राजनीतिक अधिकारों संबंधी चेतना प्रदान की। स्वतंत्रताप्राप्ति पश्चात्, इस भू-भाग में मानवाधिकारों के लिए संघर्ष ने एक ओर

राज्य उपकरणों के लोकतंत्रीकरण का प्रयास किया तो दूसरी ओर वह नृजातीय, जातीय एवं लिंगभेद आधारित समुदायों के समान अधिकारों के लिए भी जारी रहा। एक पात्रता के रूप में विकास का अधिकार सबसे प्रमुखता से महसूस किया जा रहा है।

हमने यह भी जाना कि भूमंडलीकरण के संदर्भ में मानव अधिकारों के अन्तरराष्ट्रीयकरण ने मानवाधिकार के मुद्दे को इस भूभाग में और अधिक जटिल बना दिया है। इस क्षेत्र में राष्ट्र-राज्य अंत: और बाह्य रूप से कठिन परिस्थितियों में ही घिरे रहे हैं।

18.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अल्वी, एच. (1973), *'द स्टेट इन पोस्ट-कलॉनियल सोसाइटीज़: पाकिस्तान एण्ड बांग्लादेश',* कैथलीन गफ़ एव हरिशर्मा (सं.) कृत इम्पैरिअलिज़्म एंड रिवॅलूशन इन साउथ एशिया, न्यूयार्क, मंथली रिव्यु प्रैस।

बाल गोपाल, के. (1977), *'द ह्यूमन राइट्स मूवमॅण्ट्स : इट्स फटैक्स्ट एण्ड इट्ज कन्सर्न्स',* इण्डियन जर्नल ऑफ ह्यूमन राइट्स, खण्ड-I, जनवरी-जून में।

बक्शी, उपेन्द्र (1999), *'ह्यूमन राइट्स : बिटवीन सफ़रिंग एण्ड मार्केट',* रॉबिन कॉहेन एवं शीरीं राज (सं. कृत ग्लोबल सोशल मूलमॅण्ड, 32-45, लम्दन : अल्थिऑन में।

———— (1999), *'दि स्टेट एण्ड ह्यूमन राइट्स मूवमैण्ट इन इण्डिया,* मनोरंजन मोहन्ती व अन्य (सं.) कृत पीपला'ज़ राइट्स : सोशल आन्दोलन एण्ड द स्टेट एण्ड थर्ड, वर्ल्ड, दिल्ली, सेज पब्लिकेशन्ज़।

———— (1999), *'वॉसिस ऑफ सफ़रिंग, फ्रैग्मैन्टिड यूनिवर्सलिटी एण्ड द्‌ यूचर ऑफ ह्यूमन राइट्स'* इन बर्न्स. एच. वेस्टन एण्ड स्टीफन पी. मार्क (सं.), द्‌ यूचर ऑफ इण्टरनेशनल ह्यूमन राइट्स, 101-56, न्यूयार्क : आड्र्सले, ट्रान्सनैशनल पब्लिशर्ज़।

हसन, ज़ोया (1989), *'इंट्रॅडॅक्शन: स्टेट एण्ड आइडेण्टिटि इन मॉडर्न इण्डिया',* ज़ोया हसन, एल.एन. झा व अन्य (सं.), द स्टेट, पॅलिटिकॅल प्रोसेस प्रोसेसिज़ एण्ड आइडेण्टिटि : रि़लेक्शन्ज़ ऑन माडर्न इण्डिया, नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशन्ज़ इण्डिया प्रा. लि.।

फडनिस, यू. (1989), *'एथनिसिटि एण्ड नेशन-बिल्डिंग इन साउथ एशिया',* नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशन्ज इण्डिया प्रा. लिमिटेड।

18.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अधिकारों को आम तौर पर अवसरों, हितों तथा व्यक्तिजनों की स्वतंत्रता के लिए आवश्यक परिस्थितियों के रूप में परिभाषित किया जाता है।

2) औपनिवेशिक काल में लोग औपनिवेशिक सत्ता के अधीन थे। वे अपने अधिकारों से वंचित थे। परन्तु नागरिक व लोकतांत्रिक अधिकार पाने के लिए नागरिक अधिकार आन्दोलनों की शुरुआत बुद्धिजीवियों ने इसी काल में थी।

3) मुख्यत ये हैं: सेना द्वारा लोगों के अधिकारों का अतिक्रमण, नृजातीय संघर्ष, धार्मिक उन्माद।

बोध प्रश्न 2

1) मानवाधिकारों के मुद्दे विकासशील देशों में अन्तरराष्ट्रीय सहायता अभिकरणों, यथा – विश्व बैंक व अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की शर्तों से जुड़े हुए हैं। वे इन देशों को इस शर्त पर ऋण देते हैं कि लोगों के अधिकारों को सुनिश्चित करेंगे। तथापि, ये शर्तें ऋण दाता देशों के पक्ष में जाती हैं।

2) मानवाधिकार संबंधी पाश्चात्य धारणा व्यक्तिवाद पर आधारित है। इसके विपरीत, दक्षिण एशियाई देशों में यह मुख्य रूप से समुदायवादी सिद्धांतों पर आधारित है। इसके अलावा, पश्चिमी धारणा नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों पर अधिक ज़ोर देती है। और दक्षिण एशिया में यह जनसमाज की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों पर अधिक संकेन्द्रित है।

इकाई १९ नागरिक समाज

इकाई की रूपरेखा

१९.० उद्देश्य
१९.१ प्रस्तावना
१९.२ दक्षिण एशिया में नागरिक समाज
१९.२.१ श्रीलंका
१९.२.२ पाकिस्तान
१९.२.३ बांग्लादेश
१९.२.४ नेपाल, भूटान और मालदीव
१९.३ सारांश
१९.४ शब्दावली
१९.५ कुछ उपयोगी पुस्तकें
१९.६ बोध प्रश्नों के उत्तर

१९.० उद्देश्य

यह इकाई दक्षिण एशिया की लोकतंत्रीकरण प्रक्रिया में नागरिक समाज की भूमिका पर सूक्ष्म दृष्टि डालती है। इसको पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- दक्षिण एशिया के प्रसंग में नागरिक समाज के अर्थ को समझ सकें;
- उसके घटकों को पहचान सकें;
- उसके उत्कर्ष के संदर्भ को समझ सकें;
- उन मुद्दों का महत्त्व बता सकें, जो वह उठाता है;
- उप-महाद्वीप में उसके समक्ष समस्याओं को अच्छी तरह समझ सकें;
- राज्य, बाज़ार व समुदाय से उसके संबंध को समझ सकें; और
- उपमहाद्वीप के लोकतंत्रीकरण की दिशा में सभ्य समाज के योगदान का मूल्यांकन कर सकें।

१९.१ प्रस्तावना

इससे पहले कि हम दक्षिण एशिया में नागरिक समाज पर चर्चा करें यह समझना जरूरी है कि इसका वास्तव में अर्थ क्या है। नागरिक समाज एक समुदाय और राज्य के बीच एक स्थान का संकेत देता है जो किसी समाज में लोकतांत्रिक तत्त्वों को मज़बूती प्रदान करता है। इसके प्रतीक हैं – ग़ैर-सरकारी संगठन (एन.जी.ओ), बुद्धिजीवी जन, विद्वज्जन, पत्राकार तथा वे सभी औपचारिक एवं अनौपचारिक संस्थाएँ जो समुदाय विशेष के अधिकारों एवं उसके विभिन्न भागों से संबद्ध हों। नागरिक समाज संगठन सामान्यतया राज्य में स्वतंत्रा ही काम करते हैं। परन्तु नागरिक-समाज संस्थाएँ हमेशा ही राज्य के विरुद्ध नहीं होतीं। उनमें से कुछ राज्य और बाज़ार के साथ सहयोग भी करती हैं। उनके गठन का आधार आम तौर पर धर्मनिरपेक्ष होता है, न कि जाति, धर्म अथवा जनजाति जैसी आदिकालीन निष्ठाएँ। तथापि, दक्षिण एशिया के प्रसंग में धार्मिक अथवा निष्ठा-आधारित संस्थाएँ भी सभ्य समाज के सदस्यों के रूप में ली जाती हैं, यदि वे जनसाधारण के लोकतांत्रिक अधिकारों से जुड़ी हों। यदि वे उनका उल्लंघन करती हों तो वे नागरिक समाज की सदस्य नहीं होती हैं।

कभी-कभी सभ्य समाज राज्य के निर्णयों को सकारात्मक रूप से प्रभावित करने में सक्षम होते हैं। चलिए, सभ्य समाज के अभिलक्षणों, उसके समक्ष चुनौतियों तथा दक्षिण एशिया पर उसके प्रभाव पर सूक्ष्म दृष्टि डालते हैं।

अस्सी के दशक से ही विश्व के विभिन्न भागों में नागरिक समाज का उत्कर्ष होता रहा है। दक्षिण एशियाई क्षेत्रा इस प्रवणता का कोई अपवाद नहीं है। सोवियत संघ का विघटन तथा भूमंडलीकरण इसके उद्गमन के मुख्य कारण रहे हैं। दुनियाभर में ग़ैर-सरकारी संगठनों, मानवाधिकार कार्यकर्त्ताओं, शिक्षाविदों तथा बुद्धिजीवियों ने समाज के विभिन्न क्षेत्रों में राज्य की असफलता से पैदा हुए खालीपन को भरा है। तीसरी दुनिया के देशों में, जिनमें दक्षिण एशिया शामिल है, नागरिक समाज बड़े पैमाने पर समाज की सहायतार्थ सामने आया है। जहाँ लोकतंत्रा का अभाव हुआ उसे लाने के लिए वह कठोर प्रयास करता रहा है, और जहाँ कहीं भी वह विफल रहा उसकी पुनर्स्थापना के लिए संघर्षरत रहा है।

यद्यपि नागरिक समाज से अपेक्षा की जाती है कि वह राज्य से स्वतंत्रा काम करे, वैधता प्राप्त करने के लिए नागरिक-समाज संगठनों को राज्य के नियमों द्वारा निबद्ध होना पड़ता है। कई मामलों में उन्हें वित्त प्रबंध के लिए राज्य पर ही निर्भर करना पड़ता है। नागरिक-समाज संगठनों की सफलता या विफलता एक उल्लेखनीय सीमा तक राज्य-व्यवस्था या राज्य-व्यवस्था की प्रकृति, और उस सामाजिक परिवेश पर निर्भर करती है जिसमें वे संचलित होते हैं। दक्षिण एशिया में सैनिक शासन तथा धार्मिक एवं धर्म-आधारित संगठन नागरिक समाज के सामने एक बड़ी चुनौती के रूप में खड़े हैं।

१९.२ दक्षिण एशिया में नागरिक समाज

१९.२.१ श्रीलंका

श्रीलंका में नागरिक समाज का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं – बुद्धिजीवी जन, विद्वान, पत्राकार जन, छात्राजन, साम्प्रदायिक समूह (तमिल व सिंहला), श्रमिक संघ तथा ग़ैर-सरकारी संगठन। वहाँ नागरिक समाज संगठन सर्वप्रथम मुख्य रूप से १९८३ में उद्गमित हुए। नृजातीय दंगे जो तब तमिलों व सिंहलों के बीच होते थे, और सामाजिक तनाव एवं सामाजिक सुरक्षा नागरिक समाज संगठनों के उदय के तत्काल प्रसंग थे। इन दंगों ने बड़ी संख्या में लोगों को विस्थापित कर दिया, खासकर तमिल अल्पसंख्यकों को, जिनमें सुरक्षा-बलों – सेना व पुलिस – ने पक्षपाती भूमिका निभाई थी। इनमें शामिल थे – मानवाधिकारों का हनन, शान्ति में खलल, आदि साथ ही, इन्होंने विकास प्रक्रिया को बाधित किया। यह सब श्रीलंका में राज्य शान्ति बहाल करने, सुरक्षा मुहैया कराने, मानवाधिकारों की रक्षा करने, विकास को प्रभावित करते नृजातीय समूहों में मेल-मिलाप कराने, आदि में अयोग्य साबित हुआ। श्रीलंका में नागरिक-समाज संगठनों ने इन पर राज्य द्वारा पैदा खालीपन को भरा है। श्रीलंका में नागरिक-समाज संगठनों के उदय का मुख्य कारण राज्य की असफलता ही रही है।

नागरिक समाज संगठन जुलाई १९८३ के दंगों को याद करने के लिए जुलाई माह को ''काली जुलाई'' के रूप में मनाते हैं। श्रीलंका के धार्मिक एवं सामाजिक संगठन, जो कि तमिल एवं सिंहला, दोनों ही समुदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जन-सभाएँ आयोजित करते हैं जिनका उद्देश्य होता है – शांति बहाल करना और उन तमिल अल्पसंख्यकों का विश्वास प्राप्त करने के लिए सरकार से अपील करना जिन्होंने १९८३ में नृजातीय संघर्ष (जुलाई दंगों के नाम से प्रसिद्ध) को झेला था।

इसी प्रकार, ४० ग़ैर-सरकारी संगठनों का प्रतिनिधित्व करते बाज़ारों, शान्ति व मानवाधिकार कार्यकर्त्ताओं ने ९ दिसम्बर १९९४ को, अन्तरराष्ट्रीय मानवाधिकार दिवस की पूर्वसंध्या पर, एक प्रदर्शन आयोजित किया। इन प्रदर्शनकर्त्ताओं में रंगकर्मी भी शामिल थे जिन्होंने नाटकों का मंचन किया और लोकतंत्रा, मानव अधिकार व शान्ति के मुद्दों पर गीत गाये। यह रैली शान्ति लौटाने के लिए लिट्टे व सरकार दोनों से एक अपील के साथ समाप्त हुई। इसी प्रकार, ३१ जुलाई २००३

को आयोजित श्रीलंका के नागरिक-समाज संगठनों की एक ऐसी ही सभा का विषय था – ''दोबारा कभी नहीं'' (नैवर अगेन), जो जुलाई दंगों के ही संदर्भ में थी। २१७ नागरिक व धार्मिक संगठनों द्वारा हस्ताक्षरित एक अपील में इस बात के लिए राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री से माफ़ी माँगने को कहा गया कि तमिल अल्पसंख्यकों के साथ ''जो हुआ ग़लत हुआ'', इससे अल्पसंख्यक वर्गों के बीच शान्ति और सुरक्षा फिर से कायम करने में मदद मिलेगी। श्रीलंका में ग़ैर-सरकारी संगठनों ने भी सात क्षेत्रों को सत्ता के हस्तांतरण का समर्थन किया ताकि नृजातीय संघर्ष समाप्त हो। पीस कौन्सिल तथा फ्री इण्डिया मूवमैण्ट जैसी संस्थाएँ मानव अधिकारों एवं स्वतंत्राता के प्रति अपनी वचनबद्धता के साथ, ऐसी सरकार को शिकस्त देती हैं जो मानव अधिकारों का उल्लंघन करती है।

नीरा विक्रमसंघे का दृष्टिकोण है कि नई आर्थिक नीतियों के लागू होने साथ ही, जो निजीकरण का संकेत देती हैं, राज्य की भूमिका आर्थिक एवं सेवा क्षेत्रों में घट गयी हैं। इस स्थिति में ग़ैर-सरकारी संगठन श्रीलंका में राज्य की निर्णयन्-प्रक्रिया को प्रभावित कर रहे हैं। मार्गा संस्थान (MARGA Institute) अन्तरराष्ट्रीय नृजातीय अध्ययन केन्द्र (International Centre for Ethnic Studies), नीति अध्ययन संस्थान् (Institute of Policy Studies), समाज-शास्त्री संघ (Social Scientists Association), अन्तर-प्रजातीय न्याय एवं समानता आन्दोलन (Movement for Inter-Racial Justice and Equality), समाज व धर्म केन्द्र (Centre for Society and Religion), नीति विकल्प केन्द्र (Centre for Policy Atternatives) जैसे अनेक कोलम्बो-स्थित गैर-सरकारी संगठन राज्य अभिकरणों द्वारा मानवाधिकारों के हनन संबंधी मुद्दों से जुड़े हैं। उन्हें संयुक्त राष्ट्र-संघ की मानवाधिकार घोषणा तथा उसी की नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार विषयक अन्तरराष्ट्रीय प्रसंविदा द्वारा प्रेरणा प्रदान की जाती है। मानवाधिकार के उल्लंघन विषयक सरकार के रिकार्ड संबधी उनकी आलोचना ने अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही ग़ैर-सरकारी संगठनों और राज्य के बीच एक दूरी पैदा कर दी है।

चन्द्रिका कुमारतुंगा के शासनकाल में नागरिक समाज ने श्रीलंका में निर्णयन् प्रक्रिया में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। समाजवाद तथा मानवीय पहलू के साथ उदारवाद के अर्थतंत्रा के लिए निर्भरता सिद्धांत अभिगम में विश्वास रखने वाली कुमारतुंगा ने एक विशेषज्ञ समिति की मदद ली, जिसमें शामिल थे विश्वविद्यालय प्रवक्ता गण, पत्राकार जन तथा मानवाधिकार कार्यकर्त्ता जन जो कि १९९४ के चुनावों की पूर्व-संध्या पर कार्यक्रम-निरूपण में उन्हीं की भाँति वामपंथी पृष्ठभूमि के थे।

श्रीलंका में नागरिक समाज का उद्‌गमन काफ़ी हद तक शासन-प्रणाली की प्रकृति पर निर्भर था। चंद्रिका कुमारतुंगा के बाद आने वाली शासन-प्रणाली, खासकर १९८३ से लेकर १९९४ तक, जब अधिकांश समय श्रीलंका में आपात स्थिति रही, नागरिक समाज के अस्तित्व के प्रति विद्वेषी थी। उसको प्रकट करते थे – उत्पीड़न, इतर-न्यायिक यंत्राणा, गिरफ्तारियाँ, तथा जनता का प्रत्याघात नरसंहार। यू.एन.पी. के शासनकाल में सरकार की आलोचना तक को राज्य के विरुद्ध एक अपराध माना जाता था जो कि सुरक्षा-बलों द्वारा अनैतिक कार्यों में परिणत हुआ। नागरिक-समाज संगठनों के सीमित जनाकर्षण के अलावा, साम्प्रदायिक संगठनों ने भी, जो नृजातीय विचारधारा पर संगठित थे, श्रीलंका में नागरिक समाज के अस्तित्व एवं प्रकार्यत्मकता के लिए एक ख़तरा पैदा किया।

यह ध्यान देना आवश्यक है कि मानवाधिकार व लोकतंत्रा विषयक रिकार्ड से सहायता / का संबंध जोड़ने के लिए इन शासन-प्रणालियों को स्वीकृति दी गई कि नागरिक समाजों को काम करने दें। मुख्य दानदातागण जिन्होंने अपनी सहायता को श्रीलंका में प्रतिबद्धताओं से जोड़ा, मानवाधिकार उल्लंघन के आधार पर श्रीलंका ने उनके लिए अपनी मदद को या तो घटा दिया या फिर स्थगित कर दिया। तथापि, चुनाव जीतने के विचार से राजनीतिक दल श्रीलंका में नृजातीय मतभेदों का लाभ उठाते हैं। यह बात सार्वभौमिकता के सिद्धांतों को झूठा घोषित करती है जो कि नागरिक-समाज संगठन का आधार हैं।

ग़ैर-सरकारी संगठनों ने श्रीलंका में विकास के क्षेत्रा में भी योगदान दिया है। देशीय ग़ैर-सरकारी संगठनों, अन्तरराष्ट्रीय ग़ैर-सरकारी संगठनों, राज्यों, निजी एजेन्सियों तथा दाता अभिकरणों ने एक नेटवर्क तैयार किया हुआ है और ये "सत्ता का नया चक्र" के रूप में उभरे हैं। इन्होंने कुमुक एवं पुनर्वास, सामाजिक न्याय, समाज-कल्याण, पर्यावरण रक्षा, लिंगभेद समानता, विकास तथा मानव अधिकारों में योगदान दिया है। अन्तरराष्ट्रीय ग़ैर-सरकारी संगठनों के साथ सहयोग के चलते, श्रीलंका में नागरिक समाज "वैश्विक नागरिक समाज" का सदस्य बन गया है। श्रीलंका में ग़ैर-सरकारी संगठन विभिन्न स्तरों पर काम करते हैं, यथा तृण-मूल संगठन गाँवों, प्रान्तों तथा राष्ट्रीय स्तरों पर कार्यरत हैं। इनमें से कुछ एक-दूसरे के साथ आपस में सहयोग करते हैं। महरनधारा समिति अथवा कुलंगाना समिति तृण-मूल संगठनों के ही उदाहरण हैं। ये विदेशी-मदद परियोजनाओं के समर्थन के कारण ही अस्तित्व में आये। इस प्रकार के संगठनों का निर्माण पड़ोसी गाँवों के कार्यकलापों के आधार पर अथवा "आन्तरिक शिक्षण प्रक्रिया के माध्यम से" ही किया जाता है। ये जिन वर्गों से संबंध रखते हैं, उनमें आते हैं – किसान, मछुआरे, महिलाएँ, पड़ौसी, अनौपचारिक क्षेत्रीय कर्मचारीगण, युवा, आदि।

बोध प्रश्न १

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई-अंत में संकेत देखें।

१) नागरिक समाज से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

२) श्रीलंका में नागरिक समाज नृजातीय संघर्ष से किस प्रकार जुड़ा है?

....

....

....

....

....

३) उन मुद्दों की पहचान करें जो श्रीलंका में नागरिक समाज द्वारा उठाए गए हैं।

....

....

....

....

....

१९.२.२ पाकिस्तान

पाकिस्तान के संदर्भ में नागरिक समाज का अर्थ है – संगठनों की एक श्रृंखला जिसमें नागरिकों के ग़ैर-बाज़ार व ग़ैर-राज्य संगठन भी शामिल हैं। ये संगठन राज्य से संबद्ध नहीं है, जिसका अर्थ है कि वे सरकार चलाने में भाग लेने की अभिलाषा नहीं रखते। पाकिस्तान में नागरिक-समाज संगठनों में शामिल हैं – ग़ैर-सरकारी संगठन, व्यावसायिक संघ, श्रमिक संघ, परोपकारी जन, विद्वत्जन तथा विशेषज्ञ-समितियाँ। यहाँ तक कि धर्म-आधारित संगठन – पारम्परिक संगठन, पूजा-स्थल, शिक्षाणालय, पास-पड़ोस संघ, शवाधान समितियाँ, जिगरा (वयोवृद्ध सभा) – भी पाकिस्तान विषयक संलाप में नागरिक समाज की सैद्धान्तिक परिभाषा द्वारा धर्म-आधारित संगठनों को नागरिक समाज नहीं माना जा सकता। इस तथ्य के आलोक में कि उनमें से कुछ संगठन समाज के विकासार्थ कार्यकलापों में संलग्न हैं तथा सरकार का हिस्सा नहीं हैं, वे नागरिक समाज समझे जाने की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। पाकिस्तानी नागरिक समाज में, तदनुसार, मूल्य प्रणाली तथा बहु-उत्तराधिकारों के लिहाज से मिश्रित समूह शामिल हैं। एक ओर, वहाँ आधुनिक व उदारवादी दृष्टिकोण वाले तत्त्व हैं, तो दूसरी ओर पाकिस्तानी नागरिक समाज में ऐसे संगठन एवं व्यक्ति जन भी हैं जिनका दृष्टिकोण परम्पराओं द्वारा प्रभावित होता है। यह दर्शाता है कि पाकिस्तानी नागरिक समाज में परस्पर विरोधी वैश्विक दृष्टिकोण तथा प्रतिरोध हित व्याप्त हैं।

आग़ा खान संस्थान्, कराची द्वारा नागरिक समाज विषयक एक प्रारंभिक रिपोर्ट के अनुसार, २००१ में पाकिस्तान में १०,००० से भी अधिक पंजीकृत ग़ैर-सरकारी संगठन काम कर रहे थे। इनमें से अधिकांश पंजाब, सिंध तथा उत्तर-पश्चिम सीमान्त क्षेत्रा में विद्यमान थे। गैर पंजीकृत एन.जी.ओ. की अपेक्षा कहीं अधिक है। नागरिक-समाज संगठनों का कार्य-व्यापार शहरी क्षेत्राों तक सीमित है। शहरी क्षेत्रा में उन पर मध्यवर्गों का नियंत्राण रहता है, जबकि ग्रामीण क्षेत्राों में सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक मामलों में परम्परागत अभिजात वर्ग की हुकूमत चलती है। बलूचिस्तान प्रांत में नागरिक-समाज संगठनों का प्राय: अभाव ही है। उनकी अनुपस्थिति का श्रेय व्यापक निरक्षरता, नारी गतिशीलता की सीमाबद्धताओं तथा उस जनजातीय-सामंती व्यवस्था को दिया जा सकता है जो सामाजिक परिवर्तन के खिलाफ है। पाकिस्तान में नागरिक-समाज द्वारा उठाये जाने वाले मुद्दे हैं: मानव अधिकारों को प्रोत्साहन, लिंगभेद समानता, सहिष्णुता, शिक्षा, स्वास्थ्य, बाल विकास, सतत विकास, सामुदायिक विकास, आदि।

किसी अन्य तीसरी दुनिया के देश की ही भाँति, पाकिस्तान में भी ग़ैर-सरकारी संगठन विदेशी निधिकरण पर निर्भर हैं। उदाहरण के लिए, १९९१ में पाकिस्तानी सरकार ने राष्ट्रीय ग्रामीण मदद की योजना शुरू करने के लिए यथेष्ट वित्त अक्षय निधि उपलब्ध करायी। १९९१-९२ में, सरकार ने 'यू एस एड' (USAID) की सहायता से स्वैच्छिक संगठन न्यास (Trust of Voluntray Organisations) की भी स्थापना की ताकि एक सामाजिक निवेश निधि के रूप में ग़ैर-सरकारी संगठनों की वित्तीय मदद की जा सके। तथापि, व्यावसायिक संस्थाएँ, श्रमिक संघ व कर्मचारी संघ, आदि अपने सदस्यों द्वारा किए गये निधिकरण पर ही निर्भर करते हैं। बड़ी संख्या में व्यक्ति जन ग़ैर-सरकारी संस्थाओं को धन ज़कत के रूप में भी देते हैं। ज़कत पाँच ''इस्लाम के स्तंभों'' में से एक है, जिसका अर्थ है – ''गरीबों, विधवाओं, हाल ही में इस्लाम धर्मान्तरित लोगों, अपने वश से बाहर परिस्थितियों से गुज़रकर कर्ज़ में डूबे लोगों, यात्रियों तथा उनको जो अल्लाह का नेक काम करते हैं, धन-संपन्न लोगों द्वारा भिक्षा दिया जाना''। सम्प्रदाय-आधारित संगठन बड़े पैमाने पर नकदी अपने समुदायों से ही प्राप्त करते हैं। इसके अलावा, पाकिस्तान में निगमित क्षेत्रा भी बड़ी संख्या में ग़ैर-सरकारी संगठनों को धन देता है।

पाकिस्तान में लोक सेवा संगठनों के बीच समन्वय बहुत अगठित है और वे अपने-अपने ढंग से काम करते हैं। फिर भी, सरकार के नकारात्मक रवैये के विरोध में १९९५-९६ में बड़ी संख्या में लोक-सेवा संगठनों ने पाकिस्तान ग़ैर-सरकारी संगठन मंच (पी.एन.एफ.) की स्थापना की ताकि उनके बीच समन्वय लाया जा सके। क्षेत्राधारित ग़ैर-सरकारी संगठनों ने देश में नेटवर्क स्थापित किया है। क्षेत्रानुसार मुख्य समन्वय-निकाय हैं – समर्थन विकास नेटवर्क (Adrocacy Development

Network), बाल-कल्याण समन्वय परिषद् (Coordination Council for Child), विकास-में-महिलाएँ (WID), ग्रामीण समर्थन नेटवर्क (RSPN, पाकिस्तान शिक्षा नेटवर्क (PEN), पाकिस्तान सूक्ष्मवित्त नेटवर्क (Pakistan Microfinance Network), तथा पर्यावरण ग़ैर-सरकारी संगठन नेटवर्क (Environment NGO's Network)।

पाकिस्तान में नागरिक-समाज संगठनों का कार्यक्षेत्रा बहुत ही सीमित है। उन पर न केवल आभिजात्य वर्गों का आधिपत्य है, बल्कि वे आन्तरिक सीमाबद्धताओं से भी पीड़ित हैं। ये तथ्य पाकिस्तानी नागरिक समाज के भीतर पारदर्शिता के अभाव के लिए भी जिम्मेदार हैं।

पाकिस्तान में नागरिक समाज संगठन तमाम सीमाबद्धताओं में रहकर काम करते हैं जबकि औद्योगिक संबंध अध्यादेश (१९६९) तथा अनिवार्य सेवा अधिनियम कर्मचारियों को संस्थाएँ बनाने से मना करते हैं। गैर-सरकारी संगठनों को ढेर सारे पंजीकरण नियमों की विद्यमानता के कारण समस्याओं का सामना करना पड़ता है। वहाँ छह विभिन्न कानून हैं जिनके तहत ग़ैर-सरकारी संगठनों को पंजीकृत करवाना होता है। ये हैं – समिति अधिनियम (Sociaeties Act, 1860), सहकारी अधिनियम (Cooperative Act, १९२५), धमार्थ दान अधिनियम (Charitable Endowment Act, १८९०), कम्पनी अध्यादेश (Companies Ordinace, 1984), न्यास अध्यादेश (Trust Act, 1882), और स्वैच्छिक समाज कल्याण अधिकरण (पंजीकरण एवं नियंत्राण) अध्यादेश [Voluntary Social Welfare Agencies (Registration ajd Control) Ordinance, 1961]। ये कानून नागरिक समाज संगठनों की पंजीकरण प्रक्रिया को जटिल बनाते हैं।

पाकिस्तान में नागरिक समाज सैन्य दमन के वशीभूत रहे हैं। दमन ने विभिन्न रूप धरे हैं, जैसे – नागरिक-समाज संगठनों पर प्रतिबंध, नागरिक-समाज-संगठन नेताओं की गिरफ्तारी तथा राजनैतिक दबाव। अस्सी के दशक में, हालांकि, लोकतंत्रा की बहाली के साथ स्थिति किंचित सुधरी, पर व्यवहार में स्थिति मुख्य तौर पर विकराल ही रही। यहाँ तक कि लिंगभेद समानता से जुड़े मुद्दे उठाने वाले कुछ ग़ैर-सरकारी संगठनों के प्रति सामाजिक वातावरण शत्रुतापूर्ण ही रहा। परंपरागत सामन्तिक एवं जनजातीय मूल्यों का प्रतिनिधित्व करने वाली कुछ ताकतें लोकतांत्रिक अधिकारों के खिलाफ हैं। वे सेना के साथ साठ-गाँठ कर बाधाएँ उत्पन्न करते हैं।

यद्यपि पाकिस्तान इस्लामिक गणतंत्रा के संविधान का अनुच्छेद १७ संघ को स्वतंत्राता प्रदान करता है, लेकिन राष्ट्र हित के नाम पर अक्सर ही मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण किया जाता है और उन पर प्रतिबंध लगाया जाता है। सार्वजनिक प्रदर्शन, सभाओं पर प्रतिबंध तथा नागरिक-सामाजिक संगठनों पर रोक पाकिस्तान में सहज ही दिखाई पड़ते हैं।

राज्य नागरिक समाज को लोकतांत्रिक अधिकारों से संबद्ध मुद्दों में शामिल होने के लिए प्रोत्साहित नहीं करता। उदाहरण के लिए, वह ग़ैर-सरकारी संगठनों की धर्मार्थ भूमिका और सेवा-प्रदाय गतिविधियों का विरोध नहीं करता; परन्तु वह शिक्षा लिंगभेद समानता, मानवाधिकार आदि मूल्यों के समर्थन से जुड़े मुद्दों में ग़ैर-सरकारी संगठनों की संलिप्तता को बर्दाश्त नहीं करता। ज़िया शासनकाल में मानवाधिकारों एवं नारी संगठनों पर प्रतिबंध लगाया गया था। परन्तु दूसरी ओर उसने उन मदरसों, पूजा-स्थलों, शिक्षणालयों तथा जिगराओं की गतिविधियों को संरक्षण दिया और उनकी हिमायत की, जिनकी साठ-गाँठ से ज़िया शासन-प्रणाली काम करती थी।

पाकिस्तान में ग़ैर-सरकारी संगठन राज्य संबंधों को शत्रुता द्वारा प्रकट किया जाता है। १९९६ में सरकार ने सीनेट में एक विधेयक प्रस्तुत किया जिसे समाज कल्याण अभिकरण (पंजीकरण एवं नियमन) अधिनियम [Social Welfare Agencies (Registration and Regulation) Act] कहा जाता है। पाकिस्तान ग़ैर-सरकारी संगठन मंच द्वारा इसका विरोध किया गया, जो इसे अपने मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए वैधता प्राप्त करने का एक साधन मानता था। यह विधेयक ग़ैर-सरकारी संगठनों के अधिकार क्षेत्रा से नागरिक शिक्षा एवं पक्ष समर्थन निकाले जाने के लिए अभिलक्षित था। १९९८-९९ में सरकार ने बड़ी संख्या में ग़ैर-सरकारी संगठनों के ख़िलाफ एक अभियान भी छेड़ दिया। उसने पंजाब, सिंध तथा उत्तर-पश्चिम सीमान्त क्षेत्रा (NWPF) में लगभग २५००

ग़ैर-सरकारी संगठनों की मान्यता भी रद्द कर दी। सरकार का क़दम प्रस्तावित धार्मिक विधान (शरीयत विधेयक) और मई १९९८ में कराये गए परमाणु परीक्षणों के खिलाफ विरोध प्रदर्शन के विरुद्ध एक प्रतिरूप था। ग़ैर-सरकारी संगठनों के कार्यकर्त्ताओं को खुफिया एजेन्सियों के कर्मियों द्वारा भयभीत किया गया। सरकार द्वारा प्रोत्साहित धार्मिक अतिवादी जन विकास और पक्षसमर्थनोन्मुखी ग़ैर-सरकारी संगठनों पर आरोप लगाते हैं कि वे धर्मनिरपेक्ष और उदारवादी मूल्यों का प्रचार कर ''राष्ट्रीय विचारधारा'' के विरुद्ध काम कर रहे हैं। प्रमुख मानवाधिकार पक्ष समर्थक असमा जहाँगीर ने उनकी ओर से मिली मौत की कई धमकियों का सामना किया है।

१९.२.३ बांग्लादेश

बांग्लादेश में नागरिक समाज के बीज उसके जन्म से पूर्व ही बो दिए गए थे। तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान के निवासियों के रूप में शिक्षाविदों, बुद्धिजीवियों, अधिवक्ताओं, चिकित्सकों, अध्यापकों, छात्रों, पत्राकारों, आदि ने १९४७-१९७१ से ही पश्चिमी पाकिस्तान के राजनैतिक अभिजात वर्ग की सांस्कृतिक एवं राजनीतिक रूप से विभेदकारी नीतियों के ख़िलाफ निरन्तर लड़ाई छेड़ी हुई थी। १९७१ में संप्रभु राष्ट्र के रूप में बांग्लादेश की स्थापना ने वहाँ समाज के लोकतांत्रिक वर्गों में उम्मीदें जगाईं। बांग्लादेश के १९७२ के संविधान ने वस्तुत: शेख़ मुजी़बुर्रहमान के शासनकाल में नागरिक समाज के संचालन की गुंजाईश का संमर्थन किया। परन्तु यही शासन चौथे संवैधानिक सुधार को लागू करके अपनी बात से मुकर गया। उसने बांग्लादेश में नागरिक समाज पर प्रहार करने का प्रयास किया। बांग्लादेश में १९९० तक की अवधि असल में सैन्य शासन द्वारा जानी गई, जिसने संविधान में विभिन्न सुधारों के माध्यम से नागरिक समाज के विकास के सभी रास्तों को बंद कर दिया था।

नागरिक समाज, तथापि, जनरल इरशाद के दमनकारी एवं भ्रष्ट शासन के खिलाफ १९९० में उमड़े आम सैलाब के माध्यम से लोकतंत्रा बहाल करने में सफल रहा। १९९१ के संसदीय चुनावों के उपरांत नवनिर्वाचित जातीय परिषद् ने १२वें संविधान संशोधन के माध्यम से नागरिक समाज के लोकतांत्रिक अधिकारों को फिर से लागू किया। परन्तु नागरिक समाज की विद्यमानता के प्रति शत्रुावत् तत्व किसी न किसी रूप में बने ही रहे। उत्तरोत्तर सरकारें ऐसे तत्त्वों के समाज को दोष-मुक्त करने से दूर ही रही हैं। बांग्लादेश में नागरिक समाज के साथ बहुत सी चुनौतियाँ हैं। इनमें शामिल हैं – सियासी ताकतों का एक तबका, १९७२-१९९० से फ़ौजी हुकूमत, और गोबर-गणेश बुर्जुआ वर्ग जिसने नागरिक समाज के विरुद्ध षड्यंत्रा रचा। नागरिक समाज का एक वर्ग शासन व्यवस्था की सरकार के दु:स्वपन में डूबा है। उदाहरण के लिए, मंगलार बाणी व संगबाद जैसे अख़बारों ने फ़ौजी शासन का स्वागत करते हुए संपादकीय लिखे। धार्मिक रुढ़िवादी जन बुद्धिजीवियों, ख़ासकर महिलाओं की आज़ादी पर अपनी टाँग अड़ाते हैं।

तथापि, इस प्रकार की प्रतिकूल स्थिति में बांग्लादेश में नागरिक समाज राज्य की असफलता को सही रूप देने का प्रयास कर रहा है, ख़ासकर १९९१ में ख़ालिद ज़िया द्वारा सरकार बनाए जाने के बाद से। ग़ैर-सरकारी संगठन समस्याओं का ''तृण-मूल'' समाधान निकालने में लगे हैं। यह बात शीर्ष-तल योजना के प्रतिकूल है, जो सहायता का लाभ उठाने से आम लोगों को दूर रखने की ओर प्रवृत्त करता है। ग़ैर-सरकारी संगठन ग्रामीण विकास कार्यक्रमों, प्रवासियों की ''यायावर जनसंख्या'' की मदद करने, वस्त्रा उद्योग आदि में लगे हैं। वे अपनी माँगें मनवाने के लिए हड़ताल, प्रदर्शनों, तथा मुक़दमेंबाज़ी का सहारा लेते हैं। १९९८ में महिला संगठनों ने आठवें संविधान विधेयक के ख़िलाफ सर्वोच्च न्यायालय में एक लिखित याचिका दायर की। यह विधेयक राज्य धर्म के रूप में इस्लाम को लागू करना चाहता था। यह याचिका में तर्क दिया गया था कि यह सुधार महिलाओं के राजनैतिक अधिकारों के खिलाफ है। महिला संगठनों ने वेश्याओं की कानूनी बेदख़ली के ख़िलाफ भी विरोध प्रदर्शन किया।

१९.२.४ नेपाल, भूटान और मालदीव

नेपाल में नागरिक समाज अपेक्षाकृत नया है, और परिणामत: कमज़ोर भी, जबकि दक्षिण एशिया के अन्य दो देशों – भूटान और मालद्वीव में यह अनुपस्थितप्राय ही है। नेपाल में नागरिक समाज

संबंधी अवधारणा विकास परियोजना के माध्यम से लोकप्रिय हो गई। १९९० में लोकतांत्रिक क्रांति का ही काम था कि दमनकारी शासन समाप्त हुआ और नागरिक समाज के उद्‌गमन के रास्ते खुल गए। तभी से नेपाल में बड़ी संख्या में ग़ैर-सरकारी संगठन तथा अन्य संगठन उठ खड़े हुए। भूटान में शासन-प्रणाली की अलोकतांत्रिक प्रकृति वहाँ नागरिक समाज के उद्‌गमन के लिए कोई प्रेरक वातावरण तैयार नहीं करती।

बोध प्रश्न २

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई-अंत में संकेत देखें।

१) पाकिस्तान में महिलाओं के मुद्‌दों की ओर वह कौन सी प्रवृत्ति है जो परम्परावादी प्रमुख जन अपनाते हैं?

....

....

....

....

....

२) बांग्लादेश में नागरिक समाज के सामने कौन सी चुनौतियाँ हैं?

....

....

....

....

....

३) भूटान में नागरिक समाज का प्राय: अभाव क्यों है?

....

....

....

....

....

१९.३ सारांश

दक्षिण एशिया के देशों में बीसवीं शताब्दी के पिछले दो दशकों से विभिन्न अवस्थाओं एवं समय-बिंदुओं पर नागरिक समाजों का उदय देखा गया है। वहाँ नागरिक समाज में वे संगठन, संस्थाएँ एवं व्यक्तिजन होते हैं जो समाज के, उसके विभिन्न घटकों के मुद्‌दों को उठाते हैं। नागरिक समाज का अस्तित्व किसी समाज में लोकतांत्रिक मूल्यों का एक संकेतक होता है। नागरिक समाज का

सबसे महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण यह है कि यह राज्य से स्वतंत्रा होता है। वह हमेशा ही राज्य के विरुद्ध नहीं होता। परन्तु यदि राज्य लोगों के मौलिक अधिकारों की रक्षा नहीं करता अथवा उनका अतिक्रमण करता है तो नागरिक समाज लोगों के अधिकारों की रक्षा और पुनर्प्राप्ति के लिए लड़ता है। वह राज्य सत्ता के अनुसरण में भी नहीं लगा रहता। दक्षिण एशिया में नागरिक समाज के अंतर्गत मुख्य रूप से आते हैं : ग़ैर-सरकारी संगठन, बुद्धिजीवी, शिक्षाविद्, पत्राकार, कुछ धार्मिक संगठन आदि। यह लोकतांत्रिाक अधिकारों की बहाली से संबद्ध रहा है, जिनमें शामिल हैं – बच्चों व महिलाओं के अधिकार, पर्यावरण, सतत विकास, नृजातीय सामंजस्य और शांति की पुनर्स्थापना, आदि।

नागरिक समाज संगठनों को धन मुख्य रूप से अंतरराष्ट्रीय ऋणदाताओं अथवा/ और राज्य द्वारा दिया जाता है। अनेक मामलों में नागरिक समाज, राज्य व बाज़ार के बीच सहयोग स्थापित करता है। भूटान को छोड़कर, दक्षिण एशिया के सभी देश – श्रीलंका, पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल व मालदीव लोकतंत्रा अपनाते हैं; जहाँ चुनाव सबसे महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण है। परन्तु नागरिक समाज के अस्तित्व के विरुद्ध तत्त्व, जैसे सेना, धार्मिक उन्माद, पारंपारिक तत्त्व व अन्य निहित स्वार्थ दक्षिण एशिया में नागरिक समाज को एक चुनौती पेश करते हैं। कुछ मामलों में राज्य को ऋणदाता देशों की शर्तों के तहत अनिच्छापूर्वक भी नागरिक समाजों को मान्यता देनी पड़ता है। तिस पर भी, नागरिक समाज ने दक्षिण एशिया के अधिकांश देशों में घटती-बढ़ती सीमा में अपनी उपस्थिति महसूस कराई है। यह इस उपमहाद्वीप में लोकतंत्रीकरण की दिशा में योगदान कर रहा है।

१९.४ शब्दावली

जिगरा: वयोवृद्धों की सभा

तृण-मूल संगठन: वे संगठन, जो ग्राम, स्थानीय अथवा कस्बाई स्तर पर काम करते हैं।

१९.५ कुछ उपयोगी पुस्तकें

आलम, एस. एम., शामशुल (१९७५), दि *स्टेट, क्लास फॉर्मेशन एण्ड डिवैलॅपमण्ट इन बांग्लादेश,* यूनिवर्सिटी प्रैस ऑफ अमेरिका, इनक., न्यूयार्क

बेग, अदनान सत्तार राबिया (२००१), *सिविल सोसाइटि इन पाकिस्तान, ए प्रिलिमिनरी रिपोर्ट ऑन द सिविकस इन्डैक्स ऑन सिविल सोसाइटि प्रोजैक्ट इन पाकिस्तान,* ऑकेज़नल पेपर सीरीज़, अंक ११, आग़ा ख़ान प्रतिष्ठान, कराची, पाकिस्तान की एक परियोजना

विक्रमसिंघे, नीरा (२००१), *सिविल सोसाइटि इन श्रीलंका: न्यू सर्कल्स ऑफ पॉवर,* सेज पब्लिकेशन्ज़, नई दिल्ली

१९.६ बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न १

१) नागरिक समाज में होते हैं – ग़ैर-सरकारी संगठन, बुद्धिजीवी, शिक्षाविद्, पत्राकार, अनौपचारिक एवं औपचारिक संगठन। यह राज्य से स्वतंत्रा होता है। नागरिक समाज समाज के लिए आम चिंता के विषय उठाता है। यह राज्य से स्वतंत्रा होता है, प्राय: राज्य और बाज़ार के साथ मिलकर काम करता है। किसी देश में नागरिक समाज का अस्तित्व वहाँ लोकतंत्रा के स्तर का एक संकेतक होता है।

२) १९८३ में तमिलों और सिंहलों के बीच हुए दंगों ने ही श्रीलंका में नागरिक समाज के उदय के प्रसंग को जन्म दिया। शांति व सुरक्षा मुहैया कराने में राज्य की विफलता, उपद्रवों के चलते नृजातीय सामंजस्य अन्य कारण थे जिन्होंने वहाँ नागरिक 'समाज के उत्कर्ष में मदद की।

३) वे मुख्य रूप से हैं – मानव अधिकार, शांति व सुरक्षा, पर्यावरण, सतत विकास, शिक्षा, लिंगभेद समानता, बच्चों एवं स्वास्थ्य का अधिकार, आदि।

बोध प्रश्न २

१) जनजातीय मुखियागण आमतौर पर महिलाओं के समानता मुद्दों, और उनके अन्य लोकतांत्रिाक अधिकारों के विरोध में रहे हैं।

२) बांग्लादेश में नागरिक समाज के समक्ष चुनौतियाँ सैन्य शासन प्रणाली एवं धार्मिक उन्माद से आयीं।

३) इसके लिए कारण शासन की प्रकृति में निहित है। वहाँ लोकतंत्रा का अभाव ही इसके लिए मुख्य कारण है।

इकाई २० दक्षिण एशिया में बहुवाद नियंत्रण के समक्ष चुनौतियाँ

इकाई की रूपरेखा

२०.० उद्देश्य

२०.१ प्रस्तावना

२०.२ बहुवाद क्या है?

२०.३ सामाजिक व राजनीतिक क्षेत्रों में बहुवाद

२०.४ दक्षिण एशियाई स्थिति

२०.४.१ भारत में बहुवाद और लोकतंत्रा

२०.४.२ अन्य देशों में बहुवाद और लोकतंत्रा

२०.५ चुनौती प्रबंधन : एक संकल्पनात्मक उपकरण

२०.६ सारांश

२०.७ कुछ उपयोगी पुस्तकें

२०.८ बोध प्रश्नों के उत्तर

२०.० उद्देश्य

इस इकाई में उन चुनौतियों पर चर्चा की गई है जो बहुवाद पर नियंत्राण पाने में दक्षिण एशिया के देशों के समक्ष खड़ी हैं। इसको पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि:

- बहुवाद का अर्थ;
- दक्षिण एशियाई देशों में बहुवाद;
- बहुवाद की चुनौती का जवाब देने के लिए सैद्धांतिक आदर्शो; तथा
- बहुवाद के समक्ष चुनौती पर काबू पाने के दक्षिण एशियाई देशों के प्रयासों को जान सकें।

२०.१ प्रस्तावना

दक्षिण एशिया में अधिकांश देश बहु सांस्कृतिक एवं बहु राष्ट्रीय हैं। ये देश एकाधिक समाजों, समुदायों अथवा संस्कृतियों से मिलकर बने हैं। चलिए, उन्हें समूह कह कर पुकारते हैं। उनकी अपनी स्वतंत्रा सांस्कृतिक विशेषताएँ तथा वैश्विक दृष्टिकोण हैं। इस प्रकार की अनेकता को कुशल प्रबंधन की आवश्यकता होती है, विशेषरूप से इसलिए कि वह इन विषम समूहों के बीच अपरिहार्य प्रतिस्पर्धा तथा प्राय: संघर्ष की ओर प्रवृत्त करती है। दक्षिण एशिया में राजनीतिक प्रणालियाँ आम तौर पर बहुसंख्यक वर्ग के पक्ष में झुकी हुई हैं। जीवन का एक अन्य दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य यह है कि एक समूह का अन्य समूहों पर संख्यात्मक बाहुल्य है। पाकिस्तान के उदाहरण में ये पंजाबी हैं, भूटान के उदाहरण में ये भूटानी हैं, बांग्लादेश के मामले में ये बंगाली-भाषी मुसलमान हैं और श्री लंका के मामले में ये सिंहली हैं। यह बात अल्पसंख्यक वर्गों के बीच असुरक्षा का भाव जगाती है।

बहुसंख्यक समुदाय आंतरिक रूप से विभाजित भी हैं और उन्हें अनेक ऐसे समूहों व उप-समूहों में बाँटा जा सकता है जो अपने-अपने तरीकों से सत्ता और प्रभाव के लिए स्पर्धा करते हैं। विभिन्न

समूहों के बीच संघर्ष ने इन राष्ट्रीय एकीकरण प्रयासों के सामने समस्याएँ पैदा की हैं, साथ ही राष्ट्रीय सुरक्षा को प्रभावित किया है। दक्षिण एशियाई राज्यों ने एक राज्य-समर्थित प्रक्रिया के माध्यम से इस प्रकार की प्रतिस्पर्धात्मक एकाधिकता पर नियंत्राण पाने के लिए राजनीतिक रूप से प्रयास किए हैं, जिसे प्राय: 'राष्ट्र-निर्माण' कहा जाता है। ऐसे प्रयासों का मूल दबाव इस बात पर रहा है कि एक प्रबल बोधन को दूसरों की तुलना में विशेषाधिकार प्रदान कर दिया जाये तथा मतभेदों की उपेक्षा की जाये। सभी सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय पहचानें एक अद्वितीय समग्रता में सिमट आयें, यथा 'एक राष्ट्र'। ऐसे स्वांगीकारक राष्ट्र-निर्माण प्रयास असफल रहे हैं क्योंकि 'राष्ट्र' संबंधी इस प्रकार के राज्य-समर्थित विचार सभी समूहों को आकर्षित कर पाने में नाकामयाब रहे हैं। बाहुल्य के सामने चुनौती मूलत: राज्य द्वारा इसी प्रकार के दिग्भ्रमित प्रयासों से ही उत्पन्न होकर आन खड़ी हुई है।

इस प्रकार एक समंजनवादी मन:स्थिति बनाने और एकाधिकता को सांस्कृतिक स्तरों पर मान्यता दिए जाने की आवश्यकता है। राज्य को निष्पक्ष रहना चाहिए और बहुलता एवं विविधता को स्वीकार, समायोजित, रक्षा प्रदान तथा प्रोत्साहन प्रदान करना चाहिए, न कि उन्हें समांगी बनाने एवं आत्मसात करने का प्रयास करता चाहिए। ऐसे अनेक प्रत्ययात्मक आदर्श हैं जो इस प्रकार के बाहुल्य प्रबंधन से वास्ता रखते हैं और हमारे ध्यान व ज्ञान के योग्य हैं। इन राज्यों को एक ऐसे संतुलित राज्य प्राधार की ज़रूरत है जो सभी के लिए समंजनकारी हो और किसी के लिए भी पक्षपातकारी न हो; साथ ही एक राजनीतिक व्यवस्था की ज़रूरत है जो प्रत्येक सदस्य व समूह की नागरिक स्वतंत्राताओं की रक्षा करे। निम्नलिख्ति चर्चा यहाँ व्यक्त किए गए इन्हीं विचारों की व्याख्या करती है।

२०.२ बहुवाद क्या है?

बहुवाद एक अवधारणा है जो अनेकता को समायोजित करती है और उसे अपरिहार्य मानती है। एकवाद के समर्थकों से भिन्न, जो बहुविषम पहचानों, संस्कृतियों एवं परम्पराओं की उपेक्षा करते हैं और प्राय: उन्हें एक बनावटी राजनीतिक इकाई में समेटकर रख देने के युक्तिपरक सुविचारित प्रयास करते है, बहुवाद बाहुल्य अर्थात् एकाधिकता को जीवन की एक सच्चाई मानते है। वह इस प्रकार की विविधता को संरक्षित एवं प्रोत्साहन देने का प्रयास करता है, बजाय इसके (अथवा इस कारण से अधिक) कि उनके बीच मतभेदों को संरक्षण एवं प्रोत्साहन दे।

बहुवाद के क्रम-विकास का एक लम्बा इतिहास है। यह मूल रूप से हीगल के नेतृत्व वाली जर्मन आदर्श-वादी विचारधारा के एकतत्त्ववाद के ख़िलाफ़ एक विरोध-प्रदर्शन के रूप में सामने आया। १८३० का दशक आते-आते बहुवाद की धारणा ने दर्शनशास्त्रा, मनोविज्ञान और यहाँ तक कि धर्मशास्त्रा हेतू एक अभिगम के रूप में जड़ें पकड़ना शुरू कर दिया था। तब यह तर्क दिया गया कि बहुवाद की व्याख्या एक मनौवैज्ञानिक, ब्रह्माण्डकीय अथवा सैद्धांन्तिक संदर्भ में की जा सकती है। मनोवैज्ञानिक बहुवाद ने यह दावा किया कि यहाँ अन्य स्वतंत्रा अस्तित्व हैं, आत्मिक सत्त्व अथवा आत्माएँ हैं और यह भी कि उन्हें महज़ एक सार्वत्रिाक सृष्टियात्मक जीवात्मा नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार, ब्रह्माण्डकीय बहुवाद ने तर्कपरक व्यक्तियों द्वारा आवासित विश्वों की बहुलता में विश्वास का समर्थन किया अथवा पिण्डों की विभिन्न व्यवस्थाओं (सौर मण्डल, आकाश गंगा आदि) में विश्वास का। धर्मशास्त्रीय बहुवाद ने बहुदेववाद की संकल्पना का फिर से सूत्रापात किया।

१८७० के दशक तक यूरोपीय दार्शनिकों द्वारा और अधिक तात्विक मंथन के बाद, बहुवाद ने अपनी छाप अन्य क्षेत्राों में भी छोड़ी, जैसे – विभिन्न सामाजिक विज्ञान। जॉन ड्यूवे ने इसे भिन्नताओं एवं विविधता पर ज़ोर दिए जाने की एक प्रवृत्ति के रूप में अलग रखा और कहा कि बहुवाद ने ''इस सिद्धांत को जन्म दिया कि सच्चाई विभिन्न व्यक्तियों की भिन्नता अथवा विविधता में ही निहित है।'' बहुवाद ने व्यवहार मूलक राजनीति के अधिकारक्षेत्रा में अपना रास्ता १९वीं शताब्दी के आरम्भ में बनाया। हैरॉल्ड लास्की, फ्रेडेरिक मैत्लां, जी.डी.एच. कोल, सिडनी एवं तीतरिस वैब तथा अन्य ने संप्रभुता संबंधी अद्वैत सिद्धांत के सार भाग की आलोचना की जो कि राज्य की संप्रभुता को अवियोज्य और अविभाज्य बताते थे। उनके अनुसार, राज्य की सत्ता राजनीतिक अधिकारक्षेत्रा में अन्य

सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक आयकर्त्ताओं के प्रभाव द्वारा सीमाबद्ध है। साथ ही उनका तर्क है कि यह राज्य के ही हित में है कि इन एकाधिक संस्थाओं की सत्ता की स्वीकार करे।

२०.३ सामाजिक व राजनीतिक क्षेत्रों में बहुवाद

यहाँ हम केवल एक राज्य के भीतर एकाधिक सामाजिक सांस्कृतिक पहचानों तथा विभिन्न एकाधिक समूहों के बीच राजनीति की अन्योन्य क्रिया को एक उत्पादनकारी व लाभकारी तरीके से नियंत्रित किया जाये, इस विषय से ही संबद्ध हैं।

इस प्रकार के 'बहुवाद' को समझने के लिए हमें उस सैंद्धांतिक परंपरा और अद्वैतवादियों के अवपीड़न एकतत्त्ववाद के सन्निहित निराकरण को भी समझना पड़ता है जो इस शब्द विशेष के इर्द-गिर्द बनी हुई है। अद्वैतवादियों का कहना है कि सच्चाइयों का एक अनन्य सामञ्जस्य है जिसमें हर चीज़ जो सत्य है, अन्तत: समा जानी चाहिए। इस पुरातन मान्यता ने राष्ट्र-राज्य की धारणा को जन्म दिया, यथा राज्यों के लिए ज़रूरी है कि राजनीति हेतु असरकारी बनने के लिए एक अनन्य राष्ट्र पर आधारित हों। अद्वैतवादियों ने कहा कि केवल एक सजातीय सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था ही राजनीतिक व्यवस्था को कार्यपरक बना सकती है। दूसरी ओर, एक एकाधिक व खण्डित सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश 'राजनीति विभाजनों की अपवृद्धि एवं मतभेदों के तीव्रीकरण' की ओर प्रवृत्त करता है। वैयक्तिक अधिकार संबंधी उदारवादी दृष्टिकोणों के प्रबल समर्थक, जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा: – "एक विभिन्न एवं निजी विशेषताओं से मिलकर बने देश में स्वतंत्रा संस्थाएँ असम्भव प्राय हैं। सह-भावना रहित लोगों के बीच, खासकर यदि वे विभिन्न भाषाएँ पढ़ते बोलते हैं, संयुक्त जनमत जो कि प्रतिनिधि सरकार के कार्य-संचालन के लिए आवश्यक है, हो ही नहीं सकता।" उदारवादी लोकतंत्रा तथा एकल-राष्ट्रीय राज्य के सफल मिलान संबंधी मिथक सभी उदारवादी चिंतकों को अभिभूत करता है। उनके अनुसार तीसरी दुनिया के समाजों की एकाधिकता एक असह्य विसंगति है। यहाँ तक कि नौरिस दुवर्जर, गैब्रील आमण्ड, लूसियन पाई, सिग्मण्ड न्यूमैन जैसे अनेक उदारवादी राजनीतिक दार्शनिक भी इस बात से सहमत हैं कि प्रभावशाली ढंग से काम करने के लिए किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के लिए एक एकीकृत और केंद्रीकृत सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था (जिसका अर्थ है– अनन्य नृजाजीय-सांस्कृतिक व्यवस्था)की सर्वाधिक बुनियादी ज़रूरत है।

कुछ उदारवादी चिन्तक इस बात पर ज़ोर देते हैं कि बहुवाद की भी अपनी मर्यादाएँ हैं। उदाहरण के लिए, हैरी एक्सटीन बहुवादी समाज को एक 'सखंड विदलनों द्वारा विभाजित समाज' की संज्ञा देते हैं, जहाँ राजनीतिक विभाजन सामाजिक विभेदीकरण व विभाजन की शृंखला का अनुसरण करते हैं। ये विदलन प्रकृति में 'धार्मिक, वैचारिक, भाषाई, क्षेत्रीय, सांस्कृतिक, प्रजातीय अथवा नृजातीय' हो सकते हैं। राजनीतिक दल, स्वैच्छिक संस्थाएँ, हित समूह, संचार-माध्यम तक ऐसी खण्डीय फूटों के इर्द-गिर्द संगठित होने की प्रवृत्ति रखते हैं। उन समूहों संबंधी फुर्निवाल का चरित्रा चित्राण, जो किसी एकाधिक राज्य-व्यवस्था में एक प्रभावशाली भूमिका निभाते हैं, बड़ा ही रोचक है। उनके अनुसार, एक बहुवादी समाज में हर एक समूह अपने ही धर्म, संस्कृति, भाषा, विचारों तथा तरीकों में रहने का प्रयास करता है। फिर भी यदि 'समुदाय-विशेष के विभिन्न वर्ग पास-पास रहते भी हैं,' 'वे एक ही राजनीतिक इकाई के भीतर पृथक् रूप से रहते हैं'। नितान्त यथातथ्य अर्थ में 'यह (लोगों का) एक घालमेल है, यह सत्य है कि वे मिलते-जुलते हैं परन्तु मिश्रण नहीं बनते'।

ऐसी स्थिति में, किसी एक खण्ड द्वारा आधिपत्य अपिरिहार्य हो जाता है। समूह-संबंध एक ग़ैर-लोकतांत्रिक तरीके से नियमित हो जाते हैं और एक समूह बाकियों पर प्रभुत्व जमा सकता है। गैब्रील आमण्ड इस प्रकार के बहुवादी समाजों को इस रूप में भी विशिष्टीकृत करते हैं – 'विसम्मत एवं सांस्कृतिक बहुवाद द्वारा अभिलक्षित नियमित समाज' जबकि उनकी तुलना 'सर्वसम्मत एवं सांस्कृतिक सजातीयता द्वारा अभिलक्षित एकीकृत समाजों' के साथ की जा रही हो।

२०.४ दक्षिण एशियाई स्थिति

दक्षिण एशिया का लक्षण-वर्णन प्राय: कुछ लोगों द्वारा संस्कृतियों एवं सभ्यताओं के प्रतिस्पर्धारत रहने एवं संघर्षरत रहने से संबंधित गलत पात्रा के रूप में, तो दूसरे लोगों द्वारा एक क्वथन-पात्रा के रूप में किया गया है। इस भूभाग में स्थित देश त्राुटिरहित रूप से बहु-राष्ट्रीय की संज्ञा देते हैं।

मालदीव को छोड़कर बाकी सभी देशों में एक समृद्ध भाषायी विविधता पायी जाती है। पुन:, वैविध्य विषयक धर्म के लिहाज से, दक्षिण एशिया में विश्व के सभी मुख्य धर्म अपनाये जाते हैं। अधिकांश राज्यों में धार्मिक विविधता की तिरछी काट करता जाति-कारक भी विद्यमान है। धार्मिक पहचानों एवं भू-सांस्कृतिक भिन्नताओं के आधार पर दूसरे गलत दर्रे भी हैं। उक्त भूभाग स्थित मुख्य देशों में इन तत्त्वों को सामने लाना ही उचित होगा।

२०.४.१ भारत में बहुवाद और लोकतंत्र

भारत विश्व के मुख्य धर्मों का गढ़ है। परन्तु हिन्दू और मुस्लिम देश में धार्मिक-सांस्कृतिक आधार शिला को विभाजित करते हैं। इन दोनों सम्प्रदायों के बीच संसाधनों के लिए प्रतिस्पर्धा, मूल रूप से औपनिवेशिक काल में अभिजात्य-जनित राजनीति द्वारा प्रारंभ, ने ही ब्रिटिश औपनिवेशक भारत प्रवृत्त किया। उनमें से एक, पाकिस्तान, तदोपरांत भाषा के आधार पर विभक्त हो गया। पूर्वी पाकिस्तान के बंगाली-भाषी मुसलमान बंगलादेश बनाने के लिए बँट गए। यह एकमात्रा उदाहरण ही शायद उन तिरछी काट करती धार्मिक-सांस्कृतिक संवेदनाओं को सबसे अच्छी तरह चित्रित करता है जो दक्षिण एशियाई राजनीति सच्चाई को परिभाषित करती हैं।

भारत में, धर्म के आधार पर विभाजन के बावज़ूद, अभिजात वर्ग ने धर्मनिरपेक्ष, संसदीय लोकतंत्रा कायम करना सुनिश्चित किया जिसने क्रम विकास और धैर्य के लिए आवश्यक अनुकरणीय क्षमता दर्शायी है। तथापि, स्वातंत्र्योत्तर भारत में, विडम्बना ही है कि लोकतांत्रिक सरकार प्रणाली, खासकर व्यवस्था विधान चुनने के चुनावी तरीके का सहारा लेकर, सभी संभव समूह निष्ठाओं, यथा – जाति, वर्ग, समुदाय, क्षेत्रा, धर्म व भाषा के आधार पर ही राजनीतिक संघटन में सक्षम हुई है। इसने परिधीय पहचानों व समूहों का गहरा राजनीतिकरण किया है और राज्य-व्यवस्था को खंडित किया है। एक अन्य स्तर पर हिन्दू धर्म की एकीकारी अपील ने अंतत: सांप्रदायिक एवं अंतत: धार्मिक विभाजक को पाटने का प्रयास किया है। इसने, बदले में, राज्य-व्यवस्था का संप्रदायीकरण किया है और राज्य में साम्प्रदायिक संघर्ष एवं अशांत राजनीतिक व्यवस्था के रूप में बदला है।

भारतीय संघ के भीतर स्वायत्त राज्यों के गठन के लिए क्षेत्रीय माँगें भी उठी हैं। बुन्देल खण्ड, विदर्भ, (पूर्वी महाराष्ट्र), विन्ध्य प्रदेश (उत्तरी मध्य प्रदेश), तेलंगाना (उत्तर-पश्चिमी आन्ध्र प्रदेश) ऐसे ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। किसी न किसी मापदण्ड को ध्यान में रखकर ही अतीत में भारतीय संघ के भीतर प्रान्तों को पुनर्गठित किया गया। इसके अलावा, देश के कुछ भागों में पृथकतावादी आन्दोलन भी चल रहे हैं, जैसे उत्तर-पूर्व, जम्मू-कश्मीर तथा पंजाब में।

इस प्रकार की fissiparous प्रवृत्तियों का मुख्य कारण लोकतंत्रा का प्रकार्यात्मकता वैकल्प तथा उद्धार करने में राज्य की घटती क्षमता रहा है। कश्मीर में उग्रवाद पनपने का मूल कारण क्षेत्रीय अभिजात वर्ग द्वारा लोकतांत्रिक प्रक्रिया में इच्छानुकूल परिवर्तन केन्द्रीय प्रशासन द्वारा इस प्रकार की दृश्यघटना की निकृष्ट और अविवेकपूर्ण अनदेखी ही था। यही बात उत्तर-पूर्वी राज्यों के विषय में भी सत्य है। इन राज्यों में मोहभंग का मुख्य कारण यह अवबोधन रहा है कि वहाँ के लोगों के साथ भेदभाव बरता गया है। स्थानीय स्तर पर शासन संकट ने एक पृथक्तावादी अभिजात वर्ग को परिधि पर ला पटका है। प्रतिरोध के सम्पूर्ण तानेबाने में बल-प्रयोग शुरू होने से भारतीय राज्य के लिए इतनी समस्याएँ पैदा कर दी गई हैं कि उतनी हल भी नहीं की गई हैं। इसने बदले में दक्षिण-पंथ और उग्रवादी राजनीति को जन्म दिया है।

हाल के वर्षों में, राजनीति में हिन्दू दक्षिण पंथ की अप्रत्याशित अधिकार-माँग कुछ निश्चित स्तरों पर हो रहे राजनीतिक परिवर्तनों की प्रकृति के एक और संकेतक के रूप में उभरी है। इसने अन्वेषकों को यह देखने के लिए मजबूर किया है कि भारत में एक प्राधान्यपूर्ण हिन्दू बहुमतवादी राजनीति एकरूपता थोपने का प्रयास करेगी। इसी के साथ, इस प्रकार की अधिकार-माँग के बावजूद धार्मिक विभाजक टिकाऊ राजनीतिक निर्वाचन क्षेत्रों में क्रम-विकसित हो गए हैं। यथा – यादव, भूमिहार, दलित अथवा बहुजन। वाम-पंथी अतिवादी निर्वाचन क्षेत्रा – नक्सल, माओ-राजनीति के क्षितिज पर बहरहाल एक और राजनीतिक वर्ग के रूप में धीरे-धीरे सर उठा रहा है। यह पुन: अपना संबंध मुख्य रूप से लोकतंत्रा के प्रकार्यात्मक विकल्प और जनता के एक अल्पसंभावित वर्ग की शिकायतों को दूर करने में राज्य की अक्षमता से जोड़ता है।

बोध प्रश्न १

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई-अंत में संकेत देखें।

१) बहुवाद से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

२) दक्षिण एशिया में बहुवाद की चुनौतियाँ क्या हैं?

....

....

....

....

....

महाधिक्य नियंत्रण कैसे: स्वांगीकरण एवं समंजन

भारत अप्रत्यक्ष रूप से अनेकता में एकता पर जोर देते हुए उस सांस्कृतिक एकता पर बल देता है जिसने विविध सांस्कृतिक समूहों को एक सूत्रा में बाँधने के रूप में काम किया। परन्तु यह सांस्कृतिक अथवा साम्प्रदायिक अधिस्वर रखती थी। अखण्ड भारत (एकीकृत भारत) की कल्पना जो उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैला हो, ऐसे पौराणिक कल्पना-प्रधान अतीत से ही जन्मी थी जिसमें सुस्पष्ट हिन्दू प्रतिक्रिया ही थी। यह सत्य है कि इस प्रकार की एकता की परिकल्पना निरापद रूप से जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व वाले धर्मनिरपेक्ष कांग्रेसी नेताओं द्वारा भू-सांस्कृतिक पहलू से ही की गई थी। परन्तु यह भी सत्य है कि वे वाग व्यवहार जो कि लोग इस प्रकार की एकता के प्रदर्शन में करते थे, हिन्दू पुराणों एवं अन्य धार्मिक मूलग्रंथों से ही लिए गए थे। ऐसे पुनरावेशित राष्ट्र के उत्साही राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने इस प्रकार की एकता की प्राचीनता सत्यापित करने के लिए इतिहास में अस्वाभाविक एवं पूर्वजों के विशिष्टता वर्णन का सहारा लिया, ताकि इसे स्वाभाविक और शाश्वत रूप में प्रस्तुत किया जा सके। यूरोप के १६४८-उपरांत वैस्टफ़ैलियन राज्यों की तर्ज़ पर एक राष्ट्र-राज्य बनाये जाने के प्रलोभन ने और ख़ास

कर गैरीबाल्डी, मैज़िनी, कैवूर, विस्मार्क जैसे राष्ट्रवादियों में लेखों ने, जर्मन व इटैलियन राष्ट्र को एकीकृत किए जाने के प्रयासों ने उन्हें एक अनैतिहासिक अतीत में इस प्रकार की राष्ट्रीयता का मूल तलाशने दूर अतीत में भेज दिया। हाल के मध्यकालीन इतिहास में मुस्लिम शासकों द्वारा लायी गई प्रशासनिक एकता को या तो अनदेखा किया गया या फिर पूरी तरह भुला ही दिया गया।

इस प्रकार के राष्ट्र के निर्माण के उत्साह ने विषम समूहों को एकजुट करने के लिए अभिजात वर्ग में एक प्रतिक्रियात्मक ललक पैदा की। उन्होंने अधिकांशत: स्वांगीकारक मुद्रा अपनायी, जिसमें अंत:-सामुदायिक भिन्नताओं तक को छुपाया गया था। इस बात को स्वाभाविक और पूरी तरह न्यायसंगत समझा गया कि उनसे उम्मीद की जाये कि एक केन्द्रीकृत, आधिपत्यपूर्ण औरConstruct के पक्ष में अपने विभेदकारी अभिलक्षणों को छुपायें। अनेकता को समायोजित करने के लिए अभिजात वर्ग के स्तर पर प्रयासों का अभाव था; उन्होंने अपने राष्ट्र-निर्माण प्रयासों की व्याख्या प्राधान्यपूर्ण तरीकों से की। परन्तु धीरे-धीरे चूँकि लोकतंत्रा पूर्ण विकसित हो चुका है, आभिजात्यों द्वारा समंजनकारी मुद्रा अपनाये जाने के सकारात्मक संकेत मिले हैं। तदनुसार हम प्रगतिशील राष्ट्रवादी नेतृत्व को स्वतंत्राताप्राप्ति के आरंभिक वर्षों में किन्हीं भी अनिश्चित अर्थों में भाषाई वैविध्य को समायोजित नहीं कर पाते हैं। यहाँ तक कि नृजातीय-सांस्कृतिक व क्षेत्रीय भिन्नताएँ भी उत्तरोत्तर समायोजित की गई हैं, जैसा कि झारखण्ड, छत्तीसगढ़, आदि की माँगों के उदाहरणों में देखा गया है। तथापि, इस प्रकार की समंजनकारी मुद्रा कुछ प्रकार की विविधताओं को छोड़ देती है और भारतीय राज्य-व्यवस्था को कुछ और वक्त लगेगा कि वह उसे तर्कसंगत परिणति तक पहुँचा सके।

२०.४.२ अन्य देशों में बहुवाद और लोकतंत्र

भूभाग के अन्य देशों में लोकतंत्रा को अभी तक निर्विघ्न राह नहीं मिल पायी है। पाकिस्तान में, उदाहरण के लिए, सेना-नौकरशाही संघ ने अवसरवादी राजनीतिज्ञों के साथ मिलकर अपनी संप्रभु सत्ता के अधिकांश भाग देश पर शासन किया है। शासनकारी अभिजात वर्ग समय-समय पर वैधता के संकट से ग्रस्त रहा है। उदाहरण के लिए, नवाज़ शरीफ जिन्हें भारी जनादेश के साथ सत्ता में चुनकर लाया गया था, सेना-प्रमुख परवेज़ मुशर्रफ द्वारा गद्दी से उतार दिये गये। सेना को कार्रवाई करने के लिए मुख्य कारण आमतौर पर नवाज़ शरीफ द्वारा निरंकुश सत्ता की अलोकतांत्रिक अधिकार-माँग बताया जाता है। सेना ने अपने ही तरीके से तिकड़मपूर्ण जनमत-संग्रह, जैसे-तैसे भाग लिए गए स्थानीय-निकाय चुनावों और यहाँ तक कि एक मंच-संचालित राष्ट्रीय चुनाव के माध्यम से सार्वजनिक वैधता हासिल करने का प्रयास किया है। उनके द्वारा weild सत्ता के लिहाज से, मुशर्रफ व उनके सत्तासीन घनिष्ठ-लोकतंत्रावादियों के नेतृत्व वाले सैन्य-शासन तथा उन सियासी ताकतों के बीच, जिनको उसने चुनावी कलह से बाहर ही कर दिया है, एक असमान प्रतिस्पर्धा चलती रही है।

यहाँ यह बात जोड़ना भी अत्यावश्यक है कि पाकिस्तान में अंतत:-इस्लामिक महाधिकता हाल के वर्षों में एक फ़ौजी तरीके से सामने आयी है। यह सुन्नियों के बीच सभी के लिए खुली लड़ाई रही है और सुन्नियों के भीतर देवबन्दियों व बरेलवियों, यानी शियाओं तथा अहमदियों के बीच। बढ़ते फ़ौजीकरण ने असरकारी रूप से लोकतंत्रा के दरवाज़े बंद कर दिए हैं। पाकिस्तान दमित राष्ट्रीयताओं (PONM) यथा बहुसंख्यक पंजाबियों के सामने मुकाबले को खड़े बलूचियों, सिंधियों, पठानों व सरैकियों के संयोजन, के रूप में पाकिस्तान का बहुवादी चेहरा भी धीरे-धीरे वहाँ एक राजनीतिक हकीकत के रूप में सामने आ रहा है।

श्रीलंका में बहुसंख्यक सिंहलियों ने पचास के दशक से ही शासन-व्यवस्था से प्रभावशाली अल्पसंख्यक तमिलों को असरकारी ढंग से बाहर कर रखा है और इसने अस्सी के दशक से इस द्वीप को गृहयुद्ध की ओर प्रवृत्त किया है। किसी प्रभावी और प्रामाणिक संघीय, लोकतांत्रिक व्यवस्था के अभाव में संकट का कोई भी कारगर उपाय कभी संभव नहीं होगा जैसा कि नार्वेजियनों की मध्यस्थता में इन दोनों पक्षों के बीच वार्ताओं की विफलता ने प्रचुरता से दर्शाया है।

नेपाल में भी लोकतंत्रा बड़े विकृत तरीके से विकसित हुआ है जहाँ अभिजात वर्गों ने राजतंत्रा से लोकतंत्रा में आने के समय से ही अपनी लड़ाइयों द्वारा लोकतंत्रा की नितान्त व्यवस्था को शर्मिन्दा किया है। लोकतांत्रिक व्यवस्था की विफलता और ठीक ढंग से काम न करने की वजह ने परिवृत्त में माओवादियों को सर उठाने दिया है। राज्य शक्तियाँ जमकर लड़ाई लड़ रही हैं और फिर भी तब तक कोई हल नहीं निकलेगा जब तक कि शासनकारी राजनीतिक अभिजात वर्ग माओवादियों को अनुकूल करने और उन्हें अपनी माँगें राज्य के सामने लोकतांत्रिक तरीके से रखने देने में अक्लमंदी नहीं दिखाता।

बांग्लादेश में समाज के चरम आपराधीकरण एवं गहन राजनीतिकरण ने उसे दो विरोधी खेमों में बाँट दिया है: मुक्तिवादी अर्थात् शेख मुजीबुर्रहमान के अनुयायी, और मुक्ति-विरोधवादी जो कि अब इस्लामवादी दक्षिणपंथियों के साथ हैं। परवर्ती ने एक समय बांग्लादेश बनाये जाने का विरोध किया था। चुनावी भाषा में, बांग्लादेश में लोकतंत्रा अपने आप तेजी से स्थापित हो रहा है परन्तु बड़ी तेजी से बढ़ती जनसंख्या और निरक्षरता एवं ग़रीबी के बढ़ते निर्देशांकों के साथ, बांग्लादेश में लोकतंत्रा की यथार्थ विचारधारा को जड़ पकड़ने में वर्षों लग सकते हैं।

दक्षिण एशिया में राजनीतिक स्थिति पर एक सरसरी दृष्टि दर्शाती है कि लोकतंत्रा प्रणाली में, जो कि इस भूभाग स्थित देशों में विभिन्न तरीकों से अपनाई गई है, भारत के उदाहरण में शायद कुछ अपवाद के साथ, अभी तक दयनीय रूप से उन मानकों की कमी है जो उन्होंने अपने ऊपर लागू किए हैं। एक लोकतांत्रिक रीति से अपने बीच महाधिक्य से निबटने के लिए उनकी अक्षमता के मूल कारणों का एक संकल्पनात्मक दृष्टि से विश्लेषण नीचे किया गया है।

महाधिक्य नियंत्रण कैसे: दमनकारी राज्य, केन्द्रीकारी प्रतिक्रियाएँ जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है, दक्षिण एशिया में भारत के अलावा अन्य देशों ने लोकतंत्रा का एक विकृत आदर्श अपनाया है। इन सभी राज्यों में एक आधिपात्यपूर्ण 'नृजातीय व्यवस्था' ने जन्म लिया है जो अपने विशेषाधिकारों की ईर्ष्यापूर्ण तरीके से रक्षा करता है। पाकिस्तान में यह अगर पंजाबी अभिजात वर्ग है, तो श्रीलंका में यह सिंहली अभिजात वर्ग है। पाकिस्तान में पंजाबी अभिजात वर्ग ने किन्हीं तरीकों से पश्तूं अभिजात वर्ग को अपने अनुकूल कर लिया है, परन्तु सिंधी और बलूची अभिजात वर्गों को राजनीतिक सत्ता के क्षेत्राधिकार से दूर रखा गया है। श्रीलंका में सिंहली अभिजात वर्ग ने, जिन्हें विडम्बनापूर्ण रूप से लोकतंत्रा और गिनती के खेल से सत्ता प्राप्त है, तमिलों को पूरी तरह हाशिए पर ही धकेल दिया है। इसी प्रकार, बांग्लादेश राज्य की इस्लामिक प्रतिक्रियाएँ बिल्कुल स्पष्ट रही हैं। यह तथ्य कि बांग्लादेश से हिन्दुओं का निरन्तर बहिर्वाह होता रहा है, इस बात को सिद्ध करता है कि बांग्लादेश में राज्य ने एक ऐसे आधिपत्य को समेकित किया है जो अन्य समुदायों के प्रति असहिष्णु है। यह बात उस तरीके से भी सामने आती है जिससे कि बांग्लादेशी अभिजात वर्ग ने बौद्ध चकमाओं के साथ व्यवहार किया।

एकाधिक पहचानों द्वारा अधिकार-माँग के मामलों को निबटाने में राज्य ने एक दमनकारी शैली अपनायी है। पाकिस्तान राज्य अपने इतिहास के आरम्भिक वर्षों में बंगाली-भाषी पूर्वी पाकिस्तान जन-नेतृत्व तथा पश्चिमी पाकिस्तान की पंजाबी-प्रधान राजनीति, दफ्तरशाही एवं सैन्य नेतृत्व के बीच एक गंभीर सत्ता संघर्ष में फँसा देखा गया। अधिसंख्यक बंगालियों को दबाने की चेष्टा में पंजाबी-प्रधान पाकिस्तान नेतृत्व उन विषम राष्ट्रीयताओं के बीच एक बलात् एकता ले आया जिनके पास इस्लाम को छोड़कर, अपने बीच एकता का कोई स्पष्ट सर्वमान्य सूत्रा ही नहीं था। गत वर्षों में शासक अभिजात वर्ग द्वारा एक बनावटी एकता का थोपा गया अर्थ लगातार प्रबलित किया जा रहा है। यहाँ तक कि भुट्टो जैसे एक अन्यथा सौम्य और पश्चिमी रंग में ढले राजनेता को, जिसने पाकिस्तान को उसका सर्वप्रथम सुविचारित संविधान दिया, उन दमनकारी उपायों को फिर से अपनाते देखा गया जो पाकिस्तानी सेना ने पूर्वी पाकिस्तान में प्रयोग किए थे। उसने उसी सेना को तलब किया जो १९७३-७४ के दौरान बलूचियों का मुँह बंद करने के लिए हुए विभाजन के आघात से उबर रही थी। हाल में बलूची अधिकार-माँग और पाकिस्तान दमित राष्ट्र संघ(Oppressed Nations

of Pakistan) द्वारा सहमत आन्दोलन के दृष्टिकोण से, सैन्य प्रशासन ने अब तक आत्म-संयम दर्शाया है। परन्तु नृजातीय-सांस्कृतिक मतभेदों को नियंत्रित किए जाने की शैली अभी तक मुख्य रूप से दमनकारी बनी हुई है। कभी-कभी दक्षिण एशिया में सत्ता अभिजात वर्ग ने विसम्मत समूहों को भी समायोजित करने का प्रयास किया है।

२०.५ चुनौती प्रबंध: एक संकल्पनात्मक उपकरण

राजनीति का सार है – मतभेद नियंत्राण। राजनीति भलीभाँति बनाए गए सिद्धांतों पर काम करती है, जिनके इर्द-गिर्द सर्वसम्मति या तो साहजिक होती है या फिर बनावटी। बहुवादी समाजों के साथ खास दिक्कत यह है कि वे भिन्न दिशा में जाता रास्ता ही है जिससे आम राजनीति-सिद्धांतों तक पहुँचा जाता है, उनकी व्याख्या की जाती है और उनको अमल में लाया जाता है। यह प्राय: राजनैतिक प्रक्रियाओं विषयक प्रतिकूल और परस्पर विरोधी अवधारणाओं तथा हितों के अपरिहार्य संघर्ष की ओर प्रवृत्त करता है। इस परिदृश्य में लोकतंत्रा के आने के साथ ही बहुमत शासन के लिए लोकतांत्रिक संवेदना विषम समूहों के बीच कृत्रिम राजनीतिक बंधन में स्पष्ट हो जाती है और इस समयानुकूल संधि की प्रकृति समय-समय पर बदलती है। यह बात राजनीति की प्रकृति पर प्रभाव डालती है और लोकतंत्रा को महज चुनावतंत्रा बनाकर रख देती है। कुछ अन्य मामलों में, जैसा कि स्मिथ ने उल्लेख किया है, जहाँ समाज गहरे विभाजित और विखण्डित होता है, एक संख्यात्मक बहुमत समूह (बहुमत आधिपत्य) द्वारा शासन, यदि ऐसा समूह अपने-आप में विभाजित हो सकता हो फिर भी, अपरिहार्य हो जाता है। ऐसे बहुवादी समाज राजनीति सिद्धांतियों के समक्ष वस्तुत: एक सच्ची चुनौती पेश करते हैं।

पश्चिमी जगत् में समस्त अनुभववादी एवं बुद्धिवादी विचारधााओं ने, जो राजनीतिक विकास, एवं अल्पविकसित देशों में समाजों के लोकतंत्रीकरण के मुद्दों पर काम कर रही हैं, बहुवादी समाजों में कार्यरत राजनीतिक प्रणालियों के विश्लेषण का प्रयास किया है और सच्चे लोकतंत्रा से विपथनों एवं विचलनों के बावजूद उनसे सबक लिया है। ऐसे समाजों के लिए जो नुस्खे उनके पास हैं, उन्हें मूलरूप से दो प्रतिमानों में रखकर विकसित किया जा सकता है : उदारवादी तथा मित्रातावादी। उदारवादी प्रतिमान इन बातों पर जोर देता है:

i) सभी नागरिकों के बीच समूह-संबंधों के होने के बावज़ूद, उनकी नागरिक समानता

ii) संवैधानिक साधनों के माध्यम से नागरिक एवं राजनैतिक अधिकारों की रक्षा

iii) नृजातीय विषयों में राज्य की तटस्थता

iv) निजी क्षेत्रा में राज्यक्षेत्रा का अल्पीकरण

v) राजनीतिक प्रक्रिया में समूहों का सहभागितापूर्ण समावेश

हालाँकि उदारवादी प्रतिमान, समूह आकर्षण को कम करने में विफल रहा है। व्यक्तिवाद पर उसका ज़ोर सामुदायिक संबंध की शक्ति को क्षीण करने और यह सुनिश्चित करने का प्रयास करता है कि राजशासन में असली राजनीतिक परमाणु व्यक्ति ही है न कि समुदाय अथवा समूह। इसके अतिरिक्त, बहुवादी समाजों में उदारवादी लोकतंत्रा समूहों के भीतर आभिजात्य गठन प्रक्रिया में मदद करता है और समूह बंधुत्व प्रक्रिया को समेकित करता है। इस प्रकार समूह उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण और राजनैतिक रूप से प्रतिस्पर्धात्मक बन जाते हैं। महाधिक्य के तथ्यों को छुपाने के प्रयास में उदारवादी लोकतंत्रा ऐसी बहुवादी पहचानों की एक स्थायी अपील का शिकार हो जाता है जिसके आसपास अधिकतर राजनीतिक लामबंदी जन्म ले लेती है।

मित्रातात्मक प्रतिमान, जिसका समर्थन अरेन्द्र लिज़र्फ़ा ने किया है, उस उदारवादी प्रतिमान की अन्तर्जात कमजोरियों को ध्यानार्थ लेता है जो नृजातीय विविधता की हकीकत को छुपाने को प्रयास

करता है। यह नृजातीय-सांस्कृतिक विविधताओं को समायोजित करता है और उन्हें राजनीति के क्षेत्रा में न्यायसंगत स्थान प्रदान करता है। यह समूह हितों को मान्यता देता है। साथ ही, यह वैयक्तिक अधिकारों एवं स्वतंत्राताओं पर एक बढ़ौती भी रखता है। एक मित्रातावादी राजनीतिक व्यवस्था के मुख्य तत्त्व हैं :

i) सत्ता-बाँट से जुड़े मामलों की पतवार के सहारे एक विशाल राजनीतिक गठबंधन। बहुवादी समाजों में, एक नहीं अनेक बार देखने में आता है कि विभिन्न समूहों के नेतागण प्राय: एक सहकारी तरीके से सत्ता प्रयोग के लिए एक साथ आ खड़े होते हैं जबकि द्वि-दलीय प्रणालियों में, मुख्य रूप से सजातीय राज्यों को लिए जाने पर, नेतागण शत्र्ाुता शैली अपनाते हैं। मित्रातात्मक नेतृत्व शैली इस प्रकार एक हो जाने की प्रवृत्ति रखती है। दक्षिण एशियाई राजनीति में विशाल गठबंधन का एक निकट उदाहरण है – भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पार्टी। तथापि, लिजफ़र्ट १९९० के दशक से कांग्रेस के पतन और भा.ज.पा. के उत्थान के आलोक में उससे संबंधित मैत्रीवाद पर अपने विचारों को संशोधित कर रहे हैं।

ii) समायोजनवादी समाधान के प्रति वचनबद्धता। नेतागण सहज ही इस कारण से कि वे कलहकारी मन:स्थिति से बचे रहें, साथ आ जुटते हैं और विपरीत एवं विवादास्पद दृष्टिकोणों को समंजित करने का प्रयास करते हैं।

iii) सखंड स्वायत्तता और ग़ैर-राज्यक्षेत्रीय संघवाद। विभिन्न समूहों को एक-दूसरे से स्वतंत्रा काम करने की इजाज़त होती है और उनकी स्वायत्तता की गारण्टी लिखित और औपचारिक विधिसंगत साधनों द्वारा दी जाती है। इन समूहों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार भलीभाँति मान्यता और सुरक्षा प्राप्त होते हैं। चूँकि हो सकता है कि ये समूह सुस्पष्ट राज्यक्षेत्रीय सीमाओं में समूहित न हों और फिर भी केन्द्रीय सत्ता-आधार की बुनियादी इकाइयों का निर्माण करते हों, इन समूहों के बीच इस प्रकार के सत्ता वितरण को ग़ैर-राज्यक्षेत्रीय संघवाद कहा जा सकताहै।

iv) परस्पर प्रतिषेधाधिकार। सभी समूहों के लिए परस्पर 'वीटो' अर्थात् प्रतिषेधाधिकार का प्रावधान एक मित्रातात्मक व्यवस्था में सत्ता-प्रयोग को बहुत ही रोचक बना देता है। यह इस बात की गारण्टी है कि ऐसा कोई भी निर्णय जो किसी समूह के व्यापक हितों के प्रति हानिकारक हो, इस प्रकार की व्यवस्था में स्वीकार्य नहीं होगा। जॉन सी. कैल्हों इस व्यवस्था को 'समवर्ती बहुसंख्यक' कहते हैं जो अपने आप में प्रत्येक अल्पसंख्यक समूह को अपनी रक्षा स्वयं करने की शक्ति प्रदान करता है और किसी भी संभावित दमनकारी बहुसंख्यक वर्ग द्वारा मतों की गिनती में हरा देने का भय दूर करता है।

v) राजनीतिक विच्छेद का अधिकार (संबंध-विच्छेद और विभाजन)। सैम्युअल पी. हन्टिगटन ने एक बार टिप्पणी की कि राजनैतिक विच्छेद उन्नीसवीं शती में सामाजिक व्यवस्था की पहचान था। मित्रातावादियों की ही भाँति, उन्होंने तर्क दिया कि अल्पसंख्यक समूहों को इस अधिकार की आवश्यकता है कि वे अपने हितों के रक्षार्थ, जब भी उन्हें ऐसा आवश्यक लगे, प्रबल समूह से विलग हो सकें।

vi) सुविचारित समाधान पर पहुँचने के लिए सत्ता अभिजात-वर्गों की दुष्प्रवृत्ति। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया, एकाधिक समाज की अपकेन्द्री प्रवृत्ति उस समूह-नेतृत्व की सहकारी प्रवृत्ति द्वारा प्रतिसंतुलितकी जाती हैजो हमेशा लोकतंत्रा के मित्राात्मक रूप मेंगठबंधनों कोढूँढते रहते हैं।

दक्षिण एशिया के राज्यों में लोकतंत्रा को सफल बनाने के लिए विश्वास और सामंजस्य का माहौल बनाया जाना अति आवश्यक है। दक्षिण एशियाई राज्यों के बीच अन्तर्सांस्कृतिक संबंध विकास और सहयोग वाले एक क्षेत्रीय प्रतिमान को संभव बनायें। इस भूभाग में राज्यों को राज्यों के ही रूप में और विकसित होना होगा, न कि किसी एक समुदाय-विशेष अथवा चुनिन्दा समुदायों के किसी समूह के प्रतिनिधि के रूप में। आन्तरिक स्तर पर, उन्हें न्याय एवं निष्पक्ष व्यवहार सुनिश्चित करना होगा

और राज्य के मामलों में लोगों की राजनीतिक भागीदारी को करना होगा। इन सभी देशों में राजनीतिक अभिजात वर्ग को काफी परिपक्वता दर्शानी होगी कि अन्य समूहों के हितों को समायोजित कर सकें और ऐसे समूहों को अपने ढंग से विकसित होने में मदद कर सकें। महाधिक्य केवल तब सफल होगा जब मतभेदों को एक निष्पक्ष, खुले, स्वतंत्रा और ग़ैर-विभेदकारी माहौल में अपने आप दूर होने दिया जाएगा।

बोध प्रश्न २

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई-अंत में संकेत देखें।

१) दक्षिण एशियाई देशों में बहुवाद की चुनौतियों पर किस प्रकार नियंत्रण किया गया है?

....

....

....

....

....

२) वे सैद्धांतिक आदर्श क्या हैं जिन्हें दक्षिण एशिया में बहुवाद की चुनौतियों के प्रबंधन में व्यवहार किया जाता है?

....

....

....

....

....

२०.६ सारांश

किसी समाज में बहुवाद संस्कृति, भाषा रीति-रिवाजों, परम्पराओं आदि के लिहाज से भिन्नताओं के होने को दर्शाता है। इन भिन्नताओं को विविधताओं के रूप में भी जाना जाता है। बहरहाल परवर्ती महज राजनीतिक अधिकारों वाले विविध समूहों के वज़ूद को दर्शाता है। दक्षिण एशिया के सभी देश बहुवादी हैं। यहाँ भिन्न-भिन्न संस्कृतियों भाषाओं, रीति-रिवाजों, नृजातीयता, आदि वाले अनेक समूह हैं। इन समूहों के बीच सामंजस्यपूर्ण संबंध भी हैं और कलहकारी संबंध भी। दक्षिण एशिया में नृजातीय संघर्ष। उपद्रव, स्वायत्तता आन्दोलन, आदि। स्वायत्तता आन्दोलन राष्ट्र-राज्य की संप्रभुता तक को धमकी देते हैं; नृजातीय संघर्ष आम व्यवस्था पर ख़तरा बनते हैं। ये बातें दक्षिण एशियाई देशों में बहुवाद के समक्ष चुनौती पेश करती है। बहुवाद की चुनौतियों के नियंत्राण के लिए दो प्रतिमान उपलब्ध हैं – उदारवादी और मित्रातात्मक। दक्षिण एशिया में राज्यों ने बहुवाद को मिल रही चुनौतियों को विभिन्न समूहों के समंजन एवं अवपीड़न द्वारा काबू करने का व्यापक रूप से प्रयास किया है।

२०.७ कुछ उपयोगी पुस्तकें

बोस, सुगत एवं आएशा जलाल (सं.) (१९९८), *नैशनलिज़्म, डिमॉक्रसी एण्ड डिवैलॅपमण्ट: स्टेट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया,* ऑक्सफॉर्ड, यूनिवर्सिटि प्रैस, नई दिल्ली

कॉर्नैल (२००२), *''द प्रोग्रैस ऑफ प्लुरलिज़्म एण्ड द टग ऑफ़ वॉर ऑफ सिविलाइज़ेशन्स''* पर्सैटशन्स जून-अगस्त

डाल, रॉबर्ट, ए. (१९७१), *पॉलिआर्कि: पार्टिसिपेशन एण्ड ॲपोज़ीशन,*मेल यूनिवर्सिटि प्रैस, न्यू हैवन

ग्वोस्देव, निकोला (२००२), *''मैनिजिंग पपूरलिज़्म'', वर्ल्ड पॉलिसी जर्नल,* शीलकाल

जलाल, आएशा (१९९५), *डिमॉक्रसी एण्ड ॲथॉरिटेरियअनिज़्म इन साउथ एशिया: ए कॉम्पैरिटिव एण्ड हिस्टॉरिकल पर्सपैक्टिव,* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटि प्रैस, कैम्ब्रिज

लिज़फ़र्ट, आरेन्द्र (१९८९), *डिमॉक्रसी इन प्लूरल सोसाइटीज़: ए कॉम्पैरेटिव एक्सप्लोरशन,*बम्बई, पॉपुलर प्रकाशन

ऊमन, टी. के. (२००२), *प्लूरलिज़्म, इक्वलिटि एण्ड आइडेण्टिटि,* नई दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस

पालेग, इलाज (२००४), *''ट्रान्सफ़ोर्मिंग एथनिक ऑर्डर्स टु प्लुरलिस्ट रिजीम्स'',*आन्द्रियन गुएल्के (सं) कृत डिमॉक्रसी एण्ड एथनिक कॉन्लिक्ट : एडवान्सिंग पीस इन डीपली डिवाइडिंग सोसाइटि, पालग्रेव मैकमिलन, न्यूयार्क

ठाकुर, रमेश एवं ओदी विजें (२००४), *साउथ एशिया इन द वर्ल्ड: प्रॉब्लम सोल्विंग पर्सपैक्टिव्ज़ ऑन सिक्युरिटी, सस्टेनेब्ल डिवैलॅपमण्ट, एण्ड गुड गवर्नैंस,*टोक्यो, यून.एन.यू. प्रैस।

२०.८ बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्नों १

१) बहुवाद का अर्थ है – लोगों के बीच बहुलता की विद्यमानता, जो कि समाज में धर्म, भाषा, संस्कृति, परम्पराओं, रीति-रिवाजों, आदि पर आधारित होती है। यह विविधता से भिन्न होती है। जबकि परवर्ती भिन्नताओं के वजूद की ओर इशारा करती है, बहुवाद राजनीतिक अधिकारों के साथ ही भिन्नताओं का अस्तित्व होने की ओर संकेत करता है।

२) दक्षिण एशिया के सभी देश भाषा, धर्म, संस्कृति, रीति-रिवाजों, परम्पराओं, आदि के आधार पर सामाजिक समूहों के बीच समाज में दरारों से घिरे हैं। राजनीतिक अभिजात वर्ग उन्हें अपने लाभ के लिए इच्छानुकूल कर लेते हैं, जो लोगों के अधिकारों तथा लोकतंत्रा को भारी हानिहुँचाता है।

बोध प्रश्न २

१) दक्षिण एशियाई देशों ने बहुवाद की चुनौतियों का सामना करने के लिए मुख्य रूप से दमनकारी और समंजनकारी साधन अपनाये हैं।

२) दो मॉडल हैं – उदारवादी और मित्रातावादी।

इकाई २१ उदारीकरण और संरचनात्मक समंजन कार्यक्रम

इकाई की रूपरेखा

२१.० उद्देश्य

२१.१ प्रस्तावना

२१.२ उदारीकरण

२१.२.१ उदारीकरण क्या है?

२१.२.२ उदारीकरण की प्रेरणा

२१.३ संरचनात्मक समंजन कार्यक्रम (सैप)

२१.४ दक्षिण एशिया के आर्थिक अभिलक्षण

२१.५ बांग्लादेश में उदारीकरण और 'सैप'

२१.६ भारत में उदारीकरण और 'सैप'

२१.७ पाकिस्तान में उदारीकरण और 'सैप'

२१.८ श्रीलंका में उदारीकरण और 'सैप'

२१.९ सारांश

२१.१० कुछ उपयोगी पुस्तकें

२१.११ बोध प्रश्नों के उत्तर

२१.० उद्देश्य

यह इकाई दक्षिण एशिया में आर्थिक विकास से संबंधित एक महत्त्वपूर्ण विषय का विश्लेषण प्रस्तुत करती है, यथा उदारीकरण एवं संरचनात्मक समंजन कार्यक्रम (सैप)। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि:

- उदारीकरण की अवधारणा को स्पष्ट कर सकें;
- संरचनात्मक समंजन कार्यक्रमों (Structural Adjustment Programmes) के मुख्य अवयवों को पहचान सकें;
- दक्षिण एशिया में उदारीकरण एवं 'सैप' (SAPs) में शामिल विषयों को पहचान सकें;
- दक्षिण एशियाई अर्थव्यवस्थाओं पर उदारीकरण एवं 'सैप' के प्रभाव का मूल्यांकन कर सकें; और
- उदारीकरण एवं 'सैप' के गुणों एवं दोषों का विश्लेषण कर सकें।

२१.१ प्रस्तावना

ब्रैटनवुड्स व्यवस्था नामक अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था, जिसने निश्चित रूप द्वितीय विश्वयुद्ध के तत्काल बाद के वर्षों में लिया, ने १९७३ के उत्तरार्ध तक भलीभाँति काम किया। विकास दर में सर्वत्रा उछाल रहा। तथापि, सत्तर के दशकांत में विश्व को पहला 'तेल आघात' लगा जब तेल व पैट्रोलियम

उत्पादों के दाम तेजी से बढ़ गए। विश्व अर्थव्यवस्था मंदी में डूब गयी। हालाँकि पश्चिम व यूरोप की विकसित अर्थव्यवस्थाएँ, अल्प-विकसित व विकासशील अर्थव्यवस्थाएँ सबसे बुरी तरह प्रभावित हुईं उनके भुगतान-शेष(balance of payments) को गंभीर घाटे के रूप में देखा गया। इनमें से कुछ देश ऋृण-जाल में फँस गए। जब ये देश राहत सहायता के लिए अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास पहुँचे तो कोष ने ऋृण स्वीकृत करते समय इन ऋृणी देशों को संरचनात्मक समंजन कार्यक्रम लागू करने को कहा, जोकि बाज़ार की भूमिका को बढ़ाने तथा राष्ट्र/ सरकार की भूमिका को घटाने वाले थे। वर्तमान में यह योजना दक्षिण एशिया समेत अनेक देशों में लागू की जा रही है। इस इकाई में हम दक्षिण एशिया में उदारीकरण व संरचनात्मक समंजन कार्यक्रमों का विश्लेषण करेंगे और उनके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालेंगे।

२१.२ उदारीकरण

१९२० के दशकोत्तर के 'महाअवसाद' (Great Depression) ने विश्व अर्थव्यवस्था के सामने अल्पकालीन के साथ-साथ दीर्घकालीन समस्याएँ भी रखीं। ये समस्याएँ आगे चलकर बढ़ गयीं जिसके परिणामस्वरूप द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ। ये समस्याएँ अनेक प्रकार की थीं: संरचनात्मक, व्यापार पद्धतियाँ, भुगतान-शेषों में घाटा, घरेलू निवेश को जन्म देने में निरन्तर कमी, बेरोज़गारी आदि। विश्व अर्थव्यवस्था को इन समस्याओं से निकालने और स्थायी समाधान खोजने के लिए विभिन्न मॉडल तैयार किए गए। एक मॉडल, जो लब्धप्रतिष्ठ अर्थशास्त्री जे. एम. केन्स द्वारा सुझाया, तीन अन्तरराष्ट्रीय संगठन स्थापित किए जाने के संबंध में था, यथा अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई.एम.एफ), विश्व बैंक(World Bank), और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार संगठन (आई.टी.ओ)। उन्हें सौंपे गए दायित्व भिन्न-भिन्न थे। आई.एम.एफ. का काम था भुगतान-शेषों (बी.पी.ओ.) की आवश्यकताओं हेतु अल्पाधिक वित्त प्रदान करना, यानी बी.पी.ओ. में बढ़ते घाटे को ठीक करना। विश्व बैंक का काम था द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हुए नुकसान की भरपाई और आर्थिक विकास के लिए तदोपरांत अवधि में दीर्घावधि पूँजी प्रदान करना। आई.टी.ओ. का काम था अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को नियंत्रित करने और मुक्त व्यापार में सहायता देने के लिए नियम स्थापित करना। आई.एम.एफ. और विश्व बैंक की स्थापना १९४० के आरंभ में की गई। १९४८ में आई.टी.ओ. की स्थापना के लिए सिफ़ारिश में किंचित परिवर्तन किया गया और एक नए नाम वाली संस्था स्थापित की गई – शुल्क एवं व्यापार पर आम सहमति यानी 'गैट' (General Agreement on Traiff and Trade - GATT)। जनवरी १९९५ में 'गैट' का पुनर्नामकरण विश्व व्यापार संगठन यानी डब्ल्यु.टी.ओ. (World Trade Organization) के रूप में हुआ और इसका कार्यक्षेत्रा व्यापार से जुड़े विषयों को समायोजित करने के लिए विस्तीर्ण किया गया, जैसे कि विदेशी निवेश एवं प्रौद्योगिकी हस्तांतरण, अंतरराष्ट्रीय वित्तीय प्रवाह, आदि। ये तीनों संगठन विश्व अर्थव्यवस्था में प्रमुख खिलाड़ी बन गए हैं, जो विभिन्न राष्ट्रों की आर्थिक नीतियों को प्रभावित करते हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व अर्थव्यवस्था उग्र प्रभाव वाले परिवर्तन से गुज़री – अमेरिका, कनाडा, यूनाइटेड किंग्डम, नीदरलैण्ड्स, जर्मनी जैसे विकसित औद्योगिक देशों ने अपनी अर्थव्यवस्थाओं को खोल दिया और बड़े पैमाने पर उदारीकरण कार्यक्रम अपना लिए। उदारीकरण ने १९५० से १९७३ के बीच इन देशों को तेजी से विकसित होने में मदद की। इस अवधि के दौरान उनकी विकास दर लगभग पाँच प्रतिशत रही जो कि गत १०० वर्षों की प्रवण विकास दर से लगभग दुगुनी थी। १९५०-७३ की अवधि को इसी कारण विश्व अर्थव्यवस्था के 'सुनहरे युग' के रूप में जाना गया। औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं के विकास ने विश्व को लाभ पहुँचाया और अंतरराष्ट्रीय माल व्यापार में वृद्धि इस विकास की प्रेरक शक्ति थी।

२१.२.१ उदारीकरण क्या है?

पिछले दो दशकों में, उदारीकरण(Liberalisation) और भूमण्डलीकरण (Globalization) ही ऐसे शब्द हैं जो विकास अर्थशास्त्रा की बातचीत पर हावी हो गए हैं। सरल शब्दों में, उदारीकरण का

अर्थ है देशों के बीच व्यापार, निवेश व पूँजी प्रवाहों को मुक्त कर देना। इसका निहितार्थ है व्यापार-प्रक्रियाओं का सरलीकरण, यथा माल व्यापार, विदेशी निवेश, सेवाओं का आदान-प्रदान आदि, ताकि ये देश बिना कठिनाई व्यापार कर सकें। यह अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में मदद के लिए सरकार की कम हस्तक्षेपवादी और अधिक सहयोगी भूमिका पर ज़ोर देता है। व्यापार उदारीकरण का मर्म है आयात शुल्क (यथा, सीमाशुल्क) व ग़ैर-शुल्क रोधों को कम करना। निवेश का उदारीकरण इस तथ्य को रेखांकित करता है कि निजी घरेलू व विदेशी निवेशक सरकार द्वारा नियत प्रक्रियाओं के अनुसार उत्पादन कार्यों में अथवा विनिर्माण/ सेवा-क्षेत्रा की कम्पनियों के प्रबंधन में भाग दे सकते हैं। पूँजी-प्रवाहों के उदारीकरण का अर्थ है कि निवेशक (घरेलू व विदेशी) किसी भी समय-बिंदु पर अल्पावधि चालू के साथ-साथ दीर्घावधि पूँजी लाभ पर अपने निवेश को चला अथवा वापिस ले सकता है।

भूमण्डलीकरण अपेक्षाकृत एक व्यापक शब्द है जिसके दायरे में दृश्यघटनाओं की एक विस्तृत श्रेणी आती है। यह बहुराष्ट्रीय निगमों (एम.एन.सी.) के तत्त्वावधान अथवा स्वामित्व में विभिन्न देशों में उत्पादन सुविधाओं के एकीकरण के साथ-साथ उदारीकरण द्वारा मुहैया उत्पाद व वित्तीय बाज़ारों के एकीकरण की ओर भी इशारा करता है। सरल शब्दों में, भूमण्डलीकरण का अर्थ है राष्ट्र-राज्यों की राजनीतिक सीमाओं के परे आर्थिक गतिविधियों का विस्तार। यह विभिन्न देशों के बीच आर्थिक खुलेपन को बढ़ाने तथा आर्थिक अन्योन्याश्रय पर ज़ोर देता है।

एक और शब्द जिसको हाल के वर्षों में लोकप्रियता मिली है, वो है निजीकरण (Privatization)। यह सरकारी स्वामित्व वाले उद्यमों में राज्यीय परिसम्पत्तियों (यथा, राज्य-कोषीय धन/शेयरों) के विनिवेश की ओर संकेत करता है। ऐसा करके सार्वजनिक उद्यम का स्वामित्व निजी उद्यमी के पास चला जाता है। निजीकरण के अंतर्गत सार्वजनिक क्षेत्रा के उद्यमों (पी.एस.यू.) के प्रबंधन में निजी भागीदारी की अनुमति होती है।

२१.२.२ उदारीकरण की प्रेरणा

उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण संबंधी आर्थिक प्रक्रियाएँ १९४५ से ही व्याप्त थीं। शुरू-शुरू में इन प्रक्रियाओं का कार्यान्वयन विकसित पश्चिम (उत्तरी अमेरिका एवं यूरोप के औद्योगिक देशों) तक ही सीमित था। इसके अतिरिक्त, ये प्रक्रियाएँ एक ही प्रयास में नहीं बल्कि विभिन्न चरणों में चलाई गईं। प्रथमत: व्यापार उदारीकरण एवं पूँजी संचलन की आज़ादी को अधिकतम सीमा तक लागू किया गया। विनिर्मित उत्पादों में व्यापार को 'गैट' के तहत अंतरराष्ट्रीय व्यापार समझौतों के क्रमिक चरणों से होते हुए द्वितीय विश्वयुद्ध-के बाद के पूरे काल में धीरे-धीरे उदारीकृत किया गया।

विकसित पश्चिम में पूँजी संचलन का उदारीकरण भी विभिन्न चरणों में हुआ, परन्तु विदेश-व्यापार के विनियमन की अपेक्षा कुछ विभिन्न तरीकों से। कई लिहाज से इन देशों के बीच पूँजी-बाज़ार उदारीकरण व्यापार उदारीकरण की अपेक्षा आगे निकल गया है। इनमें से अधिकाँश देशों ने चालू-खाता विनिमेय १९५० के दशकोत्तर में हासिल किया। पूँजी-खाता विनिमेय १९७० के दशक में ही घटित हुआ। प्रारम्भत: अमेरिका, कनाडा व जर्मनी में, १९८० में जापान में, तथा १९९० में फ्रांस एवं इटली में।

विभिन्न देशों के बीच श्रम-प्रवाहों के लिहाज से उदारीकरण काफ़ी कम हुआ है। इसके अतिरिक्त, व्यापार और पूँजी संचलनों से भिन्न, अनेक औद्योगिक देशों में समय के साथ इस क्षेत्रा में अधोपतन हुआ। तथापि, १९८० के बाद, औद्योगिक देशों में श्रम-मानदण्डों, न्यूनतम वेतनों व श्रमिक अधिकारों को कायम रखने में घरेलू क़ायदे-कानूनों में रही छूट ग़ौरतलब है। ये परिवर्तन बड़े पैमाने पर श्रमिक एवं उनकी सेवाओं के प्रवाहों में परिणत हुए हैं, विशेष रूप से सूचना प्रौद्योगिकी (आई.टी.) क्षेत्रा से विकसित देशों की ओर।

विकासशील देशों में भूमण्डलीकरण और उदारीकरण अपेक्षाकृत मंथर गति से हुआ। ये देश, जो अभी-अभी औपनिवेशिक शासन से उबरे थे, रूढ़िवादी विकास कार्यक्रम के रास्ते को छोड़कर नए

विकास प्रतिमान अपनाने को तैयार नहीं थे, इस भय से कि यह उनकी संप्रभुता को चुनौती दे सकता है। इसके मूल में सिद्धांत यह था कि यदि उदारीकरण व भूमण्डलीकरण को स्वीकार कर लिया जाता है तो विकसित देश अपेक्षाकृत अधिक लाभ कमायेंगे और विकासशील देशों को यह झेलना ही होगा। १९७३ के उत्तरार्ध में 'तेल आघात' और उसके बाद 'सुनहरे युग' (१९५०-७३) की समाप्ति पर ही बदलाव आना शुरू हुआ। १९७३ में पैट्रोलियम निर्यातक देशों के संगठन (ओपेक) ने तेल एवं पैट्रोलियम उत्पादों के दाम अचानक बढ़ा दिए और विकासशील देश ही सबसे बुरी तरह प्रभावित अर्थव्यवस्थाएँ रहीं। उनके तेल व पैट्रोलियम उत्पादों के आयात का बिल तेजी से अभूतपूर्व ऊँचाई पर जा पहुँचा जिसने उनकी भुगतान-शेष स्थिति पर विपरीत प्रभाव डाला। ये देश एक दयनीय स्थिति में पहुँच गए – निर्यात अर्जन में मंदी और आयात बिल में बढ़ोत्तरी। इसने विदेशी-मुद्रा आरक्षित भंडार संकट की ओर प्रवृत्त किया, जो कि निम्नतम-बिन्दु स्तर तक गिर गया जिससे बाह्य ऋण भुगतान में गंभीर चिंताओं ने जन्म लिया। अनेक विकासशील व अल्प विकसित देश (एल. डी.सी.) ऋण-जाल में फँस गए। इस स्थिति से उबरने के लिए, ये देश वित्तीय सहायता हेतु आई. एम.एफ के पास पहुँचे। मदद मिली परन्तु अर्थव्यवस्था-व्यापी नीति सुधारों की शर्तों के साथ, खासकर व्यापार व वित्तीय क्षेत्राों में। इसने उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण प्रक्रियाओं के कार्यान्वयन की ओर प्रवृत्त किया।

२१.३ संरचनात्मक समंजन कार्यक्रम (सैप)

जिस भुगतान-शेष संकट ने विकासशील एवं अल्पतम विकसित देशों को जकड़ रखा था, उस से उबरने के लिए इन देशों ने बाहर से भारी कर्ज़ लिया। इसने उनकी अर्थव्यवस्थाओं के ताने-बाने को भंग कर दिया क्योंकि उपलब्ध वित्तीय संसाधन ऋण-भुगतान दायित्व पूरा करने की दिशा में लगा दिए गए। वे वित्तीय मदद के लिए आई.एम.एफ. और विश्व बैंक के पास जाने को मज़बूर हो गए। इन संस्थाओं ने ऋण देते समय शर्त रखी कि ऋणी देश आई.एम.एफ. एवं विश्व बैंक द्वारा तैयार कार्यक्रमों के अनुसार ही अपनी अर्थव्यवस्थाएँ समायोजित करें। ये समायोजन कार्यक्रम ही संरचनात्मक समंजन कार्यक्रम (सैप) कहलाते हैं। इसने इन कारणों से संरचनात्मक उपायों पर अपेक्षाकृत अधिक ज़ोर दिया – घरेलू संसाधन की तुरंत सुलभता को प्रोत्साहन मिले, मूल्यों की खींचतान बंद हो, आयातों की उन्नत वृद्धि सुनिश्चित हो (बाज़ारों को विदेशी उत्पादों के लिए खोलना), और निवेश प्राथमिकताओं का पुनर्निर्धारण हो।

'तेल आघात' का प्रभाव विकसित देशों की अपेक्षा विकासशील देशों पर अधिक रहा, खासकर इसलिए कि विकासशील देशों ने 'प्रतिस्थापन' मॉडल अपनाया जिसने निर्यात बढ़ने के आसार पर पानी फेर दिया। ये देश ऐसी स्थिति में फँसे थे जहाँ निर्यातों में कोई वृद्धि नहीं अर्थात् मंदी थी और औद्योगिक एवं सेवाकार्यों के विस्तार के कारण आयात बढ़ रहा था। निर्यातों को विकास साधन के रूप कभी भी नहीं देखा जाता था। 'सैप' के तहत, इन देशों को अपनी विकास रणनीति को आयात प्रतिस्थापन की बजाय 'निर्यात प्रोत्साहन' अभिमुखी बनाने को कहा गया। इस रणनीति का मुख्य उद्देश्य था भुगतान-शेष पर स्थिरता फिर से कायम करना और विकासशील देशों को अपने बाहरी ऋणों को चुकाने में समर्थ करना। विकासशील देशों के सामने निर्यातों के माध्यम से ज़्यादा विदेशी मुद्रा कमाना एक विकल्प था, बेशक वे कितने भी ग़रीब हों।

इस रणनीति के पीछे एक सोच छिपी थी कि विकासशील देशों को माल व्यापार और विनिमेय ज़रूर करना चाहिए तथा अपने 'व्यापार-योग्य' क्षेत्रा को विकसित करना चाहिए। प्रछन्न रूप से अनिच्छुक भागीदारों को विश्व बाज़ार में लग जाने हेतु दबाव डालने वाली यह क्रियाविधि ही 'संरचनात्मक समंजन' नामक आर्थिक नीतियों की श्रृंखला है और इसका अत्यावश्यक अंग था निर्यातोन्मुखी विकास सिद्धांत। 'सैप' का उद्देश्य है अर्थव्यवस्था में निर्यातों की भूमिका बढ़ाना तथा वेतन एवं मूल्य स्थिरीकरण नीतियों एवं कठोरता कार्यक्रमों के संयोग से निजी क्षेत्रा को कार्य हेतु प्रवृत्त करना। 'सैप' पैकेज में निम्नलिखित उपायों का एक मिश्रण शामिल है:

१) राज्य एवं अर्ध सरकारी उद्यमों का निजीकरण ताकि अक्षमताएँ व सरकारी संरक्षण अथवा एकाधिकार कम हों,

२) उच्च ब्याज दर व ऋण दबाव ताकि स्फ़ीतिकारी प्रवृत्तियाँ कम हों,

३) व्यापार उदारीकरण ताकि स्वदेशी बाज़ार खुले और स्थानीय उद्योग विश्व बाज़ार प्रतिस्पर्धा में सामने आये तथा विदेश-व्यापार मुद्रा बढ़े,

४) घरेलू माँग प्रबंधन जो सरकारी बजटों को कम करने तथा खर्चों को कम करने की ओर प्रवृत्त करे,

५) मुद्रा ह्रास ताकि आयात मूल्यों को बढ़ाकर व निर्यातों को अधिक स्पर्धेय बनाकर भुगतान-शेष का उचित उपयोग किया जा सके,

६) मुक्त-बाज़ार मूल्य ताकि मूल्यपूर्तित खाद्य व उर्वरकों तथा विलासिता वस्तुओं पर आयात शुल्कों से होने वाली खींचातानी बंद हो।

इस एकमुश्त प्रस्ताव के साथ इन घोषणाओं को करने की सिफ़ारिश की गई: श्रम-बाज़ार की कार्यप्रणाली में संस्थागत सुधार एवं सामाजिक सुरक्षा प्रणाली में परिवर्तन तथा समाज-सेवाओं का निजीकरण। 'सैप' ने आय-वितरण लक्ष्यों की बजाय विकास लक्ष्यों पर ज़्यादा ज़ोर दिया। 'सैप' का भरपूर प्रयास था कि समग्र घरेलू व्यय एवं उत्पादन प्रतिमानों को फिर से एक लाइन में लाया जाए ताकि विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाएँ स्थिर और संतुलित विकास के रास्ते पर लायी जा सकें। 'सैप' 'आघात चिकित्सा' पर आधारित थे जिनको आयात प्रतिस्थापन नीति, आर्थिक हस्तक्षेप एवं संरक्षणवाद का स्थान लेना था जो इन बुराइयों के लिए जिम्मेदार समझे जाते थे, जैसे ऊँची मुद्रास्फीति दरें, बेरोज़गारी तथा भुगतान-शेष एवं व्यापार घाटे, अक्षम चल रहे उत्पादन तंत्रा, आदि। 'सैप' ने इस काम पर ज़ोर दिया कि राज्य हस्तक्षेपवाद इन बातों के लिए प्रतिबद्ध रहे – सार्वजनिक सेवाओं का संगठन (रक्षा, न्याय, आदि), कानून एवं व्यवस्था वाले शासन की स्थापना, तथा उन कार्यकलापों का भार वहन करना जिन्हें निजी क्षेत्रा करने में अनिच्छुक हों।

१९८० के पूर्वार्ध तक, लगभग ३० अफ्रीकी देशों ने विश्व बैंक एवं आई.एम.एफ. की स्वीकृति और समर्थन से 'सैप' को अपना लिया। लैटिन अमेरिका पूर्व एवं दक्षिणपूर्व एशिया में 'सैप' १९७० के मध्य में शुरू किए गए। पूर्व एशिया में जापान, दक्षिण कोरिया एवं ताइवान ने आर्थिक गतिविधियों में सरकार की प्रति-क्रियाशील भूमिका वाले 'सैप' लागू किए। वृहद-आर्थिक स्थिरता एवं मानव पूँजी में निवेश पर ज़ोर देते हुए, 'सैप' उनकी दीर्घावधि विकास रणनीति में शामिल किए गए। इन देशों ने बाज़ार को व्यापक रूप से खोले जाने हेतु रणनीतिक एकीकरण को प्राथमिकता दी। चीन ने अर्थव्यवस्था १९७८ में खोल दी, परन्तु उसने विश्व बैंक के विकासात्मक प्रतिमान विषयक विचार को स्वीकार नहीं किया। उसने उदारीकरण और निजीकरण संबंधी अपनी ही योजना तैयार की। निस्संदेह, चीन में बाज़ारों का वृहद स्तर पर प्रवेश हुआ है, ये बाज़ार लचर अथवा स्पर्धेय होने से दूर हैं। इसके अतिरिक्त, श्रम, पूँजी एवं भूमि जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण क्षेत्राों में ऐसे बाज़ार कोई अस्तित्व रखते मुश्किल से ही देखे जा सकते हैं।

दक्षिण पूर्व एशिया के उदाहरण में, १९८० के आरंभ से ही इस क्षेत्रा की अर्थव्यवस्थाओं ने अन्तर्मुखी नीतियों के स्थान पर बर्हिमुखी रणनीति अपनायी। तथापि, इन देशों ने भी विश्व बैंक एवं आई.एम.एफ. की नीति-बटियों पर भरोसा करने की बजाय अपने विकासात्मक प्रतिमान विकसित किए। परन्तु १९९७-मध्य से १९९९ के वित्तीय संकट ने इनमें से कुछ देशों (थाईलैण्ड, इण्डोनेशिया एवं फ़िलीपीन्स) को वित्तीय मदद के लिए अचानक आई.एम.एफ. के पास जाने को मज़बूर कर दिया और आई.एम.एफ. 'सैप' लागू किए जाने की ज़िद करता रहा।

दक्षिण एशिया में 'सैप' विभिन्न अवधियों में शुरू किए गए – श्रीलंका में १९७७ में, भारत में १९९१-मध्य में। यहाँ 'सैप' आई.एम.एफ. एवं विश्व बैंक के विधानानुसार लागू किए गए और उनकी अपनी सरकारों की भावी आर्थिक रणनीति के लिए रूपरेखा बतौर लगभग स्वीकार ही कर लिए गए।

बोध प्रश्न १

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर इकाई-अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाएँ।

१) उदारीकरण एवं 'सैप' की अवधारणा के जन्म लेने से पहले विश्व अर्थव्यवस्था में विद्यमान परिस्थिति पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

....

....

....

....

....

२) उदारीकरण क्या है?

....

....

....

....

....

३) 'सैप' के कौन-कौन से संघटक हैं?

....

....

....

....

....

२१.४ दक्षिण एशिया के आर्थिक अभिलक्षण

दक्षिण एशिया क्षेत्रा में चार अल्प विकसित देश (बंग्लादेश, भूटान, मालदीव एवं नेपाल) तथा तीन विकासशील देश (भारत, पाकिस्तान और श्रीलंका) आते हैं। इस क्षेत्रा के किसी भी देश को विकसित अर्थव्यवस्था का दर्जा प्राप्त नहीं है। संपूर्ण क्षेत्रा अभावग्रस्त है जहाँ विश्व के एक-तिहाई ग़रीब रहते हैं। भारत ही इस क्षेत्रा में सबसे बड़ा देश है – जनसंख्या के लिहाज से, क्षेत्राफल के लिहाज से और अर्थव्यवस्था के लिहाज से। इस क्षेत्रा में बड़ी संख्या में ग्रामीण जनता है और उनमें से अधिकाँश कृषि पर ही आश्रित हैं।

कुल विश्व व्यापार में इस क्षेत्रा का माल व्यापार (निर्यात एवं आयात) बहुत थोड़ा है: १९९० के दशक में विश्व निर्यातों में इस क्षेत्रा के निर्यातों का संयुक्त अंश एक प्रतिशत से कम था। इसी प्रकार, इसी काल में विश्व प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के कुल अन्तर्वाहों में इसका संयुक्त अंश मुश्किल से दो

प्रतिशत था। दो अरब डॉलर से कुछ ही अधिक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफ.डी.आई.) के साथ भारत इस क्षेत्रा में सबसे बड़ी एफ.डी.आई. का सूत्राधार है। चूँकि इसकी अर्थव्यवस्था का आकार बड़ा है, एफ.डी.आई. अंतर्वाह कम और उसकी क्षमता से नीचे है। पड़ोस के पूर्व और दक्षिण-पूर्व एशिया एफ.डी.आई. के काफ़ी ऊँचे स्तरों के सूत्राधार हैं। उदाहरण के लिए, चीन हर साल लगभग ४० अरब अमेरिकी डॉलर एफ.डी.आई. आकर्षित करता है और सिंगापुर छह अरब अमेरिकी डॉलर।

वर्तमान में यह क्षेत्रा अनेक समस्याओं से गुज़र रहा है, खासकर एक लम्बे समय से चल रही ग़रीबी जो कि समग्र आर्थिक पिछड़ेपन का केन्द्र है। ग़रीबी से जुड़ी सामाजिक समस्याओं, जैसे आतंकवाद, नृजातीय संघर्ष आदि की भरमार है। गाढ़ी कमाई के आर्थिक संसाधन आतंकवाद के संकट से निबटने और नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करने में लगा दिए जाते हैं। सामरिक व्यय बढ़ रहा है जबकि सामाजिक व्यय घट रहा है।

आगामी पाठांश में हम इस क्षेत्रा की चार बड़ी अर्थव्यवस्थाओं – बंग्लादेश, भारत, पाकिस्तान और श्रीलंका पर ध्यान केन्द्रित करेंगे। इन अर्थव्यवस्थाओं के विषय में आँकड़े और आर्थिक जानकारी पर्याप्त रूप से उपलब्ध हैं। दूसरे, ये अर्थव्यवस्थाएँ काफ़ी समय से उदारीकरण एवं 'सैप' के काम में लगी हैं। उनका मूल्यांकन इन कार्यक्रमों के गुण-दोषों पर प्रकाश डाल सकता है। तीसरे, बाकी बचे तीन देश भूटान, मालदीव एवं नेपाल पराधीन अर्थव्यवस्थाएँ हैं। भारत उन्हें अनेक तरीकों से वित्तीय मदद देता है। भारत इन देशों को काफ़ी बाहरी सहायता मुहैया कराता है। उदाहरण के लिए, भारत ने शुरुआती वर्षों में समस्त विकास योजनाओं के लिए भूटान को वित्त उपलब्ध कराने मदद की। वर्तमान में, लगभग भूटान की एक-तिहाई पंचवर्षीय योजनाओं के लिए वित्त-प्रबंध भारत ने किया है।

२१.५ बांग्लादेश में उदारीकरण और 'सैप'

बांग्लादेश ने दिसम्बर १९७१ में अपनी आज़ादी से ही 'अन्तर्मुखी' (inward-looking) अथवा 'आयात प्रतिस्थापन' का रास्ता अपनाया। इस नीति का नतीजा यह हुआ कि देश निम्न विकास दर से ग्रस्त रहा और औद्योगिक एवं विनिर्माण क्षेत्रा ने नातिशय वृद्धि दर्ज की। औद्योगिक एवं व्यापार नीति का ज़ोर परम्परागत उद्योगों के विकास पर रहा, जैसे पटसन उत्पाद, वस्त्रोद्योग, बने-बनाये सूती वस्त्रा आदि। स्वतंत्राता के प्रथम दशक में, सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) में कृषि का अंश लगभग ४० प्रतिशत था जो वर्ष २००० में लगभग २५ प्रतिशत तक गिर गया। विनिर्माण का अंश इस काल में स्थिर रहा जबकि जी.डी.पी. में सेवाकार्यों का अंश ५२ प्रतिशत तक बढ़ा। उद्योग का अंश १९८० में १६ प्रतिशत से बढ़ कर वर्ष २००० में २४ प्रतिशत तक हो गया है। सेवाकार्यों के अंश में वृद्धि को एक अल्पतम विकसित अर्थव्यवस्था हेतु वास्तविक प्रगति का कोई स्वरूप संकेत नहीं कहा जा सकता। बढ़ती जनसंख्या के कारण, ऐसे देशों में, जिसकी आवश्यकता है वो है रोज़गार अवसरों में संतुलित वृद्धि, जो कि सिर्फ़ विनिर्माण क्षेत्रा ही प्रदान कर सकता है। वस्तुतः गत २०-२५ वर्षों में, पश्चिम की विकसित अर्थव्यवस्थाओं की राष्ट्रीय आय में विनिर्माण क्षेत्रा का अंश ३० प्रतिशत से ऊपर रहा है। वास्तविक रूप में विनिर्माण क्षेत्रा की महत्त्वपूर्ण उपस्थिति ने उनकी अर्थव्यवस्थाओं की बुनियादों को मज़बूत प्रदान की है।

नातिशय आर्थिक निष्पादन वाली पृष्ठभूमि के विरुद्ध बंगलादेश ने आर्थिक सुधार शुरू करने का निश्चय किया और १९९० में 'सैप' की नीति अपना ली। इसके बाद 'बहिर्मुखी' (outward-looking) नीति, अर्थात निर्यातोन्मुखी विकास नीति अपनायी गई। आर्थिक सुधारों का प्रभाव यह हुआ कि निर्यात तीन गुना से भी अधिक बढ़ गया: १९९१ में १.७२ अरब अमेरिकी डॉलर से बढ़ कर वर्ष २००० में ५.७६ अरब अमेरिकी डॉलर। आयात भी बढ़े पर उतनी तेजी से नहीं जितनी तेजी से निर्यात। जी.डी.पी. विकास दर में समग्रता से सुधार हुआ–१९९१ में ३.३ प्रतिशत से बढ़कर वर्ष २००० में ५.५ प्रतिशत तक। विदेश-व्यापार संबंधी प्रचलित व्यवस्था के उदारीकरण ने विकास दर को बढ़ाने में मदद की। उदारीकरण कार्यक्रम के तहत आयातों पर मात्राात्मक प्रतिबंध(quantitative

restrictions) कम किये गए। तथापि, निर्यात-टोकरी की विविधता मुख्य चुनौती है। वर्तमान में, बांग्लादेश के ७६ प्रतिशत निर्यात सूती पोशाकों एवं बुने वस्त्रा संबंधी हैं। वर्ष २००५ के पूर्वार्ध तक विश्व व्यापार संगठन के बहुरेशा समझौता (Multifibre Agrieement) के तहत सूती पोशाकों व पहनावों के निर्यातों के लिए संरक्षण समाप्त हो जायेगा और इससे बंग्लादेशी उत्पादों के निर्यात अन्तरराष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में नज़र आएँगे।

बांग्लादेश ने वर्ष १९९९ में एक नई उद्योग-नीति की घोषणा की जो विदेशी निवेश समेत, निजी क्षेत्रा की ज़्यादा भागीदारी वाले औद्योगिक आधार के विस्तार पर ज़ोर देती है। यह नीति आन्तरिक व बाह्य दोनों बाज़ारों में स्पर्धेयता बढ़ाने पर काफ़ी ज़ोर देती है, विनिर्माण आधार की विविधता, जिस प्रकार वस्त्राादि, रासायन, एवं खाद्य-प्रसंस्करण का पूरी तरह से आधिपत्य है, एक प्रमुख चुनौती बनी हुई है। विविधता के लिहाज से उत्पादन के नए क्षेत्रा हैं – कम्प्यूटर सॉफ्टवेअर, कृषि संसाधन एवं खाद्य प्रसंस्करण। यद्यपि सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी क्षेत्रा में आशाप्रद संभाव्यता है, देश गहरी विश्व-प्रतिस्पर्धा का सामना करने को तैयार नहीं है। अक्षम आधारभूत ढाँचा, अस्थिर बृहद्-आर्थिक परिवेश, अक्षम बाज़ार, खासकर पूँजी (ऋण व शेयर-मूल्य दोनों), सरकारी स्तर पर निर्णयन्-प्रक्रिया में अल्पतम पारदर्शिता, आदि एक पक्का औद्योगिक आधार बनाने में मुख्य बाधाएँ है। देश को तीव्र सुधारों की आवश्यकता है, खासकर वित्तीय क्षेत्रा में जो निरन्तर सतही और अल्पविकसित बना हुआ है। कुशल बैंकिंग प्रणाली का अभाव देश की विकास-प्रक्रिया में सबसे बड़ा रोड़ा है। इसके अलावा, पूँजी बाज़ार भी जायमान अवस्था में है। एक सुविकसित, दीर्घावधि बचत बाज़ार को अभी जन्म लेना है। एक सुविकसित पूँजी बाज़ार ही वित्तीय वैश्वीकरण का लाभ उठाने की पूर्व शर्त है और बंगलादेश इस क्षेत्रा में बहुत पीछे है।

उदारीकरण और 'सैप' की शुरुआत ने एफ.डी.आई. को आकर्षित करने में अर्थव्यवस्था की मदद की है। एफ.डी.आई. अन्तर्वाहों की राशि जो १९९१ तक लगभग नगण्य थी, वर्ष २००० में २८ करोड़ अमेरिकी डॉलर तक चली गयी। एफ.डी.आई. मुख्यत: ऊर्जा (तेल, गैस व पैट्रोलियम उत्पाद) अनुसंधान तथा पत्तन, सड़क, बिजली, दूरसंचार, आदि जैसे भौतिक आधारभूत ढाँचे के क्षेत्रा में आकर्षित किए जाते हैं। अब तक उदारीकरण व 'सैप' का प्रभाव बंग्लादेश की अर्थव्यवस्था पर इस अर्थ में सकारात्मक रहा है कि विकास दर की गति तेज हुई है और प्रतिव्यक्ति आय बढ़ी है। तथापि, जन-कल्याण पर राष्ट्रीय आय का वितरण असंतोषजनक रहा है। शिक्षा, स्वास्थ्य, आदि पर सरकारी खर्चे सामाजिक क्षेत्रा को एक सक्षम क्षेत्रा में बदलने में नाकाफ़ी साबित हुए हैं, जो कि दीर्घकालीन सतत विकास लाभ के लिए आवश्यक है, यद्यपि सैन्य खर्च जो प्रतीयमानत: सीमा के अन्दर ही दिखता है, उसे घटाकर सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी.एन.पी.) के एक प्रतिशत से भी कम कर दिए जाने की आवश्यकता है। इससे अन्य विकासात्मक शीर्षों पर संसाधन-आबंटन बढ़ाने में मदद मिलेगी।

२१.६ भारत में उदारीकरण और 'सैप'

भारत ने जुलाई १९९१ में व्यापक आर्थिक सुधार शुरू किए ताकि वह उस आर्थिक संकट से उबर सके जो विदेशी मुद्रा (फॉरैक्स) भण्डार की कमी से अर्थव्यवस्था में पैदा हो गया था। फॉरैक्स भण्डार १९९० के आरम्भ से ही बुरी हालत में था, खासकर बढ़ते आयात बिल, निर्यातों में कमी और एफ.डी.आई. के अपर्याप्त अन्तर्वाहों के कारण। फॉरैक्स भण्डार पर गंभीर दबाव भारत के निर्यातों में आयातित कच्ची-सामग्री अवयव के उच्च स्तरों द्वारा डाला गया। विशेष रूप से तेल एवं पैट्रोलियम उत्पादों का आयात कुल आयात बिल के लगभग २० प्रतिशत के बराबर होता है। १९९०-९१ अमेरिका-इराक खाड़ी युद्ध ने अन्तरराष्ट्रीय तेलमूल्यों को तेज वृद्धि की ओर प्रवृत्त किया और भारत को सीधे प्रभावित किया क्योंकि फॉरैक्स भण्डार अगस्त १९९० में १.१ अरब अमेरिकी डॉलर से गिरकर जनवरी १९९१ में ८९.६ करोड़ अमेरिकी डॉलर पर पहुँचा। खाड़ी युद्ध ने भारत के इराक, कुवैत एवं अन्य पश्चिम एशियाई देशों को होने वाले निर्यातों को भी प्रभावित किया, जो

इराक पर संयुक्त राष्ट्र के पोताधिरोध (embalgo) और अरब सागर में तनाव की स्थिति के मद्देनज़र हुआ था। इसके अतिरिक्त, कुवैत में कार्यरत श्रमिकों को धन-प्रेषण आना बंद हो गया क्योंकि युद्ध को देखते हुए उन्हें वहाँ से हटाकर वापस भारत भेज दिया गया था। इन सब बातों का प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था पर कई प्रकार से हुआ और इसने औद्योगिक उत्पादन को छिन्न-भिन्न कर दिया। मुद्रास्फीति को अगस्त १९९१ में १६.७ प्रतिशत के शीर्ष स्तर पर पहुँचा दिया और वास्तविक जी. डी.पी. विकास दर तेज़ी से २.५ प्रतिशत तक गिर गई।

इस सारी आर्थिक अव्यवस्था के बीच राष्ट्रीय स्तर पर राजनीति में अस्थिरता रही और सत्ता में एक प्रभारी केन्द्रीय सरकार। चुनावों की घोषणा हुई और नई सरकार ने जून १९९१ में कार्य-भार सँभाला। तत्काल् ही नई सरकार ने अर्थव्यवस्था के कायाकल्प हेतु शोधक उपायों की शृंखला शुरू कर दी। अल्पावधि उपाय संकट-प्रबंधन पर अभिलक्षित थे, जैसे निर्यात बढ़ाने के लिए भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन। दीर्घावधि उपाय संरचनात्मक सुधार संबंधी थे, जो क्षमता और उत्पादकता सुधारने के लिए थे। भुगतान-शेष में असंतुलन ठीक करने के लिए सरकार ने आई.एम.एफ. से विशाल ऋण लिए। भारतीय मुद्रा के अवमूल्यन ने ग़ैर-ज़रूरी आयातों को रोकने में मदद की। इन उपायों ने फॉरैक्स-भण्डार संकट (भुगतान-शेष पर) की समस्या से उबरने में मदद की क्योंकि निर्यातों में अब सुधार आने लगा था।

इन उपायों के साथ-साथ, सरकार ने आई.एम.एफ. एवं विश्व बैंक द्वारा प्रस्तुत मार्गनिर्देशों के अनुसार जुलाई १९९१ में वृहद्-स्तरीय आर्थिक सुधार शुरू किए। इन सुधारों की प्रक्रिया अब भी चल रही है। १९९० के दशक वाले 'प्रथम पीढ़ी सुधारों' का मुख्य प्रयास था अर्थव्यवस्था को विदेशी उत्पादकों एवं निवेशकों के लिए खोलना। ये सुधार निम्नलिखित चार क्षेत्रों में शुरू किए गए:

i) वित्तीय संशोधन (Fiscal Correction)

वित्तीय संशोधन के तहत मुख्य विषय था सरकारी खर्च को नियंत्राण में लाकर वृहद्-आर्थिक स्थिरता लाना। यहाँ उल्लेखनीय है कि १९९०-९१ में सरकार की वित्तीय स्थिति खराब थी, खासकर इसलिए कि व्यय आय से कहीं अधिक था तथा सरकार अक्सर बाहर से (अधिकतर आई.एम.एफ. से) भारी कर्ज़ ले लेती थी और यह ऋणाधिक्य ऋण-जाल की स्थिति में ले जाने लगा। बाह्य ऋण एवं घरेलू आय की सीमित तुरंत-सुलभता ने अर्थव्यवस्था के प्रबंधन में गंभीर समस्या पैदा कर दी। इस स्थिति से निकलने के लिए और खर्च घटाने के लिए विभिन्न आर्थिक सहायताओं को समाप्त करने का सुझाव रखा गया जिसमें निर्यात परिदान शामिल था। एक अन्य सुझाव था उर्वरकों के मूल्य बढ़ाना, ग़ैर-योजना व्ययों (रक्षा व्यय समेत) पर नियंत्राण रखना। सरकार ने इन उपायों को लागू किया और वृहद्-आर्थिक स्थिति को नियंत्राण में ले आयी।

ii) व्यापार-नीति सुधार (Trade Policy Reforms)

निर्यातों को कार्य-प्रेरणा प्रदान करना व्यापार-नीति सुधारों का भारी प्रयास था । स्वतंत्राता प्राप्ति के समय से ही 'आयात-प्रतिस्थापन नीति' के पीछे भागने का निर्यातों पर विपरीत प्रभाव पड़ा। नई व्यापार-नीति के अन्तर्गत यह निश्चय किया गया कि नियमन एवं अनुज्ञा-प्रदान(licensing) नियंत्राण की मात्राा कम करके 'प्रति-क्रियाशील निर्यात नीति' के पीछे तत्परता से लगा जाये। सबसे पहला काम था मुद्रा (रुपया) का अवमूल्यन कर निर्यातों की मूल्य-स्पर्धेयता को सुधारना। घरेलू बाज़ार में प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देने के लिए आयात हेतु सीमाशुल्क अवरोध कम किए गए। वर्ष १९९१ में १५० प्रतिशत का उच्च सीमाशुल्क स्तर घटाकर वर्ष २००१ में ३५ प्रतिशत और २००३-०४ के बजट में २० प्रतिशत तक लाया गया। आयात पर मात्राात्मक प्रतिबंध भी धीरे-धीरे समाप्त कर दिए गए। व्यापार-उदारीकरण ने स्वदेशी बाज़ार में व्यापक विदेशी उत्पादों के लिए दरवाज़े खोल दिए।

iii) उद्योग नीति सुधार (Industrial Policy Reforms)

औद्योगिक क्षेत्रा का नवीकरण करना सुधार-कार्यसूची में एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकरण था। औद्योगिक एवं निर्माण क्षेत्रा (निजी एवं सार्वजनिक दोनों ही क्षेत्राों) में निराशाजनक प्रदर्शन गंभीर

चिंता का विषय था। सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रों की घटी क्रियाशीलता ने रोज़गार अवसरों को बुरी तरह प्रभावित किया। निजी एवं विदेशी भागीदारी को बढ़ावा देने के लिए सरकार ने उद्योग को विनियमित करने का निश्चय किया। ऐसा करने के लिए उन उद्योगों को छोड़कर सभी परियोजनाओं के लिए अनुज्ञा-प्रदान समाप्त कर दिया गया जहाँ रणनीतिक एवं पर्यावरणीय विषय सर्वोपरि हैं। अब लगभग ८० प्रतिशत उद्योग अनुज्ञा-प्रदान व्यवस्था से निकाल दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त, सार्वजनिक क्षेत्रा हेतु आरक्षित क्षेत्रा सीमित कर दिए गए हैं, और केन्द्रीय एवं बुनियादी उद्योगों में निजी क्षेत्रा द्वारा अपेक्षाकृत अधिक भागीदारी की अनुमति दी जाती है।

औद्योगिक क्षेत्रा को खोलने से विदेशी निवेश अर्थव्यवस्था में प्रवाहित हो रहा है। भारतीय व विदेशी उद्योग के बीच संयुक्त व्यवसाय एवं सहयोग (Joint Ventures and Collaborations) बढ़ रहे हैं। यहाँ तक कि रक्षा उत्पादन उद्योग भी घरेलू एवं विदेशी निवेशकों हेतु खोला गया है और अनुज्ञा-प्राप्ति के अधीन २६ प्रतिशत तक विदेशी निवेश की अनुमति है। साथ ही, अनुज्ञा-प्राप्ति के अधीन, भारतीय निजी भागीदारी उद्योग के लिए रक्षा उद्योग, १०० प्रतिशत तक खुला है।

iv) सार्वजनिक क्षेत्र सुधार (Public Sector Reforms)

सुधार-प्रक्रिया के मुख्य प्रयासों में एक है सार्वजनिक क्षेत्रा के उद्यमों का पुनर्गठन। वर्षों सार्वजनिक क्षेत्रा की इकाइयों ने भारी नुकसान झेले हैं। उन्हें चलाने के लिए बड़ा निवेश होता था, परन्तु पर्याप्त लाभ की उम्मीद नहीं होती थी। सुधार-प्रक्रिया के तहत काफ़ी बड़ी संख्या में सार्वजनिक इकाइयाँ या तो अंशत: निजीकृत कर दी गई हैं या फिर पूरी तरह बेच दी गई हैं। विनिवेश (disinvestment) की प्रक्रिया को ज़ारी रखा गया है और सरकार निजी व विदेशी निवेशकों हेतु शेयर-मूल्यों का प्रस्ताव कर रही है। सार्वजनिक क्षेत्रा का विनिवेश वर्ष २००१ में शुरू किए गए 'दूसरी-पीढ़ी सुधारों' की कार्यसूची के अन्तर्गत शीर्ष प्राथमिकता है।

वर्तमान में सरकार निजी घरेलू एवं विदेशी निवेशकों के लिए शेयर-मूल्य सीमाओं के उदारीकरण द्वारा अर्थव्यवस्था को और अधिक खोलने में गहरी रुचि दिखा रही है; उदाहरण के लिए, पैट्रोलियम शोधन (सार्वजनिक क्षेत्रा के अंतर्गत) १०० प्रतिशत खोला जाए, नागर-विमानन ४९ प्रतिशत, पाइपलाइन (तेल एवं गैस) १०० प्रतिशत, स्थावर संपदा (भवन-समूह) १०० प्रतिशत, आदि।

अब तक अर्थव्यवस्था ने उदारीकरण और 'सैप' प्रक्रिया का मिलाजुला परिणाम दर्शाया है। शुरू-शुरू में, जुलाई १९९१ में यह प्रक्रिया आरम्भ करने के बाद निर्यात तेजी से बढ़े। यह उछाल खासकर मुद्रा-अवमूल्यन के कारण था। इसी प्रकार, १९९१ और १९९६ के बीच जी.डी.पी. विकास दर प्रभावशाली थी। एफ.डी.आई. अंतर्वाह व फॉरैक्स एक स्तर तक सुधरे। बहरहाल, इस प्रक्रिया की गति दो कारणों से मंद पड़ गयी: प्रथम, केन्द्रीय सरकार के स्तर पर १९९६-मध्य एवं अक्तूबर १९९९ के बीच राजनीतिक अस्थिरता ने इस प्रक्रिया की निरन्तरता के बारे में अनिश्चितता पैदा कर दी। दूसरे, जुलाई १९९७ के एशियाई वित्तीय संकट ने भारत के निर्यातों पर विपरीत प्रभाव डाला और रुपये की कीमत (अमेरिकी डॉलर की तुलना में) फिर से गिर गयी, जिसने विदेशी निवेशकों की भावनाओं को आहत किया। अक्तूबर १९९९ से राजनीतिक अस्थिरता के साथ-साथ एशियाई वित्तीय संकट भी समाप्त हो गया तत्पश्चात् कालावधि में सरकार सुधार-प्रक्रिया के कार्यक्षेत्रा को बढ़ाने में प्रतिबद्धता दिखाती रही है। इस निश्चय का परिणाम बिल्कुल प्रत्यक्ष है कि एफ.डी.आई. अंतर्वाह बढ़ा है। अब वार्षिक एफ.डी.आई. अन्तर्वाह लगभग तीन अरब अमेरिकी डॉलर है। निर्यात फिर से सुधरने शुरू होए हैं।

बोध प्रश्न २

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाएँ।

१) बांग्लादेशी अर्थव्यवस्था पर उदारीकरण व 'सैप' का क्या प्रभाव पड़ा है?

....

....

....

....

....

२) वे कारक कौन से हैं जिन्होंने भारत को नब्बे के दशक में उदारीकरण करने और 'सैप' को अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया?

....

....

....

....

....

३) आप भारत में उदारीकरण व 'सैप' के कार्य-निष्पादन का किस प्रकार मूल्यांकन करेंगे?

....

....

....

....

....

२१.७ पाकिस्तान में उदारीकरण और 'सैप'

जैसा कि हमने खण्ड तीन में देखा, पाकिस्तानी सरकार की कार्यवाही में सेना प्रमुख भूमिका निभाती है, देश फ़ौजी हुकूमत के तहत न होने पर भी। पाकिस्तानी समाज का एक बड़ा हिस्सा यह मानता है कि सरकार की कार्यवाही में सेना अकेले ही अनुशासन ला सकती है और यह आर्थिक समृद्धि के लिए अनिवार्य शर्त है।

पाकिस्तान ने आई.एम.एफ. और विश्व बैंक के दिशा निर्देशों के अन्तर्गत १९८८ में 'सैप' शुरू किए। 'सैप' शुरू करने से पहले पाकिस्तान लगभग १३ वर्षो (१९७५ से १९८८) तक सैनिक शासक के अधीन रहा। १९८८ में लोकतंत्रा की वापसी तो हुई लेकिन यह जी.डी.पी. विकास दर की गिरावट में फलित हुई। घटनाओं के इस मोड़ पर बाह्य ऋणों का अत्यधिक दबाव था, निर्यातों एवं औद्योगिक उत्पादन में गिरावट थी और फॉरैक्स भण्डार में बिगाड़ था। अर्थव्यवस्था की कुल मिलाकर स्थिति बहुत अधिक खराब थी और सरकार के पास वित्तीय मदद के लिए आई.एम.एफ. एवं विश्व बैंक के पास जाने के सिवा कोई चारा नहीं था। ऋण प्रदान करते समय आई.एम.एफ एवं विश्व बैंक ने सरकार को सलाह दी कि वह आर्थिक सुधार लागू करे।

इन सुधारों का खास ध्यान सरकारी वित्त-प्रबंध में राजकोषीय घाटे को कम करने पर था। आई.एम. एफ. ने सरकार को अपना राजकोषीय घाटा कम करके चार प्रतिशत तक लाने के लिए कहा, जो

दोहरे अंकों में था। इस लक्ष्य को पाने के लिए आई.एम.एफ. ने ऊँचे काराधान एवं सार्वजनिक व्यय में कमी का सुझाव दिया। सार्वजनिक व्यय में सबसे बड़ी कटौती विकास के क्षेत्रा में हुई: १९८१ में ९.३ प्रतिशत से १९९७ में ३.५ प्रतिशत (जी.डी.पी. के)। 'सैप' का एक अन्य मुख्य क्षेत्रा था सीमाशुल्क दरों में कमी करना, जो १९९९ में ४५ प्रतिशत से घटाकर १९९२ में १२.५ प्रतिशत कर दी गईं। निर्यात बढ़ाने के लिए पाकिस्तानी मुद्रा के अवमूल्यन की सिफ़ारिश की गई और १९८८ से ही नियमित अन्तरालों के साथ अवमूल्यन होता रहा है। इन उपायों के साथ-साथ राज्य के स्वामित्व वाले उद्यमों को भी औने-पौने बेच देने की सलाह दी गई।

आई.एम.एफ. ने पाकिस्तानी सरकार को शुरू में छह क्षेत्राों में 'सैप' लागू करने का सुझाव दिया। प्रथम, अपनी मुद्रा को अमेरिकी डॉलर की तुलना में समायोजित करके व्यापार-नीति में सुधार। यह काम सुसंगत रूप से मुद्रा का अवमूल्यन करके एवं विनिमेय दर के स्तर को स्पर्धेय रखकर किया जाना था। इसके अतिरिक्त निर्यातों पर प्रतिबंध हटाये जाने थे और आयातों पर मात्रात्मक प्रतिबंध, यथा कोटा, तथा सीमाशुल्क को घटाया जाना था। व्यापार-नीति ने इस प्रकार बहिर्मुखी-निर्यातोन्मुखी मार्ग पर ध्यान केन्द्रित किया। दूसरे, वित्त-नीति में सुधार ताकि सार्वजनिक व्यय में कटौती करके राजकोषीय घाटों को कम और दूर किया जा सके। यह काम सार्वजनिक क्षेत्रा में मूल्यों को बढ़ाकर किया जाना था ताकि लागत चुका सकें और राजस्व बढ़ा सकें। कर-प्रणाली में सुधार, कृषि व ऊर्जा क्षेत्राों से परिदानों की भारी कटौती अथवा समाप्ति अन्य अवयव थे। तीसरे, लाभ न देने वाली सार्वजनिक इकाइयों का निजीकरण कर सार्वजनिक क्षेत्रा में सुधार। चौथे, उच्चतम ब्याज दरों में ढील देने के साथ-साथ सावधि जमा व ऋण दरों को उदार बनाकर वित्तीय क्षेत्रा में सुधार। पाँचवे, उद्योग-नीति में सुधारों में शामिल हैं औद्योगिक क्षेत्रा से संरक्षण समाप्ति और माल पर मूल्य नियंत्राण। अन्ततः, विनिमेय दर को समायोजित करके और उद्योग हेतु प्रस्तावित संरक्षण समाप्त करके खेती के विपरीत झुकाव को दूर करके कृषि क्षेत्रा में सुधार। इन सुधारों के साथ कृषि मूल्यों का उदारीकरण हो और परिदानों पर विराम लगे।

'सैप' का पाकिस्तानी अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा है? 'सैप' लागू होने के बाद जी.डी.पी. विकास दर गिरी है और निर्यातों में किंचित सुधार हुआ है। इसका श्रेय निर्यात-उत्पादों में गुणवत्ता मूल्यांकन की बजाय मुद्रा अवमूल्यन को जाता है। एफ.डी.आई. अन्तर्वाहों में वृद्धि भी बहुत थोड़ी हुई है जो इस बात का संकेत है कि विदेशी निवेशकों ने उदारीकरण कार्यक्रमों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। दूसरे शब्दों में, अर्थव्यवस्था का खुलना मात्रा ही बड़ी मात्रा में विदेशी निवेश को आकर्षित करने के लिए कोई यथेष्ट स्थिति नहीं है; एक कुशल आधारभूत ढाँचे के साथ-साथ सामाजिक व राजनीतिक स्थिरता भी महत्त्वपूर्ण हैं। वर्तमान में पाकिस्तान इस मोरचे पर विफल है।

'सैप' ने पाकिस्तान को अर्थव्यवस्था के तानेबाने में बुनियादी परिवर्तन लाने में मदद नहीं की है। राष्ट्रीय आय में विनिर्माण क्षेत्रा का अंशदान कम रहा है जबकि वक्त के साथ और नीचे चल गया है। जैसा कि हमने पहले देखा, विनिर्माण क्षेत्रा में गिरावट से रोज़गार पैदा करने में विपरीत प्रभाव पड़ता है। वर्धमान विनिर्माण क्षेत्रा वाली अर्थव्यवस्था वृहद-आर्थिक स्थिरता प्रदान करती है। सेवा-क्षेत्रा में वृद्धि ही रोज़गार की समस्या का अस्थायी निदान ही कर सकती है। इसी प्रकार, अच्छे प्रशासन का सवाल पाकिस्तान पर हमेशा बड़ा परन्तु अस्पष्ट रहा है। लगातार सेना द्वारा सरकार को अपने हाथ में लिया जाना निजी घरेलू व विदेशी निवेशकों को गलत सन्देश पहुँचाता है। सैन्य खर्च, जो राष्ट्रीय आय का पाँच प्रतिशत है, में वृद्धि बहुत अधिक है, खासकर पाकिस्तान जैसे एक विकासशील देश के लिए। शिक्षा एवं स्वास्थ्य जैसे विकासात्मक विषयों पर सरकारी खर्च कम होता रहा है।

२१.८ श्रीलंका में उदारीकरण और 'सैप'

श्रीलंका ही सबसे पहला दक्षिण एशियाई देश है जिसने उदारवादी बहिर्मुखी नीतियों को निस्संदेह पूर्ण रूप से अपनाया। १९४८ में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन से मुक्त होने के बाद से ही उसने

अपनी व्यापार-प्रणाली में परिवर्तनों की शृंखला शुरू की है। स्वतंत्राता पश्चात् पहले दशक भर उसने एक उदारवादी व्यापार-प्रणाली चालू रखी। तथापि, बढ़ते भुगतान-शेष और राजनीतिक नेतृत्व में परिवर्तन ने एक नीति-परिवर्तन की ओर प्रवृत्त किया – संरक्षणवादी आयात-प्रतिस्थापन नीतियों की ओर। १९७० के दशकमध्य तक श्रीलंकाई अर्थव्यवस्था सर्वाधिक अन्तर्मुखी-अनुकूल एवं नियमित अर्थव्यवस्थाओं में गिनी जाने लगी। इन नीतियों का प्रतिकूल पार्श्विक प्रभाव था – १९६० के पूर्वार्ध से ही आर्थिक विकास की गति का मंद होना। १९७० के दशक के उत्तरार्ध में सरकार ने इसी कारण व्यापक आर्थिक उदारीकरण के मार्ग पर चलने का निश्चय किया। उसने 'सैप' दो चरणों में शुरू किये – प्रथम १९७७-८९ में और दूसरा १९९० व उसके बाद।

सैप, प्रथम चरण (१९७७-८९)

आर्थिक सुधार प्रक्रिया १९७७ के उत्तरार्ध में शुरू हुई – पहले सीमाशुल्क व्यवस्था पर विचार कर बदलने के काम को शुरू करके, विदेशी निवेश पर प्रतिबंध घटाकर एक मुक्त व्यापार क्षेत्रा(Free Trade Zone) योजना के तहत निर्यातानुकूल विदेशी निवेश को नए प्रोत्साहनों की घोषणा करके। उसने वित्तीय सुधारों का काम भी हाथ में लिया जिसमें शामिल था – मुद्रास्फीति दर से ऊपर स्तर पर ब्याज दरों को समायोजित करना, बैंकिंग क्षेत्रा को विदेशी बैंकों के लिए खोलना व ऋण बाज़ारों को ब्याज दरें निर्धारित करने की अनुमति देना, विनिमेय दर का पुन: संरेखण एवं ग़ैर-पारंपरिक निर्यातों हेतु प्रोत्साहन। उसने अपनी घरेलू मुद्रा का अवमूल्यन १०० प्रतिशत से भी अधिक किया।

अर्थव्यवस्था पर सुधारों पर प्रभाव बहुत अच्छा पड़ा चूँकि जी.डी.पी. विकास दर १९७० के पूर्वार्ध में २.९ प्रतिशत से बढ़कर १९७८-८३ के दौरान छह प्रतिशत तक पहुँच गयी। एफ.डी.आई. अन्तर्वाह जो १९७०-७७ में दो लाख अमेरिकी डॉलर (वार्षिक औसत) थे, १९७८-८७ में ४.१ करोड़ अमेरिकी डॉलर तक पहुँच गए। निर्यात १९७७ में ८ खरब अमेरिकी डॉलर से बढ़कर १९८८ में १.५ अरब अमेरिकी डॉलर पहुँच गया। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रूप से, विदेशी निवेशकों का विश्वास बढ़ा और घरेलू व विदेशी निवेशकों के बीच संयुक्त-व्यवसायों की संख्या में इज़ाफा हुआ। बहरहाल, १९८० के दशक के आरम्भ में इन सुधारों की गति धीमी पड़ गयी, खासकर दो कारणों से: प्रथम, संरचनात्मक समायोजन से दूर राजनीतिक रूप से आकर्षित करने वाली मोहजनक निवेश परियोजनाओं की दिशा में नीति-प्राथमिकताओं का खिसकना और दूसरे, श्रीलंकाई तमिल व सरकारी बलों के बीच नृजातीय संघर्ष का तेज होना।

सैप, द्वितीय चरण (१९९० से आगे)

लिबरेशन टाइगर्स ऑफ़ तमिल ईलम (लिट्टे) के झण्डे तले श्रीलंकाई तमिलों के लिए अलग प्रदेश हेतु आंदोलन १९८० के दशक-मध्य के आसपास उठा जो अत्यधिक आर्थिक नुकसान और राजनीतिक व सामाजिक क्षेत्राों में अस्थिरता का कारण बना। लिट्टे का राजद्रोह और खाड़कू गतिविधियाँ रक्षा-व्यय में तीव्र वृद्धि में परिणत हुई, जिसने बदले में बढ़ते राजकोषीय घाटों, बढ़ती वृहद-आर्थिक समस्याओं, व अंतरराष्ट्रीय स्पर्धेयता के तीव्र ह्रास की ओर प्रवृत्त किया। वर्ष १९८८ के अंत तक फॉरैक्स भण्डार तेजी से घट चुके थे। एफ.डी.आई. में गिरावट आई और भुगतान-शेष संकट पैदा हो गया जिसने सरकार को वित्तीय मदद के लिए जून १९८७ में आई.एम.एफ. के पास जाने को मज़बूर कर दिया। ऋण आर्थिक सुधारों को शुरू किए जाने की शर्त के साथ ही प्रदान किया गया।

सुधार पैकेज में शामिल थे – निजीकरण योजनाएँ, अतिरिक्त सीमाशुल्क कटौतियाँ व सरलीकरण, चालू-खाता लेन-देनों (जी.पी.ओ. संबंधी) पर विनिमय नियंत्राणों की समाप्ति, सुनम्य विनिमय दर के प्रति वचनबद्धता, और राजकोषीय घाटे को कम करने हेतु पहल। सुधार पैकेज के लागू होने से अर्थव्यवस्था को विकास दर के कायाकल्प में मदद मिली, जो १९८० के दशकोत्तर में ३.५ प्रतिशत से बढ़कर १९९० के दशक-पूर्व में ५.०३ पर पहुँच गयी। १९९०-९६ के दौरान (कुछ समय के लिए) लिट्टे के विद्रोह में रुकावट से भी सरकार को विकासात्मक गतिविधियों पर फिर से ध्यान केन्द्रित करके हेतु ठोस प्रयास करने में मदद मिली। सामाजिक स्थिरता व शांति लौट आने के साथ

ही विदेशी निवेश का प्रवाह देश की दिशा में हो गया। १९९७ में एफ.डी.आई. अन्तर्वाह ४३.३ करोड़ अमेरिकी डॉलर तक बढ़ गये। निर्यातों में भी उल्लेखनीय सुधार हुआ। सैन्य खर्च घटाने का सवाल फिर भी हल नहीं हुआ। देश सेना पर राष्ट्रीय आय का चार प्रतिशत खर्च करता है जो कि श्रीलंका जैसी अल्य अर्थव्यवस्था के लिए बहुत अधिक है।

बोध प्रश्न ३

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर इकाई-अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाएँ।

१) पाकिस्तानी अर्थव्यवस्था के प्रसंग में आप उदारीकरण व 'सैप' को किस प्रकार देखते हैं?

....

....

....

....

....

२) सत्तर के दशकोत्तर से श्रीलंका द्वारा प्रारंभ आर्थिक सुधारों के मुख्य अभिलक्षणों की पहचान करें।

....

....

....

....

....

२१.९ सारांश

वर्ष १९७३ में प्रथम 'तेल आघात' के उपरांत विश्व अर्थव्यवस्था में गंभीर रूप से मंदी छा गई। अनेक विकासशील व अल्पतम विकसित देश बुरी तरह से हिल गये और अपनी अर्थव्यवस्थाओं को फिर से खड़ा करने हेतु मदद के लिए आई.एम.एफ. व विश्व बैंक के पास पहुँचे। सहायता उदारीकरण व 'सैप' के रूप में नीति-विधान के साथ मिली। ऋणी अर्थव्यवस्थाओं को अपनी अर्थव्यवस्थाएँ / बाज़ार विदेशी उत्पादों हेतु खोलने की प्रक्रिया शुरू करनी थी। साथ ही उन्हें अपनी अर्थव्यवस्थाएँ पुनर्गठित करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्रा उद्यम, आदि जैसे अकुशल तत्त्वों को भी दूर करना था। इस सोच के पीछे छुपा सिद्धांत यह था कि बाज़ार को राज्य अथवा सरकार की अपेक्षा अधिक बड़ी भूमिका निभानी चाहिए।

दक्षिण एशिया पर 'सैप' और उदारीकरण का असर मिला-जुला रहा: कुछ देशों ने लाभ उठाया जबकि कुछ ने संकोच किया। श्रीलंका व भारत ने लाभ इस अर्थ में प्राप्त किया कि उनकी विकास दरें सुधरीं। निर्यात बढ़ा और विदेशी निवेश अन्तर्वाहों में बढ़ोत्तरी हुई। पाकिस्तान ने फ़ायदा नहीं उठाया, खासकर इसलिए कि वहाँ राजनीतिक अस्थिरता असुरक्षित सामाजिक परिवेश से जुड़ी रही।

उदारीकरण व आर्थिक कायांतरण से लाभ उठाने के लिए कुशल आधारभूत ढाँचे का होना अनिवार्य है। इस आधारभूत ढाँचे की या तो पूर्णतः या फिर अंशतः, दक्षिण एशिया में कमी है। इसके

अतिरिक्त, विदेशी उद्योग के प्रवेश हेतु निजी घरेलू उद्योग का विरोध रहता है; खासकर इस आधार पर कि स्वदेशी खिलाड़ियों हेतु 'समतल क्रीड़ा-स्थल' उपलब्ध नहीं है। इस विरोध के बावजूद, उक्त नीति लागू की जा रही है और इसका पूरी तरह मूल्यांकन तभी देखा जा सकता है जब यह कुछ और समय के लिए व्यवहार में रहे।

२१.१० कुछ उपयोगी पुस्तकें

एशियन डवलपमेंट बैंक, *एशियन डवलपमेंट आउटलुक,* मनीला, फिलीपीन्स, (अनेक वर्ष)

दासगुप्त, बी., (१९९८) *स्ट्रक्चरल ॲड्जस्टमेंट, ग्लॉबल ट्रेड एण्ड द न्यू पॉलिटिकॅल इकॉनॅमि ऑफ डवलपमेंट,* नई दिल्ली

वर्ल्ड बैंक, *वर्ल्ड डवलपमेंट रिपोर्ट्स,* वाशिंगटन, डी.सी., *यू.एस.ए.,* (अनेक वर्ष)

शैनरी, एच. (सं.), (१९७९) *स्ट्रक्चरल चेन्ज एण्ड डवलपमेंट पॉलिसि,* न्यूयार्क

शोभन, आर. (सं.) (२०००) *स्ट्रक्चरल ॲड्जस्टमेंट पॉलिसीज़ इन द थर्ड वर्ल्ड : डिज़ायन एण्ड इक्सपीरिअन्स,* ढाका

२१.११ बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न १

१) विश्वयुद्ध की समाप्ति पर विकसित, विकासशील एवं अल्पतम विकसित देशों (एल.डी.सी.) की व्यापार नीतियों में बहुत प्रभावशील परिवर्तन देखा गया। जबकि औद्योगिक (विकसित) अर्थव्यवस्थाओं ने निर्यातोन्मुखी विकास रणनीति को मौका देने के लिए अपनी व्यापार-व्यवस्था को उदारीकृत कर दिया, विकासशील व एल.डी.सी. ने अपने स्वदेशी बाज़ार को बचाने के लिए आयात-प्रतिस्थापन रणनीति अपनायी। बहुर्मुखी निर्यात रणनीति ने विकसित देशों को लाभ पहुँचाया ताकि वे अपनी-अपनी विकास दर बढ़ायें जबकि अन्तर्मुखी रणनीति विकासशील व एल.डी.सी. अर्थव्यवस्थाओं के लिए मंदी लायी। इसके अतिरिक्त, विकासशील व एल.डी.सी. ने व्यापक उत्पादन के लिए सार्वजनिक क्षेत्रा के उद्यमों पर बहुत अधिक भरोसा किया जिसने निजी क्षेत्रा के विकास को रोक दिया। इसने इन अर्थव्यवस्थाओं के आधार में असंतुलन पैदा कर दिया और उत्पादन-साधनों के अपर्याप्त आबंटन की ओर प्रवृत्त किया। १९७३ के 'तेल आघात' ने विकासशील व एल.डी.सी. की कमज़ोरियों को उजागर कर दिया और आवश्यकता महसूस की गई कि उदारीकरण व 'सैप' लागू किए जाएँ।

२) उदारीकरण का अर्थ है मुक्त व्यापार, निवेश व देशों के बीच पूँजी-प्रवाह। यह माल-व्यापार, विदेशी निवेश, सेवाकार्यो में व्यापार आदि में शामिल व्यापार-प्रक्रियाओं के सरलीकरण पर ज़ोर देता है। यह अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में कम अहस्तक्षेपवाद व सरकार की अधिक सहकारी भूमिका पर भी ज़ोर देता है। आयात-शुल्कों (यथा, सीमाशुल्क) में कमी ही व्यापार उदारीकरण की जान है।

३) 'सैप' में आते हैं – राज्य के स्वामित्व वाले उद्यमों का निजीकरण, व्यापार-नीति में संशोधन यथा आयात-प्रतिस्थापन रणनीति को हटाना और निर्यातोन्मुखी रणनीति को अपनाना। इसमें राजकोषीय घाटे में कमी लाना, औद्योगिक क्षेत्रा से संरक्षण हटाने के लिए औद्योगिक नीति में परिवर्तन लाना, और कृषि मूल्यों का उदारीकरण व परिदानों पर विराम लगाना भी शामिल है।

बोध प्रश्न २

१) बांग्लादेश ने उदारीकरण व 'सैप' का श्रीगणेश १९९० में किया और अपनी विकास दर को १९९० में ३.३ प्रतिशत से बढ़ाकर वर्ष २००० में ५.५ प्रतिशत कर दिया। यह परिवर्तन निर्यात

में वृद्धि की से आया। विदेशी निवेश भी बढ़ा, हालाँकि थोड़ा ही। अर्थव्यवस्था के खुलने से बड़ी संख्या में विदेशी निवेशकों को आकर्षित करने में मदद मिली, खासकर तेल, पैट्रोलियम व गैस अनुसंधान कार्यों में। तथापि, प्रमुख चुनौती है 'निर्यात-टोकरी की विविधता' जिसमें खासकर सूती बने-बनाये वस्त्रा शामिल हैं। इसके अतिरिक्त, भौतिक बुनियादी ढाँचा अभी तक अक्षम है और बड़े विदेशी निवेशों को आकर्षित करने में असमर्थ है।

२) विदेशी मुद्रा भण्डार में कमी से भारतीय अर्थव्यवस्था में गंभीर आर्थिक संकट आया था, जो कि बढ़ते आयात बिल, निर्यात में गिरावट और अपर्याप्त एफ.डी.आई. अन्तर्वाहों से पैदा हुआ था। १९९०-९१ में अमेरिका-इराक खाड़ी युद्ध और इराक पर पोताधिरोध के परिणामस्वरूप भारत के तेल-संबंधी खर्चे आसमान को छूने लगे, पश्चिम एशियाई देशों को निर्यात क्रमश: घटता गया और इसने पश्चिम एशिया में कार्यरत भारतीयों के धन-प्रेषण प्रवाह को रोक दिया। इसने औद्योगिक उत्पादन को भी अवरुद्ध कर दिया, मुद्रास्फीति को शिखर तक पहुँचा दिया और जी.डी.पी. विकास दर को घटा दिया। इस आर्थिक संकट के बीच राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक अस्थिरता रही। इन परिस्थितियों में भारत ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया और आई.एम.एफ. से बड़ी मात्रा में ऋण लेकर बी.ओ.पी. में असंतुलन को ठीक किया। उसने आई.एम.एफ. के दिशानिर्देशों के अनुसार जुलाई १९९१ में संरचनात्मक सुधार लागू किये। ये क्षमता और उत्पादकता सुधारने पर अभिलक्षित थे। इन सुधारों की प्रक्रिया अब भी चल रही है।

३) भारत अनिवार्यत: एक लोकतांत्रिक देश है जहाँ सरकार की हर नीति बहस का मुद्रा बन जाती है, न सिर्फ़ विपक्षी दलों में बल्कि शासक दल के भीतर भी। आर्थिक मसले पर कोई सर्वसम्मति बनाने में लम्बा समय व कड़ी मशक्कत शामिल होती है और इस प्रक्रिया में विदेशी निवेशक कभी-कभी निराश हो जाते हैं और अपने वायदे से मुकर जाते हैं। सरकार में परिवर्तन के साथ हरी झण्डी मिलने के बाद भी नीति को जारी रखने का कोई आश्वासन नहीं होता। वर्तमान में, सार्वजनिक क्षेत्रा की इकाइयों का विनिवेश बहस में पड़ा है और सरकार मुद्दे के पीछे पड़े रहने में कठिनाई का अनुभव कर रही है क्योंकि सरकार के भीतर कोई मतैक्य नहीं है।

बोध प्रश्न ३

१) पाकिस्तान १९८८ में उदारीकरण व 'सैप' लागू किये और लगभग एक दशक के बाद उसकी विकास दर गिर गई। व्यापार-व्यवस्था के खुलने से निर्यातों में किंचित् ही सुधार आया, खासकर निर्यात-टोकरी कुछ ही पारम्परिक मदों तक सीमित है। इसके अतिरिक्त, औद्योगिक क्षेत्रा का आधुनिकीकरण भी नहीं हो सका। दूसरे, राजनीतिक अस्थिरता व सामाजिक असुरक्षा के कारण एफ.डी.आई. अन्तर्वाहों की मात्रा नहीं बढ़ सकी। वर्तमान में, धार्मिक रूढ़िवाद एफ.डी.आई. के प्रवाह को रोक रहा है। अन्तत: कुशल बुनियादी ढाँचे की अनुपलब्धता उदारवाद व 'सैप्स' के सफलतापूर्वक लागू होने में सबसे बड़ी बाधा है।

२) श्रीलंका ने आर्थिक सुधार दो चरणों में लागू किए – प्रथम १९७७-८९ में और दूसरे, १९९० व उससे आगे। श्रीलंका १९७० के दशक-मध्य में ही आयात-प्रतिस्थापन रणनीति की बुराइयाँ महसूस कर लीं और आयातों पर से मात्रात्मक प्रतिबंध हटाकर अर्थव्यवस्था को विदेशी उत्पादों के लिए खोल दिया। निर्यातोन्मुखी रणनीति को व्यवहार में लाया गया जिससे निर्यात बढ़ाने में मदद मिली और जी.डी.पी. विकास दर बढ़ी। सुधारों के दूसरे दौर में विदेशी निवेश को आकर्षित करने पर ध्यान दिया गया। एफ.डी.आई. अन्तर्वाह बढ़े और निजी घरेलू व विदेशी उद्योग के बीच संयुक्त-व्यवसायों को बढ़ावा मिला। बहरहाल, तमिल अलगाववादी आन्दोलन के कारण सुधारों को करारा झटका लगा।

इकाई २२ भूमंडलीकरण एवं राज्य

इकाई की रूपरेखा

२२.० उद्देश्य

२२.१ प्रस्तावना

२२.२ भूमंडलीकरण एवं इसके विभिन्न अर्थ

२२.३ राष्ट्र-राज्य एवं प्रभुसत्ता

२२.४ दक्षिण एशियाई राज्य एवं भूमंडलीकरण

२२.४.१ दक्षिण एशिया में राष्ट्र-राज्य को चुनौतियाँ

२२.४.२ दक्षिण एशिया में राष्ट्र-राज्य की संबद्धता

२२.५ दक्षिण एशिया में क्षेत्रावाद की गत्यात्कमता

२२.५.१ भूमंडलीकरण - क्षेत्रीय सहयोग -दक्षिण एशिया में राष्ट्र-राज्य

२२.६ सारांश

२२.७ कुछ उपयोगी पुस्तकें

२२.८ बोध प्रश्नों के उत्तर

२२.० उद्देश्य

इस इकाई में भूमंडलीकरण के अर्थ और गत्यात्कमता, विशेषकर दक्षिण एशिया के राष्ट्र-राज्यों पर इसके प्रभाव का अध्ययन किया गया है। इस इकाई में वैश्विक आर्थिक क्रम के दक्षिण एशियाई राज्यों के साथ समेकन के महत्वपूर्ण पहलुओं का भी अध्ययन किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के उपरांत आप

- भूमंडलीकरण की प्रक्रिया और इसकी विभिन्न विशेषताओं के बारे में जान पाएंगे;
- राष्ट्र-राज्यों पर, विशेषकर दक्षिण एशिया के राष्ट्र-राज्यों पर भूमंडलीकरण के प्रभाव का वर्णन कर पाएंगे; तथा
- वैश्विक क्रम के अनुसार दक्षिण एशियाई राज्यों के समेकन के पहलुओं की समीक्षा कर पाएंगें।

२२.१ प्रस्तावना

१७वीं शताब्दी की वेस्टफेलिया की संधि के उपरांत से प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य अंतरराष्ट्रीय संबंधों की मूल इकाई रहे हैं। आधुनिक काल में राष्ट्र-राज्यों के गठन से संबंधित कई युद्ध हुए। राष्ट्र-राज्य स्वतंत्राता की भावना का प्रतिनिधित्व करता है। राज्य के सर्वप्रभुसत्ता सम्पन्न होने का अर्थ विशिष्ट क्षेत्रीय सीमाओं में लोगों की स्वतंत्राता है जिसके इर्द-गिर्द आधुनिक अंतरराष्ट्रीय प्रणाली का विकास हुआ है। अंतरराष्ट्रीय संबंधों की दृष्टि से राज्य की केन्द्रीय स्थिति पर विश्वव्यापी विकास के कारण विकसित हुई कई शक्तियों का लगातार प्रभाव पड़ रहा है। विभिन्न स्तरों पर अपने लोगों के साथ संबंधों को पुनर्परिभाषित करने के उद्देश्य से राज्य में प्रमुख परिवर्तन आए हैं। यद्यपि राज्य की प्रभुसत्ता आज भी महत्वपूर्ण है परन्तु स्थानीय स्तर पर विघटन और वैश्विक स्तर पर समेकन के कारण यह संकुचित हो रही है। इस अध्याय में इसके विभिन्न पहलुओं की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

विभिन्न क्षेत्रों की विशिष्टताओं के आधार पर विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में राष्ट्र-राज्य के परिवर्तन ने विभिन्न रूप लिए हैं। दक्षिण एशिया में राज्य में परिवर्तन का अपना रूप रहा है। इस अध्याय में भूमंडलीकरण के बहु अर्थों तथा राष्ट्र-राज्य पर उनके प्रभाव की चर्चा की गई है। इसमें विशेष रूप से दक्षिण एशिया में राष्ट्र-राज्यों के परिवर्तन के विविध आयामों का वर्णन हुआ है। इस इकाई में भूमंडलीकरण की मौजूदा लहर के कारण बनी दक्षिण एशिया के क्षेत्रीय गठन की गत्यात्मकता पर भी चर्चा की गई है।

२२.२ भूमंडलीकरण एवं इसके विभिन्न अर्थ

भूमंडलीकरण की वर्तमान प्रक्रिया में स्पष्ट रूप से दो विरोधाभासी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम, क्षेत्रीय व्यापार और राजनीतिक समझौतों पर हस्ताक्षर करने की दौड़ में राज्यों की स्वायत्तता समाप्त होती जा रही है। इस प्रक्रिया में राज्य ने वैश्विक प्रणाली में विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू. टी. ओ.) जैसी अंतरराष्ट्रीय इकाईयों को स्थान देते हुए अपने पुराने वर्चस्व को खो दिया है। दूसरे, राज्यों के संजातीय, जातीय, वर्ग, लिंग, जनजातीय और पारिस्थितिकीय समूह मौजूदा राज्यों में अधिक स्वायतता प्राप्त करने के लिए संघर्षरत हैं। हमने इन आंदोलनों को कई नामों जैसे पहचान संबंधी आंदोलनों, नए सामाजिक आंदोलनों अथवा स्थानीय आंदोलनों का नाम दिया है। ऐसे आंदोलन विश्वभर में चल रहे हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से व्यक्ति अथवा समूहों के लिए राष्ट्रीय अभेदवाद का स्थान संजातीय, क्षेत्रीय, जातीय तथा धार्मिक अभेदवाद ने ले लिया है। आधुनिक समय में अपने नागरिकों की राष्ट्र-राज्य में निष्ठा पर एकाधिकार के दावे को जाति, लिंग, संजातीय अथवा भाषायी समूहों के कारण बनी हुई पहचानों के प्रति अपने झुकाव के कारण गंभीर चुनौती मिली है।

आर्थिक क्षेत्रा में भूमंडलीकरण का प्रभाव स्पष्ट और गहरा है। कई राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाएँ वैश्विक बाजार में शामिल हो रही हैं। वित्तीय बाजार और पूंजी निवेश राष्ट्रीय सीमाओं को बांध रहे हैं और इसके लिए अक्सर स्वेच्छा से प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य के नियंत्राण की भी अनदेखी कर रहे हैं। अंतरराष्ट्रीय व्यापार वैश्विक उत्पादन का २० प्रतिशत है तथा इसका आकलन ५ ट्रिलियन प्रतिवर्ष किया गया है। राष्ट्रों के आर्थिक भाग्य के निर्धारण में सीमा पार लेन-देन प्रत्यक्ष विदेशी निवेश तथा बहु-राष्ट्रीय कम्पनियों का महत्व बढ़ा है ।

फोर्डवाद के फैक्टरीमूलक उत्पादन का आधार राष्ट्र-राज्यों की संरक्षणात्मक नीतियाँ रही हैं जिनका स्थान आज विभिन्न क्षेत्रों और देशों में फैली उत्पादन सुविधाएँ तीव्रता से लेती जा रही हैं। फोर्डवाद के बाद इस युग में उत्पादन और यहां तक कि वितरण का नियंत्राण बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हाथ में है। वर्तमान में शीर्ष की ५०० बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ वैश्विक उत्पादन के वृहत और बढ़ते हुए हिस्से के लिए उत्तरदायी हैं। वर्ष २००० में इन कम्पनियों के क्षेत्रावार वितरण से रोचक प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। अधिकांश कम्पनियाँ (५६) उन बैंकिंग और वित्तीय क्षेत्रों में कार्यशील हैं जिनमें वास्तविक अर्थव्यवस्था में दीर्घावधि निवेश किए बिना वैश्विक वित्तीय बाजारों में सट्टा निवेश से शीघ्र लाभ उठाया जा सकता है। अन्य क्षेत्रा हैं- पैट्रोलियम रिफाइनिंग, आटो मोबाइल, दूर संचार, खाद्य एवं औषधि स्टोर तथा इलैक्ट्रानिक उद्योग। बैंकिंग तथा वित्तीय क्षेत्रों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का आधिपत्य हाल ही के वर्षों में वित्तीय पूंजी के क्रान्तिकारी उदय का उदाहरण है ।

कई बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ उनमें रोजगार प्राप्त लोगों की संख्या तथा उनकी वित्तीय स्थिति के कारण कई राज्यों से भी बड़ी हैं। यद्यपि इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों पर अधिकांशत: राज्य का नियंत्राण नहीं है तथापि उन्हें राष्ट्र-राज्यों की आवश्यकता है क्योंकि राज्य ही किसी क्षेत्रा में उनके प्रवेश का निर्णय लेता है। राज्य ही अपने क्षेत्रा में उन्हें सुविधाएँ उपलब्ध कराता है और व्यापार को सुचारू रूप से चलाने के लिए राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक स्थिरता सुनिश्चित कराता है। अत:, बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ समकालीन वैश्विक अर्थव्यवस्था को आकार देने में राष्ट्र-राज्यों और अंतरराष्ट्रीय सरकारी संस्थाओं जैसे विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष का सहयोग लेती हैं।

भूमंडलीकरण के अंतर्गत औद्योगिक क्रान्ति के बाद के सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक संबंधों का सर्वाधिक मूल केन्द्रीकृत पुनः ढांचाकरण भी शामिल है। इसका मूल सिद्धान्त प्रतिपादक आर्थिक विकास तथा अनियंत्रित मुक्त बाजार की आवश्यकता के इर्द-गिर्द है। मुक्त व्यापार से निर्यात-आयातपरक अर्थव्यवस्था को बढ़ावा मिलता है जिसके परिणामस्वरूप सार्वजनिक उद्यमों में निजीकरण और अत्यधिक उपभोक्तावाद बढ़ता है तथा इन दोनों को जब वैश्विक विकास के साथ जोड़कर देखा जाता है तो वास्तव में यह पश्चिमी परिदृश्य को परिलक्षित करता है। नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक संरचना के मूल सिद्धान्तों की यह भी मान्यता रहती है कि विविध संस्कृतियों के बावजूद सभी देश धीरे-धीरे सजातीय हो जाएंगें और उत्पादों तथा सेवाओं में सांस्कृतिक समरूपता प्राप्त कर लेंगे। अतः, मौजूदा आर्थिक भूमंडलीकरण का विकासशील देशों पर निरन्तर दबाव बना रहेगा कि वे अधिक आत्मनिर्भर बनाने वाली अर्थव्यवस्थाओं को बढ़ावा देने वाली स्थानीय परम्पराओं और कार्यक्रमों को त्याग दें।

यद्यपि भूमंडलीकरण के अंतर्गत विश्वभर में समरूपता की बात कही जाती है तथापि इस प्रक्रिया ने विश्व को दो समूहों में विभक्त कर दिया है। उत्तर के विकसित राष्ट्रों का तर्क है कि भूमंडलीकरण के लाभ अभ्यावर्तक हैं तथा विकसित और अल्पविकसित दोनों राष्ट्रों के लिए लाभकारी हैं। दूसरी ओर, दक्षिण के विकासशील देशों का भूमंडलीकरण के प्रति दृष्टिकोण आशंकापूर्ण है, भले ही यह पूर्ण निराशावाद का न हो। विकासशील देशों की आशंका का आधार न केवल उनकी कमजोर आर्थिक स्थिति है अपितु उत्तर और दक्षिण के मध्य आर्थिक विभाजन भी है। भूमंडलीकरण के लाभों के असमान वितरण से यह अन्तर और बढ़ गया है। इसके अतिरिक्त, यद्यपि भूमंडलीकरण के अंतर्गत अंतरराष्ट्रीय मुद्दों को बहुपक्षीय फोरमों के माध्यम से सुलझाने की बात कही जाती है तथापि वास्तविकता यह है कि ये फोरम वर्तमान में उत्तर के विकसित देशों द्वारा नियंत्रित हैं अथवा इन पर इनका वर्चस्व है। इन परिस्थितियों में, कमजोर देशों के हितों को या तो एक तरफ दरकिनार कर दिया जाता है या फिर कम महत्व दिया जाता है। यही कारण है कि विकासशील देश भूमंडलीकरण को अपनाने में हर सावधानी बरत रहे हैं ।

बहुपक्षीय संस्थानों जैसे विश्व व्यापार संगठन इत्यादि के उदय के उपरांत प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्था खुली व्यवस्था हो गई है और वह व्यापार के वैश्विक साम्राज्य में शामिल हो गई है। कई देश जो एक दशक पहले तक राज्य के नियंत्राण और स्वामित्व पर विश्वास रखते थे, आज उन्होंने अपनी अर्थव्यवस्था का निजीकरण करना आरम्भ कर दिया है। दक्षिण एशिया के देश इसका अपवाद नहीं हैं। इनमें से अधिकांश देशों ने ९० के दशक के आरम्भ में ही अपनी अर्थव्यस्था का उदारीकरण शुरू कर दिया था। बीसवीं शताब्दी की आर्थिक उदारीकरण की नीतियों की प्रमुख विशेषताएँ-निजी स्वामित्व, व्यापार में राज्य की कम भूमिका, व्यापार के कम अवरोधों, कम करों तथा किसी अर्थव्यवस्था में सर्वाधिक कुशल वितरक के रूप में बाजार में सामान्य तौर पर विश्वास है।

आर्थिक उदारीकरण की दिशा में प्रत्यक्ष झुकाव के संबंध में राजनीतिक उपसाध्य पर यदि दृष्टिपात करें तो यह अत्यंत रोचक होगा। राष्ट्र-राज्य उभरती हुई वैश्विक व्यवस्था का सामना प्रमुखतः तीन स्तरों पर करते हैं - क्षेत्रीय, राष्ट्रीय तथा घरेलू। इसके लिए विभिन्न स्तरों पर नई संस्थाएँ, संरचनाएँ और संगठन बनाए जा रहे हैं। विश्व के विभिन्न हिस्सों के देश इकट्ठे हो रहे हैं और भूमंडलीकृत अवस्था का सामना करने के लिए क्षेत्रीय समूह बना रहे हैं क्योंकि राज्य के लिए अपने स्तर पर कार्य करना मुश्किल हो जाता है। कुछ भागों में मौजूदा क्षेत्रीय संस्थाओं को नई दिशा देने के प्रयास किए जा रहे हैं।

राष्ट्रीय सीमाओं को लांघकर नई राजनीतिक संरचनाएँ बनाने के प्रयास किए जा रहे हैं। १९९२ के अंत में यूरोपीय संघ ने अपने १२ सदस्य देशों के लिए एकल बाजार की स्थापना की। इसके अतिरिक्त, आर्थिक सहयोग के आधार पर यह राजनीतिक और मुद्रा संघ बनाने का भी प्रयास कर रहा है। इसी प्रकार से सुदूर पूर्व की सरकारें क्षेत्रा में आर्थिक की ही तरह राजनीतिक सहयोग को बढ़ावा देने पर विचार कर रही हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका का कनाडा तथा मैक्सिको से पहले ही मुक्त व्यापार समझौता हुआ है वह जिसे बढ़ाकर दक्षिण अमरिका के साथ भी लागू करना चाहत है।

जैसाकि हम हाल ही के समय में सार्क देशों के अनुभव से जानते है कि इन देशों में मतभेदों, विशेषकर पाकिस्तान और भारत में शत्राुता के बावजूद दक्षिण एशिया मुक्त व्यापार समझौता (SAFATA) संभव हो पाया है। यह समझौता मुक्त बाजार की दिशा में एक कदम है। भूमंडलीकरण के उतार-चढ़ाव का सामना करने के लिए सशक्त क्षेत्राीय संघ के रूप में उभरने की सार्क की इच्छा जनवरी, २००४ में इस्लामाबाद में सम्पन्न हुई शिखर बैठक में स्पष्ट रूप से सामने आई जहाँ मुद्रा संघ की परिकल्पना पर विचार किया गया।

फिर भी, राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्र-राज्यों में वैश्विक अर्थव्यवस्था के क्षेत्रा में स्वायतता में तुलनात्मक रूप से आई कमी से विशेषकर विकासशील देशों में लोगों की लोकतांत्रिाक इच्छाओं के संबंध में शंकाएँ उत्पन्न होती हैं। यहाँ लोग राज्य से अत्यधिक आशाएँ रखते हैं यद्यपि संसाधन एकत्रा करने और उनके वितरण में राज्यों की क्षमता कम है। चूंकि वैश्विक रूप से जुड़ने के लिए राष्ट्रीय सरकारों को निजीकरण, सार्वजनिक क्षेत्रा में विनिवेश, श्रमिकों की छंटनी जैसे कुछ प्रमुख नीतिगत निर्णय लेने पड़ते हैं, अत: इससे राज्य की भूमिका के संबंध में शंका होना स्वाभाविक है।

घरेलू स्तर पर विभिन्न आंदोलनों के कारण राष्ट्र-राज्यों को कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। नागरिक राष्ट्रीय सरकारों को उन मुद्दों के लिए भी जवाबदेय मानते हैं जिन पर राज्य का कोई स्वायत नियंत्रण नहीं होता। फिर भी, नागरिकों की राष्ट्र-राज्य के प्रति दृढ़ निष्ठा और औपनिवेशवाद के विरूद्ध संघर्षो के कारण और सुदृढ़ हुई यह निष्ठा भूमंडलीकरण प्रक्रियाओं की तुलना में राष्ट्रीय सरकारों की स्वायतता में आई कमी के अनुसार कमजोर नहीं हुई है। हम यह कह सकते हैं कि विकासशील देशों के नागरिकों को अधिराष्ट्रीय संकायों को अपनाने की आशा करना सही नहीं होगा जबकि विकसित देशों के उभरते हुए अधिराष्ट्रीय संकायों जैसे यूरोपीय संघ इत्यादि के प्रति यह निष्ठा न के बराबर है। यह एक ऐसी चुनौती है जिसका राष्ट्र राज्य को वैश्विक तथा स्थानीय दबावों के बीच मध्यस्थता करने में लगातार सामना करना पड़ता है।

२२.३ राष्ट्र-राज्य और प्रभुसत्ता

प्रभुसत्ता की परिकल्पना आधुनिक विश्व और सर्वशक्तिमान राष्ट्र-राज्य के विकास में प्रमुख विचार रही है। आरम्भ में इसके अंतर्गत क्षेत्रा विशेष में व्यवस्था को कायम रखने के लिए कानूनी हिंसा लागू करने का राज्य का प्राधिकार आता था। धीरे-धीरे राष्ट्र-राज्यों ने कल्याण के कार्यों को जोड़ते हुए अपने क्षेत्रा की सीमाओं पर सम्पूर्ण अधिकार के दावेदार हो गए हैं जिसके कारण नागरिकों को अपनी समस्याओं के समाधान के लिए अपने राष्ट्र-राज्यों पर अत्यधिक आशाएँ रख ली हैं। शक्ति के उपयोग में निष्पक्षता रखने के कारण राष्ट्र-राज्य के कार्यों को वैद्यता मिलती है ।

बीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में भूमंडलीकरण के उदय के कारण राष्ट्र-राज्य संकट में हैं। स्वतंत्रा रूप से कार्य करने की इनकी क्षमता पर वैश्विक स्तर पर बाहय शक्तियों और स्थानीय स्तर पर आंतरिक शक्तियों का दबाव पड़ा है। राष्ट्र-राज्य भूमंडलीय एकता और स्थानीय विघटन की शक्तियों के बीच फंसे हैं। अधिकांश लोगों के जीवन में संबंधों में सर्वप्रमुख संरचनात्मक परिवर्तन राष्ट्र-राज्य के प्रति संबंधों के कारण आए हैं। लोगों का अब तक राज्य के साथ अधिकार का संबंध था, जो अब नहीं रहा क्योंकि राज्य न तो अपने स्तर पर भूमंडलीय शक्तियों के साथ बातचीत करने में और न ही अलग-अलग पहचान के साथ रह रहे नागरिकों में एकता की भावना लाने में सक्षम है। विकासशील देशों पर यह अधिक लागू होता है क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में इन देशों में राज्य की अक्षमता अधिक स्पष्ट है। नागरिक नए संगठनों की खोज में हैं जो विभिन्न रूपों में उन्हें पहचान दिला सकें। इसके बहु पक्षीय परिणाम सामने आ रहे हैं। स्थानीय समुदाय, जो कि संसाधनों में बड़े हिस्से की मांग कर रहे हैं, कल को उन्हें यह अनुभव हो सकता है कि उनका हित राष्ट्र-राज्यों के अधिकार कम करने या फिर बाद में उनका ध्वंस करने में है।

हाल ही के वर्षों में हम देख रहे हैं कि उभरती हुए स्थानीय शक्तियाँ अपने मुद्दे भूमंडलीय स्तर पर उठाने के प्रयास कर रही हैं ताकि राष्ट्र-राज्य पर दबाव बनाया जा सके। हाल ही की विश्व शिखर बैठकें इस तथ्य को स्पष्ट करती हैं कि स्थानीय समुदाय वैश्विक इकाईयाँ बनना चाहते हैं। मानवाधिकार समूहों का विएना शिखर सम्मेलन, नारी समूहों का बीजिंग, पारिस्थितिकीय समूहों का रियो सम्मेलन, रंग भेद के विरूद्ध डर्बन सम्मेलन अथवा विश्व सामाजिक फोरम सभी संजातीय, जातीय, लिंग, पारिस्थितिकीय मुद्दों की भांति अपने राष्ट्रों से बाहर स्थानीय समुदायों को इकट्ठा कर रहे हैं। वे सामाजिक न्याय के मुद्दे को राष्ट्र-राज्यों के अधिकार क्षेत्रा से ऊपर उठा देते हैं और इन स्थानीय समूहों को भूमंडलीय प्रक्रियाओं के साथ जोड़ देते हैं। उदाहरणतया, किसी देश में मानवधिकार का इतिहास अंतरराष्ट्रीय ऋणदाता एजेन्सियों द्वारा ऋण अथवा अनुदान राशि के संवितरण में प्रमुख मुद्दे के रूप में उभरा है। इससे यह पता चलता है कि किस प्रकार से राष्ट्र-राज्य घरेलू तथा विश्वव्यापी शक्तियों, दोनों के दबाव में है।

बोध प्रश्न १

नोट : अपने उत्तर के लिए कृपया दिए गए स्थान को उपयोग में लाएं। अपने उत्तर की जांच इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से करें ।

१) वर्तमान विश्व व्यवस्था में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की भूमिका पर टिप्पणी कीजिए?

....

....

....

२) भूमंडलीकरण के संदर्भ में राष्ट्र-राज्य की प्रभुसत्ता कैसे प्रभावित हुई है?

....

....

....

....

२२.४ दक्षिण एशियाई राज्य एवं भूमंडलीकरण

मौजूदा अंतरराष्ट्रीय प्रणाली पहले की तुलना में निश्चित तौर पर कम राज्यपरक है परन्तु "भूमंडलीकरण के शुभ संदेश" अथवा "राज्य के अंत" का दावा करना भी जल्दबाजी होगी। यद्यपि शीत युद्ध के बाद का विश्व राज्य परक नहीं है तथापि यह राज्य रहित अथवा राज्य मुक्त व्यवस्था नहीं है। विश्व के विभिन्न भागों में अलग-अलग गति, सघनता तथा सीमा तक अधिराष्ट्रीय स्तर पर क्षेत्रीय एकता की प्रक्रिया चल रही है। यूरोपीय संघ सर्वाधिक समेकित संस्था है जबकि सार्क को अभी लम्बा सफर तय करना है।

२२.४.१ दक्षिण एशिया में राष्ट्र-राज्य को चुनौतियाँ

दक्षिण एशिया के राष्ट्र राज्य को स्थानीय, क्षेत्रीय और वैश्विक संदर्भ से उत्पन्न हुई विभिन्न शक्तियों की गंभीर चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। इनमें से प्रमुख हैं- अभेदवाद आंदोलन तथा समुदाय संबंधी तर्क, क्षेत्रीय आंदोलन और वैश्विक एजेन्सियाँ। इनमें से प्रत्येक राष्ट्र-राज्य का स्थान लेना अथवा स्वतंत्रा रूप से कार्य करना चाहती है। इस क्षेत्रा में राष्ट्र-राज्य किस दिशा में जा रहा है, यह जानने के लिए इन शक्तियों के तर्कों को सराहना महत्वपूर्ण होगा।

अधिराष्ट्रीय क्षेत्रा द्वारा राष्ट्र-राज्य का स्थान लेने का प्रबल दावेदार होने के कई कारण हैं। अधिराष्ट्रीय क्षेत्रा आर्थिक, प्रौद्योगिकीय तथा नीतिगत चुनौतियों का सामना अधिक सक्षमता से कर सकता है। जहाँ-जहाँ क्षेत्राीय एकता प्रबल हुई है, वहाँ-वहाँ स्थानीय विवाद कम हुए हैं, सैनिक व्यय कम हुआ है अथवा इसे सीमाओं में रखा गया है और आर्थिक निष्पादन बेहतर रहा है। इसके अतिरिक्त, अधिराष्ट्रीय क्षेत्रा उप-राष्ट्रीय पहचान समूहों को राष्ट्र राज्य की तुलना में अधिक विश्वास से मान्यता दे सकते हैं। यदि राष्ट्र प्राकृतिक न होकर काल्पनिक है, तो क्षेत्रा की कल्पना भी की जा सकती है अलबत्ता विभिन्न आधारों पर। यह राज्य की तुलना में अधिकारों को सुरक्षित रख सकता है जैसा कि राष्ट्रवाद उग्र राष्ट्रवाद का रूप ले लेता है। इन कारणों के अतिरिक्त वर्तमान प्रक्रिया में क्षेत्राीय संबंधों की प्रक्रिया अधिक सुदृढ़ हो रही है। इन कारणों से क्षेत्रा को राष्ट्र-राज्य का प्राकृतिक प्रारूप माना जा सकता है ।

तथापि, क्षेत्रावाद के उदय से राष्ट्र-राज्य इकाईयाँ कमजोर नहीं हो सकती। दक्षिण एशिया में क्षेत्राीय सहयोग की अत्यधिक संभावना के बावजूद क्षेत्रा में राष्ट्र-राज्यों के भिन्न-भिन्न हित होने के कारण इसकी क्षेत्राीय पहचान नहीं बन पा रही है। दक्षिण एशिया में क्षेत्राीय पहचान बनने की क्षमता प्रत्यक्ष स्पष्ट है। हाल ही के वर्षों में दक्षिण एशियाई राज्यों के समक्ष संजातीय, जातीय, लिंग तथा क्षेत्रा के आधार पर समुदायों को इकट्ठा करने की चुनौती है। उदाहरण के तौर पर, बांध बनने, खनन इत्यादि के कारण बड़ी संख्या में जनजातीय जनसंख्या का सीमान्तकरण और विस्थापन जैसे मुद्दे पारिस्थितिकीय आंदोलनों के रूप में इन राज्यों द्वारा अपनाए गए विकास मॉडलों पर गंभीर रूप से प्रश्न चिन्ह लगा रहे हैं। देश में अपनी पहचान की खोज के रूप में चलाए जा रहे दलित आंदोलन अक्सर उच्च जातियों के वर्चस्व वाले राज्य की वैद्यता पर ही प्रश्न चिन्ह लगाते हैं। इसी प्रकार से सत्ता तथा राष्ट्र-राज्य में लिंग आधार पर भागीदारी राज्य के मूल ढांचे के लिए चुनौती है। यह पुरूष प्रधान अर्थात पितृवाद पर आधारित राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह है ।

ये सब उदाहरण राष्ट्र-राज्यों के नागरिकों की निष्ठा के एकमात्रा दावेदार की स्थिति को समाप्त कर रहे हैं। उनका यह मत है कि सदस्य की प्राथमिक निष्ठा अपने समुदाय के प्रति होती है क्योंकि किसी व्यक्ति के ''स्व'' का निर्माण समुदाय तथा इसकी मान्यताओं और परम्पराओं में और इनके माध्यम से होता है तथा इनका विकास समुदाय के परिणामस्वरूप ही होता है। अक्सर यह सत्य होता है कि संसाधनों अथवा सत्ता के बंटवारे में इन समुदायों के दावों में विवाद उत्पन्न हो जाता है। समुदायों के मध्य अथवा इनके भीतर विवाद होने पर कौन मनमानी कर सकता है? समुदायों से परे मुद्दे पर स्वतंत्रा विचार करने की आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त समुदायों की सीमाओं में अत्यधिक कमियाँ है तथा उनकी निरन्तर पुन: खोज होती रहती है। हिन्दुत्व अथवा उम्माह अथवा धार्मिक आधार पर किसी भी समुदाय का उदाहरण हमारे सामने है। इस प्रकार के समुदाय की सीमाएँ स्थिर नहीं हैं और इनमें प्राय: परिवर्तन आते रहते हैं। अपने भीतर की भिन्नताओं की निरन्तर उपेक्षा करते हुए ये सदैव समुदायों के बड़े ब्लॉकों के निर्माण के लिए तत्पर रहते हैं। इसके साथ ही वे जीवन की मान्यताओं तथा तरीकों की बहुपक्षीयता को पहचानने अथवा स्वीकार करने से इन्कार करते हैं। ऐसी अवस्था में राज्य ही विवादपूर्ण राज्यों के विवाद को सुलझा सकता है। अत:, राष्ट्र-राज्य के किसी विकल्प के रूप में समुदाय के संबंध में तर्क अब तक लगभग खोखले हैं। इसके अतिरिक्त, राष्ट्र-राज्य की मध्यस्थता के बिना भूमंडलीय स्तर पर बातचीत करना समुदायों के लिए असंभव सा है।

राज्यों के अतिरिक्त क्या कोई ऐसी भूमंडलीय प्रणाली है जो राष्ट्र-राज्य का विकल्प बन सके? आज पारिस्थितिकीय संतुलन, आतंकवाद, प्रदूषण, निरस्त्रीकरण इत्यादि कई ऐसे मुद्दे हैं जिनका समाधान केवल भूमंडलीय स्तर पर ही निकाला जा सकता है। इस प्रकार के अंतरराष्ट्रीय संगठनों की संख्या पहले ही बढ़ रही है तथा इन संगठनों के कार्यों और भविष्य में आशाओं में भी वृद्धि हो रही है। इसके साथ-साथ मानवाधिकार और लोकतंत्रा जैसे कुछ मुद्दों पर व्यापक सहमति बनी है। भूमंडलीय अथवा विश्व प्रणाली के समर्थक वैश्विक प्रणाली के प्रमाण के रूप में राज्यों में संस्थानों के नेटवर्क

और प्रक्रियाओं की कार्यशीलता की ओर इंगित करते हैं, भले ही यह शुरूआती स्तर पर क्यों न हो। अत: वे भूमंडलीकरण के न केवल आर्थिक अपितु राजनैतिक क्षेत्रा में भी होने के पक्षधर हैं।

तथापि, राष्ट्र-राज्य के विकल्प के रूप में भूमंडलीय प्रणाली अथवा सरकार संभव नहीं है, और यदि हो भी तो यह वांछनीय नहीं है। वास्तव में बढ़ती हुई स्वतंत्राता तथा कार्यात्मक सहयोग ने राष्ट्र-राज्य को कमजोर बनाने की अपेक्षा सदैव इसे सुदृढ़ ही बनाया है। राष्ट्र-राज्य का महत्व न केवल पहचान दिलाने में अपितु संकट के क्षणों में भी है। यद्यपि विश्व प्रणाली एक एकीकृत विश्व है तथापि यह कई विरोधाभासों से पूर्ण है। उत्तर के अधिक विकसित देशों के वर्चस्व वाली विश्व प्रणाली कम विकसित देशों तथा उनमें से भी निचले अनुभागों को सुरक्षा उपलब्ध नहीं करा सकती।

२२.४.२ दक्षिण एशिया में राष्ट्र-राज्य की संबद्धता

पिछले २०० वर्षों से सैद्धान्तिक विभिन्नताओं के बावजूद राष्ट्र-राज्यों ने नागरिकों को संगठित करने और राज्य के साथ स्वयं को जोड़ने की सामान्य सोच को ढाला है। राष्ट्र-राज्य न केवल सामूहिकता की संगठित अभिव्यक्ति है अपितु यह कई बार कम से कम कुछ सीमा तक संबंधों में परिवर्तन लाने, आर्थिक विकास और लोकप्रिय सशक्तिकरण का सक्रिय माध्यम रहा है। दक्षिण एशिया में राष्ट्र-राज्य में राष्ट्रीय आंदोलन की स्मृतियाँ हैं और पुराने युग का इतिहास छुपा है। संजातीय विवादों के कारण दक्षिण एशिया में राज्य के अधिकार की स्थिति में परिवर्तन आने के बावजूद दक्षिण एशियाई देशों के लोग अपने राज्य की संस्कृति से जुड़े हैं। उप-महाद्वीप में खेलों से लेकर सैनिक विवादों तक लोगों की भावनाएँ उमड़ पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त, हमारी परिस्थितियों में बाह्य वर्चस्व और आक्रमण का सामना राष्ट्र-राज्य ही कर सकता है, भले ही वह अपूर्ण क्यों न हो। राज्य की यही क्षमता संस्कृति और राजनीतिक जीवन के लिए स्वायतता सुनिश्चित कर सकती है तथा कम से कम अर्थव्यवस्था का सीमित विनियमन कर सकती है।

इसके अतिरिक्त, संगठनात्मक रूप में राष्ट्र-राज्य के भीतर तथा बाहर असंख्य संबंध और पहचानें समेटने की क्षमता है। राष्ट्रवादी सिद्धान्तवाद के कई रूप हो सकते हैं। इस प्रकार की लोचशीलता किसी भी संकीर्णता से बनी पहचान में नहीं है और न ही अति राष्ट्रीय पहचान के काल्पनिक विचार में है जो कि आम नागरिक की कल्पना से बहुत दूर है।

बोध प्रश्न २

नोट : अपने उत्तर के लिए कृपया दिए गए स्थान को उपयोग में लाएँ। अपने उत्तर की जांच इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

१) दक्षिण एशिया में राज्य-राज्य के समक्ष क्या प्रमुख चुनौतियाँ हैं?

....

....

....

....

२) क्या आपके विचार में उभरती हुई विश्व प्रणाली राष्ट्र-राज्य का विकल्प है?

....

....

....

....

२२.५ दक्षिण एशिया में क्षेत्रवाद की गत्यात्मकता

दक्षिण एशिया की जनसंख्या १.२ बिलियन है तथा विश्व की जनसंख्या का यह २० प्रतिशत से अधिक है। यहाँ का सकल घरेलू उत्पाद ३०९ डालर प्रति व्यक्ति है जो कि विकासशील देशों के औसत का एक तिहाई तथा औद्योगिक विश्व का २० प्रतिशत है। इस प्रकार से दक्षिण एशिया वास्तव में विश्व का ''सर्वाधिक वंचित क्षेत्रा'' है। दक्षिण एशिया का अन्य क्षेत्राों की तुलना में न केवल आय का स्तर अपितु मानव संसाधन का स्तर भी निम्न है। इसका एक कारण भारत तथा पाकिस्तान के मध्य अस्त्रा-शस्त्राों की होड़ के कारण तथा श्रीलंका में चल रहे संजातीय विवाद के कारण अपेक्षाकृत सैनिक व्यय का उच्च स्तर होना है।

लोकप्रिय होती सामान्य समस्याओं को सुलझाने के लिए क्षेत्राीय दृष्टिकोण की प्रवृत्ति के साथ दक्षिण एशिया के देशों ने १९७० के दशक के अंतिम वर्षों में क्षेत्राीय समूह गठित करने का प्रयास आरम्भ कर दिया। नई संस्था के ढांचे और कार्यकलापों की रूपरेखा तैयार करने के लिए सरकारी स्तर पर कई बैठकों के उपरांत १९८५ में दक्षिण एशियाई क्षेत्राीय संघ की स्थापना हुई। शीघ्र ही संस्था का नाम बदलकर दक्षिण एशियाई क्षेत्राीय सहयोग संघ रख दिया गया ताकि इसे औपचारिक पहचान दी जा सके।

नई क्षेत्राीय संस्था की प्रमुख विशेषताएँ थीं - भारत की केन्द्रीयता तथा सदस्य देशों की असमान आर्थिक स्थिति के मद्देनजर अन्तर्निभरता अथवा ''संतुलित अन्तर्निर्भरता'' पर बल; विवादास्पद तथा द्विपक्षीय मुद्दों से बचना, व्यापार एवं सुरक्षा से जुड़े संवेदनशील क्षेत्राों की अपेक्षा कमजोर क्षेत्राों पर बल। चूंकि सदस्य राज्यों को विवादास्पद मुद्दों से बचना चाहिए, अत: आरम्भिक वर्षों में सार्क का प्रमुख ध्यान स्वास्थ्य, शिक्षा, संस्कृति, संचार, कृषि, ग्रामीण विकास इत्यादि क्षेत्रों पर था। १९९० के दशक में उदारीकरण और बाजार अर्थव्यवस्था की नीतियाँ अपनाकर सार्क के लगभग सभी सदस्य देश भूमंडलीकरण अर्थव्यवस्था का हिस्सा बन रहे हैं। उन्होंने न केवल १९९३ में दक्षिण एशियाई प्रिफरेंशियल अरेंजमेंट पर हस्ताक्षर किए अपितु जनवरी, २००४ में इस्लामाबाद में आयोजित बारहवें सार्क सम्मेलन में मुक्त व्यापार क्षेत्रा(SAFTA) में प्रवेश के लिए समझौते पर भी हस्ताक्षर किए।

२२.५.१ भूमंडलीकरण - क्षेत्राीय सहयोग - दक्षिण एशिया में राष्ट्र-राज्य

भूमंडलीकरण के संदर्भ में दक्षिण एशिया क्षेत्रा के देशों में क्षेत्राीय सहयोग की तीन मूल विवशताएँ हैं - क्षेत्रा की सुरक्षा का पर्यावरण, आर्थिक सहयोग तथा सामान्य ऐतिहासिक विरासत।

शीत युद्ध की समाप्ति पर समाजवादी ब्लॉक के विघटन और सत्ता संतुलन के पुराने विचारों के घिस-पिट जाने जैसे क्रान्तिकारी परिवर्तनों से बदलते हुए दक्षिण एशियाई सुरक्षा पर्यावरण पर सहगामी प्रभाव नही पड़े। दक्षिण एशिया में सुरक्षा तथा क्षेत्राीय सहयोग की गत्यात्मकता पर काफी हद तक भारत और पाकिस्तान के संबंधों का प्रभाव पड़ा है। पुराने आपसी खतरे की अवधारणाएँ तथा पुरानी सोच भारत और पाकिस्तान के नीति निर्माता अभिजात्य वर्ग के मस्तिष्क में अभी भी विराजमान है। अत:, द्विपक्षीय विश्व राजनीति का ''एक पक्षीय'' विश्व व्यवस्था में अचानक परिवर्तन भी दो प्रतियोगी क्षेत्राीय शक्तियों - भारत और पाकिस्तान - को अपना रक्षा बजट कम करने अथवा परमाणु हथियारों सहित अन्य संवेदनशील हथियार इकट्ठे करने से नहीं रोक सका। वास्तव में, क्षेत्रा में संयुक्त राज्य की उपस्थिति से सदैव दक्षिण एशिया के सुरक्षा पर्यावरण पर अस्थिरता का प्रभाव पड़ा है ।

भूमंडलीय परिप्रेक्ष्य से दक्षिण एशिया विलक्षण क्षेत्रा है। इसकी समस्याओं और विवादों की अपनी गत्यात्मकता है तथा यदि सभी नहीं तो भी इनमें से अधिकांश समस्याएँ इसके इतिहास, भौगोलिक-राजनीति, अर्थव्यवस्था और परिस्थिति विज्ञान का परिणाम हैं। भूमंडलीय विकास की प्रमुख धारा से कुछ हद तक कटे रहने के कारण दक्षिण एशिया आज भी अन्य शक्तियों और क्षेत्राों के साथ संबंधों में कम सक्रिय है। तथापि, भारत की आर्थिक उदारीकरण की नीति ने इसे अंतरराष्ट्रीय

भूमंडलीय विकास का अटूट अंग बना दिया है जिससे १९९० के दशक में यह अंतरराष्ट्रीय पटल पर उभर कर आया है। संयुक्त राज्य भारत को अपने उत्पादों और सेवाओं के लिए संभावित बाजार के रूप में देखता है। परिणामस्वरूप, यद्यपि अमरीका भारत के परमाणु शक्ति बनने पर नाखुश है तथापि यह अपने दीर्घावधि आर्थिक हितों के कारण भारत को साथ लेकर चलना चाहता है।

यह एक अन्य पहलू है कि दूसरे दक्षिण एशियाई देश संयुक्त राज्य को और दक्षिण एशियाई नीतिगत संतुलन बनाने में इसके प्रभाव को कैसे देखते हैं। अन्य दक्षिण एशियाई देश अपनी आंतरिक समस्याओं में अत्यधिक उलझे हैं तथा परमाणु हथियारों की रोक अथवा शांति और अन्य देशों के आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप न करने पर औपचारिक टिप्पणियाँ करते रहते हैं। छोटे देश भारत अथवा अन्य शक्तियों की तुलना में शीत युद्ध की युक्तियों से वंचित महसूस करते हैं। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर वे औद्योगिकृत पश्चिम और जापान का अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं में तथा द्विपक्षीय सहयोग देने में वर्चस्व होने के कारण उन पर निर्भर हैं। जापान दक्षिण एशियाई देशों को सहायता उपलब्ध कराने वाला अग्रणी देश है, उसके बाद यूरोपीय देश इस दिशा में प्रमुख स्थान रखते हैं।

पिछले दो दशकों से अंतर्शासकीय आर्थिक संस्थाएँ - अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक तथा विश्व व्यापार संगठन ही विकासशील देशों की आर्थिक नीतियाँ तय कर रहे हैं। लक्ष्यों की प्राप्ति, नीति निर्माण, उपकरणों के उपयोग तथा संस्थाओं के विकास के संबंध में इन संस्थाओं का मानीटर तथा दिशानिर्देश रहता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि अधिकांश विकासशील देशों ने अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक से ऋण लिया हुआ है जिसके कारण वे कई शर्तों की प्रणाली का हिस्सा बन जाते हैं। इन शर्तों के पैकेज को सामान्यतया ''वांशिंगटन सर्वसम्मति'' कहा जाता है जिसमें वृहत आर्थिक नीतियाँ, विशेषकर बजट घाटा सकल घरेलू उत्पाद का ३ प्रतिशत तक रखने, विदेशी व्यापार उदारीकरण एवं विदेशी प्रत्यक्ष निवेश नीतियाँ, निजीकरण, बाजार की अर्थव्यवस्था में प्रमुख भूमिका निर्धारित करने और इन सबसे बढ़कर आर्थिक क्षेत्रा में राज्य का सीमान्तकरण इत्यादि नीतियाँ शामिल हैं।

अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक ने १९९० के दशक में पहला महत्वपूर्ण कदम तब उठाया जब इन्होंने अपने मूल अधिदेश के अतिरिक्त अभिशासन की प्रकृति से संबंधित परामर्शदात्री भूमिका को भी अपनाया। ये संस्थाएँ अपने सहयोग वाली परियोजनाओं के सफल कार्यान्वयन के लिए उपयुक्त राजनीतिक पर्यावरण सुनिश्चित करने पर बल दे रही हैं। दक्षिण एशियाई देश इसका अपवाद नहीं हैं। वे भी पिछले कुछ वर्षों से इन संस्थाओं के सशक्त प्रभाव में हैं। इस प्रकार से, इन देशों के राजनीतिक सुधारों में इनका हस्तक्षेप जारी है।

तथापि, अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के दिशा-निर्देश में दक्षिण एशिया के देशों द्वारा चलाए गए सुधार कार्यक्रमों से वास्तव में आर्थिक विकास की दर में कोई तीव्रता नहीं आई है। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP) द्वारा प्रकाशित दक्षिण एशिया में भूमंडलीकरण एवं मानव विकास पर रिपोर्ट में पिछले डेढ़ दशक में दक्षिण एशियाई अर्थव्यवस्थाओं में विकास दर में अत्यधिक कमी नहीं पाई गई । रिपोर्ट में बताया गया है कि बांग्लादेश और नेपाल में विकास की दर मामूली रही, श्रीलंका के मामले में १९९० के दशक के अंतिम वर्षों में यह डगमगा गई जबकि पाकिस्तान में इसमें कमी आई। केवल भारत ही ६ प्रतिशत से अधिक विकास दर प्राप्त कर पाया है।

इस अवस्था के लिए उत्तरदायी प्रमुख कारणों में से एक यह है कि सुधारों का क्रम उचित नहीं रहा है। उदाहरण के तौर पर किसी भी दक्षिण एशियाई देश ने शुल्क कम किए बिना कर के आधार को नहीं बढ़ाया। इसका परिणाम यह हुआ है कि सुधार प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए महत्वपूर्ण राजस्व सरकार को प्राप्त नहीं हो सका। इसी प्रकार से कृषि क्षेत्रा में बाजार सुधारों को लाए बिना इसके संरक्षण के लिए पर्याप्त तरीके नहीं अपनाए गए जिसका परिणाम यह हुआ कि इस क्षेत्रा के देशों में कृषि क्षेत्रा का निष्पादन अच्छा नहीं रहा।

यह उल्लेखनीय है कि मानव विकास रिपोर्ट में दक्षिण एशियाई देशों में कुछ हद तक आर्थिक परस्पर-निर्भरता की सिफारिश की गई है। इसमें कहा गया है कि सशक्त क्षेत्राीय व्यापार ब्लॉक बनाने से न केवल सदस्य देशों में आर्थिक सहयोग को बढ़ावा मिलेगा अपितु भूमंडलीकृत व्यवस्था

में समूह की प्रतियोगी स्थिति में भी सुधार आएगा। इससे महत्वपूर्ण राजनीतिक सौहार्दता का मार्ग प्रशस्त होगा और साथ ही ऐसी अवस्था तैयार करने में सहायता मिलेगी जिससे कि भूमंडलीय स्तर पर बातचीत में वे सामूहिक रूप से अपना पक्ष रख सकेंगे।

विश्व व्यापार संगठन में लोकतांत्रिाक तरीके से निर्णय लिए जाने के बावजूद इस प्रक्रिया में विकासशील देशों की भागीदारी महत्वपूर्ण नहीं है। अत: दक्षिण एशियाई क्षेत्रा के देशों के लिए अनिवार्य है कि वे गठबंधन के रूप में उभरें ताकि मौजूदा जनमत दृष्टिकोण सहित विश्व व्यापार संगठन के वर्तमान प्रावधानों में परिवर्तन लाए बिना निर्णय प्रक्रिया को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया जा सके।

कमजोर राज्य गठबंधन को सहयोग का माध्यम बनाने तथा सशक्त देशों को प्रभावित करने का कार्य कैसे किया जाए, यह अंतरराष्ट्रीय संबंधों में चर्चा का विषय है। यहां यह उल्लेखनीय है कि गठबंधन का निर्माण सतत प्रक्रिया है। वास्तव में, विकासशील देशों द्वारा अंतरराष्ट्रीय आर्थिक मामलों में अपने हितों को बढ़ावा देने के लिए गठबंधन निर्माण कोई नई बात नहीं है। १९६० के दशक में विकासशील देश इकट्ठे हुए और यह एकता १९७० के दशक में भी जारी रही। इस समूह को बाद में समूह-७७ कहा गया। इस समूह में भी विभिन्न अंतरराष्ट्रीय फोरमों पर भी इकट्ठे होकर अपने मुद्दे रखने से पहले कई व्यापारिक समूह बनाए गए ताकि वे समूह-७७ के अलग-अलग समूहों की आवश्यकताओं को प्रस्तुत कर सकें, किन्तु समूह-७७ की रणनीति को अप्रभावी बताकर इसकी आलोचना की गई है।

१९८० के दशक के आरम्भिक वर्षों में कुछ चुने हुए विकासशील देशों ने वास्तव में अनौपचारिक तथा औपचारिक संगठन बनाए ताकि व्यापार से संबंधित बौद्धिक सम्पदा अधिकारों, व्यापार संबंधी निवेश के तरीकों और बहुपक्षीय व्यापार संधि-वार्ताओं के आठवें दौर में कार्यसूची मद के रूप में सेवाओं में व्यापार जैसे नए मुद्दों को न लाया जा सके। यद्यपि वे अपने उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं कर सके, तथापि वे लम्बे समय तक न सही पर फिर भी संधिवार्ता के लिए इन मुद्दों के शामिल करने को स्थगित करवाने में सफल रहे।

विश्व व्यापार संगठन में सहयोग पर निरन्तर बल दिया गया। सार्क के सदस्य देशों पर विश्व व्यापार संगठन के निर्णयों के दूरगामी परिणामों के मद्देनजर यह निर्णय लिया गया कि सामान्य चिन्ता के क्षेत्राों में इन मुद्दों पर अपने निर्णयों को समन्वित करने के लिए सार्क देश प्रयास करें ताकि विकासशील देशों के हितों को संरक्षित किया जा सके और इन्हें बढ़ावा दिया जा सके ।

अत: इस पेचीदा स्थिति से उबरने का एक ही रास्ता है - दक्षिण एशियाई देशों का प्रभावी गठबंधन तैयार करना और अंतरराष्ट्रीय आर्थिक मामलों के नए मुद्दों पर संधिवार्ताओं की बढ़ती हुई चुनौतियों का सामना करने के लिए क्षमता निर्माण। ऐसा प्रतीत होता है कि सार्क देशों ने सशक्त गठबंधन की आवश्यकता अनुभव की है। यह १९९० के दशक के दौरान सार्क देशों के अध्यक्षों के सभी घोषणा-पत्राों से स्पष्ट होता है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि राष्ट्र-राज्य और भूमंडलीकरण के मध्य द्विविभाजन के लिए विभिन्न श्रेणियों के अंतरराष्ट्रीय कारकों के मध्य अधिक स्वायतता तथा जवाबदेही अनिवार्य होगी। यदि विश्व व्यापार संगठन अथवा मानवाधिकार, लैंगिक मुद्दों, पारिस्थितिकीय समस्याओं अथवा अंतरराष्ट्रीय वित्तीय एजेन्सियों जैसे विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसे बहुपक्षीय संगठन कम विकसित देशों की अवस्थाओं पर विचार करने के लिए अधिक पक्षधर नहीं हैं तो भूमंडलीय एकता न तो संभव है और न ही वांछित है। इसी प्रकार से, दक्षिण एशिया के राष्ट्र-राज्यों के समक्ष भूमंडलीय आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था के साथ समझौता करने का विकल्प महत्वपूर्ण हैं ताकि हम यह न मानने लग जाएँ कि "राष्ट्र-राज्य मृत है: राष्ट्र-राज्य की जय हो" क्योंकि "न तो सुपर-राज्यों और न ही सभी राज्यों के अंत का युग आया है।"

दूसरे, दक्षिण एशियाई क्षेत्रावाद उभरती हुई भूमंडलीय व्यवस्था से दक्षिण एशिया क्षेत्रा के राज्यों को प्राप्त लाभों पर आश्रित हैं। पिछड़ेपन के कारण इन देशों को क्षेत्राीय समूह के रूप में एकत्रा होना

होगा ताकि भूमंडलीय एकता में असमानता की अवस्था का सामना किया जा सके। तथापि, यह उल्लेखनीय है कि क्षेत्रीय सहयोग की अवस्थाओं को बढ़ावा देने के लिए दक्षिण एशिया के राज्यों को अपनी स्वायत्तता लाने के प्रयास करने होंगे। यह आवश्यक है क्योंकि इससे उनके क्षेत्राों में अतिसंवेदनशील भागों के हित अधिक विकासशील देशों के हितों के वर्चस्व वाली भूंमडलीय व्यवस्था की अपेक्षा राष्ट्र-राज्य के अंतर्गत सुरक्षित रह पाएंगे।

अंत में, भूमंडलीकरण किसी भी रूप तथा सघनता में राष्ट्र-राज्यों तथा क्षेत्राों में मौजूद हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि भूमंडलीय प्रक्रियाओं के साथ राष्ट्र-राज्यों का जुड़ना अपरिहार्य हो गया है। तथापि, इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि भूमंडलीय व्यवस्था में राष्ट्र-राज्य की स्वायत्तता उसके पूर्ण रूप से अधीन हो। विश्व के विकासशील भागों में राष्ट्र-राज्यों को क्षमता निर्माण करना होगा ताकि सशक्त क्षेत्रीय समूह बनाकर अथवा सहयोग के बड़े ब्लॉक बनाकर भूमंडलीकरण की विवशताओं के साथ समझौता किया जा सके। इस प्रकार के प्रयासों का अर्थ भूमंडलीय व्यवस्था के साथ जुड़ना नहीं अपितु अपनी स्वायत्तता को बनाए रखते हुए इसमें हिस्सेदारी के लिए भरसक प्रयास करना।

बोध प्रश्न ३

नोट : i) अपने उत्तर के लिए कृपया दिए गए स्थान को उपयोग में लाएँ।

ii) अपने उत्तर की जांच इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

१) वाशिंगटन सर्वसम्मति (Washington Consenses) क्या है?

....

....

२) १९९० के दशक में दक्षिण एशियाई देशों द्वारा चलाए गए आर्थिक सुधारों का क्या प्रभाव पड़ा?

....

....

....

....

२२.६ सारांश

इस अध्याय मे हमने भूमंडलीकरण के विभिन्न अर्थों के बारे में जाना। हमने विभिन्न स्तरों पर भूमंडलीकरण के रूपों के बारे में भी पढ़ा। इस अध्याय में हमने यह भी जाना है कि भूमंडलीय तथा स्थानीय शक्तियों के दबावों के कारण राष्ट्र-राज्य गहरे दबाव में है।

सबसे महत्वपूर्ण बात हमने यह पढ़ी कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया एक समान नहीं है जो सभी देशों के लिए समान हो। दूसरी ओर, भूमंडलीकरण के संदर्भ में विकसित तथा कम विकसित देशों का अनुभव पूरी तरह से भिन्न है। हमने यह भी देखा है कि भूमंडलीय व्यवस्था के अनुरूप चलने के विकासशील देशों के प्रयास उल्लेखनीय तथा सावधानीपूर्वक किए जाने चाहिए। साथ ही दक्षिण एशियाई क्षेत्रा में राष्ट्र-राज्यों के समक्ष आने वाली चुनौतियों की जाँच की गई तथा भूमंडलीय व्यवस्था के अनुरूप चलने के लिए किए जाने वाले प्रयासों पर चर्चा की गई।

२२.७ कुछ उपयोगी पुस्तकें

बेहरा नवीन चड्डा (२००१) स्टेट फोरमेशन प्रोसेसिज़, वीक स्टेट्स एंड सस्टेनेबल डेवलपमेंट इन साउथ एशिया, *जर्नल ऑफ पीस,* सिक्योरिटी एंड डेवलपमेंट, खंड-VII।

ह्विस्ट, पी. एवं जी. थाम्पसन (१९९६), *ग्लोबलाइज़ेशन इन क्वशचन,* कैम्ब्रिज, पोलिटी।

इस्पहानी महनाज़ (२००२), 'आल्टरनेटिव साउथ एशियन यूचर्स'', *सेमिनार, स ५१,* सितम्बर।

मुनी, एस डी (सम्पादन) (१९९४) *अंडरस्टैंडिंग साउथ एशिया,* साउथ एशियन पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

न्यूवैल पीटर (२००३), ग्लोबल चैलेंजिस टू द यूचर स्टेट, *सेमिनार, सं ५०३,* जुलाई।

सेनगुप्ता, चन्दन (२००१) ''कन्सेप्चुअलाइज़िंग ग्लोबलाइज़ेशन: इश्यूज एंड इम्पलीकेशन्स,' *इकोनॉमिक एंड पोलीटिकल वीकली,* १८ अगस्त, पृष्ठ ३१३७-४३।

विनायक अचिन (सम्पादन) (२००४) *ग्लोबलाइज़ेशन एंड साउथ एशिया; मल्टी डाइमेनशन्ल पर्सपेक्टिव्स*। मनहोर पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

२२.८ बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न १

१) बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपनी जन-शक्ति तथा वित्तीय संसाधनों के साथ अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था में अहमियत रखती हैं। वे अधिकांशत: राज्य के नियंत्राण में नहीं हैं। तथापि, राष्ट्रीय क्षेत्रा में प्रवेश पाने और कार्य करने के लिए अनुकूल वातावरण तैयार करने के लिए वे आज भी राज्यों पर निर्भर हैं।

२) प्रभुसत्ता के सिद्धान्त में राष्ट्र-राज्य की स्वायतता अथवा पराधीनता पर बल दिया गया है। भूमंडलीकरण तथा स्थानीय विघटन की शक्तियाँ राज्य को स्वतंत्रा रूप से कार्य करने की क्षमता पर दबाव डालती हैं। राज्य अपने बल पर वैश्विक ताकतों का सामना करने में निरन्तर कठिनाई का सामना कर रहे हैं। एक देश के स्थानीय समूहों द्वारा सीमा पार के उसी प्रकार के समूहों के साथ सम्पर्क बढ़ रहे हैं और वे स्वायतता की अधिक से अधिक मांग कर रहे हैं जिससे राज्यों की स्वायतता घटी है।

बोध प्रश्न २

१) स्थानीय स्तर पर सशक्त स्थानीय समूहों के उभरने से नागरिकों की निष्ठा के एकमात्रा दावेदार होने की राज्य की स्थिति समाप्त हो रही है। क्षेत्राीय स्तर पर दक्षिण एशिया में राज्यों के विविध हित सशक्त क्षेत्राीय समूह बनने से रोक रहे हैं। वैश्विक स्तर पर विभिन्न वैश्विक संस्थाओं में उत्तर के देशों का वर्चस्व इन राज्यों के लिए प्रमुख चुनौती है।

२) अंतरराष्ट्रीय संगठनों की संख्या बढ़ रही है, नए मुद्दों पर विश्व का ध्यान जा रहा है और कई मुद्दों जैसे मानवाधिकार और लोकतंत्रा पर सर्वसम्मति बन रही है। इस प्रकार की उभरती हुई विश्व प्रणाली राष्ट्र-राज्य का स्थान नहीं ले सकती। राष्ट्र- राज्य आज भी अंतरराष्ट्रीय संबंधों का आधार है। विश्व प्रणाली राष्ट्र-राज्यों पर निर्भर रहेगी ।

बोध प्रश्न ३

१) इसका अर्थ उन वृहत आर्थिक नीतियों के पैकेज से है जो अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएँ, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक विकासशील देशों पर लागू करते हैं ।

२) अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों की ओर से चलाए गए सुधार कार्यक्रमों से क्षेत्रा में विकास दर में वृद्धि नहीं हुई है। सुधारों के अपर्याप्त रूप से चलाए जाने तथा प्राथमिक क्षेत्रा, कृषि को पर्याप्त संरक्षण न दिए जाने के कारण क्षेत्रा में देशों को लाभ की प्राप्ति न के बराबर हुई, केवल भारत में ही विकास की दर ६ प्रतिशत की रही जोकि अन्य देशों के मुकाबले बेहतर है।

इकाई २३ गरीबी उन्मूलन एवं ग्रामीण विकास

इकाई की रूपरेखा

२३.० उद्देश्य

२३.१ प्रस्तावना

२३.२ दक्षिण एशिया में गरीबी

२३.३ गरीबी उन्मूलन नीतियाँ

२३.३.१ व्यष्टि बनाम समष्टि दृष्टिकोण

२३.३.२ भूमि सुधार

२३.३.३ स्व-रोजगार को बढ़ावा देने वाली नीतियाँ

२३.३.४ मूल आवश्यकताओं का सार्वजनिक प्रावधान

२३.४ मूल्यांकन

२३.५ सारांश

२३.६ कुछ उपयोगी पुस्तकें

२३.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

२३.० उद्देश्य

इस अध्याय में दक्षिण एशिया के विकास के गरीबी उन्मूलन तथा ग्रामीण विकास जैसे अहम मुद्दों का अध्ययन किया गया है। इसे पढ़ने के बाद आप:

- दक्षिण एशिया में गरीबी की समस्या की व्याप्तता का वर्णन कर पाएंगे;
- ग्रामीण विकास तथा गरीबी उन्मूलन के बीच सम्पर्क का पता लगा पाएंगे;
- समस्या के समाधान के लिए क्षेत्रा के देशों द्वारा अपनाई जाने वाली व्यष्टि एवं समष्टि नीतियों की पहचान कर पाएंगे; और
- गरीबी उन्मूलन के विविध तरीकों के प्रभाव का मूल्यांकन कर पाएंगे।

२३.१ प्रस्तावना

दक्षिण एशिया में गरीबी के आकलनों में व्यापक भिन्नता है किन्तु मूल तथ्य यह है कि गरीबी बड़े पैमाने पर दक्षिण एशिया के सभी सात देशों में जड़ों तक फैली है ।

दक्षिण एशिया में गरीबी प्रमुखत: ग्रामीण समस्या है क्योंकि यह ग्रामीण क्षेत्राों में आनुपातिक दृष्टि से अधिक सघन है। अत: गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम ग्रामीण विकास के साथ गहराई से जुड़े हैं। सबसे पहले इस इकाई में हम क्षेत्रा में गरीबी की समस्या के विविध आयामों की चर्चा करेंगे और उसके उपरांत क्षेत्रा में गरीबी उन्मूलन और ग्रामीण विकास के लिए व्यष्टि और समष्टि (Micro and Macro) स्तर की नीतियों का अध्ययन करेंगे ।

२३.२ दक्षिण एशिया में गरीबी

कई सरकारी संस्थाएँ, समाजशास्त्राी तथा संगठन दक्षिण एशिया में गरीबी पर अध्ययन करने के कार्य में जुटे हैं। इस क्षेत्रा में गरीबी के आकलनों में व्यापक भिन्नता है किन्तु मूल तथ्य यह है कि बड़े पैमाने पर गरीबी दक्षिण एशिया के सभी सात देशों में जड़ों तक फैली है। आय की दृष्टि से इस क्षेत्रा में विश्व की ४० प्रतिशत से अधिक गरीबी है। यहां पर एक तिहाई से लेकर लगभग आधी ग्रामीण जनसंख्या निर्धन है। मालदीव इसका अपवाद है जहाँ की २२ प्रतिशत से भी कम जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे है। हालांकि गरीबी कम करने में कुछ सफलता प्राप्त हुई है तथापि अभी भी गरीब जनसंख्या का अनुपात और उनकी कुल संख्या अत्यधिक है ।

गरीबी की व्यापकता से संबंधित सभी अध्ययन दो प्रमुख परिमापों पर आधारित है - कैलोरी की गणना तथा कैलोरी की न्यूनतम आवश्यकता की प्राप्ति के लिए आय का स्तर। जीवन की अन्य आवश्यकताओं पर ध्यान नहीं दिया गया है। जैसाकि हमने इकाई २ में देखा कि मानव गरीबी आय संबंधी गरीबी से कहीं अधिक है। यह मनुष्य के गुजर बसर की आवश्यकताओं की कमी से भी अधिक है। मानव गरीबी दीर्घ, स्वास्थ्यकर, कलात्मक जीवन और अच्छे रहन-सहन के स्तर के विकल्पों और अवसरों की अनुपलब्धता है। आय के अतिरिक्त गरीबों और धनिकों के मध्य सार्वजनिक सेवाओं जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल तथा बिजली इत्यादि तक पहुंच मध्य का अन्तर है। इस परिप्रेक्ष्य से मानव गरीबी के स्तर चौंकाने वाले हैं। यू एन डी पी मानव विकास सूचकांक के अनुसार मूल मानव विकास की औसत उपलब्धियों की दृष्टि से उप-सहारा अफ्रीका को छोड़कर दक्षिण एशिया अन्य सभी क्षेत्रों से भिन्न है। भारत के संदर्भ में महबूब-उल-हक द्वारा १९९७ में लिखी गई पुस्तक ''Human Development in South Asia'' में कहा गया है - "मानव वंचन की सीमा चौंका देने वाली है: १३५ मिलियन लोग मूल स्वास्थ्य सुविधाओं से वंचित है; २२६ मिलियन लोगों को सुरक्षित पेय जल मुहैया नहीं है; भारत की लगभग आधी वयस्क जनसंख्या निरक्षर है .... विश्व की अत्यंत निर्धन जनसंख्या में से लगभग एक तिहाई भारत में हैं।''

दक्षिण एशिया में गरीबी मूलत: ग्रामीण समस्या है। इस क्षेत्रा के सभी देशों में गरीबी अनौपचारिक रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में सघन है। अधिकांश निर्धन या तो कृषि अथवा संबंधित व्यवसायों से जुड़े हैं। ग्रामीण निर्धन अधिकांशत: छोटे किसान और भूमिहीन श्रमिक हैं। भूमि तथा अन्य उत्पादक संसाधनों तक उनकी पहुंच सीमित, अन्यथा लगभग शून्य है। निर्धन ग्रामीण घरों में बड़े परिवार हैं, निर्भरता का अनुपात अधिक है, शिक्षा का स्तर निम्न है तथा निम्न अल्प रोजगार है। गरीबों के पास जल, स्वच्छता तथा बिजली जैसी मूल सुविधाएँ नहीं हैं। ऋण, निवेश तथा प्रौद्योगिकी तक उनकी पहुंच सीमित है। सामाजिक और भौतिक आधारभूत ढांचे का स्तर निम्न होने के कारण गरीबों को न केवल सूखा और महामारी जैसी प्राकृतिक विपदाओं बल्कि आर्थिक उतार-चढ़ाव की मार भी झेलनी पड़ती है।

दक्षिण एशिया में ग्रामीण तथा शहरी घरों में गरीब

देश / वर्ष	निर्धनों का वितरण	
	ग्रामीण	शहरी
भारत (१९९४)	८६.२	१३.८
पाकिस्तान (१९९०-९१)	७५.०	२५.०
बांग्लादेश (१९९५-९६)	५७.८	४२.२
नेपाल (१९९५-९६)	९४.०	६.०

भूटान में गरीबी तथा आय के वितरण के संबंध में कोई प्रामाणिक और स्वतंत्रा अध्ययन नहीं हुआ है तथापि अनुमान लगाया गया है कि ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली ७५ प्रतिशत से अधिक जनसंख्या

में से अधिकांश निर्धन हैं। भूमिजोतों के आकार की दृष्टि से विषम वितरण है। कैलोरी ग्रहण तथा उपयोग व्यय के आधार पर भूटान के गरीबी के आंकड़े उपलब्ध नहीं है। मानव विकास सूचकांकों की गणना करते समय भी भूटान राष्ट्रीय मानव विकास २००० में प्रति व्यक्ति आय की अपेक्षा प्रति व्यक्ति धन को आधार माना गया है। भूटान के योजना आयोग द्वारा प्रकाशित गरीबी मूल्यांकन एवं विश्लेषण रिपोर्ट २००० में बताया गया है कि ३३ प्रतिशत से अधिक लोगों की घरेलू आय राष्ट्रीय औसत से कम है। इसी रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि ''लगभग १२०० नू की औसत प्रति व्यक्ति घरेलू आय, लगभग ४० नू प्रति व्यक्ति प्रतिदिन औसत आधार पर प्रति व्यक्ति प्रतिदिन एक डालर से भी कम है। विश्व बैंक की परिभाषा के अनुसार इससे यह पता चलता है कि जनसंख्या का बहुत बड़ा हिस्सा गरीबी रेखा से नीचे रहता है।

भारत की ७२ प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है। कृषि देश के सकल घरेलू उत्पाद का २८ प्रतिशत है। भारत में सभी रूपों में गरीबी अत्यंत चौंकाने वाली है। पहली पंचवर्षीय योजना (१९५१-५६) से लेकर गरीबी उन्मूलन का मुद्दा नियोजन प्रक्रिया का केन्द्र रहा है। यद्यपि कई अर्थशास्त्री तथा संगठन भारत में गरीबी की अवस्था पर निरन्तर अध्ययन करते रहे हैं तथापि प्रणाली से जुड़े प्रमुख प्रश्न जैसे गरीबी रेखा से नीचे के लोगों की पहचान, नमूने, भौगोलिक फैलाव तथा आवर्तिता गरीबी संबंधी अध्ययनों में सदैव प्रमुख रहे हैं। गरीबी संबंधी परिदृश्य में १९७० के दशक के मध्य के बाद के वर्षों में कमी की प्रवृत्ति देखी गई और अब इसने विशेषकर १९९० के दशक में पेचीदा रूप ले लिया है। दसवीं योजना के दस्तावेज (२००२-०७) के अनुसार गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों के प्रतिशत और कुल संख्या में १९९९-२००० में १९७३-७४ की तुलना में कमी ५४.८८ प्रतिशत (३२१.३ मिलियन) से २६.१० प्रतिशत (२६०.३ मिलियन) रही। १९७३-७४ में ग्रामीण जनसंख्या की सघनता कुल जनसंख्या का ८१ प्रतिशत थी जोकि १९९९-२००० तक धीरे-धीरे कम होकर ७७ प्रतिशत रह गई। इस सरकारी दावे पर कि गरीबी लगातार कम हो रही है, मौजूदा आर्थिक सुधारों के मद्देनजर तीखी प्रतिक्रिया हुई है। योजना आयोग के अनुमानों की विशेषज्ञों और संस्थाओं ने विवादास्पद समीक्षा की है।

गरीबी के वितरण में क्षेत्रीय असंतुलन हैं। ये असंतुलन १९८० के दशक के दौरान धीरे-धीरे कम हो गए तथा १९९० के दशक के आरम्भिक वर्षों में शुरू हुए आर्थिक सुधारों के बाद इस असंतुलन में अत्यधिक वृद्धि हुई। २००६-२००७ में १०वीं पंचवर्षीय योजना की समाप्ति पर राज्यों में गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों के प्रक्षेपण में अत्यधिक अंतराल रहने की संभावना है। यह गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश तथा पंजाब राज्यों में २ प्रतिशत तथा उड़ीसा और बिहार में क्रमश: ४१ और ४३ प्रतिशत है।

मालदीव द्वीप राज्य में प्रवालद्वीपों में अहितकर समूहों में रहने वाले लोग निर्धन हैं। यद्यपि देश में पूर्ण रूप से निर्धनता नहीं है तथापि लगभग २२ प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या निर्धन है। मालदीव के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती यह सुनिश्चित करना है कि विकास का लाभ राष्ट्र की कम सघन जनसंख्या को बराबर-बराबर मिले।

नेपाल में आज भी कृषि का राष्ट्रीय आय में ४० प्रतिशत से अधिक का योगदान है। कृषि का विकास कम है तथा शहरी गरीबी की तुलना में ग्रामीण गरीबी कहीं अधिक है। नवीं योजना (१९९७-२००२) के अनुसार गरीबी रेखा से नीचे रहने वाली जनसंख्या १९९६ में ४२ प्रतिशत थी। इसमें से भी २४.९ प्रतिशत का निर्धन और शेष १७.१ का अनुमान अत्यंत निर्धन के रूप में लगाया गया है। नेपाल में प्रति व्यक्ति उपयोग के स्तर को मापदण्ड बनाया गया है। १९९६ में केन्द्रीय सांख्यिकी संस्था द्वारा आरम्भ किए गए जीवन स्तर सर्वेक्षण में २१२४ कैलोरी प्रति व्यक्ति प्रतिदिन की आवश्यकता निर्धारित की गई। इसके आधार पर खाद्य के समकक्ष निर्धारित कैलोरी की खरीद के लिए प्रति व्यक्ति वार्षिक व्यय २६३७ रूपये रहा। यदि गैर खाद्य मदों पर होने वाला व्यय भी इसमें जोड़ दिया जाए तो प्रति व्यक्ति वार्षिक व्यय का आकलन ४४०४ रू किया गया है। पहाड़ी तथा तराई क्षेत्रों की अपेक्षा पर्वतीय क्षेत्रों में रहने वाले लोग अधिक निर्धन हैं।

पाकिस्तान की ६४ प्रतिशत जनसंख्या गांवों में रहती है। देश के सकल घरेलू उत्पाद का २६ प्रतिशत कृषि से आता है। ग्रामीण-शहरी असमानता में प्रारम्भिक पर्याप्त कमी अब रुक गई है और हाल ही में असमानता में वृद्धि आरम्भ हो गई है। ग्रामीण निर्धनता अब कहीं अधिक है। हाल ही में हुए आर्थिक सर्वेक्षण (२००३) में ज़ोर देकर कहा गया है कि गरीबी में उल्लेखनीय तथा निरन्तर वृद्धि हुई है जोकि १९८७-८८ के २६.१ प्रतिशत से बढ़कर वर्ष २००१ में ३२.१ प्रतिशत हो गई। आय की असमानता प्रवृत्ति में भी गिनी गुणांक बढ़कर १९८५-८६ के ०.३५५ की तुलना में १९९८-९९ में ०.४१० हो गया जिससे पाकिस्तान में असमानता की स्थिति में सुदृढ़ता परिलक्षित होती है। आय समूह में ऊपर के २० प्रतिशत लोगों को लगभग ५० प्रतिशत जबकि नीचे के २० प्रतिशत को आय का केवल ६ प्रतिशत प्राप्त होता है। दक्षिण पंजाब तथा बलूचिस्तान के ग्रामीण क्षेत्रा अत्यंत निर्धन हैं। सामाजिक विकास पर हुए विश्व सम्मेलन में पाकिस्तान सरकार ने माना कि १९८८ में पहले संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रमों के आरम्भ होने के बाद से गरीबी और असमानता में वृद्धि हुई है।

१९९० के दशक के दौरान उत्तर और पूर्व को छोड़कर पूरे श्रीलंका में तीन घरेलू आय एवं व्यय सर्वेक्षण किए गए। जनगणना एवं सांख्यिकी विभाग के आंकड़ों से पता चलता है कि उच्च निर्धनता रेखा के अनुसार पूर्ण गरीबी में ३३ से ३९ प्रतिशत और निम्न निर्धनता दर के अनुसार २० से २५ प्रतिशत की उल्लेखनीय वृद्धि हुई। जनगणना एवं सांख्यिकी विभाग ने २००२ में घरेलू आय एवं व्यय सर्वेक्षण भी कराया। ४०,००० घरों पर किए गए तीन महीने के सर्वेक्षण आंकड़ों के आधार पर तैयार प्रारम्भिक रिपोर्ट में दर्शाया गया है कि लगभग २८ प्रतिशत जनसंख्या उपभोग गरीबी का सामना कर रही है। यह परिणाम हालांकि अस्थायी हैं तथापि इससे पता चलता है कि १९९० के दशक के मध्य के बाद के वर्षों में गरीबी के स्तर में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आया।

विश्व बैंक के गरीबी मूल्यांकन में पाया गया कि गरीबी के स्तर में भारतीय तमिलों को छोड़कर, जिनमें से अधिकांश को निर्धन की श्रेणी में रखा गया है, प्रमुख संजातीय समूहों (सिंहली, श्रीलंकाई तमिलों, भारतीय किसानों तथा मुस्लिमों) में भिन्नता है। भारतीय तमिल (जिन्हें प्राय: एस्टेट तमिल कहा जाता है) श्रीलंका के सबसे निर्धन लोगों में से हैं।

श्रीलंका १९८२-२००१ (लगभग १९ वर्ष) तक युद्ध में लगा रहा। युद्ध का मानवतावादी, सामाजिक और आर्थिक प्रभाव प्रत्यक्ष तौर पर उत्तर और पूर्व तथा इनके आसपास के सीमावर्ती क्षेत्रों की जनसंख्या पर पड़ा। विवाद के कुछ प्रभाव इस प्रकार पड़े: नागरिक जीवन की क्षति और मनोवैज्ञानिक आघात, आधारभूत ढांचे और घरों को क्षति, विस्थापन, देश के कुछ हिस्सों में सीमित आवाजाही, स्थानीय अर्थव्यवस्थाओं में अवरोध, सामुदायिक एवं संस्थागत नेटवर्कों में अवरोध, राहत पर अत्यधिक निर्भरता, जनसंख्या के स्वास्थ्य के स्तर में गिरावट तथा जनसंख्या में व्याप्त अभेद्यता और असुरक्षा।

गुणात्मक रिपोर्टों से पता चलता है कि गरीबी, स्वास्थ्य देखभाल, शिक्षा तथा आर्थिक स्थिति राष्ट्र के अन्य भागों की अपेक्षा युद्ध प्रभावित क्षेत्रों में अधिक विकराल है। सबसे अधिक प्रभावित समूहों में वे घर हैं जो विवादों अथवा उनके जन्म स्थानों पर खतरे के कारण कई बार लगातार विस्थापित हुए हैं। विस्थापित परिवारों की उत्पादक परिसम्पत्तियां भी खो गई हैं जिनमें कुछ मामलों में विस्थापित होने से पहले की उनके द्वारा कृषित भूमि भी है। श्रीलंका समेकित सर्वेक्षण (SLIS) में पाया गया कि युद्ध के कारण विस्थापित हुए उत्तर-पूर्व के लगभग सभी घरों (९७ प्रतिशत) को सम्पत्ति की क्षति उठानी पड़ी।

बोध प्रश्न १

नोट : अपने उत्तर के लिए कृपया दिए गए स्थान को उपयोग में लाएँ। अपने उत्तर की जांच इस अध्याय के अंत में दिए गए उत्तर से करें ।

१) निम्नलिखित दक्षिण एशियाई देशों में गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों का क्या प्रतिशत है?

देश	भारत	पाकिस्तान	श्रीलंका	नेपाल
गरीबी का स्तर				

२) दक्षिण एशिया में गरीबों की आर्थिक और जनसांख्यिकीय विशेषताएँ क्या हैं?

....

....

....

....

२३.३ गरीबी उन्मूलन नीतियाँ

यदि दक्षिण एशिया के अधिकांश गरीब ग्रामीण क्षेत्राों में हैं तो इस क्षेत्रा के देशों में गरीबी उन्मूलन की क्या उपयुक्त नीतियाँ हैं? पिछले कुछ वर्षों से गरीबी उन्मूलन के लिए उपयुक्त नीतियाँ बनाने के संबंध में नीति निर्माताओं और आर्थिक विश्लेषकों की सोच में परिवर्तन आया है तथा जैसाकि हम आगे चर्चा करेंगे कि यह गरीबी दूर करने के प्रमुख हथियार के रूप में आर्थिक विकास और पुनर्वितरण के बीच रही। १९७० के दशक के आरम्भिक वर्षों तक विकास प्रयासों की प्रधान विचारधारा यह थी कि आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप इसका लाभ फैलकर अंत में गरीब तक पहुंचेगा और उसे लाभ होगा। इस अवधि के दौरान चलाए गए कार्यक्रम जैसे - भारत में समुदाय विकास कार्यक्रम तथा पाकिस्तान में ग्राम सहायता कार्यक्रमों का उद्देश्य शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास और सामाजिक कल्याण तक पहुंच बढ़ाना था न कि सीधे तौर पर गरीबी उन्मूलन। इन कार्यक्रमों का प्रमुख उद्देश्य कृषि उत्पादन बढ़ाना भी था।

१९७० के दशक के प्रारम्भिक वर्षों तक यह स्पष्ट हो चुका था कि आर्थिक विकास की प्रक्रिया से गरीबों को कोई लाभ नहीं हुआ है और कई मामलों में तो उनकी स्थिति बद से बदतर हो गई थी। लगातार हुए विकास अध्ययनों से यह बात उभरकर सामने आई है कि आर्थिक विकास से परिसम्पत्तियों अथवा आय का पुनर्वितरण स्वत: नहीं हो पाएगा और निर्धन की स्थिति कुल मिलाकर वही रहेगी। पाकिस्तानी अर्थशास्त्री और 'ह्यूमन डेवलेपपेंट इन साउथ एशिया रिपोर्ट १९९७' (Human Development in South Asia Report, १९९७) के लेखक ने उपयुक्त टिप्पणी की है कि ''पाकिस्तान के विकास संबंधी नियोजन के एक दशक के अनुभव के बाद मुझे इस कठोर तथ्य का एहसास हो गया था। १९६० के दशक के दौरान सकल घरेलू उत्पाद ७ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से प्राप्त करने के उपरांत हमारे युवा एवं उत्साही आर्थिक नियोजक १९६८ में राष्ट्रीय अवस्था की ओर झुकाव कर रहे थे। हमे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि अधिकांश लोग विकास से उतने खुश नहीं थे, जितने कि हम थे, बल्कि सरकार की तत्काल बर्खास्तगी की मांग कर रहे थे। वास्तव में यह हुआ था कि राष्ट्रीय आय में तो वृद्धि हुई थी परन्तु मानव जीवन संकुचित हो गया था क्योंकि विकास के लाभ सशक्त दबाव समूहों ने उठा लिये थे।'' अत:, गरीबी उन्मूलन के लिए न केवल आर्थिक विकास की दर अपितु विकास के प्रकार और गुणवत्ता का भी महत्व है।

२३.३.१ व्यष्टि बनाम समष्टि दृष्टिकोण

इन्हीं परिस्थितियों में गरीबी उन्मूलन के संबंध में पुनर्वितरण तरीकों को लोकप्रियता मिली। १९७० के दशक के अंतिम वर्षों से अधिकांश दक्षिण एशियाई देशों ने गरीबी उन्मूलन तथा ग्रामीण विकास के लिए विशेष नीतियाँ और कार्यक्रम चलाए। एक उल्लेखनीय परिवर्तन यह आया कि इस चरण में गरीबी उन्मूलन तथा ग्रामीण विकास कार्यक्रमों में कई गैर-सरकारी संगठनों को शामिल किया

गया। १९८० के दशक के अंतिम वर्षों से प्रतिकूल बाह्य व्यापार पर्यावरण और ऋण संकट के कारण दक्षिण एशिया के अधिकांश देशों में सामाजिक क्षेत्राों पर व्यय में कमी आई और इस प्रकार गैर-सरकारी संगठन उभरकर सामने आए।

गरीबी दूर करने के मुद्दे से संबंधित नीतियों को प्रमुखतया तीन समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है। पहली वे नीतियाँ हैं जो प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन बढ़ाने और आय सृजित करने की ओर अभिमुख हैं जैसे - काश्तकारी और भूमि सुधार जिससे गरीबों के परिसम्पत्ति आधार और उत्पादकता में वृद्धि होती है। दूसरी वे नीतियाँ हैं जो व्यक्तियों अथवा घरों की आय तथा उपभोग के प्रवाह को प्रभावित करती हैं जैसे रोजगार और मजदूरी रोजगार। तीसरी प्रकार की नीतियाँ ग्रामीण सड़कों और पेय जल आपूर्ति जैसी मूल ढांचागत तथा अन्य सुविधाओं से संबंधित सार्वजनिक व्यय नीतियाँ हैं जो गरीबों के रहन-सहन में सुधार के लिए अनिवार्य हैं। आइए अब हम दक्षिण एशिया में गरीबी उन्मूलन से जुड़ी कुछ नीतियों और कार्यक्रमों की चर्चा करें।

२३.३.२ भूमि सुधार

अधिकांश दक्षिण एशियाई देशों ने स्वतंत्राता के बाद से ही भूमि सुधार कार्यक्रमों को लागू कर दिया था। भूमि उच्चतम सीमा निर्धारण (Ceiling) व पुनर्वितरण नीति अब तक की सबसे क्रान्तिकारी प्रकृति की नीति रही है यद्यपि व्यवहार में यह सबसे कम सफल रही है। भारतीय सुधार कार्यक्रम १९५० के दशक में आरम्भ हुए। १९८० के दशक के मध्य तक कृषित भूमि का लगभग १.५ प्रतिशत उच्चतम सीमा निर्धारण के अंतर्गत अधिगृहीत किया जा चुका था तथा ८० प्रतिशत से कम वास्तव में वितरित किया गया। इसके अतिरिक्त, चूंकि वितरण के लिए कम भूमि उपलब्ध थी, अत: इसके कुल लाभार्थी गरीब घरों के अनुपात में बहुत कम थे।

बंगलादेश का रिकार्ड और भी निराशाजनक है। यदि उच्चतम सीमा को सख्ती से लागू किया जाता तब भी सीमा के ऊपर की भूमि कृषित भूमि के १ प्रतिशत से अधिक नहीं हो पाती। व्यावहारिक तौर पर संभावित भूमि के केवल १५ प्रतिशत का वितरण किया गया।

नेपाल में भूमि अधिनियम १९६४ के द्वारा चलाए गए अत्यंत व्यापक भूमि सुधारों के परिणाम भी निराशाजनक ही रहे। कृषित भूमि का केवल ३ प्रतिशत उच्चतम सीमा से अधिक पाया गया। २३,५८८ हैक्टेर क्षेत्रा (कृषित क्षेत्रा के १ प्रतिशत से थोड़ा अधिक) को पुन: वितरित किया गया।

पाकिस्तान में १९५९ के भूमि सुधारों से केवल २.५० मिलियन एकड़ भूमि अधिगृहीत की जा सकी जो कि तत्कालीन कृषित भूमि का लगभग ४ प्रतिशत थी। १९७२ के सुधारों से १.८२ मिलियन एकड़ भूमि प्राप्त की जा सकी।

श्रीलंका की उपलब्धियाँ अधिक उल्लेखनीय प्रतीत होती हैं। १९७२ तथा १९७५ के तत्काल बाद कृषि भूमि का २० प्रतिशत अधिग्रहित किया जा सका परन्तु भूमिहीन तथा सीमान्त किसानों को अधिग्रहित भूमि का केवल १२ प्रतिशत मिला जोकि कृषित भूमि का २.४ प्रतिशत ही है। इसका कारण यह रहा कि सुधार का प्रमुख उद्देश्य बागान क्षेत्रा था: इस प्रक्रिया में धान की केवल १ प्रतिशत भूमि अधिग्रहित की गई। बागानी भूमि का अधिकांश हिस्सा राज्य के संचालन वाले कार्पोरेशनों के अधिकार में था जिससे भूमिहीन निर्धनों का नियंत्राण बढ़ाने में कोई मदद नहीं मिली।

इस प्रकार से इस क्षेत्रा भर में पुनर्वितरण भूमि सुधारों के नगण्य प्रभाव की तस्वीर बनती है। सामान्य तौर पर, निर्धारित उच्चतम सीमा इतनी अधिक थी कि पर्याप्त अतिरिक्त भूमि नहीं प्राप्त की जा सकी। यहां तक कि जो थोड़ी-बहुत भूमि वैधानिक तौर पर अधिग्रहित की जा सकती थी, वह भी नहीं हो सकी क्योंकि भूमि मालिक भूमि का अधिकार अपने पास रखने के लिए बेनामी हस्तांतरण जैसे विविध कानूनी बचाव के रास्ते उपयोग में लाए। इसके अतिरिक्त दी गई मामूली भूमि भी उपजाऊ नहीं थी। इनमें से अधिकांश खाइयों, दलदली भूमि तथा बंजर भूमि में से थी।

काश्तकारी विधेयक

अधिकांश दक्षिण एशियाई देशों ने काश्तकारों को स्वामित्व का अधिकार देने और उत्पाद का हिस्सा बंटाई पर फसल बोने वाले को तय करने के लिए विधेयक बना रखे हैं। तथापि, ये विधेयक न केवल भूमि पर काश्तकारों के नियंत्राण में सुधार लाने में सफल हुए अपितु बड़े पैमाने पर बेदखली से उनके हालात और बिगड़ गए। मौजूदा स्वामित्व अधिकारों और भूमिहीन व सीमान्त किसानों की भूमि प्राप्ति की लालसा के मद्देनजर केवल विधेयक बनाने से काम नहीं चलेगा। ज़मींदारों के पहले से मौजूद श्रेष्ठता अधिकारों को कम करने के लिए काश्तकारों को स्थानीय स्तर पर राजनैतिक अधिकार प्राप्त कर बराबरी करनी होगी। इसके अतिरिक्त, यदि काश्तकारों के पास भूमि आ भी जाती है तो इसके लिए उन्हें उपभोग ऋण, चल पूंजी ऋण तथा आजीविका बीमा सुनिश्चितता जैसे नए स्रोतों की आवश्यकता होगी क्योंकि यह सब अब उन्हें ज़मींदार से प्राप्त नहीं हो सकता। संक्षेप में, इन शर्तों के पूरा न हो पाने के कारण अधिकांश दक्षिण एशियाई देशों में काश्तकारी सुधार लगभग पूरी तरह असफल हो गए।

२३.३.३ परिसम्पत्ति आधार के सुदृढ़ीकरण के द्वारा स्व-रोजगार को बढ़ावा देने वाली नीतियाँ

भूमि की अत्यंत कमी के कारण गरीबी उन्मूलन की कई ऐसी योजनाएँ चलाई गई हैं जिनका लक्ष्य गरीबों के परिसम्पत्ति आधार को सुदृढ़ बनाकर गैर-फार्म कार्यकलापों को बढ़ावा देना है। दक्षिण एशियाई देशों में इस प्रकार की निम्नलिखित योजनाएँ हैं।

ग्रामीण बैंक

ग्रामीण बैंक वह स्वैच्छिक संस्था है जिसका उदय १९७० के दशक के मध्य के वर्षों में बांग्लादेश में हुआ और देश में गरीबी दूर करने का नया कार्यक्रम बन गई। इसका लक्ष्य देश के चुने हुए क्षेत्रों में ग्रामीण जनसंख्या के निचले स्तर के ४० प्रतिशत लोगों तक था। इसके लक्ष्य समूह में सामान्य तौर पर वे घर आते हैं जिनके पास आधे एकड़ से अधिक भूमि नहीं है।

ग्रामीण बैंक लक्षित समूहों को बैंकिंग सेवाएँ अपने कार्यकर्त्ताओं के माध्यम से उनके घरों पर उपलब्ध कराते हैं। वे ऋण लेने वालों के साथ साप्ताहिक बैठकों में भाग लेते हैं जहां ऋण की राशि उपलब्ध कराई जाती है और ऋण भुगतान की किश्तें इकट्ठी की जाती हैं। ग्रामीण बैंक ने तीव्रता से प्रगति की है और १९८४ के अंत तक बांग्लादेश के सभी गांवों के २.५ प्रतिशत को अपनी सेवाएँ दीं।

ग्रामीण बैंक की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसके लगभग ५१ प्रतिशत सदस्य महिलाएँ हैं जो उपलब्ध कराई गई राशि का लगभग ३७ प्रतिशत प्राप्त करती हैं। ग्रामीण बैंक की ऋण राशि का उपयोग मूलत: ग्रामीण गैर-फसल कार्यकलापों जैसे व्यापार, दुकानदारी, पशुधन एवं मात्स्यिकी प्रसंस्करण और निर्माण कार्यों को चलाने के लिए किया जाता है।

यह भी बात उल्लेखनीय है कि ग्रामीण बैंक ने गैर फार्म कार्यकलापों में महिलाओं की अधिक भागीदारी को बढ़ावा दिया है। ऋण प्राप्तकर्त्ता घरों की प्रति व्यक्ति आय ऋण न प्राप्त करने वालों की तुलना में तीव्रता से बढ़ी है। इस प्रकार से, ग्रामीण बैंक अन्य गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों की तुलना में, जोकि दान देने वाली संस्थाएं बनकर रह गए थे, गरीबों की आय में वृद्धि करने में सफल रहा।

किन्तु यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि ग्रामीण बैंक बांग्लादेश की कुल जनसंख्या के छोटे से हिस्से को ही अपनी सुविधाएं उपलब्ध करा रहा है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या राष्ट्रीय स्तर पर गरीबी उन्मूलन पर उल्लेखनीय प्रभाव डालने में इसे प्रतिबलित किया जा सकता है?

समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP)

समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP) भारत की छठी पंचवर्षीय योजना (१९८०-१९८५) में

तैयार किया गया महत्वाकांक्षी गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम था तथा इसे ग्रामीण क्षेत्रा के १५० लाख परिवारों की सहायता करने के लिए बनाया गया ताकि उन्हें गरीबी रेखा से ऊपर उठाया जा सके।

आई. आर. डी. पी. ऋण और आर्थिक सहायता के माध्यम से पात्रा परिवारों को वित्तीय सहायता उपलब्ध कराता है ताकि वे उत्पादक और मध्य आय पैदा करने वाली परिसम्पत्तियां प्राप्त कर सकें। यह कार्यक्रम गरीबी उन्मूलन की पूर्व योजनाओं से भिन्न था जो समग्र विकास का लाभ सबको मिलने पर आधारित थीं।

आई. आर. डी. पी. पर किए गए अधिकांश अध्ययनों से बड़ी संख्या में लक्षित लाभ प्राप्तकर्त्ताओं के आय के स्तर में वृद्धि होने से कार्यक्रम की सफलता का पता चलता है तथापि आई. आर. डी. पी. की रिपोर्टों के मूल्यांकन से कई प्रशासनिक और संस्थागत कमजोरियों का पता चलता है। उपयुक्त तथा समेकित सुपुर्दगी प्रणाली के लिए ब्लॉक स्तर पर मशीनरी कमजोर पाई गई। चूंकि लाभ प्राप्तकर्त्ताओं की पहचान चुनी गई ग्रामसभाओं की अपेक्षा ब्लॉक विकास अधिकारियों द्वारा की जाती थी, अतः अधिक उपयुक्त घरों को लक्षित नहीं किया जा सका।

आई. आर. डी. पी. की एक अन्य कमी प्राथमिक क्षेत्रा थी और उसमें भी पशु पालन उप-क्षेत्रा, में सहायता की अन्य योजनाओं की अधिकता। यह कार्यक्रम कई मामलों में निवेश की कमी और गुणवत्तापूर्ण पशुओं की अनुपलब्धता के कारण विफल हो गया। इस कार्यक्रम में चारा और आहार को शामिल नहीं किया गया था और लाभ प्राप्तकर्त्ता अपने उत्पादों, विशेषकर दूध, का विपणन नहीं कर पाते थे। लाभ प्राप्तकर्त्ताओं को कच्चे माल की उपलब्धता, चल पूंजी तक पहुंच और विपणन के रूप में आधारभूत ढांचे की कमी थी। परिणामस्वरूप, आय में आरम्भिक वृद्धि को लम्बे समय तक बनाए नहीं रखा जा सका। एक और निराशाजनक बात यह रही कि अधिकांश लाभ प्राप्तकर्त्ताओं के पुराने ऋणों का वापस भुगतान नहीं हुआ। इस कार्यक्रम के बचाव के रास्तों और खामियों को दूर करके क्षेत्राीय और अन्य क्षेत्रा विकास कार्यक्रमों के साथ समेकित करने के प्रयास किए जा रहे हैं ताकि प्रत्येक क्षेत्रा के समेकित विकास के लिए इसे व्यापक रूप दिया जा सके।

नेपाल का लघु किसान विकास कार्यक्रम

नेपाल का लघु किसान विकास कार्यक्रम (SFDP) ऋण पर आधारित कार्यक्रम है जिसका उद्देश्य छोटे और सीमान्त किसानों की उत्पादकता में वृद्धि करना है। चौथी योजना (१९७०-७५) के दौरान आरम्भ किया गया यह प्रमुख कार्यक्रम है जिसमें बहु-क्षेत्रों पर बल दिया गया और इसके आधार के रूप में ग्रामों के समूह को लिया गया। इस कार्यक्रम का उद्देश्य उपलब्ध संसाधनों और सेवाओं को लघु किसानों की ओर अभिमुख करना था ताकि उनके जीवन स्तर को ऊंचा उठाया जा सके।

समूह द्वारा निर्धारित परियोजनाओं के संबंध में समूह का उत्तरदायित्व होने से सहयोग की भावना को बढ़ावा मिला। १९७० के दशक के अंत तक लगभग ७००० कृषक परिवारों सहित २४ लघु किसान विकास कार्यक्रम चलाए जा रहे थे। मूल्यांकन रिपोर्टों से पता चला है कि इस कार्यक्रम के प्रतिभागियों की औसत घरेलू आय गैर-प्रतिभागियों की तुलना में २४ प्रतिशत अधिक पाई गई। इससे कार्यक्रम में शामिल किए गए किसानों की खाद्य तक पहुंच पर अनुकूल प्रभाव पड़ा।

यद्यपि लघु किसान विकास कार्यक्रम का सकारात्मक प्रभाव पड़ा तथापि इसकी भी सीमाएँ हैं। किसानों तथा समूह आयोजकों द्वारा पहचानी गई कार्यक्रम की समस्याएं कार्यक्रम के उद्देश्यों के संबंध में स्पष्टता की कमी, जटिल ऋण प्रक्रियाएं, ऋण राशि के दुरूपयोग, कार्यक्रम का लाभ बड़े किसानों द्वारा उठाये जाने तथा अनुपयुक्त सहयोगी सेवाओं के कारण पशुधन की उच्च मृत्युदर हैं।

मजदूरी रोजगार योजनाएँ

काम के बदले अनाज कार्यक्रम (FFWP) बांग्लादेश में १९७० के दशक के मध्य वर्षों में भूमिहीन तथा निर्धन वर्ग के लिए रोजगार के अवसर जुटाने और आधारभूत ढांचा विकसित करने के उद्देश्य से आरम्भ किया गया। खाद्य सहायता के रूप में प्राप्त किए गए गेहूं का भुगतान किया जाता है।

कई योजनाओं तथा दिवसों में हुई प्रगति के बावजूद इस कार्यक्रम से जुटाए गए रोजगार के अवसर कुल उपलब्ध मानव दिवसों का एक प्रतिशत ही हैं। दूसरे, कार्यक्रम के अंतर्गत श्रमिकों की मजदूरी की दर गेहूं की मात्राा की दृष्टि से सरकारी तौर पर निर्धारित दर से काफ़ी कम थी। अंत में, कार्यक्रम के अंतर्गत विकसित किए गए आधारभूत ढांचे की गुणवत्ता अच्छी नहीं थी।

भारत में मजदूरी रोजगार से संबंधित अधिक व्यापक योजनाएँ हैं। यद्यपि यहाँ १९६० में ग्रामीण जन शक्ति कार्यक्रम आरम्भ किया गया तथापि १९७० के दशक के मध्य के वर्षों में इस प्रकार के कार्यक्रमों पर अधिक बल दिया गया। १९७७ में ''काम के बदले अनाज'' कार्यक्रम लाया गया तथा १९८० में इसके स्थान पर राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम लाया गया जिसका उद्देश्य वर्ष के खाली समय में काम चाहने वाले लोगों को पूरक रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना था ताकि टिकाऊ सामुदायिक परिसम्पत्तियाँ सृजित की जा सकें। इस कार्यक्रम का उद्देश्य प्रति वर्ष ३००-४०० मिलियन मानव दिवस रोजगार सृजित करना था। १९८३ में ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गांरटी कार्यक्रम (Rural Landless Employment Guarantee Programme) आरम्भ किया गया जिसका उद्देश्य प्रत्येक भूमिहीन ग्रामीण श्रमिक को कम से कम १०० दिन का रोजगार सुनिश्चित करना और एन आर ई पी के अंतर्गत जुटाए गए रोजगार के अवसरों के अतिरिक्त प्रतिवर्ष ३०० मानव दिवस रोजगार विकसित करना था।

१९८९ में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (NREP) और ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम का विलय नए एकल विस्तृत कार्यक्रम जवाहर रोजगार योजना में कर दिया गया। इस योजना से प्रतिवर्ष अकुशल रोजगार के लगभग ६५० मिलियन मानव दिवस सृजित करने का अनुमान लगाया गया। इससे ग्रामीण भारत के लगभग १० प्रतिशत बेरोजगार श्रमिकों के लिए रोजगार उपलब्ध किए जाने की संभावना थी।

इन योजनाओं से ग्रामीण क्षेत्राों में मजदूरी में स्थिरता और विशेषकर काम न होने और सूखे के समय भूमिहीन श्रमिकों को कुछ हद तक सुरक्षा उपलब्ध कराने पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा तथापि, इनमें स्थानीय दबावों के कारण सड़कों और भवन निर्माण पर अधिक बल दिया जाता रहा है जिसके परिणामस्वरूप सामुदायिक परिसम्पत्तियों पर अधिक ध्यान नहीं दिया जा सका और अधिक लाभकारी परियोजनाओं जैसे जलसंभरण पर आधारित भूमि विकास कार्यों, मृदा संरक्षण तथा सिंचाई की उपेक्षा हुई।

२३.३.४ मूल आवश्यकताओं के लिए सार्वजनिक प्रावधान

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि निर्धन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के संबंध में सार्वजनिक व्यय को लक्ष्य बनाने से व्यक्ति विशेष की मानव संसाधन क्षमता का विकास करने में मदद मिली है। इस संबंध में श्रीलंका और भारत मे केरल राज्य के अनुभव की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। यहाँ लोगों की प्रति व्यक्ति आय के उच्च स्तर, अथवा भूमि सुधार और रोजगार जुटाने संबंधी कार्यक्रमों ने नहीं अपितु भोजन, स्वास्थ्य देखभाल तथा शिक्षा जैसी मूल सुविधाओं के सार्वजनिक प्रावधान ने भूमिका निभाई है। जीवन की गुणवत्ता के सभी सूचकों की दृष्टि से श्रीलंका तथा केरल दोनों ही शेष दक्षिण एशिया से काफी आगे हैं।

२३.४ मूल्यांकन

विकास के प्रति अपनाया गया दृष्टिकोण निर्धनता दूर करने में कोई अहम सफलता नहीं प्राप्त कर पाया और न ही गरीबी के दुष्चक्र को तोड़ पाया। इस परम्परागत दृष्टिकोण के विफल होने के तीन प्रमुख कारण बताए गए हैं - पहला तो यह कि औद्योगीकृत देशों के अनुभव और ज्ञान को जबरदस्ती इस क्षेत्रा में स्थानांतरित कर लागू किया गया, दूसरे, इसमें निर्धन समुदायों को सौहार्दपूर्ण समुदाय मान कर ग्राम में वर्चस्व, निर्भरता और लिंग व समानता विवादों जैसी कड़वी वास्तविकताओं

की अनदेखी की गई जिससे सुपुर्दगी प्रणाली के प्रभावी होने पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। अंत में, आय वितरण के मुद्दे की भी इसमें उपेक्षा की गई। जब संचयी लाभों से गरीबी दूर करने में कोई सफलता नहीं मिली तो हर प्रकार के राज्य तंत्रा को उपयोग में लाया गया जिसने इसकी ओर विस्तृत ध्यान नहीं दिया। सुपुर्दगी दृष्टिकोण की यह विफलता नौकरशाही प्रणाली पर अत्यधिक निर्भरता के कारण हुई।

गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों को राज्य तंत्रों के माध्यम से चलाए जाने के कारण गरीबी दूर नहीं की जा सकी। वास्तव में, वस्तुएँ और सेवाएँ निर्धन लोगों तक पहुंचाने के मार्ग में नौकरशाही ही सबसे बड़ी बाधा बनी। प्रणाली में जवाबदेही नहीं थी, कई खामियाँ थीं और क्षमता निर्माण नहीं था। सभी गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के निचले वर्ग के लोगों के सशक्तिकरण के लिए नगण्य प्रयास किए गए।

ज्यों-ज्यों समस्या बढ़ती गई, गरीबी उन्मूलन के लिए व्यष्टि स्तर के कई जागरूकता अभियान और गैर-सरकारी हस्तक्षेप आरम्भ हुए। इन कार्यक्रमों को चलाने की राज्य तंत्रा की जटिल प्रक्रिया से सीख लेते हुए नई प्रणाली विकसित होने लगी थी और धीरे-धीरे समष्टि हस्तक्षेप से ध्यान हटकर सहभागिता व्यष्टि विकास की ओर केन्द्रित होने लगा। व्यष्टि विकास संस्थाओं, अधिकांशत: गैर-सरकारी संगठनों ने स्थानीय नेतृत्व, स्थानीय संसाधनों के उपयोग, सशक्तिकरण और क्षमता निर्माण पर अधिक बल दिया है। दक्षिण एशिया में गरीबी उन्मूलन में व्यष्टि स्तर की सफलता की सभी कहानियों जैसे बांग्लादेश की ग्रामीण विकास समिति, पाकिस्तान के आगा खान ग्रामीण सहयोग कार्यक्रम, नेपाल के लघु किसान विकास कार्यक्रम, भारत के स्व: रोजगार प्राप्त महिला संघ, श्रीलंका के जनशक्ति बांकु संगम और भूटान की मोंगर जिला स्वास्थ्य परियोजना से इस बात का पता चलता है कि जहाँ "निर्धन विकास प्रक्रिया के कर्त्ता के रूप में, न कि कर्म के भागीदार होते हैं, वहाँ वृद्धि, मानव विकास और समता संभव है।''

गरीबी उन्मूलन तथा ग्रामीण विकास कार्यक्रमों की सफलता की अधिकांश कहानियां सहभागिता और सामुदायिक प्रयासों पर टिकी हैं, "इनसे विकास संभव है क्योंकि वे सामाजिक अनुभवों, संस्मरणों तथा जागरूकता प्रणालियों पर विश्वास करते हैं और उनके लिए बाह्य संसाधन सीमान्त हैं। यह बंगलादेश के ग्रामीण बैंक तथा भारत में पंचायतों के संबंध में उचित है।'' जब-जब स्थानीय समुदाय अपने समुदायों के नियंत्राण और प्रबंध में शामिल होते हैं, तब-तब पर्यावरण की रक्षा करना और इसकी पुनरोत्पादकता विकसित करना संभव हो पाता है।

दक्षिण एशिया में गैर सरकारी संगठनों के कार्यों से बार-बार यह बात सिद्ध हुई है कि सामुदायिक स्व: अभिशासन के कारण शहरी संदर्भ में कराची; भारत में सुखोमाजरी, नादा, सीड, भूसाड़िया और रालेगांव, सिद्धि गांव तथा बांग्लादेश में बाढ़ प्रभावित मैदानी भागों में ग्रामीण बैंक से सुधरी पर्यावरणीय परियोजना तैयार हुई हैं। नेपाल में ग्रामीण समुदाय आज भी अस्थायी हिमालयी पर्यावरण का प्रबंध सावधानी और श्रम से करते हैं। पर्यावरण प्रबंध में निर्धनों के अत्यधिक श्रम निवेश जैसे-हिमालय क्षेत्रा में रहने वाले किसानों के अपने खेतों को सीढ़ीनुमा बनाने में श्रम निवेश सरकारी व्यय की तुलना में, चाहे वह राष्ट्रीय निधि से हो या फिर विदेशी सहायता से, लगभग नगण्य ही दृष्टिगोचर होता है।

बोध प्रश्न १

नोट : अपने उत्तर के लिए कृपया दिए गए स्थान को उपयोग में लाएँ। अपने उत्तर की जाँच इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

१) लेखक के मूल्यांकन के अनुसार उच्चतम सीमा निर्धारण सह पुनर्वितरण नीतियों (Ceiling cum redistribution policies) का दक्षिण एशिया में नगण्य प्रभाव क्यों पड़ा है?

....

....

....

....

२) गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों में गैर-सरकारी संगठनों (NGOs) की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।

....

....

....

....

२३.५ सारांश

इस अध्याय में हमने देखा कि दक्षिण एशिया की अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्राों में रहती हैं और कृषि पर निर्भर करती हैं। एक तिहाई से लेकर आधी ग्रामीण जनसंख्या निर्धन है और इस प्रकार से दक्षिण एशिया में गरीबी अधिकांशत: ग्रामीण जीवन की विशेषता है। इन सबके बावजूद १९७० के दशक में ही गरीबी उन्मूलन के उद्देश्य से विशेष नीतियाँ और कार्यक्रम बनाए गए। तब तक यह माना जाता रहा था कि आर्थिक विकास और विशेषकर कृषि में विकास से विकास का नया दौर आरम्भ होगा और इससे जनसंख्या गरीबी के स्तर से ऊपर उठ जाएगी परन्तु जैसे ही दक्षिण एशियाई देशों ने वर्ग और क्षेत्रा विशेष पर लक्षित गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम तैयार किए तो ग्रामीण विकास और सेवा क्षेत्रा पर उनका व्यय एक ओर ऋण संकट तथा दूसरी ओर प्रतिकूल बाह्य व्यापार पर्यावरण के कारण आई आर्थिक अस्थिरता के कारण कम हो गया। इन परिस्थितियों में कई गैर-सरकारी एजेन्सियाँ गरीबी उन्मूलन तथा ग्रामीण विकास कार्यक्रमों से जुड़ गईं।

जैसाकि हमने देखा कि दक्षिण एशिया में ग्रामीण विकास तथा गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों की सफलता न केवल इस बात पर निर्भर थी कि देश ने इन कार्यक्रमों पर कितना व्यय किया है अपितु जिस रूप में वे संगठित थे तथा जिस सीमा तक लक्षित लाभ प्राप्तकर्त्ता इन्हें तैयार करने और इनके कार्यान्वयन में जुड़े हैं, इस पर भी निर्भर थी। जहाँ-जहाँ ग्रामीण विकास के संदर्भ में प्रतिभागिता दृष्टिकोण अपनाया गया है, उससे निर्धनों को लक्षित करने और उन्हें टिकाऊ आजीविका के साधन उपलब्ध कराने की दिशा में आशाजनक परिणाम सामने आए हैं।

२३.६ कुछ उपयोगी पुस्तकें

महबूब उल-हक़ ह्यूमन डेवलपमेंट सेंटर (कई वर्ष), *ह्यूमन डेवलपमेंट इन साउथ एशिया,* कराची, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

सिंह, के के एवं एस अली, (२००१) *रूरल डेवलपमेंट स्ट्रेटिजीस इन डेवलपिंग कंटरीज़,* नई दिल्ली, सरूप एंड संस।

लामा पी महेन्द्रा (२००१), ग्लोबलाइजेशन एंड साउथ एशिया: प्राइमरी कन्सर्न्स एंड वलनरेबिल्टिज़ इन *इंटरनैशनल स्टडीज़,*खंड ३८(२), सेज पब्लिकेशन।

बेस्ले, टी एवं आर वर्गीस (१९९८) *लैंड रिफार्म, पावर्टी रिडक्शन एंड ग्रोथ:एविडेंस फ्रोम इंडिया* सं १३, लंदन, लंदन स्कूल ऑफ इॅकोनोमिक्स।

कृष्णा ए एवं अन्य (१९९७) रीजन्स फोर होप, इन्सट्रक्टिव एक्सपीरियेन्सिज इन रूरल डेवलपमेंट, वेस्ट हार्टफोर्ड, कुमारियन प्रेस।

सेन, अमर्त्य (१९९६) *इॅकोनोमिक रिफोर्म्स, एम्प्लॉयमेंट एंड पावर्टी*ट्रेंड्स एंड आप्शन, इकोनॉमिक एवं पोलीटिकल वीकली, विशेषांक।

२३.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न १

१)

देश	भारत	पाकिस्तान	श्रीलंका	नेपाल
गरीबी का स्तर	२६ प्रतिशत से अधिक	३२ प्रतिशत से अधिक	२८ प्रतिशत	४२ प्रतिशत

२) दक्षिण एशिया के ग्रामीण निर्धनों की पहुँच भूमि और अन्य उत्पादक संसाधनों तक नहीं है अथवा बहुत कम है। उनके परिवार बड़े हैं, निर्भरता अनुपात उच्च है, शिक्षा का स्तर निम्न है और बेरोजगारी अधिक है। गरीब लोगों को मूल सुविधाओं जैसे- जल आपूर्ति, स्वच्छता एवं बिजली की कमी है। ऋण, निवेश व प्रौद्योगिकी तक उनकी पहुँच अत्यंत सीमित है।

बोध प्रश्न २

१) पुनर्वितरण भूमि सुधारों का प्रभाव नगण्य रहा है। सामान्य तौर पर, उच्चतम निर्धारित सीमा उच्च होने के कारण बहुत कम भूमि अतिरिक्त भूमि के रूप में प्राप्त की गई। इसके अतिरिक्त भूमि मालिकों ने भूमि अपने पास रखने के लिए कानूनी बचाव के कई रास्ते अपनाए। बहुत कम भूमि जो सरकार को दी गई, वह खेती के लिए अनुपयुक्त है।

२) १९८० के दशक से कई गैर सरकारी संगठन गरीबी उन्मूलन और ग्रामीण विकास कार्यक्रमों में जुटे हैं। वे स्थानीय नेतृत्व को शामिल करने, स्थानीय संसाधनों के उपयोग, सशक्तिकरण तथा क्षमता निर्माण पर बल देते हैं। योजनाओं को तैयार करने और उनके कार्यान्वयन में उन्होंने निर्धनों को शामिल किया है। इसका कार्यक्रमों की सफलता में योगदान रहा है। गैर-सरकारी संगठन सरकार के समष्टि विकास प्रयासों के पूरक हैं।

इकाई २४ दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ

इकाई की रूपरेखा

२४.० उद्देश्य
२४.१ प्रस्तावना
२४.२ इतिहास
२४.३ दक्षेस शिखर वार्ताएँ
२४.४ संगठन की अवरोधकारी समस्याएँ
२४.५ दक्षेस के लिए प्रत्याशाएँ
२४.६ सारांश
२४.७ कुछ उपयोगी पुस्तकें
२४.८ बोध प्रश्नों के उत्तर

२४.० उद्देश्य

इस इकाई में, हम दक्षिण एशिया में क्षेत्रीय सहयोग की प्रथम मूर्त्त अभिव्यक्ति, दक्षेस का अध्ययन करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- एशियाई क्षेत्रीयता जिसके कारण दक्षेस का गठन हुआ, की उत्पत्ति का पता लगाने;
- दक्षेस के उद्देश्यों की पहचान करने;
- दक्षेस सम्मेलनों का संक्षिप्त विवरण देने;
- दक्षेस की अवरोधकारी समस्याओं की पहचान करने; और
- संगठन की प्रत्याशाओं का विश्लेषण करने में सक्षम हो जाएँगे।

२४.१ प्रस्तावना

क्षेत्रीयता के इतिहास में, दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ (दक्षेस) एक विलक्षण परीक्षण है। राष्ट्रीय परिदृश्य अथवा महाशक्ति संयोजनों (शीत युद्ध की समाप्ति होने तक) के संदर्भ में, विश्व में कुछ समान्तर स्थितियाँ हैं। आकार, जनसंख्या, राजनीतिक तंत्रा और विकास स्थिति के संदर्भ में सात असमान राष्ट्रों-बांग्लादेश, भूटान, भारत, मालदीव, नेपाल, पाकिस्तान और श्रीलंका से मिलकर बने इस क्षेत्रा के एक सिरे पर विश्व में (चीन के बाद) द्वितीय सर्वाधिक आबादी वाला देश भारत है तथा दूसरे सिरे पर मात्रा २००,०० की आबादी वाला मालदीव है। इसी प्रकार इसके एक तरफ भारत और पाकिस्तान जैसे विशाल सशस्त्रा बलों वाले परमाणु सत्ता सम्पन्न देश हैं तथा दूसरी तरफ भूटान और मालदीव जैसे देश हैं जिनकी संयुक्त सैनिक शक्ति नई दिल्ली अथवा कराची के पुलिस बल से अधिक नहीं होगी। दक्षिण पूर्व एशियाई राष्ट्र संघ (एशियान) में इण्डोनेशिया की स्थिति और खाड़ी सहयोग परिषद् (जी. सी. सी.) में सउदी अरब की स्थिति की इस सम्बन्ध में मात्रा सीमित तुलना की जा सकती है। महाशक्ति गठजोड़ों के सम्बन्ध में भी, शीतयुद्ध के दौरान वे असममितिक थे। भारत, यद्यपि एक गैर सोवियत गुट का राष्ट्र है, पर क्रेमलिन के साथ उसकी दोस्ती और विश्वास का साढ़े तीन दशक पुराना अभिलेख था। इसका पाकिस्तान द्वारा अधिकाधिक विरोध हुआ जो संयुक्त राज्य की भूमंडलीय रणनीति से निकट से जुड़ा हुआ था।

दक्षेस देशों की अविकसित अवस्था ऐसा क्षेत्रा है जो वस्तुत: उन देशों में समान रूप से शामिल है। सभी विकासशील देश हैं, और इनमें से चार (बांग्लादेश भूटान, मालदीव और नेपाल) विश्व बैंक की 'न्यूनतम विकसित' देशों की श्रेणी में आते हैं। जानकारी के तौर पर, दक्षेस के गठन के पीछे क्षेत्रा के आर्थिक विकास की युक्तिसंगतता थी।

२४.२ इतिहास

दक्षिण एशिया एक भलीभाँति सुपरिभाषित भौगोलिक क्षेत्रा है। ऐतिहासिक अनुभव के संदर्भ में इसमें एकरूपता है। तथापि, पर्याप्त अद्‌भुत होते हुए भी, दक्षेस इस क्षेत्रा में अपनी तरह का प्रथम परीक्षण है। यह बांग्लादेश की राजधानी ढाका में पहली बार आयोजित दक्षिण एशियाई सम्मेलन में दिसम्बर १९८५ में अस्तित्व में आया।

क्षेत्र में क्षेत्रीयवाद के लिए आरंभिक प्रयास

सामान्यत: एशिया और विशेष रूप से दक्षिण एशिया में क्षेत्राीयवाद के आंतरिक प्रयास अव्यवहारिक और अस्वाभाविक थे। सदस्यता और क्षेत्रा दोनों में अत्यधिक विसरित होने के कारण उनका कोई स्थायी महत्त्व नहीं था। उदाहरण के लिए, १९४७ और १९५५ के मध्य सात सम्मेलन बुलाए गए: एशियाई गठजोड़ सम्मेलन, नई दिल्ली, मार्च १९४७, इण्डोनेशिया पर सम्मेलन, नई दिल्ली, जनवरी १९४९, वाग्युओ सम्मेलन, वाग्युओ, फिलीपीन्स, मई १९५०; कोलम्बो योजना, यह १९५० में सिडनी और लंदन में स्वतंत्रा ब्रिटिश राष्ट्रमंडल देशों के मंत्रियों की बैठक में एक निर्णय लेने के बाद १ जुलाई १९५० को औपचारिक रूप से आरंभ किया गया; कोलम्बो शक्ति सम्मेलन, कोलम्बो, अप्रैल १९५४; अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन, वैनडंग, इण्डोनेशिया अप्रैल, १९५५; और शिमला सम्मेलन, शिमला, मई १९५५।

हाल ही में उपनिवेशवाद के विरोध में हुए आन्दोलनों की पृष्ठभूमि के विरुद्ध या तो उपनिवेशवाद विरोधी लोकनीतियों द्वारा अथवा भूतपूर्व उपनिवेशी मालिकों के विरुद्ध टीका-टिप्पणी करके बैठकों को अनुबोधित किया गया था जैसा कि कोलम्बो योजना में प्रतिबिम्बित था। इन बैठकों में विश्व के अनेक क्षेत्राों से देशों को शामिल किया गया था।

पश्चिमी खण्ड के प्रति झुकाव

एशियाई क्षेत्राीयता में प्रथम पीढ़ी के परीक्षण की उल्लेखनीय विशेषता थी दक्षिण एशिया का उसके उपनिवेशवाद विरोधी और साम्राज्य विरोधी वक्तृता की ओर ध्यान दिए बिना पाश्चात्य खण्ड के प्रति एकमत झुकाव। तथापि, १९५०वें दशक के मध्य के बाद, चूँकि पाकिस्तान उत्तरोत्तर संयुक्त राज्य के रणनीतिक नेटवर्क में उलझता गया, भारत और पाकिस्तान के बीच मतभेद व्यापक और गहन होते गए। उसी अवधि के दौरान, चीन-रूस के बढ़ते हुए संघर्ष ने और पेचीदा स्थिति पैदा कर दी। परिणामस्वरूप, उस समय तक भारत और पाकिस्तान के बीच बांग्लादेश की मुक्ति के मुद्‌दे पर १९७१ में तृतीय युद्ध (पहले युद्ध १९४७ और १९६५ में हुए थे) हुआ और सीमा रेखाएँ स्पष्टत: खींच दी गईं। इस पृष्ठभूमि के प्रतिकूल क्षेत्रीय सहयोग का कोई भी आह्‌वान जंगल में एक चीख के समान था।

सहकारी प्रबन्धन के विचार का पुन: प्रवर्त्तन

१९७०वें दशक के अन्त में इस विचार को पुन: बल मिला। उस समय बांग्लादेश के तत्कालीन राष्ट्रपति जियाउर्रहमान ने पहली बार सुझाव दिया कि दक्षिण एशिया के सातों राष्ट्रों को क्षेत्रा की गंभीर आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए सहकारी प्रबन्धन का आकलन करना चाहिए। यद्यपि आरंभ में इस प्रस्ताव को अधिक समुत्साह प्राप्त नहीं हुआ, देशों के नेतृत्व में परिवर्तन से यह प्रस्ताव सत्तासीन लोगों की कल्पना में समा गया। यह वह समय था जब दक्षिण एशिया में राजनीतिक नेतृत्व

नए-नए शासकों के हाथों से गुजर रहा था। भारत में, इन्दिरा गाँधी का कांग्रेस दल मोरारजी देसाई के नेतृत्व वाले जनतादल द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया गया था; पाकिस्तान में, जुल्फिकार अली भुट्टो सैनिक शासक जिया-उल-हक द्वारा प्रतिस्थापित किये गये, और श्रीलंका में, श्रीमावो भंडारनायके जूनियस जयवर्द्धने द्वारा प्रतिस्थापित की गई। बांग्लादेश में जियाउर्रहमान ने अपनी स्थिति मजबूत की और मुजीब समर्थक बलों की तरफ से तत्काल कोई आशंका नहीं थी। ये सभी नेता संयुक्त-राज्य के समर्थक थे और अपने पूर्ववर्ती से भिन्न, नए परिसरों में क्षेत्रीय सम्बन्ध बनाने के लिए प्रवृत्त हुए।

दक्षेस के प्रति प्रभावी कदम

तथापि, दक्षेस गठन के प्रति प्रथम प्रभावी कदम दृढ़ता से उस समय उठाया गया जब दक्षिण एशिया का राजनीतिक परिदृश्य लगभग अपनी आरंभिक स्थिति की तरफ मुड़ गया था। इन्दिरा गाँधी ने भारत में १९८० में नाटकीय रूप से वापसी की जो अफगानिस्तान में १९७९ में सोवियत दखलन्दाजी तथा संयुक्तराज्य-पाकिस्तान के 'विशेष सम्बन्ध' की वापसी के अनुरूप थी। वास्तव में इन्दिरा गाँधी द्वारा सोवियत कार्यकारी की पुष्टि से भारत और पाकिस्तान के बीच युद्धनीतिक दरार सुस्पष्ट हो गई। जिस समय यह सब हो रहा था, जियाउर्रहमान ने मई १९८० में क्षेत्रीय सहयोग विकास के गठन के लिए गंभीर सोच की जरूरत बताते हुए छह दक्षिण एशियाई नेताओं को औपचारिक पत्रा लिखे। उल्लेखनीय बात यह थी कि इस अपील को स्वीकारात्मक लेकिन शिथिल प्रतिक्रिया प्राप्त हुई।

राजनीतिक प्रश्नों का प्रत्यक्ष हवाला दिए बिना तथा संवेदनात्मक क्षेत्रीय पहलुओं का स्पर्श किए बिना, नेताओं ने पारस्परिक आर्थिक सहयोग के क्षेत्रों की तलाश करना बेहतर समझा। यह वह समय था जब उत्तर-दक्षिण वार्त्तालाप व्यावहारिक तौर पर विफल हो गया था और दक्षिण-एशिया सहयोग के तहत विकासशील देशों के बीच आर्थिक सहयोग का नारा बुलन्द होता गया। भूमण्डलीय मंदी से विश्व अर्थव्यवस्था उत्तरोत्तर क्षीण होने लगी। तेल-निर्यातक विकासशील विश्व जिससे दक्षिण एशिया सम्बन्धित था, सर्वाधिक प्रभावित हुआ। १९७०वें दशक के मध्य तक वास्तविक वृद्धि दर लगभग दो प्रतिशत की निम्नदर पर पहुँच गई थी। १९७९-८० के 'द्वितीय तेल आघात' ने हालात को और बिगाड़ दिया। १९८० में सभी दक्षिण एशियाई देशों के व्यापार रिकार्ड का संतुलन बहुत ही शोचनीय स्थिति में पहुँच गया था। इस पृष्ठभूमि के विपरीत; विकासात्मक कार्यसूची में विशेषत: क्षेत्रीय सहयोग और सामान्यत: दक्षिण-दक्षिण सहयोग के औचित्य को उच्च प्राथमिकता मिली। दक्षेस का गठन मात्रा एक सामाजिक मामला था।

सहयोग के क्षेत्रों का पता लगाने के लिए सचिव स्तर पर कई बैठकें आयोजित की गई। इन बैठकों की मुख्य बातें यह थीं कि सभी ने अपनी क्षेत्रीय बैठकों में किसी भी प्रकार के 'द्विपक्षीय अथवा विवादग्रस्त' मुद्दों को न उठाने का फैसला किया और इस बात पर भी सहमत हुए कि जो भी निर्णय होगा, एक मत के आधार पर लिया जाएगा। ध्यान देने योग्य बात यह थी कि पहला निर्णय भारत के आग्रह पर तथा दूसरा निर्णय भारत और पाकिस्तान दोनों के आग्रह पर लिया गया था; अन्य देशों को उनके बारे में चिन्ता करने का कोई विशेष कारण नहीं था। इन दो शर्तों के द्वारा दक्षेस की मौलिक कार्यवाही जारी है। इसके प्रतिकूल, ऐसे द्विपक्षीय मुद्दों को शामिल करने की उनकी प्राथमिकता होगी जिनसे उन्हें भारत-महामूर्ति और अक्सर जिसका 'बड़े भाई' के रूप में हवाला दिया गया, के साथ वार्त्ता करने का विश्वास पैदा होगा। एक प्रकार से, भारत के लिए यह एक प्रमुख राजनीतिक उपलब्धि थी।

दक्षेस का सूत्रपात

अगस्त १९८३ में, गतिशील प्रक्रिया को एक राजनीतिक प्रोत्साहन मिला। नई दिल्ली में, विदेश मंत्रियों के प्रथम सम्मेलन में, दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग उद्घोषणा को अपनाया गया। इसके अनुक्रम में, दक्षेस में संगठनात्मक ढाँचे को अन्तिम रूप दे दिया गया।

तदोपरान्त, प्रथम शिखर बैठक दिसम्बर १९८५ में ढाका में सम्पन्न हुई और दक्षेस का औपचारिक रूप से सूत्रापात किया गया। नेताओं ने मंत्रिपरिषद् और सचिवालय के पक्ष में निर्णय लिया और संगठन में उनकी स्थायी वचनबद्धता प्रमाणित की। फरवरी १९८७ में, दक्षेस सविचालय एक महासचिव और चार निदेशकों के साथ आरंभ हुआ। तदोपरान्त, दक्षेस मंत्रिपरिषद् का गठन किया गया जो सम्बन्धित सदस्य राष्ट्रों के विदेश मंत्रियों से मिलकर बना था।

संगठनात्मक ढाँचा

१९८३ में विदेश मंत्रियों की नई दिल्ली बैठक के क्रम में, दक्षेस के संगठनात्मक ढाँचे ने एक सुस्पष्ट स्वरूप और आकृति प्राप्त की। यह चार-स्तरीय ढाँचे के रूप में विकसित हुआ। सबसे निचले स्तर पर विशेषज्ञों और कर्मचारियों की तकनीकी समितियाँ थीं जिन्हें कार्यवाई हेतु कार्यक्रम तैयार करने थे तथा सम्मेलनों और कार्यशालाओं का आयोजन करना था। इसके बाद विदेश मंत्रियों की स्थायी समिति थी जिसे तकनीकी समितियों, जिनकी वर्ष में कम से कम एक बार बैठक होनी थी, की सिफारिशों की समीक्षा करनी थी। इसके ऊपर विदेश मंत्रियों का सम्मेलन था जिसे स्थायी समिति की सिफारिशों को राजनीतिक अनुमोदन स्वीकृत करने के लिए एक वर्ष में कम से कम एक बार आयोजित होना था। सबसे ऊपर दक्षेस को राजनीतिक महत्त्व देने के लिए वार्षिक तौर पर शिखर बैठक आयोजित की जानी थी।

बोध प्रश्न १

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर इकाई-अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाएँ।

१) दक्षेस के गठन में भूमिका अदा करने वाले रूप में तीन घटकों की पहचान करें।

....

....

....

....

....

२) दक्षेस के संगठनात्मक ढाँचे के चार स्तर कौन से हैं?

....

....

....

....

....

२४.३ दक्षेस शिखर वार्ताएँ

अब तक बारह शिखर वार्ताएँ हो चुकी हैं – ढाका (१९८५), बंगलौर (१९८६), काठमांडु (१९८७), इस्लामाबाद (१९८८), माले (१९९०), कोलम्बो (१९९१), ढाका (१९९३), नई दिल्ली (१९९५), माले (१९९७), कोलम्बो (१९९८), काठमांडु (२००२) और इस्लामाबाद (२००४)। तथापि गत समय में,

कई शिखर वार्ताएँ सदस्य देशों की घरेलू अथवा द्विपक्षीय समस्याओं के कारण स्थगित हो गई है अथवा बिल्कुल आयोजित नहीं हुई हैं।

दक्षेस का बैठकों, सम्मेलनों, अध्ययनों और रिपोर्टों जिन्हें इसने प्रायोजित किया है, का एक समुचित प्रभावशाली रिकार्ड है। दक्षेस सचिवालय द्वारा समय-समय पर जारी क्रियाकलापों के कलेण्डर से विविध विकासोन्मुख क्षेत्रों से सम्बन्धित क्रियाकलापों की एक बड़ी संख्या का पता चलता है जैसे कृषि, पशुपालन, बागवानी, स्वास्थ्य और स्वच्छता, जंगलात, जनसंख्या, मौसम विज्ञान, डाक सेवा, औषधि व्यापार और उसका दुरुपयोग, समेकित ग्रामीण विकास, प्रौद्योगिकी अन्तरण, खेल, परिवहन, दूरसंचार, महिला विकास, व्यापार और वाणिज्य तथा अन्य।

दक्षेस के क्रियाकलाप मात्रा विकासोन्मुख मुद्दों तक ही सीमित नहीं हैं। आतंकवाद जैसा मुद्दा जो अनेक वर्षों से भारत-पाक सम्बन्धों में आग लगा रहा है और जिसके गंभीर राजनीतिक परिणाम हैं, उसने भी आरंभ में दक्षेस का ध्यान आकर्षित किया। इस प्रश्न पर दक्षेस देशों के बीच गहरे बैठे मतभेदों के बावजूद उन्होंने आतंकवाद के विरुद्ध एक समागम अपनाया।

इसकी प्रमुख बात उन अपराधों की पहचान करना था जिन्हें आतंक के रूप में माना जाएगा और प्रत्यर्पण के प्रयोजनार्थ उन्हें राजनीतिक अपराध अथवा राजनीतिक गतिविधियों से प्रेरित अपराध नहीं माना जाएगा। समागम में द्विपक्षीय प्रत्यर्पण सन्धियों के हस्ताक्षर के माध्यम से आवश्यक अनुवर्ती कार्रवाई का प्रावधान है, तथापि, इन पर अभी तक हस्ताक्षर नहीं हुए हैं। इस समागम को लागू नहीं किया गया है क्योंकि बांग्लादेश और पाकिस्तान ने उसका समर्थन नहीं किया है। इसका कारण यह है कि उनके पास आतंकवादियों के विरुद्ध सक्षम घरेलू कानून नहीं है। तथापि, २००४ की इस्लामाबाद शिखर वार्ता में इस समागम को एक नई दिशा प्रदान की गई।

प्रथम दक्षेस शिखर वार्ता दिसम्बर १९८५ में ढाका में आयोजित की गई थी। इस बैठक में, दक्षेस का औपचारिक सूत्रापात किया गया था। यह शिखर वार्ता विशेषतया दो प्रकार से महत्त्वपूर्ण थी। प्रथमतः इसमें 'बलों को प्रयोग में न लाना' और ''सभी विवादग्रस्त मुद्दों का शान्तिपूर्ण समाधान' (आमुख और अनुच्छेद II) अभिव्यक्तियों का प्रयोग किया गया था। ध्यान दिया जाना चाहिए कि इसी प्रकार की अभिव्यक्तियाँ बांग्लादेश द्वारा तैयार किए गए मूल कार्यकारी दस्तावेज (१९८०) में प्रयुक्त की गई थी, परन्तु विदेश मंत्रियों की प्रथम बैठक में पाकिस्तान के प्रारक्षण के कारण उन्हें हटा दिया गया था। पाकिस्तान का 'कोई युद्ध नहीं' समझौता प्रस्ताव सितम्बर १९८१ में बाद में भारत आया। इस प्रकार, दक्षेस दस्तावेज में इन अभिव्यक्तियों के प्रयोग से वस्तुतः 'कोई युद्ध नहीं' प्रस्ताव व्यर्थ हो गया। दूसरे, शिखर वार्ता में मंत्रिपरिषद और पाकिस्तान के पक्ष में निर्णय लिया गया जिससे दक्षेस को स्थायित्व प्रदान किया जा सके।

नवम्बर १९८६ में बंगलौर में आयोजित द्वितीय दक्षेस शिखर वार्ता में, नेताओं ने आतंकवाद को दबाने के लिए एक क्षेत्रीय समागम किया। एकक्षेत्रीय खाद्य सुरक्षा आरक्षी निधि की स्थापना के लिए सहमति दी गई और प्राकृतिक आपदा के कारणों और परिणामों तथा पर्यावरण प्रारक्षण पर अध्ययन के लिए निर्णय लिया गया। सदस्यता के लिए अफगान प्रार्थनापत्रा के जवाब में शिखर वार्ता में सदस्यता के लिए मानदण्ड तैयार करने के लिए स्थायी समिति को दिशा निर्देश दिया गया। (नए सदस्यों के प्रवेश पर दक्षेस चार्टर खामोश है।)

तृतीय दक्षेस शिखर वार्त्ता नवम्बर १९८७ में काठमांडु में आयोजित की गई। शिखर वार्ता में आतंकवाद के दमन पर दक्षेस क्षेत्रीय समागम पर हस्ताक्षर किए गए जो २२ अगस्त १९८८ से लागू हुआ।

चतुर्थ दक्षेस शिखर वार्ता १९८८ में इस्लामाबाद में सम्पन्न हुई। इस शिखर वार्ता में, एक समेकित विकास योजना तैयार की गई जिसे ''दक्षेस २००० – एक बुनियादी आवश्यकता संदर्श'' का नाम दिया गया। इस योजना में एक क्षेत्रीय संदर्श कार्यक्रम निर्धारित किया गया जिसका विशिष्ट लक्ष्य मौलिक क्षेत्रों जैसे खाद्य, कपड़ा, आश्रय, शिक्षा, प्राथमिक स्वास्थ्य, सुरक्षा, जनसंख्या नियोजन और पर्यावरण सुरक्षा को वर्ष २००० तक प्राप्त करना था।

पंचम दक्षेस शिखर वार्त्ता नवम्बर १९९० में माले में आयोजित की गई। इस शिखर वार्त्ता में, नेताओं ने अक्षम और कन्या शिशु के कल्याण, क्षेत्रा में औषधि दुरुपयोग की आशंका से प्रभावी ढंग से निपटने तथा अवैध व्यापार के दमन के लिए नार्कोटिक औषधियों और मनस्तापी पदार्थों पर समागम, सांसदों और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की विद्यमान श्रेणियों के अलावा राष्ट्रीय अकादमी संस्थानों के प्रमुखों, उनके जीवनसाथियों (पति/पत्नी) और निर्भर बच्चों को शामिल करने के लिए वीसामुक्त यात्राा सुविधा के विस्तार और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आर्थिक सहयोग के मूल क्षेत्राों के विस्तार के लिए आह्वान किया। यह निर्णय लिया गया था कि फरवरी १९९१ के अन्त तक व्यापार, विनिर्माण और सेवाओं के विवादग्रस्त मुद्दों पर क्षेत्राीय अध्ययन पूरा हो जाना चाहिए। यह विशेष रूप से इसलिए महत्त्वपूर्ण था क्योंकि प्रत्येक इस तथ्य से सहमत था कि समाजवादी अर्थव्यवस्था के पतन से भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था के सम्मुख उपस्थित चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए, उत्पादन, उपयोग और व्यापार के नये प्रतिमान की और ध्यान देना होगा और जितना जल्दी यह संभव होगा उतना ही अधिक दक्षिण एशिया के लिए बेहतर होगा।

कोलम्बो में षष्ठम् दक्षेस शिखर वार्ता मूलत: नवम्बर १९९१ में आयोजित होनी थी। परन्तु भूटान के राजा की अपनी विकट घरेलू समस्याओं के कारण तथा अन्तिम क्षण में उनके शिखर वार्ता में शामिल न होने के निर्णय के कारण, बैठक को स्थगित करना पड़ा। यह अपरिहार्य था क्योंकि भारत और नेपाल दोनों का आग्रह था कि चूँकि भूटान के राजा शामिल नहीं हो रहे थे अत: वे भी शामिल नहीं होंगे। उन्होंने उत्कट रूप से महसूस किया कि शिखर वार्ता के एक भी सदस्य की अनुपस्थिति में, यदि उसे आयोजित किया भी गया तो यह दक्षेस की सामूहिक भावना के प्रतिकूल होगा।

तत्पश्चात् शिखर वार्ता २१ दिसम्बर १९९१ को आयोजित हुई। कोलम्बो उद्घोषणा में जिसे शिखर वार्ता में अपनाया गया था, अधिकांश मुद्दे, दक्षेस के पूर्व वर्षों से चली आ रही कार्यसूची का अंश थे। आतंकवादी क्रियाकलापों के दिक्परिवर्तन की आवश्यकता, छोटे राज्यों की सुरक्षा कायम करने के लिए अन्तरराष्ट्रीय आम राय प्राप्त करने के लिए मालदीवी पहल, दक्षिण एशिया में नार्को-आतंकवाद का मुकाबला करने के लिए प्रभावी कदम उठाने का आह्वान, भूमण्डलीय और क्षेत्राीय पर्यावरण सम्बन्धी मुद्दों पर सामूहिक दृष्टिकोण अपनाने की दलील इस श्रेणी में आते थे। शिखर वार्ता के नेता इस पर भी सहमत हुए कि व्यापार, विनिर्माण और सेवाओं के क्षेत्राों में क्षेत्राीय सहयोग के लिए प्रत्याशाओं का अध्ययन करने के लिए पहले ही गठित अन्तर-सरकारी ग्रुप को १९९७ तक एक दक्षेस अधिमान्य व्यापार प्रबन्धन की स्थापना के लिए श्रीलंका के प्रस्ताव की भी जाँच करनी चाहिए।

कोलम्बो शिखर वार्ता में लिए गए सभी निर्णयों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझौता यह था कि दक्षेस विदेश सचिवों का विशेष सत्रा संगठन के कार्यकारी मानदण्डों के रक्षा उपायों के अध्ययन के लिए १९९२ में कोलम्बो में आयोजित किया जाना चाहिए। इस अध्ययन में प्रस्तावों की लम्बी सूची को शामिल किया गया जिनमें वे प्रस्ताव भी शामिल थे जो दक्षेस चार्टर में परिवर्तन के लिए अभिकल्पित थे। इसमें अन्य क्षेत्राीय संगठनों जैसे एशियान और यूरोपीयन संघ के साथ उपयुक्त 'बाहरी गठबंधनों' की स्थापना के मुद्दे पर भी विचार किया जा सका।

सप्तम दक्षेस शिखर वार्ता ढाका में अप्रैल १९९३ में सम्पन्न हुई। इस शिखर वार्ता में, दक्षेस अधिमान्य व्यापार प्रबन्धन पर हस्ताक्षर किए गए। करार में सदस्य देशों को टैरिफ, पैरा टैरिफ, नॉन-टैरिफ तथा प्रत्यक्ष व्यापार क्रियाकलापों के माध्यम से उनके मध्य चरणबद्ध मुक्त व्यापार मुहैया कराने की कल्पना की गई थी।

नई दिल्ली में १९९५ में सम्पन्न अष्टम् दक्षेस शिखर वार्ता में दक्षेस अधिमान्य व्यापार प्रबंधन (SAPTA) को औपचारिक रूप से आरंभ किया गया।

माले में १९९७ में आयोजित नवम् दक्षेस शिखर वार्त्ता में प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्तियों के दक्षेस ग्रुप की स्थापना की गई थी। ग्रुप ने एक दक्षेस सर्वनिष्ठ बाज़ार के सृजन और विशाल पैमाने पर आर्थिक नीति समन्वयन लागू करके दक्षेस आर्थिक दर्शन का गठन निर्धारित किया।

दक्षेस अधिमान्य व्यापार प्रबन्धन की बातचीत से हुई प्रगति से प्रोत्साहित होकर, १९९८ में कोलम्बो में दशम् दक्षेस शिखर वार्ता बैठक में, दक्षेस नेताओं ने दक्षिण एशियाई मुक्त व्यापार क्षेत्र(SAFTA) पर संधि का मसौदा तैयार करने के लिए विशेषज्ञों की समिति गठित करने का निर्णय लिया। संधि में विधिगत रूप से दक्षेस देशों के मध्य व्यापार को मुक्त करने के लिए बाध्यकारी अनुसूचियाँ निर्धारित करने तथा क्षेत्रा में मुक्त व्यापार क्षेत्रा की प्राप्ति के लिए एक पूर्वानुमेय और पारदर्शी समय पथ मुहैया करने की उम्मीद की गई थी।

काठमाण्डु में एकादश दक्षेस शिखर वार्ता मूलत: नवम्बर १९७९ में आयोजित की जानी थी परन्तु इसे १२ अक्टूबर १९९९ को पाकिस्तान में सैनिक टकराव के कारण स्थगित करना पड़ा। संयोगवश, शिखर वार्ता जनवरी २००२ में आयोजित हुईं। इस शिखर वार्त्ता को प्रमुख अंश क्षेत्रा के आरपार अनैतिक प्रयोजनार्थ महिला शिशु और महिलाओं के अवैध व्यापार पर रोक लगाने के लिए एक समागम पर हस्ताक्षर करना था। तथापि, शिखर वार्ता कराने में विलम्ब का यह अर्थ नहीं था कि दक्षेस निष्क्रिय हो गया था। दक्षिण एशियाई विकास निधि (SADF) के शासकीय बोर्ड की छठवीं बैठक २२ जुलाई २००० को मालदीव में आयोजित की गई थी जिसमें निधि के क्रियाकलापों की समीक्षा की गई थी और पेशागत आधार पर निधि को नियोजित करने के लिए प्रस्तावों पर चर्चा की गई थी। दक्षेस संकाय ने शिक्षा के सभी स्तरों पर मुक्त और दूरस्थ शिक्षा के प्रयोग को प्रोन्नत करने के लिए दक्षेस क्षेत्रा में सहयोग के लिए प्रस्तावों की जाँच की। इस वर्ष के दौरान व्यक्ति से व्यक्ति के मध्य सभी प्रकार का बढ़ता सम्पर्क एक उल्लेखनीय विकास था। भूमण्डलीय, वित्तीय और आर्थिक मुद्दों पर दक्षेस शोधकर्ता नेटवर्क की तृतीय बैठक ३१ अक्टूबर २००० को दक्षेस सचिवालय में सम्पन्न हुई। दक्षेस श्रवण दर्शन विनिमय समिति की उन्नीसवीं बैठक १९-२० को ढाका में आयोजित हुई।

१३-१५ नवम्बर २००० से एक विशेष दक्षेस वरिष्ठ कर्मचारी बैठक कोलम्बो में आयोजित हुई। बैठक में तकनीकी समिति की बैठकें, दक्षिण एशियाई अधिमान्य व्यापार प्रबन्धन (SAPTA) और दक्षिण एशियाई मुक्त व्यापार क्षेत्रा (SAFTA) की विशेषज्ञ स्तर पर बैठकें कराने के लिए कलेण्डर को अन्तिम रूप दिया गया। दक्षेस समेकित कार्य योजना (SIPA) के कार्यान्वयन के लिए दक्षेस तकनीकी समितियाँ प्रथम साधन हैं। 'दक्षिण एशिया में स्थायी विकास और ग्रामीण उन्मूलन के लिए नवीकरणीय ऊर्जा के वित्तपोषण पर क्षेत्रीय बैठक' संयुक्त रूप से विश्व ऊर्जा परिषद् के साथ १२-१४ जून २००२ को कोलम्बो में आयोजित की गई। एक दक्षिण एशियाई कारोबारी नेताओं की शिखर वार्त्ता १८-१९ अगस्त २००० को बंगलौर में सम्पन्न हुई जो द फेडरेशन ऑफ कर्नाटक चैम्बर ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री, द फेडरेशन ऑफ इंडियन चैम्बर ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री(FICCI) तथा दक्षेस चैम्बर ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री की संयुक्त पहल के रूप में थी। दक्षेस विधि कान्फ्रेंस, एक मान्यताप्राप्त क्षेत्रीय उच्चतम दक्षेस निकाय, ने २२-२४ सितम्बर, २००० से नेपाल में अपना आठवाँ वार्षिक सम्मेलन आयोजित किया। दक्षिण क्षेत्रा में स्वास्थ्य सेक्टर में सुधार के लिए अपने कुछ प्रयासों के रूप में, दक्षेस ने २-३ अगस्त २००० को विश्व स्वास्थ्य संगठन के साथ एक समझौता ज्ञापन पर हस्ताक्षर किए।

द्वादश दक्षेस शिखर वार्ता ४-६ जनवरी २००४ से इस्लामाबाद में आयोजित हुई। इस शिखर वार्ता की कई देशों द्वारा जय-जयकार की गई क्योंकि भारत और पाकिस्तान के दो नेता भारी सौजन्यता से एक-दूसरे से मिले जिससे द्विपक्षीय सम्बन्धों में सुधार और दक्षेस प्रक्रिया के विकास दोनों का अनुमान लगाया गया। इस शिखर वार्ता ने क्षेत्रीय सहयोग के कई क्षेत्रों में दूरगामी सिफारिशें की। प्रथमत:, इसमें दक्षेस सामाजिक चार्टर पर हस्ताक्षर किए गए जिसमें गरीबी उन्मूलन, जनसंख्या नियंत्राण, महिलाओं को शक्तिसम्पन्न करना, युवकों की लामबंदी, मानव संसाधन विकास, स्वास्थ्य और पोषण की प्रोन्नति जैसे मुद्दे शामिल किए गए हैं। ये सभी संभवतया दक्षिण एशिया के लाखों प्राणियों की जीविका पर दूरगामी प्रभाव छोड़ेंगे। दूसरे, आतंकवाद के मुकाबले के लिए १९८७ में हस्ताक्षरित क्षेत्रीय समागम पर वचनबद्धता की पुन: पुष्टि करते समय, उन्होंने आतंकवाद के वित्त पोषण से प्रभावी ढंग से निपटने के लिए इस समागम के एक अतिरिक्त समझौते पर हस्ताक्षर किए।

तीसरे, सदस्यों ने दक्षिण एशियाई मुक्त व्यापार क्षेत्रा(SAFTA) के प्रारूप करार पर हस्ताक्षर किए और उसे जनवरी २००६ तक लागू किया। और अन्ततः, शान्ति, विकास, ग़रीबी उन्मूलन और क्षेत्राीय सहयोग के अन्य क्षेत्राों में असाधारण व्यष्टियों और संगठनों को सम्मानित और प्रोत्साहित करने के लिए दक्षेस पंचाट संस्थापित किया गया।

बोध प्रश्न २

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर इकाई-अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाएँ।

१) ढाका में आयोजित प्रथम दक्षेस शिखर वार्ता की क्या उपलब्धियाँ थीं?

....

....

....

....

....

२४.४ संगठन की अवरोधकारी समस्याएँ

उपरोक्त चर्चा से ऐसा प्रतीत होगा कि दक्षेस के उद्देश्य विकासोन्मुख रखे गए हैं। जब दक्षेस का एक क्षेत्राीय संगठन के रूप में उदय हुआ था, उस समय क्षेत्रा को पारस्परिक सहयोग, सामूहिक आत्म विश्वास और शांतिपूर्ण सह अस्तित्व का फलता-फूलता उदाहरण बनाने के लिए इसकी संकल्पना स्पष्ट थी। आर्थिक विकास की गति को बढ़ाना, लोक कल्याण की प्रोन्नति और उनके जीवन स्तर में सुधार केन्द्रीय उद्देश्य रहे हैं। आर्थिक सहयोग को प्रोत्साहित करने और सभी विवादग्रस्त और द्विपक्षीय मुद्दों से अलग रहने के लिए सचेतन प्रयास किए गए हैं। परन्तु जब हम इसे विकासोन्मुख महत्त्वाकांक्षाओं वाला कहकर प्रशंसनीय मानते हैं, तब यह अनिश्चित होता है कि संगठन का उस समय क्या होगा जब इसके सम्मुख ऊपर से नीचे तक और अधिक ऐसे राजनीतिक सवाल उठ खड़े होंगे जिनके कारण दशकों से इस क्षेत्रा में अन्तर-राज्यीय संबंध बिगड़े हैं। यह क्षेत्रा विरोधाभासों से भरा पड़ा है जो दो मुख्य वर्गों में आते हैं: विविध सुरक्षा हित और क्षेत्रा का भारत-मूलक स्वरूप।

संरचनात्मक विरोध

दक्षेस एक संरचनात्मक विरोध से ग्रस्त है। भारत का असमानुपाती विशाल आकार अपने पड़ौसी की समान भागीदारों के रूप में भागेदारी जो किसी भी सहकारी प्रयास में निर्णायक है, का विरोध करता है। भारत इस क्षेत्रा की भूमि के ७२ प्रतिशत, इसकी जनसंख्या के ७७ प्रतिशत और सकल घरेलू उत्पाद के ७८ प्रतिशत के लिए उत्तरदायी है। इसकी सशस्त्रा सेना इस क्षेत्रा के सम्पूर्ण सशस्त्रा बल का ५० प्रतिशत बनती है और यदि पाकिस्तान को छोड़ दिया जाए (जो लगभग २५ प्रतिशत के लिए उत्तरदायी है), भारत और शेष पाँच को एक साथ मिलाकर रखने पर अनुपात नौ और एक होगा।

विरोधाभासी सुरक्षा अवबोधन

सामाजिक-ऐतिहासिक कारणों से उद्भूत अविश्वासों से जुड़ी हुई इस सकल विसंगति से विरोधमूलक सुरक्षा दृष्टिकोणों में वृद्धि होती है। पाकिस्तान को छोड़कर, भारत को इस क्षेत्रा में किसी अन्य देश से कोई खतरा नहीं है। इसकी सुरक्षा को ख़तरा वस्तुत: क्षेत्रा से बाहर है और इस संदर्भ

में पाकिस्तान की चीन के साथ सम्बन्धों की सुसंगता सामने आती है। इस क्षेत्रा में दूसरों के लिए (भूटान जिसकी विदेश नीति कमोबेश भारत द्वारा दिशा निर्देशित है और मालदीव जो भारत की सहायता के बिना अपनी रक्षा के लिए स्वयं बहुत छोटा है जैसा कि १९८८ की सैनिक भिड़न्त से प्रकट हुआ, को छोड़कर) भारत स्वयं एक ख़तरा है जिसका केवल क्षेत्रा के बाहर गठजोड़ों से मुकाबला किया जा सकता है। क्षेत्रा के अवबोधन में यह द्विभाजन और तदनुरूप सुरक्षा सिद्धांत दक्षेस के लिए अच्छी भविष्यवाणी नहीं कर सकते। यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि तृतीय विश्व की एकता, गत समय में ऊपर से नीचे तक लगभग सभी पूर्वी-पाश्चात्य सीमाओं जैसे अफगानिस्तान और कम्पूचिया, सीमाओं पर नया अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक प्रबन्ध आदि, के प्रति वाग्मितापूर्ण वचनबद्धता को छोड़ने पर स्थिति भारत बनाम शेष क्षेत्रा के लिए अभिमुख है।

विविध राजनीतिक संस्कृति समस्या

क्षेत्रा की विविध राजनीतिक संस्कृति भी सहयोग के लिए अभिप्रेरक नहीं है। इस क्षेत्रा में प्रचलित शासकीय तंत्रों के दृष्टिकोण से चार प्रकार के प्रजातंत्रा (बांग्लादेश, भारत, नेपाल और श्रीलंका), एक सैनिक तानाशाही (पाकिस्तान), एक राजतंत्रा (भूटान) और एक दलीय राष्ट्रपति तंत्रा (मालदीव) हैं। राष्ट्र-धर्म सम्बन्धों के सवाल पर, भारत उसके हिन्दू बहुल होने और अभी तक अभूतपूर्व हिन्दू सेना का साक्षी होने के बावजूद धर्मनिरपेक्षता के लिए कायम है जबकि शेष छह स्वयं की इस प्रकार की घोषणा से बचना चाहते हैं। बांग्लादेश, मालदीव और पाकिस्तान में इस्लामी, भूटान और श्रीलंका में बौद्ध तथा नेपाल में हिन्दू हैं। भूमण्डलीय व्यवस्था के साथ जिसने गत समय में काफी बदलाव महसूस किए हैं, संरचनात्मक तालमेल के सम्बन्ध में, व्यापक तौर पर केवल दो वर्ग थे। प्रथम के पास जिसमें भारत को सम्मिलित किया गया था, एक पर्याप्त शक्तिशाली पूँजीवादी वर्ग था जिसने वर्ष दर वर्ष पूँजीवादी और समाजवादी तन्त्रा दोनों में आधिपत्य कायम किया था यद्यपि यह दोनों से स्वतंत्रा था। दूसरे वर्ग के पूँजीवादी तंत्रा और मध्य वर्ग विश्व के साथ गहरे संरचनात्मक सम्बन्ध थे, वहाँ व्यापक पैमाने पर चीनी मध्यस्थता (Comprador) थी। बांग्लादेश, मालदीव, पाकिस्तान और श्रीलंका इस वर्ग से जुड़े हुए थे। भूटान की अर्थव्यवस्था व्यापक तौर पर भारत-मूलक है। नेपाल की अर्थव्यवस्था भारत-मूलक तथा विकसित बाज़ार अर्थव्यवस्थाभिमुखी है।

इन व्यवस्थागत विविधताओं से विविध राष्ट्र निर्माण रणनीतियों का सूत्रापात हुआ जो एक-दूसरे के अभिलाभ में योगदान देने की बजाए एक-दूसरे के खर्चे पर फूल-फल रही थीं। उदाहरणार्थ, क्षेत्रा की प्रजातीय व्यवस्था इतनी जटिल है कि एक राष्ट्र द्वारा अपने अन्तर-प्रजातीय सम्बन्धों से निपटने में ज़रा-सी अकुशलता पड़ौसी राज्य को प्रभावित करता है। इस संदर्भ में, भारत ने एक से अधिक तरीकों से आघात सहा है। क्षेत्रा के मूल में अवस्थित होने के कारण, इसकी सीमाएँ दक्षेस के लगभग सभी देशों की सीमाओं को स्पर्श करती हैं जबकि किन्हीं अन्य दो सदस्यों की उभयनिष्ठ सीमा नहीं है। भारत, बहुप्रजातीय, बहुभाषीय और बहुधार्मिक समाज के रूप में, क्षेत्रा के अन्य देशों के साथ अपने प्रजातीय, भाषाई अथवा धार्मिक भाईचारे के कुछ सम्बन्ध बनाए रखता है जबकि किन्हीं अन्य दो देशों की अन्यान्य राष्ट्रीय प्रजातीय जनसंख्या नहीं है जिस पर भूटान और श्रीलंका के उल्लेखनीय अपवाद को छोड़कर, किसी भी निष्कर्ष के लिए पर्याप्त रूप से विचार किया जा सके। भारत इस समस्या की भारत-मूलकता से क्षेत्रा के प्रजातीय संघर्ष में फँस जाता है जिससे यह शायद ही मुक्त होता है। तथापि, इसी के साथ, भारत के पास सामरिक रियायतों का लाभ उठाने के लिए एक अक्खड़ पड़ौसी को दिग्भ्रमित करने का अवसर रहता है। यदि सिंहल-तमिल प्रजातीय संघर्ष में भारत की भूमिका न होती तो श्रीलंकाई सरकार जुलाई १९८७ के भारत-श्रीलंका समझौते में उल्लिखित प्रकार की वचनबद्धता नहीं कर पाती।

भारत-पाक संघर्ष

दक्षिण एशिया के 'असुरक्षा लक्षण' (यह शब्दावली स्टीफन पी. कोहन ने 'सिक्यूरिटी इश्यू इन साउथ एशिया' एशियन सर्वे, बर्कले, १९७५ में प्रयुक्त की थी) का मूल प्रश्न भारत और पाकिस्तान के बीच पारस्परिक संदेह है। जो कुछ भी कोहन द्वारा २५ वर्ष पहले लिखा गया था आज भी वैध

प्रतीत होता है। उन्होंने लिखा था, "दक्षिण एशियाई सुरक्षा व्यवस्था एक असुरक्षा व्यवस्था है, और प्रत्येक क्षेत्रीय सरकार के लिए व्यापारिक सौदेबाजी में असुरक्षा की कमी अन्तर्ग्रस्त होती है न कि सुरक्षा में वृद्धि। असुरक्षा भले ही यह आन्तरिक अव्यवस्था अथवा बाहरी संघर्ष के कारण हो, आजादी के २५ वर्ष बाद मानदण्ड बन चुकी है और कोई भी ईमानदारी से नहीं कह सकता है कि इस स्थिति में प्रत्याशित भविष्य में सुधार के लिए पूर्णरूपेण परिवर्तन होगा। सैनिक लालफीताशाही वहाँ भी राजनीतिक व्यवस्था का अतिक्रमित संघटक बन चुकी है जहाँ उन्होंने अभी सत्ता नहीं सँभाली है; उनके अनेक असैनिक गठबन्धन हैं जो शक्तिशाली हैं और बाहरी शक्तियों ने स्थिति में सुधार के लिए थोड़ा परन्तु बेशकीमती कार्य किया है।" यह समस्या जिसका राष्ट्रवादी आन्दोलन के दायरे में समाधान नहीं किया जा सका और जिसके कारण १९४७ में भारत का विभाजन हुआ, क्षेत्रा की स्थिरता के लिए एक ख़तरा बनी हुई है। क्षेत्रा के भीतर और बाहरी दखल ने इस मामले को और उलझा दिया है। भारत और पाकिस्तान ने तीन युद्ध लड़े हैं और सीमा पर कई टकराव हुए हैं। वर्तमान में वे कश्मीर के ऊपर शब्दों का युद्ध भी जारी रखे हुए हैं। भारत कश्मीरी लड़ाकों को पाकिस्तान के नैतिक और सामग्री समर्थन का अभियोग लगाता है जबकि पाकिस्तान भारत सरकार द्वारा कश्मीर में मानवाधिकार के हनन का अभियोग लगाता है।

मुख्य समस्या: अपेक्षित राजनीतिक विश्वास की कमी

ऊपर चर्चित समस्या का संचयी प्रभाव है दक्षेस को साहसी छलांग लगाने योग्य बनाने के लिए राजनीतिक विश्वास की कमी। यह संगठन 'द्विपक्षीय और विवादग्रस्त' मुद्दों से अलग रहकर स्वयं को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों जिन पर सम्बोधन की आवश्यकता है, पर विचार करने के अवसर से स्वयं को वंचित रखता है। एक-दूसरे पर विश्वास की यह कमी दूसरे क्षेत्रों में अपना प्रभाव छोड़ती है। उदाहरणार्थ, अन्तर्राज्यीय व्यापार आज भी बहुत छोटे स्तर पर है। भारत लगभग सभी दक्षिण एशियाई राष्ट्रों को औद्योगिक सामग्री और सेवाओं का एक सक्षम आपूर्तिकर्ता है परन्तु वे भारत की बजाए औद्योगिक पश्चिम, जापान और यहाँ तक कि चीन पर भी निर्भर रहने को प्राथमिकता देते हैं।

राजीव गाँधी के समय से ही भारत हमेशा एक दक्षिण एशियाई आम बाज़ार की जबर्दस्त वकालत करता रहा है। भारत में बड़ी संख्या में ऐसे संगठन और अकादमी संस्थाएँ हैं जो दक्षिण एशिया में क्षेत्रीय सहयोग और समेकन के कारणों की अविरल वकालत कर रहे हैं। इनमें जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय और गुटनिरपेक्ष और अन्य विकासशील देशों के लिए अनुसंधान और सूचना तंत्रा शामिल हैं। इन्होंने बहुत ही गहन और उपयोगी अध्ययन किया है तथा असहयोग से होने वाले नुकसान का भी आकलन किया है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के महेन्द्र पी लामा द्वारा किए गए अध्ययन से पता चला है कि पाकिस्तान ने भारत और अन्य दक्षिण एशियाई देशों से चाय का आयात न करके १९९५-९७ के दौरान ११ करोड़ डालर से अधिक की हानि उठाई ("दक्षिण एशिया में चाय क्षेत्रा को समेकित करके : न्यू अपर्चुनिटीज़ इन ग्लोबल मार्केट", साउथ एशियन सर्वे, दिल्ली जनवरी-जून २००१)। पाकिस्तान विश्व में चाय के विशालतम उपयोक्ताओं में से एक है। तथापि, यह चाय के अपने कुल १५ करोड़ किग्रा से अधिक का मुश्किल से १६ प्रतिशत दक्षिण एशिया से आयात करता है। इसका ६० प्रतिशत से अधिक चाय का आयात दूरस्थ केन्या से है जो कहीं अधिक लागत पर किया जाता है। यद्यपि ऐसा भारत के साथ कश्मीर समस्या है जो इस प्रकार के आयात प्रतिदर्श के पीछे मुख्य कारण है, यह वस्तुत: पाकिस्तान में स्थित बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के केन्या के चाय बागानों में व्यापक पैमाने पर स्वामित्व के कारण है।

संसाधन विकास की समस्या

एक अन्य क्षेत्रा जिसमें प्रगति नगण्य है, संसाधन विकास है। भारतीय उपमहाद्वीप में नदियों की व्यवस्था इस प्रकार है कि यदि इसे सम्पूर्ण क्षेत्रा को ध्यान में रखते हुए उचित रूप से प्रयोग किया जाए तो इससे विकास, सिंचाई, विद्युत निर्माण और पेयजल के संदर्भ में आश्चर्यजनक रूप से असर पड़ेगा। इसके अलावा यह यहाँ क्षेत्रीय चेतना राष्ट्रीय सुग्राह्यता का मार्ग प्रशस्त करती है। बी.जी.

वर्गीज की पुस्तक "वाटर्स ऑफ होप (नई दिल्ली) : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, १९९०" एक ऐसा दस्तावेज है जिससे पता चलता है कि इस सम्बन्ध में कितना कम किया गया है जबकि यहाँ बहुत कुछ किया जा सकता है। 'अन्तत:' वर्गीज लिखते हैं, "सीमाओं से फर्क नहीं पड़ता बल्कि जनता से अवश्य पड़ता है, दक्षेस का दर्शन शायद सर्वाधिक सहयोगी प्रयास में प्रतिबिम्बित है जिससे गंगा-ब्रह्मपुत्रा-बारक जल की क्षमता को उपभोग में लाया जा सकता है। ये आशा के सागर हैं।"

२४.५ दक्षेस के लिए प्रत्याशाएँ

पार्थ घोष ने अपनी पुस्तक कोऑपरेशन एंड कनलिक्ट इन साउथ एशिया (१९८९) में इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया कि यद्यपि दक्षेस का सूत्रापात कर दिया गया था, "राष्ट्रों के आन्तरिक विरोध संघों को क्षेत्रीय सहयोग का प्रभावी साधन बनाने के प्रति संघर्ष करेंगे।" उन्होंने अनेक व्यापक क्रमबद्ध विविधताओं का उल्लेख किया और महसूस किया कि जब तक उन्हें दूर नहीं किया जाएगा, दक्षेस का भविष्य फीका रहेगा। इन विविधताओं का उपरोक्त के प्रति हवाला दिया गया है जैसे, शासन के स्वरूप, राष्ट्र-धर्म अन्तर्क्रियाएँ, भूमण्डलीय व्यवस्था के प्रति ढाँचागत गठजोड़, राष्ट्र-निर्माण रणनीतियाँ इत्यादि। स्थिति में अधिक परिवर्तन हुआ प्रतीत नहीं होता है। भारत-पाक रिश्तों के संदर्भ में इसकी स्थिति और बिगड़ गई है।

क्षेत्र के अन्तर्निहित सकारात्मक मुद्दे

ऐतिहासिक संदर्भ, स्थलाकृतिक और जनसांख्यिकीय लक्षणों, प्राकृतिक संसाधन अक्षयनिधियों और सामाजिक-सांस्कृतिक लोकाचार के होते हुए दक्षिण एशिया सहयोग और समेकन की सर्वाधिक प्राकृतिक यूनिट बन सकता है। इस क्षेत्रा के साथ कुछ ऐसे अन्तर्निहित मुद्दे है जिन्हें अवश्यमेव ध्यान में रखा जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, क्षेत्रीय 'असुरक्षा संलक्षण' का संभवतया अधिकथन हुआ है। दक्षिण एशिया विश्व की न्यूनतम सैनिक शक्तिवाला क्षेत्रा है। यह क्षेत्रा जहाँ विश्व की २० प्रतिशत आबादी रहती है, विश्व के सैनिक व्यय के मात्रा एक प्रतिशत के लिए उत्तरदायी है। प्रतिस्पर्द्धात्मक आबादी वाले अन्य विकासशील क्षेत्रा (चीन को छोड़कर) भूमण्डलीय सैनिक व्यय का लगभग १५ प्रतिशत खर्च करते हैं।

यदि विकसित देशों से तुलना की जाए तो क्षेत्रा का रिकार्ड कहीं बेहतर है। विकसित विश्व जो यह घोषणा करने में गौरव मानता है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उसकी मिट्टी पर कोई युद्ध नहीं हुआ है, भूमण्डलीय सैनिक व्यय का ८० प्रतिशत करते हैं और विश्व के शस्त्रा व्यापार के लिए ९७ प्रतिशत तथा भूमंडलीय सैनिक शोध एवं विकास के ९७ प्रतिशत के लिए उत्तरदायी हैं। दक्षिण एशिया का वित्तीय रक्षा भार क्षेत्रा के सकल राष्ट्रीय उत्पाद का लगभग ३ प्रतिशत है जो लैटिन अमेरिका के उल्लेखनीय निम्नतर १.२ प्रतिशत से अधिक है परन्तु अफ्रीका के ३.२ प्रतिशत और एशिया के १०.९ प्रतिशत से कम है। यह समग्र विकासशील विश्व के ४.३ प्रतिशत से भी कम है।

दक्षेस के भविष्य के बारे में आशावादी हुए बिना, यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि इस संगठन ने क्षेत्रीय नेताओं को कुछ नियमित अन्तराल पर बैठक करने का अवसर देकर एक राजनीतिक फोरम मुहैया कराया है जिसमें उनके मतभेद या तो निपटा दिए गए हैं अथवा समाप्त हो चुके हैं। जुलाई १९८७ के भारत-श्रीलंकाई समझौते का उद्‌गम नवम्बर १९८६ बंगलौर में हुई द्वितीय दक्षेस शिखर वार्त्ता के दौरान भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गाँधी और श्रीलंका के राष्ट्रपति जूनियस जयवर्द्धने के बीच द्विपक्षीय वार्त्ता में निहित था। यह तर्क दिया गया कि दक्षेस के बिना भारत-पाक रिश्ते और अधिक बदतर हो गए होते।

अत्यधिक धीमी प्रगति के बावजूद, दक्षेस का एक उल्लेखनीय योगदान यह तथ्य रहा है कि यह शासकीय दक्षेस फोरम के बाहर सम्पूर्ण क्रियाकलापों पर काबू पाने में सक्षम रहा है। इस क्षेत्रा के आर-पार निजी क्षेत्रा में, ग़ैर-सरकारी संगठनों में इन क्रियाकलापों और सामुदायिक स्तर पर होने वाले क्रिया कलापों ने सभी प्रकार के राजनीतिक उतार-चढ़ाव देखे हैं। दक्षेस इतिहास कांग्रेस, दक्षेस

समाजशास्त्रीय कांग्रेस, शिशुविरोधी श्रम गठबंधन, व्यापारी फोरम, दक्षेस लेखक फोरम, मीडिया के लोगों और मानवाधिकार कार्यकर्ताओं और पेशेवरों के जिनमें अभियन्ता, वास्तुकलाविद, सनदी लेखाकार शामिल हैं, के परिणामस्वरूप अन्तर-राज्यीय बौद्धिक पर्यटन में एक शाश्वत वृद्धि हो रही है। दक्षेस की बाबूगीरी के बिना भी यह प्रक्रिया जारी है। वस्तुत:, क्रियाकलापों की समान्तर प्रक्रिया ने शासकीय प्रक्रिया को अपनी पकड़ में ले लिया है और दोनों प्रक्रियाएँ बराबरी पर आ गई हैं। ये वे क्रियाकलाप है जिनसे दक्षेस भविष्य में अच्छा कार्यस्थल बनेगा और प्रक्रिया यथावत् रहेगी।

यह दक्षिण एशियाई कार्यों के प्रबन्धन में ग़ैर-राष्ट्र कर्मियों की उभरती हुई सजीव और निर्णायक भूमिका पर भी बल देता है। एक तरीके से, विश्वास निर्माण उपायों (सीबीएम) के सम्पूर्ण प्रतिदर्श जिसके बारे में हमने गत समय में दक्षिण एशिया में सम्बोधन किया था, का पुनर्मूल्यांकन, पुन: अभिकल्पित तथा पुनर्निर्माण करना है। अभी तक हम दक्षिण एशिया में सैनिक राजनीतिक विश्वास निर्माण उपायों पर गहन रूप से निर्भर रहे हैं। तथापि, गत ५० वर्षों में कोई भी राजनीतिक अथवा सैनिक विश्वास निर्माण उपाय कायम नहीं हुआ है। क्षेत्रा में शान्ति और सहयोग चुनाव क्षेत्रा हमेशा सीमान्त पर रखा गया है। विश्वास निर्माण उपायों को अधिकांशत: केवल उनको बताया गया था जिन्होंने संघर्ष को कायम रखने के लिए गंभीर जोखिम उठाया है। सौभाग्यवश ये नकारात्मक जोखिम उठाने वाले हमेशा सूक्ष्म रूप से अल्पांश में रहे हैं।

इस प्रकार हमें भारत-पाकिस्तान संघर्षों के मामले में विशेष रूप से नए विश्वास निर्माण उपायों का निरूपण करने के बारे में विचार करना है। यह हमें आर्थिक विश्वास निर्माण उपायों – दक्षिण एशिया में विश्वास निर्माण उपाय और शान्ति स्थापना के उपाय के रूप में कारोबार तथा अन्य आर्थिक सहयोग (मार्ग III कूटनीति) के क्षेत्रा में ले जाता है। चूँकि संघर्ष को बनाए रखने में जोखिम उठाने वाले मौजूद हैं, शान्ति स्थापना के प्रति जोखिम उठाने वाले भी हैं। हमने कभी भी उत्तरवर्ती के प्रति स्वयमेव विचार नहीं किया है।

सतत आर्थिक सुधारों से उत्पन्न चुनौतियों ने प्रबल रूप से दक्षिण एशिया में राजनीतिक अर्थव्यवस्था को बदलना आरंभ कर दिया है। आर्थिक उदारीकरण राजनीतिक विशेषाधिकारों, अवरोधों को अधिकाधिक कमजोर करने के लिए अभिमुख हुआ है और शाब्दिक तौर पर दक्षिण एशिया को अन्तर्निहित शत्रुता वाली पुरानी सोच को बदलने के लिए मजबूर कर रहा है। क्षेत्रीय अवशेषों को आप्लावित करने वाले आन्तरिक संघ भेद का प्रभाव असहयोग की लागत में तीव्र वृद्धि से अधिक महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है। लोकनीति के विशेष संदर्भ और रूपात्मकता ने जिनका होना न पारदर्शी था न उत्तरदायी, अधिक उदारता और दृढ़ता दिखाई है।

इस पृष्ठभूमि के विरुद्ध, प्रमुख बड़े मुद्दे जैसे सम्पूर्ण क्षेत्रा में सामाजिक आर्थिक परिवर्तन से आर्थिक सुधारों का तालमेल, प्राकृतिक संसाधन, प्रौद्योगिकी और प्रबंधन पर विशिष्ट रुझान के साथ बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की भागीदारी के आधार को विस्तृत करना तथा अन्त: प्रवर्धी और बाह्य आघातों को झेलने के लिए योग्यता एवं क्षमता तथा सामूहिक पुनरुत्थान के प्रति आगे बढ़ना तीन मूलभूत चुनौतियाँ हैं। दक्षेस सहयोगियों की अवशोषी और युक्तिचालन क्षमता प्रत्येक क्षेत्रा के अभिगमों और उनके समेकन द्वारा व्यापक रूप से अवधारित की जाएगी। आई. पी. ए. इस क्षेत्रा में बहुमुखी विकास को भलीभाँति प्रवर्त्तित कर सकता है और इसीलिए सम्पूर्ण क्षेत्रा की क्षमताएँ इसके रणनीतिक उद्देश्य के प्रति गतिशील की जानी चाहिए।

दक्षिण एशियाई आर्थिक संघ

माले में १९९७ में आयोजित नौवीं दक्षेस शिखर वार्त्ता में दो क्षेत्रीय उच्चस्तरीय समितियों के प्रतिष्ठान को नामत: स्वतंत्रा विशेष ग्रुप को समेकित कार्रवाई योजना के कार्यचालन की जाँच करने तथा प्रतिष्ठित व्यक्तियों के ग्रुप को प्रमुखत: एक व्यापक दर्शन विकसित करने, संदर्श कार्रवाई योजना जिसमें वर्ष २००० और उसके आगे के लिए कार्यसूची शामिल हो, को तैयार करने तथा उन लक्ष्यों जिन्हें वर्ष २००० तक प्राप्त किया जा सकता है और प्राप्त किया जाना चाहिए, का विश्लेषण करने के लिए निर्देश दिया गया। स्वतंत्रा विशेषज्ञ ग्रुप (IEG) ने दक्षेस के सम्पूर्ण कार्यक्रम का बड़े पैमाने

पर पुनरीक्षण और पुनर्निर्माण करने की संस्तुति की। परिणामस्वरूप, एस. आई. पी. ए. के अधीन क्रियाकलापों के क्षेत्रा मूल ग्यारह से घटकर पाँच रह गए जिनमें ऊर्जा और पर्यावरण भी शामिल थे। दूसरी तरफ, प्रतिष्ठित व्यक्तियों के ग्रुप ने एक बहुत व्यापक और सुस्पष्ट सड़क मार्ग का नक्शा मुहैया कराया। प्रतिष्ठित व्यक्तियों के ग्रुप ने सिफारिश की कि क्षेत्रीय आर्थिक एकता आवश्यक है और समयबद्ध योजना का सुझाव दिया जिसमें वर्ष १९९९ तक ऐसी दक्षिण एशियाई मुक्त व्यापार क्षेत्रा संधि पर बातचीत करना शामिल है जिसका उसके तुरंत बाद कार्यान्वयन तथा दक्षेस सदस्यों के लिए यह २००८ तक तथा दक्षेस लिपिक वर्ग के लिए २०१० तक बढ़ाया जाए।

यह २०१५ तक दक्षेस सीमा शुल्क संघ तथा २०२० तक दक्षेस आर्थिक संघ का भी निर्धारण करता है। इसमें सामाजिक रणक्षेत्रा में दूरगामी सिफारिशें भी की गईं जो ग़रीबी उन्मूलन, महिलाओं के सशक्तीकरण और महिलाओं और बच्चों के अवैध व्यापार पर हैं।

इस्लामाबाद में आयोजित बारहवीं दक्षिण शिखर वार्त्ता में भारत और पाकिस्तान के बीच द्विपक्षीय सम्बन्धों में उल्लेखनीय सुधार की भी चर्चा की गई। इसमें दक्षिण एशियाई आर्थिक संघ के गठन के लिए काठमाण्डु में ग्यारहवीं शिखर वार्त्ता में की गई वचनबद्धता को दुहराया गया। तदनुसार, शिखर वार्त्ता में समेकन प्रक्रिया के प्रथम चरण की ओर बढ़ने अर्थात् २००६ तक दक्षिण एशियाई मुक्त व्यापार क्षेत्रा के प्रचालन का निर्णय किया गया।

बोध प्रश्न ३

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर इकाई-अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाएँ।

१) ऐसी कौन सी समस्याएँ हैं जो दक्षिण एशिया में क्षेत्रीय सहयोग के मजबूत करने के रास्ते में आड़े आई हैं?

....

....

....

....

....

२) कौन-से घटक भविष्य में दक्षेस के लिए शुभ शकुन प्रकट करते हैं?

....

....

....

....

....

२४.६ सारांश

दक्षेस (दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ) दक्षिण एशिया में क्षेत्रीय सहयोग की प्रथम प्रमुख सजीव अभिव्यक्ति है। इसमें सात राष्ट्र शामिल हैं – बांग्लादेश, भूटान, भारत, मालदीव, नेपाल, पाकिस्तान और श्रीलंका। १९८५ से आरंभ होकर अब तक ग्यारह दक्षेस शिखर वार्ताएँ हो चुकी हैं। नामतः

ढाका, बंगलौर, इस्लामाबाद, माले, कोलम्बो, ढाका, नई दिल्ली, माले, कोलम्बो और काठमाण्डु; बारहवीं इस्लामाबाद में होनी है। यह संगठन कतिपय अन्तर्निहित विरोधों, विरोधाभासी सुरक्षा संदर्श, विविध राजनीतिक संस्कृतियों और अपेक्षित राजनीतिक संकल्प की कमी के कारण समस्याओं को झेल रहा है। भारत की प्रबल स्थिति भी एक समस्या है। तथापि, इस क्षेत्रा में कतिपय अन्तर्निहित सकारात्मक मुद्दे हैं जो दक्षेस देशों द्वारा बेहतर कल के निर्माण को आशाजनक रूप से सहज बनाएँगे।

२४.७ कुछ उपयोगी पुस्तकें

अगवानी, एम.एस., (संपादकीय) १९८३, *साउथ एशिया: स्टेबिलिटी एण्ड रीज़नल कोऑपरेशन* (चण्डीगढ़: सीआरआरआईडी)।

घोष, पार्थ, एस., १९८९, *कोऑपरेशन एण्ड कान्लिक्ट इन साउथ एशिया,* नई दिल्ली।

गोनसाल्वेस, ऐरिक एण्ड नेन्सी जेटली, १९९९, *दि डायनामिक्स ऑफ साउथ एशिया: रीजनल कोऑपरेशन एण्ड सार्क,* सेज।

लामा, महेन्द्र पी, (संपादकीय), १९९०, *इकोनॉमिक कोऑपरेशन इन द सार्क रीजन: पोटेन्शियल, कान्स्ट्रेन्ट्स एण्ड पोलिटिक्स,* इण्टरेस्ट पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

लामा, महेन्द्र पी, (सं.), २००१, *साउथ एशियन ग्रोथ क्वाड्रेंगल: एमरजिंग ऑपर्च्यूनिटीज़ फॉर इकोनोमिक पार्टनरशिप,* फिक्की, नई दिल्ली।

मुनि एस.डी., एण्ड अनुराधा मुनि, १९८४, *रीज़नल कोऑपरेशन इन साउथ एशिया,* नई दिल्ली।

सेन गुप्ता, भवानी, १९८८, *साउथ एशियन परस्पेक्टिव्स: सेवन नेशन्स इन कान्लिक्ट एण्ड कोऑपरेशन,* दिल्ली।

गुट निरपेक्ष और विकासशील देशों के लिए शोध एवं सूचना तंत्रा (रिसर्च एण्ड इनफोरमेशन सिस्टम फॉर द नन-एलाइण्ड एण्ड डपलॅपिंग कण्ट्रीज़), २००४ *साउथ एशिया: डवलॅपमेण्ट कोऑपरेशन रिपोर्ट २००३/०४,* नई दिल्ली।

साण्ड, रिक, (सं.), *इकोनॉमिक लिबरलाइज़ेशन इन साउथ एशिया,* मेकमिलन, दिल्ली।

२४.८ बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न १

१) आपके उत्तर में निम्न मुद्दे होंगे: १९४७ से क्षेत्रीय संगठन बनाए जाने के लिए सतत प्रयास, उत्तर-दक्षिण वार्तालाप की विफलता, तेल मूल्यों में वृद्धि, क्षेत्रा के नेताओं की बोधगम्यता में परिवर्तन।

२) दक्षेस की चार-चरण वाली संरचना के शीर्ष पर राष्ट्राध्यक्षों की वार्षिक शिखर वार्ता है। इसके नीचे विदेश मंत्रियों का सम्मेलन, विदेश सचिवों की स्थायी समिति और विशेषज्ञों तथा कर्मचारियों की तकनीकी समितियाँ हैं।

बोध प्रश्न २

१) शिखर वार्ता ने अपनी प्रस्तावना में ''बलों का प्रयोग नहीं'' और ''सभी विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान'' शब्दावलियों को यथास्थिति रखा है।

बोध प्रश्न ३

१) सदस्य राष्ट्रों की विविध राजनीतिक संस्कृतियाँ, सामान्यतः विरोधाभासी सुरक्षा संदर्श और विशेषतया भारत-पाकिस्तान संघर्ष, राजनीतिक दबाव की कमी आदि।

२) दक्षेस की महान् प्रत्याशाएँ हैं: क्षेत्रा न्यूनतम सैनिक सम्पन्न रहे; क्षेत्रा का एक सर्वनिष्ठ इतिहास और संस्कृति हो; मध्यम वर्ग का कुल मिलाकर, समान दृष्टिकोण हो।

इकाई २५ दक्षिण एशियाई सुरक्षा

इकाई की रूपरेखा

२५.० उद्देश्य

२५.१ प्रस्तावना

२५.२ दक्षिण एशियाई सुरक्षा

२५.२.१ राजनीतिक गत्यात्मकता और अन्तर-राज्यीय संघर्ष

२५.२.२ भारत-केन्द्रिकता

२५.२.३ असममिति

२५.३ दक्षिण एशिया का नाभिकीकरण

२५.४ ग़ैर-परम्परागत सुरक्षा

२५.४.१ पर्यावरणीय मुद्दे

२५.५ क्षेत्राीय सहयोग के प्रति

२५.६ सारांश

२५.७ कुछ उपयोगी पुस्तकें

२५.८ बोध प्रश्नों के उत्तर

२५.० उद्देश्य

इस इकाई में, दक्षिण एशियाई क्षेत्रा में संघर्ष के स्रोतों पर चर्चा की गई है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्न लिखित बातें जान पाएँगे:

- दक्षिण एशिया की सुरक्षा गतिशीलता से परिचय;
- संघर्ष के स्रोतों की पहचान;
- दक्षिण एशिया में नाभिकीय घटक के प्रभाव की विस्तृत जानकारी;
- ग़ैर-परम्परागत सुरक्षा की परिभाषा;
- सुरक्षा पर पर्यावरणीय मुद्दों द्वारा अतिक्रमण का विश्लेषण; तथा
- दक्षिण एशिया क्षेत्रा की सुरक्षा की भावी प्रत्याशाओं का विश्लेषण।

२५.१ प्रस्तावना

दक्षिण एशिया तृतीय विश्व का निचोड़ है तथा अर्थशास्त्रा, वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय स्तरों एवं विकासोन्मुख घटकों में प्रतिष्ठित भिन्नता वाली सान्निध्य समस्याएँ, परिसम्पत्तियाँ और संस्कृति इसके अधिकार में है। अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों की संकल्पनाओं, विचारधारा एवं दर्शन तथा परिकल्पना में, दक्षिण एशियाई उपमहाद्वीप उन आयामों के साथ अन्तर्क्रिया करता है जो विकसित उत्तर विश्व में सामान्य नहीं है। यह इकाई क्षेत्रा में सुरक्षा गतिविज्ञान पर मात्रा सैनिक परिप्रेक्ष्य में ही नहीं अपितु राजनीतिक, आर्थिक और पर्यावरणीय सुरक्षा पर भी केन्द्रित है।

पारम्परिक तौर पर, सुरक्षा राज्यों की क्षेत्रीय एकता, राजनीतिक स्वतंत्राता और संप्रभुता के संरक्षण के संदर्भ में संकल्पित है। शीत युद्ध के बाद की अवधि में, यह उत्तरोत्तर महसूस किया जा रहा

है कि सुरक्षा की यह संकल्पना उन मुद्दों पर चर्चा करने में विफल रहती है जो समय के दो प्रमुख सोपानों – बढ़ते हुए भूमण्डलीकरण और त्वरित विघटन से उद्भूत होते हैं। दोनों ऐसी प्रवृत्तियाँ है जिन पर काबू पाने के लिए राष्ट्र-राज्य विशेषतया उपयुक्त नहीं है। यह इस संदर्भ में है कि सुरक्षा निदर्शन को मात्रा राज्य पर ही नहीं अपितु समूहों और उनके हितों पर भी ध्यान केन्द्रित करने के लिए गहनता प्रदान की गई थी। सुरक्षा धारणा को व्यापक बनाया गया जिससे उसमें मात्रा सेना ही नहीं अपितु राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक आयामों को भी शामिल किया जा सके। ये नये आयाम सामान्यत: ग़ैर-परम्परागत प्रतिष्ठानों के रूप में वर्गीकृत किए जाते हैं। इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य दक्षिण एशियाई सुरक्षा के गति विज्ञान का विश्लेषण करना है जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ दक्षिण एशियाई सुरक्षा से संबंधित विभिन्न पहलुओं पर चर्चा शामिल होगी। पहले हम दक्षिण क्षेत्रा के उन व्यापक लक्षणों की जाँच करेंगे जो सुरक्षा को प्रभावित करते हैं तत्पश्चात् सुरक्षा के परम्परागत और ग़ैर परम्परागत आयामों की जाँच के लिए आगे बढ़ेंगे।

२५.२ दक्षिण एशियाई सुरक्षा

भौगोलिक रूप से, दक्षिण एशिया पर्वतों की महान् शृंखला – उत्तर में हिमालय, काराकोरम, हिन्दूकुश तथा दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में हिन्द महासागर से घिरी हुई एक प्राकृतिक रणनीतिक इकाई है। ऐतिहासिक रूप से, आदिकाल से इस क्षेत्रा के लोग जाति, संस्कृति, धर्म और कभी-कभी राजनीतिक निष्ठा द्वारा निकटता से जुड़े हुए हैं।

दक्षिण एशिया में राजनीतिक सीमाएँ स्थिर नहीं हैं। साम्राज्यों का उत्थान और पतन हुआ है। राजनीतिक सत्ता के विभिन्न केन्द्र रहे हैं यद्यपि दिल्ली का साम्राज्यवादी राजधानी होने का सर्वाधिक लम्बा इतिहास है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश साम्राज्य ने मात्रा दक्षिण एशिया क्षेत्रा पर ही अधिकार नहीं किया अपितु कुछ उन क्षेत्राों पर भी कब्जा किया जो आजकल पश्चिम और दक्षिण-पूर्व एशिया क्षेत्राों का अंग हैं। यही वह अवधि थी जब सांस्कृतिक जनसमुदाय के ऊपर राजनीतिक सीमाएँ खींची गई थी। इस क्षेत्रा के सात देशों की क्षेत्राीय सीमाएँ इस प्रकार उपनिवेशी रचनाएँ हैं।

दक्षिण एशिया के पटल पर सर्वाधिक सुस्पष्ट आकृति भारत की है जो क्षेत्रा में एक यथार्थ सत्तापुंज है। आकार, जनसंख्या, प्राकृतिक संसाधन, आर्थिक विकास के स्तर, शिक्षा के मानक, वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय प्रगति, सकल राष्ट्रीय उत्पाद और लोकतांत्रिाक राजनीतिक संस्थानों के विकास में, भारत एक प्रासंगिक विशाल देश है।

अत: सापेक्ष अर्थों में, भारत, चीन को छोड़कर, छोटे-छोटे देशों से घिरा हुआ एक विशाल देश है। इसके अतिरिक्त, भूगोल और इतिहास दोनों के परिणामस्वरूप, दक्षिण एशिया का प्रत्येक देश भारत से निकट से जुड़ा हुआ है। वही प्रजातीय और धार्मिक समूह जिनसे उनके लोग संबंद्ध है, भारत में भी पाए जाते हैं जो एक विशाल तथा विषमांगी देश है। सामाजिक संगठन और पर्यावरण प्रबंधन की शैलियाँ प्रत्येक दक्षिण एशियाई देश और भारत में उसके आसन्न हिस्से के बीच एक जैसी हैं; उदाहरणार्थ, नागालैण्ड और उत्तरी बर्मा, पश्चिम बंगाल और बांग्लादेश, तमिलनाडु और श्रीलंका के मध्य। औपचारिक सीमाओं में वस्तुत: सांस्कृतिक अतिव्याप्ति नहीं है। भारत और इसके सभी दक्षिण एशियाई पड़ोसियों के बीच सीमाओं के पार, वैवाहिक गठबन्धन, पारिवारिक रिश्ते तथा सामाजिक सम्बन्ध हैं। बेहतर हो अथवा बदतर, लोगों, संस्कृतियों और धर्मों का इस प्रकार का पारस्परिक मिश्रण दक्षिण एशिया में अन्तर-राज्यीय संबंधों को एक पारिवारिक गुणवत्ता प्रदान करता है। यह यूरोप सहित अन्य भौगोलिक क्षेत्राों के विपरीत है।

परिवार प्राय: अन्तर्प्रजातीय प्रतिद्वंद्विता और पारिवारिक सदस्यों की पहचान समस्याओं के कारण विघटित हो रहे हैं; ऐसा दक्षिण एशिया में भी है। अपने जटिल कारणों और दु:खद परिणामों वाली अन्तर्प्रजातीय प्रतिद्वंद्विता भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश द्वारा एक-दूसरे के प्रति अपनाई गई कई

सार्वजनिक अवस्थितियों का चरित्रा-चित्राण करती है जिनकी सहभागी राजनीतिक निष्ठा का सर्वाधिक लम्बा इतिहास है। एक बड़ी सीमा तक बांग्लादेश, पाकिस्तान और भारत के संभ्रान्त शासक अन्तर्प्रजातीय प्रतिद्वंद्विता में समरूप है। वे प्रथम ब्रिटिश उपनिवेशवादियों द्वारा तथा तत्पश्चात् साम्राज्यवादी प्रतिस्थानियों, नई महाशक्तियों, द्वारा जरा सी सहानुभूति और मुट्ठीभर मौलिक पुरस्कारों के लिए प्रतिद्वन्द्वी बने जिससे उनके पारस्परिक सम्बन्धों को नुकसान पहुँचा।

विविध प्रजातीय और विविध-धार्मिक समाजों वाले क्षेत्रा में संघर्ष के स्रोत व्यापक तौर पर विविध हैं, उन्हें उपनिवेशी सम्प्रदायों, विशेष रूप से, सामान्य सांस्कृतिक जनसमुदाय एवं आर्थिक क्षेत्रा पर राजनीतिक सीमांकन तथा इन उपनिवेशवाद के अनुवर्त्ती चरण में राजनीतिक गति-विज्ञान तक तलाश किया जा सकता है। क्षेत्रा के दो भू-राजनीतिक लक्षण, भारत केन्द्रिकता तथा राज्यों के बीच सत्ता और संसाधनों की असममिति, क्षेत्रा में सुरक्षा गति-विज्ञान को मूर्त्त रूप देने में अपनी निजी भूमिका निभाते हैं।

२५.२.१ राजनीतिक गत्यात्मकता और अन्तरराज्यीय संघर्ष

दक्षिण एशिया क्षेत्रा में, ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने मात्रा एक एकताकारी बल के रूप में ही कार्य नहीं किया अपितु ऐसे बल के रूप में भी कार्य किया जिसने विसंगति और विभाजन को जन्म दिया। जहाँ इसने दक्षिण एशियाई देशों को एक सामान्य उपनिवेशी व्यवस्था में शामिल किया, वहीं उपनिवेशवाद ने झगड़े के अनेक बीच बो दिए जो आज भी दक्षिण एशिया में अंतर-राज्यीय संबंधों को क्षति पहुँचा रहे हैं। भारत और पाकिस्तान के बीच दो राष्ट्र सिद्धांत पर तथा श्रीलंका और भारत के बीच तमिल बागवानी कर्मचारियों की राष्ट्रीयता को लेकर मतभेद दक्षिण एशियाई राज्यों के बीच विसम्मतियों के मात्रा दो विशिष्ट उदाहरण हैं जिनका मूल ब्रिटिश (कु)शासन की देन है। ब्रिटिश शासन की अन्तिम तीव्रगतिक वापसी तथा क्षेत्रा के दो प्रमुख देशों के संभ्रान्त शासकों के बीच उत्पन्न भावी कडुवाहट ने परम्परागत पूरकता और संसक्ति को बुरी तरह विघटित किया।

उपनिवेशवाद के अनुवर्ती चरण में, क्षेत्रा के देशों में राजनीतिक गत्यात्मकता राष्ट्रवादी बलों के विकास, सामाजिक-सांस्कृतिक ढाँचे और वंशानुगत आर्थिक संरचनाओं में मतभेद के कारण, भिन्न-भिन्न हैं। भारत और श्रीलंका में राजनीति सामान्यत: स्थिर रही और सुगमता से विकास हुआ। क्षेत्रा के दूसरे देश एक लोकतांत्रिक विरूपीकरण और विद्रोह के साक्षी हैं। पाकिस्तान, नेपाल और बांग्लादेश क्रमश: १९५८, १९६० और १९७५ में लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं के अपक्षरण तथा सत्तावादी सरकारों के कायम होने के साक्षी बने। भूटान में हमेशा राजतंत्रा बना रहा यद्यपि अब वहाँ लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं के आरंभ होने के संकेत मिल रहे हैं। १९९०वें दशक के आरंभ में इन सभी देशों में, लोकतांत्रिक विद्रोह हुआ, परन्तु पाकिस्तान और नेपाल में प्रतिगमनकारी बल पुन: सत्तारूढ़ हैं।

जहाँ ऐसा राजनीतिक अपसरण क्षेत्रीय सहयोग को मजबूत करने में बाधाओं के रूप में कार्य करता है, वहीं विगत हाल में, दक्षिण एशियाई देशों में कट्टरपंथी बलों के प्रादुर्भाव से अंतत: राज्य और अन्तर-राज्यीय संबंध दूषित हो रहे हैं। यथार्थत: उन घटकों की पहचान करना मुश्किल है जिनके कारण सत्तावादी और कट्टरपंथी बलों का उद्भव हुआ। परन्तु आपको देखना चाहिए कि सत्तावादी बलों (जैसे पाकिस्तान, नेपाल, बांग्लादेश और भूटान में) द्वारा वैधता की तलाश तथा लोकतांत्रिक सत्ता (जैसे भारत और श्रीलंका में) के विविध प्रजातीय और विविध धार्मिक समाजों में कट्टरपंथी बलों के उत्थान से अल्पसंख्यकों का बहिष्कार हुआ है जिसके परिणामस्वरूप प्रजातीय और अलगाववादी आन्दोलनों का उद्भव हुआ। श्रीलंका में, १९८०वें दशक के आरंभ से तमिल बगावत जिसने श्रीलंकाई एकता और समेकन को अवरुद्ध किया है, राजनीतिक तंत्रा में सिंहलियों के प्रजातीय समेकन की राजनीति से पैदा हुई। पाकिस्तान में, बांग्लादेश का पृथकीकरण इस्लामी राज्य के शिंकजे में फँसी पंजाबी प्रजातीयता के आधिपत्य का नतीजा था। इसी प्रकर, उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रान्त, बलूचिस्तान और सिन्ध में पदावनति का बोध तथा शिया एवं सुन्नी कट्टरपंथी संघर्ष का उदय अति केन्द्रीकरण और कट्टरपंथ द्वारा प्रभावित अन्यताभाव का परिणाम हैं। बांग्लादेश में, चकमा आन्दोलन बंगाली और इस्लामी दावों की प्रतिक्रिया है। नेपाल में, १९९०वें दशक के अन्त में माओवादी विद्रोह

का तराई आन्दोलन क्रमश: पहाड़ी जनता के आधिपत्य के प्रति और हिन्दू राज्य के प्रति विद्रोह का प्रतीक है। भारत में, पूर्वोत्तर में आन्दोलन और प्रजातीय विप्लव इसके सामाजिक रूप से भिन्न समूहों के समेकन में एक निरपेक्ष राज्य की विफलता का स्पष्ट प्रमाण है।

सुस्पष्टत: राष्ट्र-निर्माण प्रक्रिया इस क्षेत्रा में अभी भी एक अपूर्ण कार्य है। क्षेत्रा के लगभग सभी देश, राजनीतिक विभाजन से आशंकित हैं। क्षेत्रा में प्रजातीय और धार्मिक अतिव्याप्ति के कारण, एक देश में धार्मिक और भाषाई संघर्ष निरपवाद रूप से क्षेत्रा के दूसरे देश पर प्रभाव डालते हैं। आसन्न और मुक्त सीमाओं से सीमाओं के पार लोगों, सामान और विचारों का सुगम प्रवाह होता है जिससे आर्थिक और राजनीतिक रिश्तों में बाधा आती है। अधिकांश आंतरिक सुरक्षा संकट जो दक्षिण एशिया को क्षति पहुँचाते हैं, एक सीमा-पार आयाम से गुजरते हैं और अंतर्सबद्ध है। चाहे यह नेपाल में माओवादी विद्रोह हो, श्रीलंका में, चिरस्थायी प्रजातीय समस्या हो, इस्लामी अतिवादियों द्वारा बांग्लादेशी क्षेत्रा के उपयोग में वृद्धि हो, लघु अस्त्रों का फैलाव हो, अथवा नशीली दवाओं के अवैध व्यापार की आशंका हो तथा नार्को-आतंकवाद हो, प्रत्येक स्थिति में महत्त्वपूर्ण सीमा पार के राष्ट्रीय आयाम मौजूद हैं। क्षेत्रा में राज्य प्राय: एक-दूसरे पर परोक्ष रूप से अथवा प्रत्यक्ष रूप से अलगाववादी तथा विद्रोही आन्दोलनों का समर्थन करने का आरोप लगाते हैं।

२५.२.२ भारत-केन्द्रिकता

यद्यपि किसी भी दक्षिण एशियाई देश की सीमाएँ एक-दूसरे के साथ सहभाजित नहीं हैं, भले ही भारत से जुड़ी हैं अथवा गुजरती हैं, भौगोलिक रूप से यह क्षेत्रा स्वरूप में भारत-केन्द्रिक है। इसका एक परिणाम यह है कि भारत की अन्त:क्षेत्रीय अन्तर्क्रियाएँ सहज रूप से द्विपक्षीय हैं। भारत अपने पड़ोसियों के साथ-अन्तर्क्रियाओं से बच नहीं सकता, जबकि इसके किसी भी पड़ोसी के लिए भारत के अलावा अन्य दक्षिण एशियाई देश के साथ अन्तर्क्रिया करने की वैसी बाध्यता नहीं है। अत: यह आश्चर्यजनक नहीं है कि क्षेत्रा की अन्तरराज्यीय समस्याओं में भारत प्रमुखता से उभरता है।

२५.२.३ असममिति

आकार, जनसंख्या, ऊर्जा और संसाधनों में भारत और दक्षिण एशिया के शेष देशों के बीच असममिति क्षेत्रा का एक अन्य लक्षण है जो क्षेत्रा में अन्तरराज्यीय संबंधों पर प्रभाव डालता है। क्षेत्रा में भारत के वर्चस्व का अपने छोटे पड़ोसियों पर भयकारी प्रभाव रहा है। भारत के पड़ोसी भारत को प्राय: बड़े भाई के रूप में मानते हैं और उससे क्षेत्रा में अपने भौतिक वर्चस्व को राजनीतिक और आर्थिक वर्चस्व में रूपान्तर की माँग करते हैं। उन्होंने भारतीय कार्यवाहियों के उद्देश्यों पर अक्सर चिन्ता व्यक्त की है। यद्यपि भारतीय फौज ने श्रीलंका में (१९७१ एवं पुन: १९८७-८९ में), बांग्लादेश में (१९७१ में) और मालदीव में (१९८९ में) हस्तक्षेप किया था तथा अपना मिशन पूरा होने के बाद वापस आ गई थी। ये हस्तक्षेप पड़ोसी देशों द्वारा हितकर माने गए थे और अन्य अवसरों पर शत्रातापूर्ण करार दिए गए। 'शत्रातापूर्ण हस्तक्षेपों' ने भारतीय वर्चस्व को प्रेत की संज्ञा दी है परन्तु 'हितकर हस्तक्षेपों' का शासन सुरक्षा का सहायक होने के कारण स्वागत किया गया है। एक बार भारत, अपनी तरफ से, पड़ोसियों द्वारा ऋणग्रस्त बनाए जाने के लिए उनकी संभव गुटबंदी से चिन्तित था कि कहीं वे उसकी क्षेत्रीय उत्कृष्टता को दुर्बल न कर दें। क्षेत्रा में असममिति से उद्भूत इस प्रकार के संदेह और आशंकाएँ भी क्षेत्रीय सहयोग को मजबूत करने में बाधा बनकर रही हैं। क्षेत्रा के छोटे देशों को आशंका रहती है कि द्विपक्षीय एवं क्षेत्रीय दोनों आर्थिक विनियोजनों में, भारत की विशाल और मजबूत अर्थव्यवस्था को उनकी कीमत पर अधिक लाभ मिलेगा।

इस क्षेत्रा में भारत के वर्चस्व और केन्द्रीयता का महत्त्वपूर्ण परिणाम सामरिक लक्ष्यों की प्राप्ति के अनुसरण में मतभेद होता है। जहाँ भारत अपनी सुरक्षा के बारे में उप-महाद्वीपीय पहुँच रखता है वहीं उसके पड़ोसी अपेक्षाकृत अधिक सीमित नजरिए अपनाते हैं जो उनके दक्षिण एशिया क्षेत्रा के सदस्यों के रूप में अवबोधन की बजाए उनके स्थानीय विचारों से प्रभावित होते हैं। भारतीय सुरक्षा चिन्तन मात्रा क्षेत्रा में संघर्षों तक ही सीमित नहीं अपितु मध्य एशिया, हिन्द महासागर में घटनाओं और बदलते हुए विश्व पर्यावरण से जुड़ा हुआ है। भारत ने अपनी गुट निरपेक्ष नीति के अनुरूप स्वतंत्रा

भूमिका निभाने, शीत युद्ध गठजोड़ों में शामिल न होने तथा इस क्षेत्रा में बाहरी शक्तियों की भूमिका न्यूनतम करने की माँग की है। दूसरी तरफ, इसके पड़ोसियों ने अतिरिक्त क्षेत्राीय शक्तियों का प्रादुर्भाव करके भारत के क्षेत्राीय वर्चस्व के प्रति संतुलन की माँग की है। भारत अपने पड़ोसियों के सुरक्षा चिन्तन में प्रमुख रूप से उभरता है। भारत के साथ संघर्ष ने पाकिस्तान में सुरक्षा बहस को पूरी तरह निर्देशित किया है। श्रीलंका में सुरक्षा बहस उसकी तमिल समस्या और उत्तर में भारतीय मौजूदगी से निर्धारित की गई है। नेपाल में सुरक्षा चिन्तन उसकी दक्षिणी और उत्तरी सीमाओं पर भारत और चीन का संतुलन बनाने के उसके प्रयासों तथा उसके और भारत के बीच सभ्यतामूलक समानताओं से उसकी पहचान को निरन्तर खतरे के आस-पास केन्द्रित रहता है।

भारत को अधिकाधिक निरुत्साहित करने के लिए, बाहरी शक्तियों ने इस क्षेत्रा में और इसके चहुँगिर्द अपने विशिष्ट हितों को प्रोन्नत करने के लिए क्षेत्राीय रणनीतिक विसंवादिता का अक्सर अनुचित लाभ उठाया है। जहाँ संयुक्त राज्य ने १९५०वें दशक के आरंभ से भारत-पाक मतभेदों का लाभ उठाया है, वहीं चीन ने १९६२ में पर्वतीय राजधानी में राजा महेन्द्र द्वारा लोकतंत्रा की बर्खास्तगी के परिणामस्वरूप उत्पन्न भारत-नेपाल तनाव का लाभ उठाया। शीतयुद्ध के बाद की अवधि में विभिन्न प्रकार के विवादपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय रणनीतिक हितों के बेतरतीब प्रादुर्भाव से क्षेत्राीय तनावों को बढ़ावा मिला। संयुक्त राज्य में ११ सितम्बर को आतंकवादी हमले से, अन्तरराष्ट्रीय समुदाय का ध्यान इस क्षेत्रा और अफगानिस्तान की ओर चला गया है। संयुक्त राज्य ने अन्तरराष्ट्रीय आतंकवाद के विरुद्ध अपने अभियान में पाकिस्तान को एक सहयोगी के रूप में नियुक्त किया। ओसामा बिन लादेन को पकड़ने और उसके अलकायदा नेटवर्क को ध्वस्त करने के लिए संयुक्त राज्य के प्रयासों में पाकिस्तान के 'एक फ्रण्टलाइन राज्य' के रूप में प्रादुर्भाव के बावजूद, पाकिस्तानी राज्य, अपनी बाह्य खुफिया एजेंसी, द इण्टर सर्विसेज इण्टेलीजेंस (ISI) के माध्यम से जम्मू एवं कश्मीर राज्य और भारत के अन्य हिस्सों में सक्रिय आतंकवादी संगठनों को सहायना करने की अपनी नीति पर कार्य करता रहा।

उन घटकों में जिन्होंने १९८०वें दशक से दक्षिण एशिया में सुरक्षा संबंधों को मूर्त्त रूप दिया, एक मुद्दा नाभिकीय मुद्दा है। क्षेत्रा की सुरक्षा गत्यात्मकता में नाभिकीय घटक १९८०वें दशक में परोक्ष रूप से तथा १९९०वें दशक के अन्त में प्रत्यक्ष रूप से उद्भूत हुआ।

२५.३ दक्षिण एशिया का नाभिकीकरण

भारत पाकिस्तान संबंध आरंभ से ही मैत्राीपूर्ण नहीं रहे हैं क्योंकि वे विभाजन, संदेह, आशंका और असुरक्षा के इतिहास में उद्भूत हुए। वे अभी भी तनावपूर्ण हैं क्योंकि दोनों के बीच प्रमुख समस्याएँ – कश्मीर समस्या, कश्मीर में आतंकवाद को प्रोत्साहित करने में पाकिस्तान की अन्तर्ग्रस्तता, सियाचीन हिमखण्ड आदि सभी समाधान रहित हैं।

यह इस संदर्भ में है कि नाभिकीय मुद्दे ने दक्षिण एशियाई सुरक्षा का अतिक्रमण करना आरंभ किया। जहाँ भारत ने १९७०वें दशक के मध्य के प्रारंभ में, जब इसने शान्तिपूर्ण परमाणु विस्फोट किया, नाभिकीय क्षमता का प्रदर्शन किया, इसने नाभिकीय संदिग्धता को बनाए रखने को प्राथमिकता दी। सर्वाधिक अनुमानों के अनुसार, पाकिस्तान ने नाभिकीय क्षमताएँ १९८०वें दशक के बाद के अर्धांश में चीन की सहायता से प्राप्त कीं। भारत और पाकिस्तान दोनों ने क्रमश: पोखरन और चगाई में शृंखलाबद्ध परीक्षण करके मई १९९८ में अपनी नाभिकीय संदिग्धता की समाप्ति की।

भारत और पाकिस्तान के नाभिकीय कार्यक्रमों के सुव्यवस्थित निवारण अलग-अलग रहे हैं। भारत ने चीन से सुरक्षा को खतरे तथा पाँच महाशक्तियों के नाभिकीय एकाधिकार की ओर इशारा किया वहीं पाकिस्तान ने स्वयं भारत पर उँगली उठाई। तथापि, दोनों के बीच सहभाजित अवबोधन से नए नाभिकीय अस्त्रा सम्पन्न राज्यों का मानना है कि नाभिकीय अस्त्राों से राष्ट्रीय सुरक्षा अभिनिश्चित होगी और द्विपक्षीय संबंधों में स्थिरता आएगी।

नाभिकीकरण का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव क्षेत्रीय शान्ति और स्थिरता के क्षेत्रा में महसूस किया गया है। दो देशों के बीच घनिष्ठता जो उन घटनाओं से स्पष्ट थीं जिनके अनुक्रम में परीक्षण किए गए – १०वाँ दक्षेश शिखर सम्मेलन, दो देशों के बीच बस संचालन की नीति तथा लाहौर उद्घोषणा – ने आभास करा दिया कि दो नए अस्त्रा सम्पन्न राष्ट्रों के बीच पारस्परिक निवारण कायम हो चुका है। तथापि, यह घनिष्ठता सीमित युद्ध, कारगिल संघर्ष तथा जनरल परवेज मुशर्रफ द्वारा पाकिस्तान में सैनिक सत्तारोहण से चूर-चूर हो गई। पाकिस्तान ने भी राष्ट्रनीति के विलेख के रूप में इस्लामी अतिवादिता का प्रयोग करने की अपनी रणनीति में कोई परिवर्तन नहीं किया। भारतीय जम्मू एवं कश्मीर राज्य इस रणनीति और पाकिस्तान आधारित इस्लामी आतंकवादी गुटों की कार्यवाहियों का प्रथम लक्ष्य बना रहा। कारगिल संघर्ष ने स्पष्ट तौर पर निवारण की विफलता सूचित की। इस प्रकार, जहाँ नाभिकीय अस्त्रों के होने से विशाल पैमाने पर परम्परागत युद्धों की सम्भावनाओं में कमी प्रतीत होती है, वहीं 'अमान्य', 'अनियमित' अथवा कम तीव्रता वाले श्रृंखलाबद्ध युद्ध, भारत और पाकिस्तान के बीच भिड़न्त सर्वाधिक प्रचलित प्रकटीकरण है। दक्षिण एशिया सर्वाधिक खतरनाक क्षेत्रा, नाभिकीय युद्ध के कगार पर खड़ा क्षेत्रा, बना हुआ है क्योंकि एक सीमित युद्ध एक नाभिकीय संघर्ष में परिणित हो सकता है अथवा आतंकवादी क्रियाकलाप श्रृंखलाबद्ध कार्यवाहियाँ करके नाभिकीय अस्त्रों का प्रयोग करा सकते हैं।

दक्षिण एशिया में स्थिरता को प्रभावित करने वाले घटक

राजनीतिक सीमा पर, भारत में नेताओं के ऊपर निर्णय करते समय संस्थागत प्रतिबन्ध हैं, यद्यपि संकटकालीन क्षणों में, इन्हें एक तरफ कर दिया गया जैसा है कि १९८७ में ऑपरेशन ब्रास की स्थिति में हुआ। पाकिस्तान में, प्रतिबन्धों का कोई अस्तित्व नहीं है क्योंकि यहाँ पर हमेशा सशस्त्रा बलों का आधिपत्य रहा है जिन्होंने क्षेत्रा में शांति और सुरक्षा मुद्दों का निर्णय किया है। दोनों तरफ का कभी-कभी होने वाला जनजातीय संघर्ष गंभीर हादसे में बदल सकता है। जोखिम उठाने की स्थिति में, यह स्पष्ट है कि दक्षिण एशियाई नेता अत्यंत सावधानी और अत्यंत ग़ैर-उत्तरदायी दाव-पेंचों के बीच दोलायमान हैं।

तकनीकी रूप से, भारत और पाकिस्तान, दोनों के पास नाभिकीय प्रक्षेपास्त्रों को बड़े शहरों पर छोड़े जाने की क्षमता है जिन्हें मिसाइल द्वारा अन्तर्रोधन की दुर्लभ संभावना है। मिसाइलें उड़ान-काल में मात्रा तीन मिनट कम करती हैं जो निरोधक कार्रवाई के लिए नगण्य है तथा भूतपूर्व जलसेना अध्यक्ष एन. एन. दास के अनुसार, तत्काल प्रतिकार के प्रवर्त्तन के लिए बाध्य हो जाती है जिसके विनाशकारी परिणाम होते हैं। शीत युद्ध में किसी भी स्थिति में पिछड़ा समय (Lag Time) ३० मिनट से कम नहीं था। तथापि, पूर्वी और पश्चिमी खंड के देशों के बीच बीसियों अग्रिम-चेतावनी तंत्रा, टेलीफोन सेवाएँ, अनुक्षेप सक्रिय तालमेल, और संकट निवारण यंत्रा थे। भारत और पाकिस्तान में कोई भी ऐसा नहीं है। अत: इस क्षेत्रा में नाभिकीय मुद्दे अतिआवश्यक बोध के साथ निपटाने की आवश्यकता है।

अन्तत:, दक्षिण एशिया में, एक संरचनात्मक असममिति है और क्षेत्रा को विगत की अपेक्षा भविष्य में कम स्थिर करने में मुकाबले पर है। चीन दक्षिण एशिया सुरक्षा मुद्दों में विशेष रूप से भारत-पाक नाभिकीय प्रसारण और क्षेत्रीय अस्त्रा नियन्त्राण के संदर्भ में एक प्रचंड कार्ड है। भले ही चीन भारत के लिए प्रत्यक्ष ख़तरा नहीं है, पाकिस्तान के साथ चीन के सम्बन्धों के परिणामस्वरूप उपमहाद्वीप में चीन की नाभिकीय मौजूदगी में पर्याप्त बल है। भारत-चीन रिश्तों में परिवर्तन के बावजूद, चीन औसतन और दीर्घकालीन अर्थों में भारत के लिए प्रथम सुरक्षा चुनौती है और इसके बने रहने की संभावना है।

दक्षिण एशिया में स्थिरता के लिए संभावनाएँ

परमाणुकृत दक्षिण एशिया एक वास्तविकता है क्योंकि न तो भारत और न ही पाकिस्तान एकपक्षीय अथवा द्विपक्षीय तौर पर परमाणु अस्त्रों को छोड़ने के लिए प्रवृत्त होंगे। परमाणु अस्त्रों को छोड़ने

के लिए उनका प्रेरित करने वाला एक बहुपक्षीय समागम अभी वार्त्ताधीन है और निकट भविष्य में इसके वास्तविकता में परिवर्तन की संभावना नहीं है। दोनों देशों द्वारा यह भी जान लिया गया है कि एक युद्ध, परम्परागत अथवा नाभिकीय, राजनीतिक, आर्थिक और सैन्य बल के तौर पर किसी पक्ष के लिए लाभकारी नहीं हो सकता। फिर भी यह अभिकल्पना है कि दक्षिण एशिया एक संकटग्रस्त क्षेत्रा है जहाँ स्थिरता की परत पतली है यद्यपि ऐसी स्थिति को ऐसे श्रृंखलाबद्ध उपायों के द्वारा स्थायित्व प्रदान करने की आवश्यकता है जिन्हें एक सहकारी फ्रेमवर्क के तहत प्रणाली रूप से सर्वाधिक लागू किया जा सके। इस संदर्भ में, दक्षिण एशिया में सहकारी सुरक्षा अधिक सुसंगत तथा प्रतिस्पर्धात्मक सुरक्षा का सजीव विकल्प बन जाती है। सहकारी सुरक्षा अन्तर-राज्यीय रिश्तों का निर्धारण करती है जहाँ सहमति प्राप्त मानदण्डों और प्रतिष्ठापित क्रियाविधियों के भीतर किसी प्रकार की हिंसा के बिना विवाद उठाए जा सकते हैं। इसके लिए सैन्य अन्तर्ग्रस्तता के द्वारा भिड़न्त करने की बजाए सहयोग और पारस्परिक स्वीकृत आधार के माध्यम से रिश्तों को बनाये जाने की आवश्यकता है। विश्वास निर्माण उपाय (CBM's) और विश्वस्त सुरक्षा निर्माण उपाय (CSBM's) सहकारी सुरक्षा कायम रखने के औजार हैं। नाभिकीय जोखिम को कम करने के उपायों की इस दिशा में शुरुआत द्विपक्षीय श्रृंखलाबद्ध करारों के माध्यम कर दी गई है जिनमें से एक करार नई दिल्ली में २८ जून २००४ को सम्पन्न हुआ। यह करार इस्लामाबाद और नई दिल्ली के बीच विभिन्न नीति निर्माण स्तरों पर हॉटलाइन स्थापना निर्धारित करता है।

बोध प्रश्न १

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर इकाई-अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाएँ।

१) दक्षिण एशिया में सत्ता और संसाधनों की असममिति किन तरीकों से क्षेत्रा की सुरक्षा गत्यात्मकता को प्रभावित करती है?

....

....

....

....

....

....

२) कट्टरपंथी बलों के उदय से दक्षिण एशिया क्षेत्रा में सुरक्षा किस प्रकार प्रभावित होती है?

....

....

....

....

....

....

३) दक्षिण एशियाई क्षेत्रा को परमाणु युद्ध के कगार पर खड़ा क्षेत्रा क्यों कहा गया है?

....

....

....

....

....

....

२५.४ ग़ैर-परम्परागत सुरक्षा

विगत दशक में अथवा उसके बाद, अनेक स्नातक और सुरक्षा विश्लेषकों ने महसूस किया है कि सुरक्षा की परंपरागत धारणा दक्षिण एशिया की जनता के उस महत्त्वपूर्ण अनुपात को अर्थपूर्ण सुरक्षा मुहैया कराने में विफल रही है जो विश्व की कुल आबादी के पाँचवें हिस्से से अधिक है। वे बताते हैं कि क्षेत्रा में अधिकांश लोगों के लिए, सुरक्षा को महानतम् ख़तरा ग़रीबी, बीमारी, पर्यावरणीय प्रंदूषण, अपराध, और असंगठित हिंसा से है – कई लोगों के लिए अभी भी बड़ा ख़तरा किसी 'बाहरी' संकट की अपेक्षा, स्वयं उनके निजी राज्य से पैदा हो सकता है। वे सुरक्षा की धारणा को अधिक गहन बनाने पर जोर देते हैं जिससे उसमें मात्रा राज्य के ख़तरों को ही नहीं अपितु मानवीय सुरक्षा अर्थात् समाज में व्यष्टियों और समूहों की सुरक्षा के ख़तरों को भी शामिल किया जाए। कुल मिलाकर, राज्य का मौलिक प्रयोजन मात्रा सुरक्षा का संरक्षण करना हीं नही है अपितु अपने नागरिकों के हितों को बढ़ावा देना भी है। ये स्नातक मात्रा "बाहरी" अथवा सैन्य ख़तरों को ही नहीं अपितु राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय स्त्रोतों से उद्भूत होने वाले असैन्य ख़तरों को भी सुरक्षा की धारणा में शामिल करने के लिए उसे और अधिक व्यापक बनाए जाने का भी आग्रह करते हैं। वे इसमें शामिल करते हैं: जनसंख्या की सीमा-पारीय हलचल, प्रजातीय-राजनीतिक, सामाजिक-व-आर्थिक, तथा साम्प्रदायिक-धार्मिक राजनीति; धन-आहूत कार्यो के साथ अपने बीजीय गठजोड़ों से आतंकवाद और हथियारों की तस्करी; वन अपरोपण तथा मरुस्थलीकरण की इससे जुड़ी हुई समस्याओं को जन्म देने वाला पर्यावरणीय अपक्षीणन; आन्तरिक प्रवास; अव्यवस्थित शहरीकरण आदि।

यह अभी हाल में ही हुआ है कि सुरक्षा अध्ययनों में बाहरी ख़तरे की समस्याओं तथा मानवीय और ग़ैर-परम्परागत सुरक्षा चिन्तनों को साथ-साथ जकड़ में लेना आरंभ कर दिया गया है। तदनुसार, बाहरी ख़तरे, आन्तरिक सामाजिक संसक्ति, शासन क्षमता, विफल राज्य, आर्थिक विकास, संरचनात्मक समायोजन, लिंग सम्बन्ध, प्रजातीय पहचान की समस्याएँ और संक्राम्य तथा भूमंडलीय समस्याएँ जैसे एड्स (AIDS), नशीली दवाओं का अवैध व्यापार, आतंकवाद तथा पर्यावरणीय अपक्षीणन सुरक्षा अध्ययनों में चिन्तन के क्षेत्रा हैं।

सुरक्षा की धारणा को व्यापक बनाने में एक ख़तरा उन कठिनाइयों से है जो मानवीय सुरक्षा तथा कल्याणकारी और शासन के मुद्दों को शामिल करने के लिए व्यापक रूप से संकल्पित ग़ैर-परम्परागत सुरक्षा के बीच रेखा खींचने में सामने आएँगी। ग़ैर परम्परागत सुरक्षा में स्वास्थ्य, कल्याण और विकास की चुनौतियाँ शामिल नहीं है। परन्तु ये मुद्दे उस समय सुरक्षा चिन्तन बन जाते हैं जब कोई संकटकालीन स्थिति आती है, जब वे समाज के नागरिकों के महत्वपूर्ण अनुपात में जीविका अवसरों की अनदेखी करते हैं अथवा उन्हें कम करते हैं तथा जब वे समाज की स्थिरता और एकता के लिए ख़तरा बन जाते हैं।

स्त्री संबंधी ग़ैर-परम्परागत ख़तरों की जाँच करना इस इकाई के दायरे में नहीं है। हम पर्यावरणीय मुद्दों पर चर्चा करेंगे। अन्य ग़ैर-परम्परागत सुरक्षा ख़तरों की तरह, इनके राज्य सुरक्षा (असैन्य) और व्यष्टियों तथा समूहों की सुरक्षा (मानवीय सुरक्षा) के साथ जटिल गठबंधन होते हैं।

२५.४.१ पर्यावरणीय मुद्दे

क्षेत्रीय, असैन्य तथा मानवीय सुरक्षा के लिए पर्यावरण के कई गुने निहितार्थ हैं। इससे संभाव्य तौर पर प्रदूषण के प्रभावों के बिखराव और दुर्लभ संसाधनों के लिए प्रतिस्पर्धा के परिणामस्वरूप समुदायों और राज्यों के बीच संघर्ष भी हो सकते हैं

पर्यावरणीय अपक्षीणन संघर्ष की संभावनाओं में वृद्धि से राष्ट्रीय सुरक्षा को ख़तरा प्रस्तुत करता है। पर्यावरणीय मुद्दों की उस समय अन्तरराष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय सुरक्षा को ख़तरों के रूप में पहचान की जाती है जब वे सामाजिक, आर्थिक और पारिस्थितिक स्वास्थ्य तथा पड़ोसी देशों की समृद्धि को कम आँकते हैं। पर्यावरणीय तनाव ऐसी स्थिति को जन्म देता है जहाँ राजनीतिक प्रक्रियाएँ इसके प्रभावों पर काबू पाने में विफल रहती हैं जिसके परिणामस्वरूप राजनीतिक उत्क्षेपण तथा सैन्य हिंसा की संभावना रहती है।

पर्यावरणीय अपक्षीणन में मानवीय सुरक्षा भी निहितार्थ हैं। यह प्रदूषण, अस्वस्थता और प्राकृतिक संकटों के प्रति सुभेद्यता के प्रभावों के माध्यम से व्यष्टियों को प्रत्यक्ष ख़तरा प्रस्तुत कर सकता है। यह समुदायों को उत्पादक समुदायों के रूप में कार्य करने की उनकी क्षमता अथवा लोक सेवा मुहैया कराने के लिए उनकी क्षमता को कम आँक कर – संसक्ति और स्थिरता के ख़तरे को अभिव्यक्त कर सकता है।

गरीबी, अन्याय, पर्यावरणीय अपक्षीणन और संघर्ष जटिल और शाक्तिशाली तरीकों से अन्तर्क्रिया करते हैं। जलवायु परिवर्तन, मरुस्थलीकरण के कारण आबादी वाले इलाकों का सीमान्तीकरण, वन-अपरोपण, अथवा बांग्लादेश में शरणार्थियों के रूप में लोगों का विस्थापन, नेपाल में वन-अपरोपण के परिणामस्वरूप भारत में जनसंख्या का भारी संख्या में पलायन मानवीय सुरक्षा मुद्दों का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

दक्षिण एशियाई देशों की समस्याएँ सामाजिक विप्लव और राजनीतिक अस्थिरता में परिणीत होने वाले शिक्षित बेरोज़गार युवकों के साथ जनसंख्या, गरीबी में हो रही वृद्धि के कारण पर्यावरणीय संसाधन के अनुचित लाभ का एक बीभत्स दृश्य प्रस्तुत करती हैं। जहाँ वृद्धि और विकास के लिए महान् प्रयास किए जा रहे हैं वहीं अर्थव्यवस्था में प्रतिकूल प्रवृत्तियाँ, अपर्याप्त विकास नीतियाँ, विविध-जातीय और विविध-प्रजातीय समाजों में असमानताएँ पर्यावरण विकास, सुरक्षा और संघर्ष के बीच संबंधों को जटिल बनाती है जिससे क्षेत्रा और अधिक जटिल तथा असुरक्षित हो जाता है।

पर्यावरणीय संघर्ष प्राय: राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक अथवा क्षेत्रीय संघर्षों अथवा संसाधनों या राष्ट्रीय हितों के ऊपर संघर्षों, अथवा किसी अन्य प्रकार के संघर्ष के रूप में स्वयमेव प्रकट होते हैं। ये पर्यावरणीय अपक्षीणन द्वारा प्रेरित परम्परागत संघर्ष हैं। पर्यावरणीय संघर्षों का चरित्रा चित्राण निम्नलिखित क्षेत्रों में से एक अथवा एकाधिक क्षेत्रों में अपक्षीणन के प्रमुख महत्त्व द्वारा किया जाता है: नवीकरणीय संसाधनों का अधिक प्रयोग; पर्यावरण की निमज्जन क्षमता (प्रदूषण) की अतिश्रांति; अथवा निवासस्थल की कमी।

आज दक्षिण एशिया के सम्मुख चुनौतियाँ क्षेत्रा के सीमित संसाधनों के साथ विशाल जनसांख्यिकीय स्रोत का समाधान कर रही हैं। संघर्ष की संभावना अत्यधिक बनी रहती हैं क्योंकि राज्य की अपनी मौजूद जनसंख्या के भरण-पोषण की क्षमता संसाधनों की दुर्लभता के कारण कम होती जा रही है। आज तक बदतम संघर्ष भूमि संसाधन के ऊपर लड़े गए हैं। अन्तिम पाँच दशकों में क्षेत्रा में तीन युद्ध लड़े जा चुके हैं तथा क्षेत्रीय मुद्दे जैसे कश्मीर, सियाचीन पर दावों का अभी तक समाधान नहीं हुआ है।

जल क्षेत्रीय झगड़े का प्रमुख स्रोत है। क्षेत्रा की भौगोलिक सामीप्यता के कारण सभी प्रमुख नदियाँ जो सर्वाधिक आबादी वाले क्षेत्रा का अंग हैं, दक्षिण एशिया के उत्तरी भाग में हैं तथा एक से अधिक देशों के क्षेत्रों से होकर प्रवाहित होती हैं और इस प्रकार यहाँ जल विभाजन के ऊपर पुनरावर्त्ती मतभेद उभरते रहते हैं। सिन्धु बेसिन, द फरक्का बैरेज मतभेद के चिरस्थायी स्रोत थे। इसी प्रकार

बाढ़ों का बार-बार आना भी भारत और बांग्लादेश के बीच एक प्रमुख समस्या है। प्रदूषण में भी संघर्ष के बीज हैं। नदियों, अन्तरदेशीय जल निकायों और समुद्रों का प्रदूषण बढ़ रहा है। प्रदूषण से अनुसंसिक सामाजिक समस्याएँ जैसे राष्ट्रीय सीमाओं के पार प्रवास के खाद्य उत्पादन और मानवीय स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचाना हो सकती हैं जिनके परिणामस्वरूप दुर्लभता आ जाती है और संघर्ष को बढ़ावा मिलता है। इसी प्रकार बढ़ती जा रही दक्षिण एशियाई खाद्य अपेक्षाओं के कारण सीमित खाद्य उपलब्धता तथा अकालस्थिति हो सकती है जो बदले में राजनीतिक अस्थिरता पैदा कर सकती हैं और प्रत्यक्षत: इन स्थानीय घटनाओं के क्षेत्रीय निहितार्थ भी हैं।

इस प्रकार क्षेत्रीय स्तरों पर दक्षिण एशियाई राष्ट्रों को पारिस्थितिकीय क्षति की प्रक्रियाओं पर काबू पाने तथा शान्ति, सुरक्षा को संरक्षित करने तथा पर्यावरणीय संसाधनों के अनुरूप दक्षिण एशिया के संभाव्य मानव संसाधन का विकास करने की आवश्यकता है।

२५.५ क्षेत्रीय सहयोग के प्रति

दक्षिण एशिया के भीतर बहुपार्श्वीय आधार पर सहयोग के मार्ग तलाश करने के प्रयास और दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संघ (दक्षेस) में इन प्रारंभिक प्रयासों का संस्थानीयकरण भारतीय उपमहाद्वीप में राजनीतिक रूप से संभ्रान्त लोगों और नीति-निर्माताओं के बीच अन्तर्जनित इस भावना का प्रकटीकरण है कि वहाँ अन्तर्निहित भौगोलिक सांस्कृतिक एकता तथा समान जलवायु स्थितियाँ और आर्थिक परिपूरक हैं जिन्हें संस्थानीय अभिव्यक्ति की आवश्यकता है।

दिसम्बर १९८५ में दक्षेस का गठन सात सदस्य राष्ट्रों की मैत्री, विश्वास और पारस्परिक बोध की भावना में उनकी आम समस्याओं का समाधान तलाश करने के प्रति क्षेत्रीय तौर पर साथ-साथ कार्य करने के लिए सहयोग के अवनिर्धारित प्रयास का मूर्त्त प्रकटीकरण रहा है। पारस्परिक सम्मान, न्यायसंगतता, सहभाजित लाभों के आधार पर व्यवस्था करने के उद्देश्य से अपनी जनता के कल्याण और समृद्धि को प्रोन्नत करने में सहायता मिलेगी तथा इससे जीवन की उनकी गुणवत्ता में सुधार होगा।

चूँकि राष्ट्र-राज्य स्वयमेव क्षेत्रा में अपना अस्तित्व बनाए रखने की प्रक्रिया में हैं, महा-राष्ट्रीय क्षेत्रा की संकल्पना उत्कृष्ट तथा राष्ट्र-निर्माण के तत्काल कार्य के प्रतिकूल प्रतीत होती है। राष्ट्र-राज्य निरपेक्षता मध्य में है तथा दक्षिण एशिया में किसी भी परियोजना के लिए निर्णायक हैं। यदि क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग आगे बढ़ने में विफल रहता है तो यह इसीलिए है क्योंकि अधिकांश राष्ट्र-राज्य स्वयमेव प्रमुख विफलताएँ हैं।

दक्षेस की सफलता अन्तत: उद्यम द्वारा उत्पन्न साख तथा राजनीतिक मतभेदों के समाधान का लाभ उठाने के लिए सदस्य राज्यों की बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता पर निर्भर करेगी। उभरती हुई विश्व व्यवस्था की बाध्यता के साथ-साथ क्षेत्रा में लोकतंत्रीकरण की गति में तीव्रता लाने से यात्राा इस उद्देश्य को प्राप्त करने के प्रति आरंभ होती है। ''संयुक्त रहेंगे खड़े रहेंगे, विभाजित होंगे, गिर जाएँगे''। सार रूप में यह दक्षेस के समक्ष चुनौती है।

बोध प्रश्न २

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर इकाई-अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाएँ।

१) ग़ैर-परम्परागत सुरक्षा परिप्रेक्ष्य से, विकास की चुनौतियाँ कब सुरक्षा ख़तरे में बदल जाती हैं?

....

....

....

....

....

....

२) ग़ैर-परम्परागत और मानवीय सुरक्षा ख़तरा पर्यावरणीय अपक्षीणन किस प्रकार है?

....

....

....

....

....

२५.६ सारांश

दक्षिण एशिया अनेक समस्याओं से घिरा हुआ है जैसे परम्परागत समस्याएँ जो क्षेत्रा में सदस्य राष्ट्रों की सामीप्यता से उद्भूत होती हैं, क्षेत्रा में भारत का वर्चस्व और उसकी केन्द्रिकता तथा राज्यों में राजनीतिक गत्यात्मकता। क्षेत्रा के दो महत्त्वपूर्ण और प्रतिद्वंद्वी सदस्यों नामत: भारत और पाकिस्तान, के परमाणु सम्पन्न होने से क्षेत्रा आज नाभिकीय संघर्ष के प्रमुख कगार पर है।

दक्षेस, जो क्षेत्रा में क्षेत्राीय सहयोग का प्रथम प्रकटीकरण है, पारस्परिक अविश्वास की बेड़ियों को काटने तथा क्षेत्रा के देशों के बीच सहयोग को मजबूत करने के लिए प्रयास कर रहा है। तथापि, राजनीतिक समस्या प्रमुख अड़चन सिद्ध हो रही है। जैसा कि हमने देखा है, राजनीतिक समस्या की अपनी जड़ें दक्षिण एशियाई राष्ट्र-राज्य में हैं। समान सांस्कृतिक जनसमुदाय और आर्थिक स्थल पर राजनीतिक मानचित्रा खींचने से मात्रा अन्तर-राज्यीय संघर्ष ही नहीं हुए अपितु इससे क्षेत्राीय रिश्तों का आधार समाप्त हुआ है। राष्ट्र-राज्यों में विभाजन प्रबल है।

कुछ टीकाकारों ने तर्क दिया है कि सुरक्षा की नई संकल्पना को परिभाषित करना उपयुक्त रहेगा जिससे वह मात्रा सैन्य सुरक्षा को ही शामिल न करे अपितु उसमें अधिक व्यापक मुद्दे जैसे गरीबी उन्मूलन, पर्यावरणीय संरक्षण, ऊर्जा और खाद्य सुरक्षा भी शामिल हों। यह तर्क दिया गया है कि इस प्रकार का अभिगम : (क) राज्य-केन्द्रिक सुरक्षा संदर्श से व्यष्टि सुरक्षा की ओर उन्मुख होने में योगदान देगा, और (ख) "आम शत्राु" के मुद्दे को संयुक्त रूप से सम्बोधित करने में देशों को प्रोत्साहित करेगा। जहाँ सिन्धु जल की भागीदारी में भारत-पाक सहयोग इन तर्कों को मजबूती प्रदान करे तथा दक्षेस के रूप में संस्थानीय यंत्राण मौजूद हो वहाँ मानव विकास और सुरक्षा की चुनौतियों से निपटने के लिए पहल को अभी मूर्त्त रूप देना है।

इस दुर्भाग्यपूर्ण विगत अनुभव से निष्कर्ष निकालना, तथापि, त्राुटिपूर्ण होगा कि दक्षिण एशिया में कोई रणनीतिक तालमेल नहीं हो सकता है। यह क्षेत्रा एक प्राकृतिक रणनीतिक इकाई है जो उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में हिन्द महासागर से घिरी हुई है। तथापि, इस क्षेत्रा के देशों ने प्राय: निरस्त्रीकरण के प्रश्नों के प्रति उनके अभिगमों को समन्वित किया। निरस्त्रीकरण में संयुक्त राष्ट्र अथवा कहीं अन्य जगह पर रासायनिक और परमाणु अस्त्रा शामिल हैं। १९७० के दशक में, उन्होंने एक शान्तिपूर्ण क्षेत्रा के रूप में हिन्द महासागर पर प्रस्ताव के कुछ प्रमुख पहलुओं पर मजबूत समझौता किया है। इसके अतिरिक्त, दक्षिण एशियाई देशों के बीच, यदि समय-समय पर कार्यान्वयन में उत्तेजनाओं और आशंकाओं की ओर ध्यान न दिया जाए, तो द्विपक्षीय सुरक्षा प्रबन्धन, अवबोधन

और मूर्त्त सहयोग के क्षेत्रा हैं। दक्षिण एशिया के रणनीतिक तालमेल में एकमात्रा गंभीर दुविधा भारत-पाकिस्तान संघर्ष की है जो अधिक गंभीर आयामों में विघटित हुई प्रतीत होती है जब पाकिस्तान में सेना राजनीतिक रूप से स्वाग्रही हो।

२५.७ कुछ उपयोगी पुस्तकें

इतेख़ारुज़मन (सं.), (१९९७), *रीज़नल इकोनॉमिक ट्रेण्ड्स एण्ड साउथ एशियन सिक्योरिटी,*मनोहर, न्यू दिल्ली।

ए. आर. देव, (१९९१), *साउथ एशियन नेबर्स,* वर्ल्ड फोकस, वोल्यूम १२, नं. ११-१२

ए. सिंह, (१९९७), *दि मिलिटरी बेलेन्स: १९८५-१९९४,* एसीडीआईएस, ऑकेज़नल पेपर्स, यूनिवर्सिटी ऑफ इलिनॉइज़, अरबाना-कैम्पेन: यूआईपी।

कोहेन, स्टेफन पी. (सं.), (१९८७), *दि सिक्योरिटी ऑफ साउथ एशिया: अमेरिकन एण्ड एशियन पर्सपेक्टिव्स,* विस्टार: न्यू दिल्ली।

२५.८ बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न १

१) सत्ता और संसाधनों में असममिति संतति के संदेह और अविश्वास को प्रभावित करती है। यह क्षेत्रा के देशों द्वारा विविध रणनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उत्तरदायी है।

२) कट्टरपंथी राज्य के उदय से प्रजातीय और धार्मिक अल्पसंख्यकों का बहिष्कार होता है जिसके परिणामस्वरूप राज्य के भीतर संघर्ष होते हैं। क्षेत्रा के देशों के बीच सामाजिक-सांस्कृतिक अतिव्याप्ति तथा आसन्न और मुक्त सीमाओं के होते हुए, इस प्रकार के अन्त:राज्यीय संघर्षो के अन्तरराज्यीय संघर्षो में बदले जाने की संभावना रहती है।

३) नाभिकीकरण ने क्षेत्रा में विशाल पैमाने पर युद्ध की संभावनाओं को कम कर दिया है परन्तु सीमित परम्परागत युद्धों और राज्य संरक्षित आतंकवाद जो संघर्ष के नए तरीके बन चुके हैं, से नाभिकीय संघर्ष को आरंभ करने अथवा उसका बहिष्कार करने की संभावना है।

बोध प्रश्न २

१) विकास के मुद्दे उस समय सुरक्षा चिन्तन बन जाते हैं जब वे संकटासन्न स्थिति पर पहुँचते हैं, जब वे समाज के नागरिकों के महत्त्वपूर्ण अनुपातों के जीविका अवसरों की अनदेखी करते हैं अथवा उन्हें कम करते हैं तथा जब वे समाज की स्थिरता और एकता को ख़तरा पहुँचाते हैं।

२) गरीबी, अन्याय पर्यावरणीय अपक्षीणन तथा संघर्ष जटिल और संभाव्य तरीकों से अन्तर्क्रिया करते हैं। मरुस्थलीकरण और वन-अपरोपण लोगों को हाशिए पर ले जाता है अथवा विस्थापित करता है जो मानव सुरक्षा मुद्दों के उदाहरण हैं। दूसरी तरफ, संसाधनों के अपक्षय तथा लोगों के विशाल पैमाने पर आवागमन में अन्तरराज्यीय संघर्ष की क्षमता होती है और इसीलिए ये ग़ैर-परम्परागत सुरक्षा ख़तरे हैं।

इकाई २६ आणविक मुद्दे

इकाई की रूपरेखा

२६.० उद्देश्य

२६.१ प्रस्तावना

२६.२ परमाणु परीक्षण: कैसे और क्यों?

२६.३ भारत का परमाणु कार्यक्रम

२६.४ पाकिस्तानी परमाणु कार्यक्रम

२६.५ परमाणु प्रास्थिति

२६.६ परमाणु निरस्त्रीकरण

२६.७ १९९८ के बाद परमाणु मुद्दे

२६.८ सारांश

२६.९ कुछ उपयोगी पुस्तकें

२६.१० बोध प्रश्नों के उत्तर

२६.० उद्देश्य

दक्षिण एशिया के दो देशों, भारत और पाकिस्तान जिन्होंने परमाणु अस्त्रा क्षमता प्राप्त कर ली है, के परमाणु कार्यक्रमों और नीतियों के परिणामस्वरूप दक्षिण एशिया में परमाणु मुद्दे उद्भूत होते हैं। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- यह समझा सकेंगे कि भारत और पाकिस्तान ने परमाणु अस्त्रों को कैसे और क्यों प्राप्त किया;
- भारत और पाकिस्तान की परमाणु अस्त्रा क्षमताओं का वर्णन कर सकेंगे;
- परमाणु मुद्दे पर भारत और पाकिस्तान की स्थिति को समझा सकेंगे; और
- दक्षिण एशिया की दो परमाणु शक्तियों के बीच वार्त्तालाप की आवश्यकता पर चर्चा कर सकेंगे।

२६.१ प्रस्तावना

दक्षिण एशिया ऐसा क्षेत्रा है जिसके राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक महत्त्व में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। भारत और पाकिस्तान के बीच कटु प्रतिद्वन्द्विता जो १९४७ में उपमहाद्वीप के विभाजन की साक्षी है, के कारण इस क्षेत्रा में परमाणु अस्त्रों और मिसाइलों (प्रक्षेपास्त्रों) के प्रसार को बढ़ावा मिला है।

दक्षिण एशिया में परमाणु मुद्दे भारत और पाकिस्तान की नीतियों पर केन्द्रित हैं। भारत और पाकिस्तान दोनों के पास इन देशों में विकास की प्रक्रिया को सहज करने के लिए परमाणु कार्यक्रम थे। ये असैनिक कार्यक्रम पूर्णत: असैनिक कार्यक्रम से हटकर हथियारों के विकल्प के लिए प्रौद्योगिकीय क्षमता का आधार बने। भारत ने १२ मई १९७४ को पोखरन में अपने प्रथम परमाणु बम का विस्फोट किया। यह परमाणु हथियारों की क्षमता का पहला प्रदर्शन था। पाकिस्तान भी १९७० के दशक में परमाणु हथियारों के विकल्प की ओर अग्रसर हुआ। भारत और पाकिस्तान ने १९४८

में किए गए परमाणु परीक्षणों के माध्यम से औपचारिक तौर पर दोनों देशों के परमाणु हथियारों में अपने सक्षम होने की उद्घोषणा की।

आज, भारत और पाकिस्तान दोनों सक्रिय परमाणु और मिसाइल कार्यक्रमों में जुटे हुए हैं और परमाणु हथियारों के लिए विखंडनीय सामग्री का उत्पादन कर रहे हैं। किसी भी देश ने परमाणु अप्रसार संधि (एनपीटी) अथवा व्यापक परमाणु परीक्षण निषेध संधि (सीटीवीटी) पर हस्ताक्षर नहीं किए यद्यपि वे परमाणु परीक्षणों के स्वयं-अधिरोपित अभिस्थगन के अनुयायी हैं।

इस क्षेत्रा का सुरक्षा गणित भारत द्वारा धमकी (ख़तरे) के रूप में चीन के अभिज्ञान से और अधिक जटिल हो गया। पाकिस्तान द्वारा परमाणु हथियारों और मिसाइल तंत्रों को विकसित करने के प्रयास प्राथमिक तौर पर भारत के परम्परागत अधिक सैन्य बल के प्रतिप्रहार और भारत के परमाणु ख़तरे से अपने अभिज्ञान से अभिप्रेत हैं।

२६.२ परमाणु परीक्षण: कैसे और क्यों?

भारत और पाकिस्तान द्वारा १९९८ में किए गए परमाणु परीक्षणों ने इन परीक्षणों के तर्काधार और निहितार्थ पर एक बड़ी बहस को जन्म दिया था। दोनों सरकारों ने अब घोषणा की है कि वे परमाणु अस्त्रा सम्पन्न शक्तियाँ हैं। इसका अर्थ है कि परमाणु अस्त्रा रखने वाले देशों की संस्था मूल पाँच से बढ़कर सात हो गई है। परमाणु अस्त्रों के उत्पादन के निर्णय से दो प्रश्न उठते हैं**i)** राष्ट्र परमाणु अस्त्रों का उत्पादन क्यों करते हैं? **ii)** वे परमाणु अस्त्रों को किस प्रकार पैदा करते हैं?

राष्ट्र परमाणु अस्त्रों का उत्पादन कई कारणों से करना चाहते हैं। सर्वाधिक सुस्पष्ट कारण सुरक्षा है। राष्ट्र कई सुरक्षा ख़तरों से आगाह हो सकते हैं जिसके प्रतिप्रहार के लिए वे तैयारी करना चाहेंगे। परमाणु युग में परमाणु अस्त्रों ने आक्रमण के विरुद्ध निवारक के रूप में अपना प्रयोग करने के लिए राष्ट्रों को प्रौद्योगिकीय क्षमता मुहैया कराई है। परमाणु हथियार उनकी सुरक्षा नीति में एक संवर्धित सामरिक स्वायत्तता भी मुहैया कराते हैं।

राष्ट्र अपनी-अपनी अन्तरराष्ट्रीय हैसियत में वृद्धि के लिए भी परमाणु अस्त्रों का विकल्प चुनते हैं। ऐतिहासिक तौर पर, सैन्य बल ने विश्व में हमेशा देश विशेष की शक्ति सम्पन्नता का निर्धारण किया है। परमाणु अस्त्रा इस हैसियत को प्राप्त करने के मार्ग में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कुछ विकासशील देश भी महसूस करते हैं कि परमाणु अस्त्रों का कुछ अधिकार में होना उद्योगीकृत राष्ट्रों के विरुद्ध, एक प्रकार से मुनाफे का सौदा सिद्ध होगा।

अन्ततः, कुछ मामलों में, घरेलू राजनीतिक दबाव भी राजनीतिक नेतृत्व को परमाणु अस्त्रों का विकल्प चुनने के फैसले के लिए मजबूर कर देते हैं।

राष्ट्र किस प्रकार परमाणु अस्त्रा प्राप्त करते हैं। परमाणु बम का मूल भाग अत्यधिक संवर्धित यूरेनियम अथवा प्लूटोनियम से बना होता है। कई किलोटन परमाणु बम के मूल भाग के लिए अत्यधिक संवर्धित यूरेनियम का पन्द्रह से पच्चीस किलोग्राम तथा प्लूटोनियम का पाँच से आठ किलोग्राम आमतौर पर न्यूनतम आवश्यकता के रूप में लिया जाता है।

नागरिक अस्त्रों का विनिर्माण करने के लिए तत्पर राष्ट्र के पास इस विखंडन सामग्री का स्रोत होना चाहिए। यह सर्वाधिक तकनीकी अवरोध है। परमाणु सामग्री तीन मुख्य तरीकों में से किसी एक तरीके से प्राप्त की जा सकती है।

क) एक असैनिक परमाणु कार्यक्रम से सामग्री का विपथन: असैनिक प्रसुविधाओं, परमाणुशक्ति संयंत्रों से सामग्री का विपथन या तो रक्षा उपायों से बचकर अथवा असुरक्षित प्रसुविधाओं का प्रयोग करके किया जा सकता है। अन्तरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी (आई ए ई ए) एक ऐसी एजेंसी है जो यह सुनिश्चित करने के लिए कार्य करती है कि शान्तिप्रिय उद्देश्यों से परमाणु

सामग्री का असैनिक उद्देश्यों के लिए विपथन न हो। इसका मुख्य उद्देश्य रक्षा उपायों को लागू करना अथवा परमाणु प्रसुविधाओं पर नियंत्राण रखना है।

ख) अपने उत्पादन के लिए विशेष रूप से अभिकल्पित प्रसुविधाओं का निर्माण: ऐसा राष्ट्र जो परमाणु प्रसुविधा के निर्माण का निर्णय लेता है, दो मूलभूत विकल्पों से गुजरता है: क) खर्च हुए ईंधन से प्लूटोनियम को पृथक् करने के लिए प्लूटोनियम उत्पादन रिएक्टर तथा पुनर्प्रक्रिया संयंत्रा का निर्माण करना। इस विकल्प का रूपान्तर पहले से ही मौजूद अनुसंधान अथवा शक्ति संयंत्रा से खर्च हुए ईंधन के साथ एक समर्पित पुनर्प्रक्रिया संयंत्रा का पोषण करना है; और ख) प्राकृतिक और कम संवर्धित यूरेनियम से अस्त्रा योग्य यूरेनियम का उत्पादन करने के लिए एक संवर्धित संयंत्रा का निर्माण करना।

ग) परमाणु अस्त्रों के संघटकों का ग़ैर कानूनी व्यापार अथवा स्वयं अस्त्रों अथवा आवश्यक कच्चे माल की चोरी।

२६.३ भारत का परमाणु कार्यक्रम

भारतीय परमाणु नीति जिसका आरंभिक वर्षों में सूत्रापात हुआ, दो सिद्धान्तों के इर्द-गिर्द बनी रही: शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए परमाणु ऊर्जा के उत्पादन/संग्रहण के लिए अनुसंधान और विकास की प्रोन्नति करना तथा परमाणु कार्यक्रम में स्वयं समर्थ होना। इस नीति के प्रमुख निर्माता पंडित जवाहरलाल नेहरू और डाक्टर होमी भाभा थे।

इन सिद्धांतों के आधार पर भारत ने तीन स्तरीय परमाणु नीति का अभिरूपण किया। इसके मुख्य संघटक थे: i) प्रचुर जल नियंत्रित रिएक्टरों का निर्माण जिससे प्रजनक (ब्रीडर) रिएक्टरों की शुरुआत के लिए अपेक्षित शक्ति एवं प्लूटोनियम का उत्पादन किया जा सके; ii) तीव्र प्रजनक रिएक्टर में प्रथम स्तरीय रिएक्टरों से उत्पन्न प्लूटोनियम को उपयोग में लाना। इस चरण को उस समय तक जारी रखना जब तक थोरियम-यूरेनियम २३३ रिएक्टर उपलब्ध न हो जाए; और iii) थोरियम-यूरेनियम २३३ घूर्णनों पर द्वितीय प्रकार के प्रजनक चलाए जा सकें।

१९६२ के चीन-भारत युद्ध और युद्ध के दौरान भारतीय पराजय/विध्वंस से रक्षा नीति पर कुछ पुनर्विचार हुआ। तथापि, रक्षा पुनर्निर्माण करने वाला निर्देश अवश्यमेव परम्परागत अस्त्रा व्यवस्था के क्षेत्रा में था। १९६४ में चीनी परमाणु बम के विस्फोटन के परिणामस्वरूप भारतीय नीति निर्माताओं ने परमाणु विकल्प पर विचार किया। होमी भाभा जो उस समय परमाणु ऊर्जा आयोग के निदेशक थे, ने कहा था कि भारत यदि चाहे तो अठारह महीने के अन्दर बम बना सकता है। प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने संसद में स्वीकार किया कि वह शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए परमाणु विस्फोट करने के इच्छुक थे। बताया जाता है कि १९६४ के अंत में शास्त्री ने परमाणु यंत्रा की डिजाइन बनाने तथा ग़ैर-परमाणु संघटक तैयार करने के लिए भारतीय परमाणु ऊर्जा आयोग को आगे बढ़ने के लिए प्राधिकृत कर दिया था जिससे विस्फोटक बनाने के लिए अपेक्षित अठारह महीने का संकेतक काल घटकर छह महीने रह जाए।

१९६४ के निर्णयों के बाद परमाणु अप्रसार संधि पर लम्बी बहस हुई। शास्त्री और होमी भाभा दोनों का १९६६ में निधन हो गया। प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी के प्रधानमंत्रित्व काल के आरंभिक वर्षों में भारत में बहुत कुछ राजनीतिक अनिश्चितता देखने को मिली। प्रौद्योगिकीय क्षमताओं के स्तर पर कुछ अनिश्चितताएँ बनी रहीं। अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर न करने के भारतीय निर्णय ने ६०वें दशक की अनिश्चितता के अन्त की पुष्टि की।

सत्तरवें दशक के प्रारंभ में, भारतीय परमाणु कार्यसूची में निर्णयात्मक निदेश लेने की शुरुआत हुई। सितम्बर १९७१ में, भारतीय परमाणु ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष ने शांति सम्मेलन के चतुर्थ सम्मेलन में उद्घोषणा की कि भारत शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए परमाणु विस्फोटक अभियंत्राण के क्षेत्रा में,

उच्च प्राथमिकता के आधार पर, कार्य कर रहा था। प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी ने भी स्पष्ट किया कि परमाणु ऊर्जा आयोग सैद्धांतिक और परीक्षण दोनों दृष्टियों से भूमिगत परमाणु विस्फोटन की प्रौद्योगिकी में प्रगति की निरन्तर समीक्षा कर रहा था। तथापि, श्रीमती गाँधी ने इससे इंकार किया कि परमाणु विस्फोटन के लिए कोई नियत योजना थी। भारत ने अपना प्रथम परमाणु परीक्षण राजस्थान में १९७४ में किया। यह एक भूमिगत परीक्षण था। इस परीक्षण को शान्तिपूर्ण परमाणु विस्फोटन (पी एन ई) का नाम दिया गया क्योंकि इसका उद्देश्य परमाणु प्रौद्योगिकी के शांतिप्रिय अनुप्रयोग में शोध को बढ़ावा देना था न कि बम निर्माण करना।

१९७४ में परमाणु परीक्षण के बाद भारत ने अन्ततः परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल सशक्त परमाणु सिद्धांत विकसित किया। इस परीक्षण से भारत की परमाणु विस्फोट कराने की भारतीय सक्षमता का प्रदर्शन हुआ। अब भारत के पास कच्चा माल, वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय जानकारी तथा परमाणु बम बनाने वाले कर्मचारी थे। इरादे पर प्रश्नचिह्न लगा था। भारत ने स्पष्ट किया कि यह परीक्षण परमाणु अस्त्रा के उत्पादन के लिए नहीं किया गया था और भारत का परमाणु अस्त्रा निर्माण का कोई इरादा नहीं था। नीति निर्माण स्तर पर शान्तिपूर्ण अनुप्रयोग की शास्त्राी की आरंभिक स्थिति का अब और आगे विस्तार किया गया था। इस परीक्षण से परमाणु निरस्त्राीकरण और शान्ति नीति पर भारतीय दृष्टिकोण का विपथन नहीं हुआ था। भारतीय संसद को अपने कथन में श्रीमती गाँधी ने इस बात पर जोर देने के लिए विस्तार से चर्चा की कि परीक्षण उस शोध और विकास कायों का भाग था जो परमाणु ऊर्जा आयोग द्वारा परमाणु ऊर्जा संग्रहण के राष्ट्रीय उद्देश्यों को पूरा करने के लिए किए जा रहे थे।

शान्तिपूर्ण परमाणु विस्फोटन के माध्यम से भारत ने अपनी परमाणु बम बनाने की क्षमता का प्रदर्शन किया था। परन्तु इसी के साथ उसने कहा था कि वह परमाणु बम का उत्पादन नहीं करेगा। इससे भारत के वास्तविक इरादों के बारे में संदेह पैदा हो गया। यही कारण है कि कोई भी भारतीय नीति का जानबूझकर अस्पष्ट परमाणु संस्थिति के रूप में वर्णन कर सकता है।

इस स्थिति में ९०वें दशक के आरम्भ में परमाणु अस्त्राों वाले राष्ट्रों द्वारा कुछ महत्त्वपूर्ण पहल से एक बदलाव आया। जैसे १९९५ अप्रसार संधि को अनिश्चित तौर पर बढ़ाया जाना, १९९६ में व्यापक परीक्षण निषेध संधि पर हस्ताक्षर कराना और कच्चे माल में कटौती संधि पर चर्चा शुरू करना। ९०वें दशक के प्रथम अर्द्ध भाग में भारत में परमाणु चर्चा परमाणु सक्षमता को बढ़ाए जाने की आवश्यकता पर केन्द्रित रही।

११ व १३ मई १९९८ को भारत ने पोखरन में कई परीक्षण किए। भारत ने घोषणा की कि वह अभी एक परमाणु अस्त्रा सम्पन्न सत्ता नहीं है। संसद के अपने कथन में प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने अपनी सरकार की परमाणु नीति का पोखरन के द्वितीय चरण के बाद विश्लेषण किया। एक, भारत एक न्यूनतम परन्तु विश्वसनीय परमाणु निवारक बनाए रखेगा। इसे प्राप्त करने के लिए भारत को और आगे परीक्षण की आवश्यकता नहीं थी और इसीलिए यह और आगे परीक्षणों पर स्वैच्छिक अधिस्थगन स्वीकार कर रहा था। दूसरे, जहाँ तक परमाणु अस्त्राों का संबंध है, भारत 'प्रथम प्रयोग नहीं' सिद्धांत पर कायम रहेगा। अन्ततः, भारत भूमंडलीय परमाणु निरस्त्राीकरण की अपनी वचनबद्धता पर बना रहा।

राजीव गाँधी और नरसिंह राव की अनुवर्त्ती कांग्रेसी सरकारों द्वारा जानबूझकर अस्पष्ट परमाणु सिद्धांत के बारे में इंदिरा गाँधी का दृष्टिकोण जारी रखा गया। संयुक्त मोर्चा सरकार के प्रधानमंत्री इन्द्र कुमार गुजराल ने इस अस्पष्टता को समाप्त कर दिया। गुजराल रक्षा उपाय के रूप में परमाणु अस्त्रा विकल्प को खुला रखना चाहते थे। तथापि, उन्होंने उस ख़तरे के वास्तविक स्वरूप को परिभाषित करने से इंकार कर दिया जिससे वह परमाणु मुद्दे पर एक अधिक स्पष्ट नीति निर्माण को विवश हो गए। भारतीय जनता पार्टी भी अपनी राष्ट्रीय कार्यसूची में विकल्प को खुला रखने के बारे में अधिक विशिष्ट थी। १९९८ के परमाणु परीक्षणों ने भारतीय संस्थिति में लम्बित अस्पष्टता की समाप्ति कर दी।

परीक्षणों के उपरान्त भारतीय परमाणु नीति पर काफी चर्चाएँ हुईं। भारतीय परमाणु नीति के वास्तविक स्वरूप और उसके दीर्घावधि निदेश के बारे में सवाल उठने लगे। भारतीय परमाणु-सिद्धांत की रूपरेखा का प्रारूप सरकार द्वारा तैयार किया गया और उसे १७ अगस्त १९९९ को निर्मुक्त कर दिया गया। इसमें भारत के लिए सुरक्षा के बारे में नीति-निर्माण की स्वायत्तता की दलील दी गई है। इसमें दीर्घकालीन सुस्थापित इस भारतीय दृष्टिकोण की चर्चा की गई है कि सुरक्षा भारत की विकास प्रक्रिया का अनन्य हिस्सा है। यह शान्ति और स्थिरता के संभावित विघटन तथा विकास की प्रक्रिया सुनिश्चित करने के लिए निवारक क्षमता के परिणास्वरूप आवश्यकता के बारे में चिन्तन को अभिव्यक्त करता है। इसमें तर्क दिया गया है कि भूमंडलीय परमाणु निरस्त्रीकरण नीति के न होने की स्थिति में, भारत के सामरिक हितों के लिए एक प्रभावी विश्वसनीय निवारक अपेक्षित है और अपर्याप्त प्रतिकारी क्षमता से निवारकता विफल हो जाएगी। यह 'प्रथम प्रयोग नहीं' सिद्धांत पर कायम है और परमाणु नीति निर्माण पर असैनिक नियंत्राण बनाए हुए है। यह भूमंडलीय निरस्त्रीकरण के लिए भारत की सुदृढ़ वचनबद्धता को भी अभिव्यक्त करता है।

बोध प्रश्न १

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई-अंत में संकेत देखें।

१) राष्ट्र परमाणु राष्ट्र क्यों बन जाते हैं?

....

....

....

....

२) भारत की तीन स्तरीय परमाणु विकास नीति के मुख्य अंश कौन से हैं?

....

....

....

....

३) १९९० के दशक में किस कारण भारत की परमाणु संस्थिति में अंतर आया?

....

....

....

....

४) भारत के परमाणु सिद्धांत के प्रमुख अंश हैं:

....

....

....

....

२६.४ पाकिस्तानी परमाणु कार्यक्रम

पाकिस्तान का परमाणु कार्यक्रम १९५०वें दशक के मध्य में आरंभ हुआ जब डॉ. नाजिर अहमद की अध्यक्षता में पाकिस्तान परमाणु ऊर्जा आयोग का गठन किया गया। १९५०वें दशक के मध्य से ६०वें दशक तक सैकड़ों पाकिस्तानी वैज्ञानिकों ने संयुक्त राज्य में विभिन्न 'शान्ति के लिए परमाणु' प्रकार के कार्यक्रमों में प्रशिक्षण प्राप्त किया। पाकिस्तान की प्रमुख परमाणु शोध प्रसुविधा १९५५ में रावलपिंडी के पास नीलोर में प्रतिष्ठापित की गई। विज्ञान और तकनीकी की पाकिस्तानी संस्था के रूप में इस प्रसुविधा में देश के भीतर वैज्ञानिकों और तकनीशियनों को शोध और प्रशिक्षण सुविधा का प्रावधान था। प्रथम रिएक्टर, पी ए आर आर भी यहीं अवस्थित है। यह रिएक्टर १९६५ में संयुक्त राज्य द्वारा आपूर्त किया गया था और यह अन्तरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा परिसंघ के रक्षा उपायों के तहत कार्य करता है।

जुल्फिकार अली भुट्टो पाकिस्तानी परमाणु कार्यक्रम के मूल निर्माता थे। महान् संकल्प के साथ अकेले उन्होंने तकरीबन अस्त-व्यस्त स्थिति से सजीव परमाणु निवारक क्षमता वाले परमाणु कार्यक्रम का निर्माण किया। उनकी प्रमुख चिन्ता का विषय हमेशा भारतीय धमकी रहा। उनका दृढ़ विश्वास था कि भारत परमाणु अस्त्रों के उत्पादन पर आरूढ़ था और यदि पाकिस्तान अनुकूल स्थिति में नहीं आया तो उसे भारत से परमाणु दोहन का शिकार होना पड़ेगा।

१९७१ के युद्ध और बांग्लादेश के गठन ने पाकिस्तान के परमाणु कार्यक्रम पर दूरगामी प्रभाव डाला। भुट्टो ने अपने देश के खोए हुए गौरव को पुन:स्थापित करने का वचन दिया। बताया जाता है कि १९७२ में, उसने मुल्तान में परमाणु वैज्ञानिकों की एक गुप्त बैठक की। इसी बैठक में परमाणु बम विकसित करने का निर्णय लिया गया। १९७४ में भारत ने अपना प्रथम परमाणु परीक्षण किया। इस पर पाकिस्तान की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। पाकिस्तान से इसे सौभाग्यपूर्ण विकास के रूप में लिया जिससे उप महाद्वीप की स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन आ गया।

आरंभ में, पाकिस्तान ने परमाणु अस्त्रा बनाने के लिए प्लूटोनियम जुटाने पर ध्यान केन्द्रित किया। प्लूटोनियम उस ईंधन से प्राप्त किया जा सकता है जो परमाणु शक्ति संयंत्रों से पुनर्संसाधित किया गया हो। अक्तूबर १९७४ में, पाकिस्तान ने फ्रांस के साथ कराची में अपने शक्ति संयंत्रा और अन्य नियोजित प्रसुविधाओं से ईंधन प्राप्त करने की एक पुन: संसाधक प्रसुविधा के लिए रूपरेखार्थ एक संविदा पर हस्ताक्षर किए। तथापि, अगले दो वर्षों में, पाकिस्तान के अन्तरराष्ट्रीय सहयोगियों ने साथ छोड़ दिया क्योंकि पाकिस्तान की परमाणु अस्त्रा बनाने की महत्वाकांक्षा अधिक उजागर हो गई थी।

पाकिस्तान के परमाणु कार्यक्रम ने १९७५ में डॉ. अब्दुल कादिर खान के आगमन के बाद पुन: जोर पकड़ा। डॉ. खान यूरेनियम संवर्द्धन अपकेन्द्री यंत्रों की योजना और आवश्यक प्रौद्योगिकी के लिए संसाधनों की सूची अपने साथ लाए थे। इस आधार पर पाकिस्तान ने आरंभ में अपने विकास प्रयास उत्कृष्ट संवर्धित यूरेनियम पर केन्द्रित किए और इन प्रयासों के समर्थन में एक व्यापक गुप्त प्रापण नेटवर्क में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। अब्दुल कादिर खान ने स्पष्ट तौर पर पाकिस्तान को प्लूटोनियम की बजाए यूरेनियम से कार्य करने के लिए तैयार किया। आरंभ में पाकिस्तान के क्रियाकलाप कुछ प्रसुविधाओं में केन्द्रित रहे। डॉ. खान ने १९७६ में कहूता में अभिमंत्राण शोध प्रयोगशालाओं की स्थापना की जो बाद में डॉ. ए. क्वेखान शोध प्रयोगशालाएँ (के आर एल) बन गईं।

पाकिस्तान का अरब के साथ १९७३ के आसपास परमाणु जुड़ाव हुआ। १९७३ के युद्ध के बाद पश्चिम एशिया की अर्थव्यवस्थाओं में बदलाव आया। तेल मूल्यों में चमत्कारिक वृद्धि ने पाकिस्तान के लिए लीबिया को तेल के बदले में अपनी प्रौद्योगिकी के व्यापार के लिए नए अवसर पैदा किए जो पाकिस्तान को यूरेनियम के प्रमुख आपूर्तिकर्त्ता और उसके मुख्य वित्तपोषक के रूप में उभरकर सामने आया। भुट्टो की इच्छा कि 'मात्रा इस्लामिक सभ्यता बम रहित थी, परन्तु यह स्थिति बदलने वाली थी' पाकिस्तान-अरब की बम बनाने की महत्त्वाकांक्षा के सूचक के रूप में अकेले पड़ गई। इससे पाकिस्तानी बम पर 'इस्लामी बम' होने का ठप्पा लग गया। इसका कारण पाकिस्तान की

इस्लामी आवश्यकता और अरब की इजराइल पर काबू पाने की आवश्यकता है। अपना परमाणु शस्त्राागार बनाने के पाकिस्तान के प्रयास में उसकी चीन द्वारा सहायता के बारे में भी काफी चर्चा रही है। भुट्टो द्वारा प्रदत्त आवेग को १९७७ में जिला-उल-हक द्वारा सत्ता में आने के बाद जारी रखा गया।

१९७०वें दशक के अंत में, अफगानिस्तान पर सोवियत आक्रमण से पाकिस्तान संयुक्त राज्य के लिए सर्वोपरि भू-सामरिक महत्त्व का देश बन गया। संयुक्त राज्य ने सोवियत आक्रमण के विरुद्ध पाकिस्तान को एक 'फ्रण्टलाइन राज्य' माना और उसे आर्थिक और सैन्य सहायता आपूर्ति बहाल करने की पेशकश की। संयुक्त राज्य से नए शस्त्राागार की प्राप्ति के बावजूद, पाकिस्तान का विश्वास था कि यह कभी भारत की परम्परागत शक्ति का मुकाबला नहीं कर सकता और भारत के पास अपना निजी परमाणु शस्त्राागार था अथवा वह उसे अल्प काल में विकसित कर सकता था। इसीलिए राष्ट्रपति जिया ने भुट्टो द्वारा आरंभ किए गए परमाणु कार्यक्रम को जारी रखा।

जब तक पाकिस्तान अफगानिस्तान में संयुक्त राज्य के हितों के प्रति सजग रहा, संयुक्त राज्य ने आमतौर पर पाकिस्तान के विकासोन्मुख परमाणु कार्यक्रम के विकसित कार्य को अनदेखा रखा और संयुक्त राज्य सहायता में कटौती के लिए कोई कार्रवाई नहीं की। तथापि, संयुक्त राज्य के नेतृत्व वाले पाश्चात्य राष्ट्रों ने परमाणु और अन्य प्रगतिशील प्रौद्योगिकियों के निर्यात पर नियंत्राण मजबूत करना तथा कड़ाई से उसे लागू करना आरंभ कर दिया। इस प्रकार पाश्चात्य निर्यात नियंत्राण और कठोर प्रवर्त्तन तौर तरीकों के परिणामस्वरूप पाकिस्तान चीन पर निर्भर हो गया। १९८६ के चीन-पाकिस्तानी परमाणु सहयोग करार पर हस्ताक्षर करने से पूर्व भी, चीन ने १९८०वें दशक के आरंभ में पाकिस्तान को कुछ सर्वाधिक संकटापन्न प्रौद्योगिकियों का अन्तरण आरंभ कर दिया था। बताया जाता है कि चीन ने पाकिस्तान को अपने प्रक्षेपास्त्रों में से एक प्रक्षेपास्त्रा का मानचित्रा तथा कुछ हथियारों के लिए पर्याप्त उत्कृष्ट संवर्धित यूरेनियम भी मुहैया कराया था। १९९० के मध्य में यह व्यापक रूप से बताया गया कि पाकिस्तान के भंडार में चीनी डिजाइन पर आधारित १० परमाणु प्रक्षेपास्त्रा थे।

२८ मई १९९८ में, पाकिस्तान ने घोषणा की कि उसने पाँच सफल परीक्षण किए थे। ३० मई १९९८ को पाकिस्तान ने एक प्रक्षेपास्त्रा का परीक्षण और किया। ये परीक्षण बलूचिस्तान में किए गए थे और इनकी कुल संख्या ६ थी। पाकिस्तान स्रोतों ने यह भी दावा किया है कि कम से कम एक अतिरिक्त यंत्रा जो आरंभ में ३० मई १९९८ को अधिस्फोटन के लिए नियोजित था, को भूमि के अन्दर अधिस्फोटन के लिए तैयार रखा गया था। ये परीक्षण भारत द्वारा अपने निजी पाँच परमाणु परीक्षणों के दो सप्ताह से थोड़ा अधिक समय के पश्चात् पाकिस्तानी कर्मचारियों द्वारा कई चेतावनियाँ देने के बाद किए गए थे कि वे भारत को इसका जवाब देंगे।

बोध प्रश्न २

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई-अंत में संकेत देखें।

१) पाकिस्तान का परमाणु अस्त्रा कार्यक्रम किसने आरंभ किया और क्यों?

....

....

....

....

....

....

२) 'इस्लामी बम' शब्द से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

....

२६.५ परमाणु प्रास्थिति

ऐसा विश्वास है कि भारत के पास ४५-९५ परमाणु अस्त्राों के लिए अस्त्राों हथियारों की श्रेणी वाला प्लूटोनियम पर्याप्त मात्राा में है। तथापि, पूर्णरूपेण संयोजित हथियारों की संख्या संभवतया कम है और प्रक्षेपास्त्रा सामग्री विद्यमान में वायुयान और प्रक्षेपास्त्रा आपूर्ति तंत्रा से अलग रखी जाती है। पाकिस्तान के पास एक व्यापक असैनिक परमाणु शक्ति अवस्थापना की कमी है और इसका अस्त्रा कार्यक्रम भारत के बराबर व्यापक नहीं है। इसका लगभग सम्पूर्ण परमाणु कार्यक्रम हथियारों के प्रयोग पर केन्द्रित है। तथापि, ऐसा विश्वास है कि पाकिस्तान ने ३०-५० परमाणु हथियारों के लिए पर्याप्त यूरेनियम संचित कर लिया है, और अब उसके पास रावलपिंडी में लगभग दो अस्त्रा प्रतिवर्ष तैयार करने के लिए पर्याप्त प्लूटोनियम को पुन:संसाधित करने की क्षमता वाली एक प्रसुविधा है। ऐसा सोचा जाता है कि भारत से भिन्न, पाकिस्तान अपनी अधिकांश विखंडनीय सामग्री परमाणु हथियारों के विनिर्माण पर प्रयोग करता है।

भारत की प्रक्षेपण शक्ति में लगभग ५० कम-दूरी, द्रवित ईंधन वाली पृथ्वी मिसाइलें तथा ठोस-ईंधन वाली अग्नि-प्रथम मिसाइलें शामिल हैं। जनवरी २००१ में, भारत ने २५०० किलोमीटर दूरी वाली अग्नि-द्वितीय का परीक्षण किया जो अब प्रयोग के लिए तैयार प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त, पृथ्वी का परमाणु रूपान्तरण विकासाधीन है जैसा कि ३५०० किलोमीटर दूरी वाला अग्नि-तृतीय है जो चीन क्षेत्रा में अन्दर तक अपने लक्ष्य पर मार करने में सक्षम होगा। अप्रैल २००१ में, भारत ने रॉकेट बूस्टर प्रौद्योगिकी का प्रयोग करते हुए अन्तरिक्ष में एक प्रयोगात्मक उपग्रह सफलतापूर्वक छोड़ा था जिसे अन्तरमहाद्वीपीय प्राक्षेपिक मिसाइल विकसित करने के लिए भी प्रयोग किया जा सकता था। तथापि, विश्वास किया जाता है कि भारत के अधिकांश परमाणु अस्त्रा वायुयान द्वारा आपूर्ति के लिए अभिप्रेत हैं। इस प्रयोजनार्थ, भारत के पास फ्रेंच मूल के माइरेज २००० तथा रूस से प्राप्त एसयू-३० लड़ाकू विमान हैं।

पाकिस्तान के पास ३० और ८० के बीच कम और मध्यम दूरी वाली मिसाइलें हैं। सर्वाधिक संभावना है कि द्रवित-ईंधन वाली गौरी-प्रथम और द्वितीय उत्तरी कोरियाई नो-डाँग से ली गई हैं जबकि ठोस-ईंधन वाली शाहीन-प्रथम चीनी प्रौद्योगिकी पर आधारित है। दो मध्यम दूरी की अन्य मिसाइलें गौरी-तृतीय और शाहीन-तृतीय का विकास किया जा रहा है।

पाकिस्तानी बल के परमाणु क्षमता वाले विमानों में चीनी मूल के ए-५ लड़ाकू विमान, फ्राँस के माइरेज लड़ाकू विमान और ३२ अमेरिका निर्मित के एफ-१६ विमान शामिल हैं।

भारत और पाकिस्तान के WMD कार्यक्रमों की प्रास्थिति

परमाणु अस्त्र	दोनों के पास विखंडन सामग्री है।
रासायनिक अस्त्र	भारत अपने विशाल औद्योगिक आधार से रासायनिक युद्ध कारकों के लिए पूर्व सूचक तैयार कर सकता है। पाकिस्तान को रासायनिक कारक के उत्पादन के लिए पूर्व सूचक प्राप्त करने होंगे।
जैव अस्त्र	पाकिस्तान संभाव्य जैव युद्ध में प्रयोग के लिए शोध एवं विकास कर रहा है। रक्षा के प्रति भारतीय प्रयास तेजी पर हैं।
आपूर्त व्यवस्था	दोनों के पास रासायनिक और परमाणु अस्त्रों की आपूर्ति के लिए विमान हैं। दोनों प्रक्षेपास्त्रों का विकास कर रहे हैं। भारत: इसके पास दो मिसाइल कार्यक्रम हैं: पृथ्वी – कम दूरी (१५०-२५० कि.मी.) अग्नि – अभिप्रेत दायरा (२००० कि.मी.) पाकिस्तान : इसके पास दो मिसाइल कार्यक्रम हैं: हत्फ प्रथम – कम दूरी (५० कि.मी.) मोबाइल SRBM – लगभग ३०० कि.मी. की दूरी

२६.६ परमाणु निरस्त्रीकरण

परमाणु निरस्त्रीकरण पर भारतीय दृष्टिकोण पंडित नेहरू द्वारा काफी पहले १९५४ में किए गए ''रुक जाओ'' करार की पुकार पर कायम है। भारतीय स्थिति यह रही थी कि परीक्षण निषेध पर किया गया कोई करार प्रतिस्पर्द्धात्मक शस्त्रीकरण की प्रक्रिया को उलटने में सहायक होगा। यह निरस्त्रीकरण पर करार के लिए भी मार्ग प्रशस्त करेगा। १९५६ के अन्त तक, परीक्षण निषेध के मुद्दे पर राज्यों के विभिन्न पहलू स्पष्ट हो चुके थे। सोवियत संघ और भारत ने अन्तरराष्ट्रीय जाँच के बिना सभी परमाणु परीक्षणों के निषेध पर शीघ्र और पृथक् करार के लिए वकालत की, इस प्रकार किसी भी मामले में परमाणु परीक्षण जाँच से नहीं बच सकेंगे। पाश्चात्य देशों ने पर्याप्त जाँच के साथ परमाणु परीक्षण के सीमांकन और संभाव्य निषेध की माँग की। संभाव्य तौर पर, संयुक्त राज्य, ब्रिटेन और सोवियत संघ ने आंशिक परीक्षण निषेध के लिए वार्ताएँ आरंभ की। इस संधि को १९६३ में औपचारिक रूप दे दिया गया और भारत इसका एक सदस्य बन गया। १९६०वें दशक के अन्त में भारत इस बात से चिन्तित हुआ कि परमाणु शक्तियाँ अपने निजी भंडारों पर कोई नियंत्राण लागू करने के लिए इच्छुक नहीं थी। अप्रसार संधि पर बहस के दौरान इस चिन्ता को मूर्त्त रूप दिया गया। अप्रसार संधि में सभी देशों को दो समूहों में बाँटने की माँग की गई, एक वे जिनके पास परमाणु शक्ति वाले देश अपने परमाणु शस्त्रागार में वृद्धि कर सकते थे। वास्तव में अप्रसार संधि का यह विभेदकारी स्वरूप भारत द्वारा अस्वीकार किए जाने के लिए चर्चा का एकमात्रा मुद्दा बना।

अप्रसार संधि समीक्षा सम्मेलन में अप्रसार संधि को अनिश्चित काल के लिए बढ़ाए जाने का निर्णय लिया गया। १९९६ में व्यापक परीक्षण निषेध संधि पर हस्ताक्षर किए गए। व्यापक परीक्षण निषेध संधि पर बहस में भारत की निरस्त्रीकरण नीति की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति मौजूद है। व्यापक परीक्षण निषेध संधि पर भारतीय दृष्टिकोण यह रहा था कि संधि को इसके सभी पहलुओं पर अप्रसारण निषेध को प्रभावी रूप से लागू करने में योगदान करना था जिससे अन्तरराष्ट्रीय शक्ति और सुरक्षा को बढ़ावा मिल सके। इस प्रकार एक निश्चित समयावधि में एक परमाणु अस्त्रा मुक्त विश्व की

उपलब्धि के लिए परमाणु निरस्त्रीकरण की वचनबद्धता के अन्तिम रूप पर भारतीय विरोध का कारण यह था कि इससे परमाणु अस्त्रा सम्पन्न राज्य ग़ैर-विस्फोटक प्रौद्योगिकियों का प्रयोग करके अपने हथियारों से संबंद्ध शोध और विकास कार्य कर सकते थे। इसमें निरस्त्रीकरण के प्रति अर्थपूर्ण वचनबद्धता की कमी थी और इसके स्थान पर केवल विद्यमान यथास्थिति को बनाए रखना था। यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि भारत इन परीक्षणों के बाद भी सार्वभौमिक परमाणु निरस्त्रीकरण की माँग करता रहा है।

अप्रसार संधि में शामिल होने से पाकिस्तान के इंकार में क्षेत्रीय सामरिक स्थिति के प्रति उसका अवबोधन सन्निहित था। पाकिस्तान ने प्रभावी सुरक्षा प्रतिभूति की माँग की जिसमें निम्नलिखित प्रावधान हों: (i) परमाणु अस्त्रा सम्पन्न राज्यों द्वारा परमाणु अस्त्रों के प्रथम प्रयोग पर निषेध;(ii) उस अस्त्रा रहित राज्य को तुरन्त सहायता जो परमाणु हमले का शिकार हुए हैं; (iii) सुरक्षा परिषद् के समक्ष सहायता पर अमल किया जाए और (iv) सुरक्षा प्रतिभूति उन सभी राज्यों के लिए होगी जिन्होंने परमाणु हथियारों के विनिर्माण अथवा अधिप्राप्ति को त्याग दिया है भले ही उन्होंने अप्रसार सन्धि पर हस्ताक्षर किए हों अथवा नहीं।

१९७४ में भारतीय परमाणु परीक्षण के अनुक्रम में पाकिस्तान ने परमाणु क्षेत्रा में दाखिल होने के इरादे की एक आम घोषणा की। इसने दक्षिण एशिया और हिन्द महासागर में परमाणु मुक्त क्षेत्रा की संकल्पना की संयुक्त राष्ट्र में भी पेशकश की। बाद के वर्षों में, व्यापक परीक्षण निषेध संधि पर पाकिस्तान की स्थिति निकटत: भारतीय दृष्टिकोण से जुड़ गई। पाकिस्तान ने व्यापक परीक्षण निषेध संधि का विरोध नहीं किया अपितु संयुक्त राष्ट्र में इस मुद्दे से स्वयं को दूर रखा था।

भारत-पाक परमाणु गठबंधन ने १९८५ के करार के रूप में एक अनौपचारिक महत्त्वपूर्ण कदम उठाने का प्रयास किया जिसमें भारत अथवा पाकिस्तान में कोई भी एक-दूसरे की परमाणु प्रसुविधाओं पर आक्रमण नहीं करेगा। दूसरा चरण अन्तरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेन्सी द्वारा सभी परमाणु स्थलों के निरीक्षण के लिए संयुक्त करार था। दोनों देशों के बीच स्थलों के पारस्परिक परीक्षण अनुमत करने के लिए भी संधि का प्रस्ताव किया गया था। पाकिस्तान ने दक्षिण एशियाई परमाणु मुक्त क्षेत्रा की पेशकश भी की थी।

१९९८ के बाद के परिदृश्य में, पाकिस्तान ने 'परमाणु अस्त्रों का प्रथम प्रयोग नहीं' की संधि पर भारतीय प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया है और कहा है कि वह उस स्थिति में परमाणु अस्त्रों का प्रयोग करेगा यदि वह अपने अस्तित्व को ख़तरा महसूस करता है। पाकिस्तान प्रथम-प्रयोग के इस ख़तरे पर विश्वास कर रहा है क्योंकि भारत के पास उत्कृष्ट परम्परागत सैन्य बल हैं।

२६.७ १९९८ के बाद परमाणु मुद्दे

क्षेत्रीय सुरक्षा

परमाणु परीक्षणों के कुछ मूल निर्धारक क्षेत्रीय सुरक्षा पर प्रश्न बनकर उभरे हैं। भारतीय परमाणु नीति के मामले में, भारतीय और पाश्चात्य दोनों विश्लेषकों ने पाकिस्तान और चीन से ख़तरों को विशेष रूप से उजागर करने की माँग की है। चीन की बढ़ती हुई परमाणु क्षमता और परमाणु क्षेत्रा और पाकिस्तान के साथ उसके निकट के सम्बन्ध भारत के लिए चिन्ता का विषय बने हुए हैं। पाकिस्तान के मामले में, भारतीय परमाणु क्षमता ने पाकिस्तान के प्रति खतरे के मूल स्रोत के रूप में पहचान बनाई है। भारत के पास एक मजबूत परम्परागत सैन्य आधार है जो पाकिस्तान की तुलना में उत्कृष्ट होने के लिए मान्यताप्राप्त है। भारत के साथ गत युद्धों में पाकिस्तान कोई भी सैन्य लाभ अर्जित करने में विफल रहा है। द्विपक्षीय विवाद में, कश्मीर एक निर्णायक घटक के रूप में विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा है। यहाँ भी, पाकिस्तान रणनीति ने परम्परागत युद्ध से हटकर कम प्रबलता वाले युद्ध की तरफ रुख किया है। पाकिस्तान परमाणु विकल्प को भारत के विरुद्ध एक महत्त्वपूर्ण निवारक के रूप में देखता है।

शीत युद्ध के बाद के युग में भारत और पाकिस्तान के सुरक्षा ख़तरों के अवबोधन में बदलाव आया है। इन्हें असैनिक दबावों के रूप में जाना जा सकता है जैसे राष्ट्रीय सुरक्षा को धमी के रूप में व्यापार, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, पर्यावरण और प्रौद्योगिकी नियंत्राण। विदेशी राष्ट्रों द्वारा ग़ैर-सामरिक आकर्षण और विकर्षण को जो राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को प्रभावित करते हैं सुरक्षा पर एक ख़तरे के रूप में लिया जाना चाहिए न कि पृथक् से व्यापार सम्बन्धी क्रियाकलाप के रूप में। हाल के समय में, व्यापार उलझनों, प्रौद्योगिकी नियंत्राण शासन-प्रणाली और विभिन्न संधियों पर हस्ताक्षर करने के लिए राजनयिक दबावों में वृद्धि हुई थी। इसका दक्षिण एशियाई अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

परमाणु और इससे संबंद्ध दुहरे प्रयोग वाली प्रौद्योगिकी पर प्रतिबन्ध १९६८ में अप्रसार संधि के साथ आरंभ हुआ। १९७४ में परीक्षण के बाद गठित परमाणु आपूर्तकर्त्ता ग्रुप ने भारत जैसे इस प्रकार परमाणु तौर पर सक्षम राज्यों को परमाणु से जुड़ी प्रौद्योगिकी और सामग्री के हस्तांतरण पर प्रतिबन्ध लगा दिए। १९८७ में प्रतिष्ठापित मिसाइल प्रौद्योगिकी नियंत्राण व्यवस्था ने मिसाइलों से जुड़ी हुई दुहरे प्रयोग वाली प्रौद्योगिकी के हस्तांतरण पर प्रतिबन्ध लगा दिए। इस व्यवस्था के अधीन, रूस वाले, ISRO कार्यक्रम के लिए, क्रायोजेनिक इन्जनों पर प्रौद्योगिकी हस्तान्तरण करार को निरस्त करने के लिए विवश हो गए थे। १९९५ में वासानार प्रबन्धन हुआ जिसने दुहरे प्रयोग वाली प्रौद्यागिकी के अन्तरण पर भी निषेध लागू कर दिया। व्यापक परीक्षण निषेध संधि और प्रस्तावित कच्चा माल कटौती संधि ने अप्रसार शासन व्यवस्था को और अधिक मजबूती प्रदान की। इसके अतिरिक्त अन्तरराष्ट्रीय प्रबन्धनों, संयुक्त राज्य के अप्रसार कानून के रूप में द्विपक्षीय प्रतिबन्धों ने भारत को भी प्रभावित किया है। भारत और पाकिस्तान दोनों जैसा कि कुछ अन्य परमाणु (प्रौद्योगिकी तौर पर) सक्षम राज्य हैं, उस शासन व्यवस्था के प्रापक सिरे पर हैं जिसे विकसित विश्व द्वारा संरक्षण प्राप्त हैं।

वर्षों के उपरान्त, ये प्रतिबन्ध विकसित विश्व की प्रास्थिति मूलक कार्यसूची के मुख्यांश के सूचक बन गए थे। इस प्रतिबन्ध की प्रथम सांकेतिक अवज्ञा १९७४ में पोखरन में परमाणु परीक्षण के रूप में हुई। मई १९९८ में भारत और पाकिस्तान के परीक्षण उस समय इस अवज्ञा रूपी आजादी के प्रतीक हैं जब वर्षो से लागू अप्रसार शासन व्यवस्था अधिक सुदृढ़ हो चुकी है। भारतीय परमाणु परीक्षण प्रौद्योगिकी और राजनीतिक क्षमताओं का प्रदर्शन थे। पहला प्रतिबन्धों के होते हुए विकास करने की क्षमता के संदर्भ में था; दूसरा विकसित विश्व पर काबू पाने के राजनीतिक संकल्प का प्रदर्शन था। पाकिस्तान परीक्षण भी शास्तियों की धमकी के रूप में विकसित विश्व द्वारा अधिरोपित दबावों की उनकी अवज्ञा के प्रदर्शनस्वरूप थे। यह प्रत्याशित शास्तियों के होते हुए स्वतंत्रा निर्णय लेने की योग्यता का पुनर्दावा है जो परमाणु परीक्षणों को एक पुनर्जीवित तृतीय विश्व का प्रतीक बनाता है।

कथोपकथन

इस पहलू की संकल्पनात्मक दृष्टि से जानकारी प्राप्त कर कोई भी भारत और पाकिस्तान के बीच वार्तालाप के पक्ष में तर्क दे सकता है।

द्विपक्षीय स्तर के वार्तालाप एक परमाणु सक्षम भारत और पाकिस्तान के नए समीकरण पर स्थिर हो जाएँगे। निवारण का पाश्चात्य तर्क इस अनुमान पर आधारित रहा है कि आक्रमण की पारस्परिक सुभेद्यता एक निवारक सिद्ध होती है और संभाव्य परमाणु संघर्ष टल जाता है। यह दलील यह स्वीकार करती है कि अस्त्रों की संख्या वास्तविक निवारक नहीं है क्योंकि न्यूनतम परमाणु निवारण एक विश्वस्त मारक क्षमता वाले एकमात्रा हथियार से भी संभव है। तर्क की दृष्टि से, भारत और पाकिस्तान अपनी कथित अस्त्रा क्षमताओं से इस पारस्परिक निवारण को प्राप्त कर लेंगे। इस तर्क को आगे बढ़ाने के लिए, किसी भी देश को अपनी सुरक्षा बढ़ाने के लिए अति प्रचारित परमाणु हथियारों की दौड़ में शामिल होने की आवश्यकता नहीं है। मूल चिन्ता का विषय है कि दोनों देशों

के सामने सुरक्षा की निर्णायक समस्या आन्तरिक सुरक्षा को लेकर है न कि सीमा सुरक्षा को लेकर। विद्रोह, आतंकवाद, कम प्रबल संघर्ष और इस प्रकार के आंतरिक सुरक्षा ख़तरे परमाणु अस्त्रों से हल नहीं हो सकते हैं, उनके लिए राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक नीतियों का सामंजस्य अपेक्षित है। अत: सुरक्षा स्तर के तर्क से किसी को भारत-पाक परिदृश्य में परमाणु अस्त्रों के त्वरित उल्लंघन अथवा अप्रसार की आशंका नहीं है।

चीन के मामले में, भारतीय स्थिति थोड़ा भिन्न है। यहाँ भी मूल समस्याएँ प्रमुखत: आन्तरिक सुरक्षा के क्षेत्रा में हैं। अन्तिम दशक के दौरान और उसके बाद सीमा विवाद का संघर्ष क्षेत्राीय स्तर की भिड़न्तों से हटकर वार्तालाप की मेजों पर पहुँच गया है। भारत-चीन भिड़न्त का मुख्य रणक्षेत्रा राजनयिक बन चुका है। परमाणु स्तर पर भारत विशाल चीनी क्षमता के विरुद्ध न्यूनतम स्तर के निवारक के सृजन की अपेक्षा कर सकता है। परमाणु क्षमता की प्रमुख परिसम्पत्ति द्विपक्षीय वार्ताओं में भारत की राजनयिक भूमिका में वृद्धि करना है।

भूमंडलीय स्तर पर भारत-पाकिस्तान वार्ताओं के पैरामीटर स्पष्ट हो चुके हैं। परीक्षण पूर्व चरण में, भारत और पाकिस्तान दोनों को अन्तरराष्ट्रीय और द्विपक्षीय शास्तियों की मार झेलनी पड़ी है। इनसे दोनों देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। शास्तियों को हटाने की पूर्व शर्त के रूप में दोनों देशों से अप्रसार संधि व्यापक परीक्षण निषेध संधि को स्वीकार करने के लिए कहा गया है। परमाणु प्रौद्योगिकी का विस्तार करने के लिए पाश्चात्य विश्व की सफलता इस तरीके पर निर्भर करती है जिसमें वह दोनों देशों का संगरोधन कर सके, उनके द्विपक्षीय विवादों को विस्फोटक स्थिति तक बढ़ने दे तथा परमाणु मुद्दों पर सामंजस्य के लिए विवश कर दे। इस संदर्भ में भारत और पाकिस्तान को अपने सजीव राष्ट्रीय हितों को महसूस करना होगा और उन दबावों से ऊपर उठकर वार्ता आरंभ करनी होगी। इस वार्तालाप से वे विकसित विश्व की कार्यसूची को मानने और उस पर अमल करने की बजाए सहयोगी तौर पर उनका मुकाबला कर सकेंगे।

बोध प्रश्न ३

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई-अंत में संकेत देखें।

१) कुछ प्रौद्योगिकी नियंत्राण शासन प्रणालियों की पहचान करें जो विकासशील देशों में परमाणु और उससे संबंद्ध क्षमताओं के प्रसार पर नियंत्राण चाहती हैं।

....

....

....

....

....

....

२) परमाणु मुद्दों पर भारत-पाक वार्तालाप में क्या विवशताएँ हैं?

....

....

....

....

....

२६.८ सारांश

दक्षिण एशिया में परमाणु मुद्दे भारत और पाकिस्तान की परमाणु नीतियों और कार्यक्रमों से जुड़े हुए हैं। भारत और पाकिस्तान दोनों के पास असैनिक परमाणु कार्यक्रम थे जो प्रौद्योगिकीय क्षमता का आधार बने और अस्त्रों के विकल्प की ओर मुड़ गए। भारत ने १२ मई १९७४ को पोखरन में अपने प्रथम परमाणु बम का विस्फोट किया और अपनी परमाणु हथियारों की क्षमता का प्रदर्शन किया। पाकिस्तान ने भी १९७० वें दशक में परमाणु हथियारों के विकल्प की शुरुआत की। तथापि, १९९८ में दोनों देशों ने शृंखलाबद्ध परमाणु परीक्षण किए और औपचारिक रूप से परमाणु अस्त्रा सम्पन्न राज्यों के रूप में उभरकर सामने आए।

तथापि, पाकिस्तान में व्यापक असैनिक परमाणु शक्ति अवस्थापना की कमी है। इसके बावजूद, उसका अस्त्रा कार्यक्रम भारत जैसा व्यापक नहीं है।

भारत द्वारा चीन को ख़तरे के रूप में अभिज्ञान तथा पाकिस्तान के इस अभिज्ञान से कि भारत की पर्याप्त परम्परागत सैनिक स्थिति का मुकाबला केवल परमाणु अस्त्रों से किया जा सकता है, इस क्षेत्रा का सुरक्षा गणित जटिल हो गया है।

परीक्षण चरण के बाद की अवधि में भारत और पाकिस्तान दोनों को अन्तरराष्ट्रीय और द्विपक्षीय शास्तियों का आाघात झेलना पड़ा है।

दोनों में से किसी भी देश ने अप्रसार संधि (NPT) अथवा व्यापक परीक्षण निषेध संधि (CTBT) पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं यद्यपि वे परमाणु परीक्षणों पर स्वयं-अधिरोपित अधिस्थगन के प्रति संसक्त हैं।

परमाणु प्रौद्योगिकी का विस्तार करने के लिए पाश्चात्य देशों की सफलता इस तरीके पर निर्भर करती है जिससे वे दोनों देशों का संगरोधन कर सकें, उनके द्विपक्षीय विवादों को विस्फोटक स्थिति तक बढ़ने दें तथा परमाणु मुद्दों पर सामंजस्य के लिए विवश कर दें। इस संदर्भ में भारत और पाकिस्तान को वार्ता आरंभ करनी पड़ेगी जिससे वे सहयोगी तौर पर पाश्चात्य देशों की कार्यसूची को स्वीकार करने और उस पर अमल करने के दबावों पर काबू पा सकें।

२६.९ कुछ उपयोगी पुस्तकें

कपूर, अशोक (१९८७), *पाकिस्तान'स न्यूक्लियर डेवलॅपमेंट*,लंदन, क्रमहेल्म।

लुइस, जे विल्सन एण्ड एक्सू लिटल (१९८८), *चाइना बिल्ड्स दि बॉम्ब,* स्टेनफोर्ड, स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

परकोविच, जॉर्ज (१९९९), *इण्डिया'ज़ न्यूक्लियर वेपन: दि इम्पेक्ट ऑफ ग्लोबल प्रोलिफिरेशन,* न्यू दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

सिंह, जसजीत (१९९८), *न्यूक्लियर इण्डिया,* न्यू दिल्ली। इन्स्टीट्यूट फॉर डिफेन्स स्टडीज़ एण्ड एनालिसिज़।

स्पेक्टर, लिओनार्ड (१९९०), *न्यूक्लिर एम्बिशन्स: दि स्प्रैड ऑफ न्यूक्लियर वेपन्स,* कोलोराडो, वेस्टव्यू प्रेस।

वीडा, विलियम (१९९८), *एटोमिक ऑडिट: दि कोस्ट एण्ड कान्सिक्वेन्सज ऑफ न्यूक्लियर वेपन्स सिंस १९४०,* वाशिंगटन डीसी, ब्रूकिंग्स इन्स्टीट्यूशन।

२६.१० बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न १

१) अपनी सुरक्षा अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए, अपनी अन्तरराष्ट्रीय स्थिति में वृद्धि करने के लिए और कुछ मामलों में घरेलू राजनीतिक दबाव के कारण।

२) भारतीय परमाणु कार्यक्रम के प्रमुख लक्षणों में शामिल थे (i) प्राकृतिक यूरेनियम ईंधन वाले रिएक्टर, (ii) प्रथम चरण से प्राप्त यूरेनियम ईंधन वाले तीव्र प्रजनक रिएक्टर और (iii) देश की थोरियम-कणों की विशाल आरक्षी निधि का उपयोग करने वाला एक थोरियम-यूरेनियम ईंधन चक्र।

३) अप्रसार संधि का अनिश्चित विस्तार, व्यापक परीक्षण निषेध संधि पर हस्ताक्षर और कच्चा माल कटौती संधि के लिए वार्ताएँ।

४) भारतीय परमाणु सिद्धांत : (i) प्रथम प्रयोग नहीं; (ii) न्यूनतम परमाणु निवारण और (iii) परमाणु निरस्त्रीकरण।

बोध प्रश्न २

१) जुल्फिकार अली भुट्टो। यह विश्वास करते हुए कि भारत उन परमाणु अस्त्राों को प्राप्त करने वाला था जिन्हें पाकिस्तान के दोहन के लिए प्रयोग किया जा सकता था, १९८७ वें दशक के प्रारंभ में उन्होंने परमाणु अस्त्रा विकास कार्यक्रम आरंभ किया।

२) १९७०वें दशक के प्रारंभ में, पाकिस्तान और तेल समृद्ध अरब राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध प्रमुखतः पाकिस्तान के परमाणु कार्यक्रम के लिए यूरेनियम और निधियों की आपूर्ति के रूप में उभरे। पाकिस्तान का परमाणु कार्यक्रम इस्लामी बम के रूप में जाना गया।

बोध प्रश्न ३

१) परमाणु आपूर्तकर्त्ता ग्रुप, प्रक्षेपास्त्रा, प्रौद्योगिकी नियंत्राण शासन व्यवस्था, वासानर प्रबन्धन कुछ बहुपक्षीय प्रौद्योगिक शासन व्यवस्थाएँ हैं। इसके अतिरिक्त, परमाणु और उससे जुड़ी प्रौद्योगिकी के हस्तान्तरण पर द्विपक्षीय प्रतिबंध हैं।

२) सुरक्षा की दृष्टि से, दोनों देशों ने अपनी कथित अस्त्रा क्षमताओं से पारस्परिक निवारक प्राप्त कर लिया है। पाश्चात्य देशों ने दोनों देशों पर शास्तियाँ और प्रौद्योगिकी अनापूर्ति लागू किये हुए हैं जिससे उनकी अप्रसार कार्यसूची पर अमल किया जा सके। इस संदर्भ में, भारत और पाकिस्तान के बीच तनावों के बढ़ने से पाश्चात्य विश्व को दोनों देशों के संगरोधन का लाभ मिलेगा और उन पर निरस्त्रीकरण के लिए दबाव डाला जा सकेगा। भारत-पाक वार्ता से दोनों देश सहयोगी तौर पर पाश्चात्य देशों की कार्यसूची को स्वीकार करने के दबाव पर काबू पा सकेंगे।

इकाई २७ संघर्ष, समाधान और प्रबंधन

इकाई की रूपरेखा

२७.० उद्देश्य

२७.१ प्रस्तावना

२७.२ संकल्पनाओं को परिभाषित करना

२७.३ दक्षिण एशियाई क्षेत्राीय अभिलक्षण

२७.४ संघर्षों का स्वरूप

२७.४.१ भारत-पाकिस्तान के क्षेत्राीय विवाद

२७.४.२ कच्चातिवू के ऊपर भारत-श्रीलंका विवाद

२७.४.३ जल विभाजन पर संघर्ष

२७.५ संघर्षों का प्रबंधन और समाधान

२७.५.१ पंचाट

२७.५.२ मध्यस्थता

२७.५.३ द्विपक्षीय वार्तालाप

२७.६ सारांश

२७.७ कुछ उपयोगी पुस्तकें

२७.८ बोध प्रश्नों के उत्तर

२७.० उद्देश्य

दक्षिण एशिया एक संघर्षग्रस्त क्षेत्रा है। इस इकाई में संघर्ष के प्रबंधन और समाधान के लिए इस क्षेत्रा के देशों द्वारा अपनाए गए तरीकों की चर्चा की गई है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- संघर्ष, संघर्ष प्रबंधन और संघर्ष समाधान की मूल धारणाओं को परिभाषित कर सकेंगें;
- दक्षिण एशिया में अन्तरराज्यीय संघर्ष के स्रोतों की पहचान कर पाएँगे;
- संघर्षों के स्वरूप को परिभाषित कर सकेंगे; और
- संघर्षो के समाधान के लिए अपनाए गए तरीकों का विवेचनात्मक मूल्यांकन कर सकेंगे।

२७.१ प्रस्तावना

संघर्ष प्रत्येक समाज में गुप्त रूप से विद्यमान है। कुछ समाजों में यह छिपा रहता है तथा कई अन्य समाजों में यह हिंसा और विनाश के रूप में प्रकट होता है। संघर्ष व्यक्तिगत, पारिवारिक, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर होते हैं। इस प्रकार, विश्लेषण का आधार और अभिकर्त्ताओं का स्वरूप प्रत्येक मामले में भिन्न होता है। यद्यपि सभी संघर्षों में कतिपय जातीय लक्षण होते हैं। इस इकाई में अन्तरराष्ट्रीय संघर्षों की चर्चा की गई है जिनमें दक्षिण एशिया के संप्रभु राज्य अन्तर्ग्रस्त हैं।

दक्षिण एशिया कई दीर्घकालिक संघर्षों का क्षेत्रा है। इन्हीं के कारण भारत और पाकिस्तान के बीच तीन युद्ध हुए और कई बार संकटकालीन स्थितियाँ बनीं। सैन्यबल के नियोजन ने दक्षिण एशिया की शांति की भंगुरता इस सीमा तक प्रस्तुत की है कि कुछ विदेशी आलोचकों और सरकारों ने इसे एक

'ख़तरनाक-क्षेत्रा' अथवा संभाव्य 'परमाणु दमकांक' का नाम दिया है। यह कहना चाहिए कि तनाव और प्रतिद्वन्द्विता के बावजूद, दक्षिण दशिया मतभेदों के समाधान के लिए दृढ़ राजनीतिक संस्कृत और व्यवस्था से भरपूर है। इसका अर्थ यह है कि संघर्षों के साथ-साथ, यदि उनका समाधान नहीं है, उनके प्रबंधन और निपटान के लिए अवसर पैदा हुए हैं तथा उस सीमा तक तकरीबन साथ-साथ प्रयास भी किए गए हैं यद्यपि कुछ मामलों में उनकी सफलता बहुत उत्साहजनक नहीं हैं। दक्षिण एशिया में संघर्षों के प्रबंधन और समाधान की जाँच करने से पहले संघर्ष, प्रबंधन और संघर्ष समाधान का अर्थ समझना आवश्यक है।

२७.२ संकल्पनाओं को परिभाषित करना

संघर्ष को कई तरीकों से परिभाषित किया जा सकता है। छात्रों के बीच इस बारे में कोई विरोध नहीं है कि संघर्ष के क्या घटक हैं। उत्तरी अमेरिका में एक प्रमुख विद्यालय दो दलों के बीच हितों के टकराने को संघर्ष के रूप में परिभाषित करता है। उदाहरण के लिए कैनथ बूल्डिंग का कथन है: ''हितों के ऊपर संघर्ष वे स्थितियाँ हैं जिनमें कुछ बदलाव से, प्रत्येक दल के अपने निजी प्राक्कलन के अनुसार, कम से कम एक दल बेहतर स्थिति में होता है तथा किसी अन्य दल की स्थिति बदतर हो जाती है। झगड़ा वह स्थिति है जिसमें प्रत्येक दल अभिज्ञात संघर्ष की सीमा तक दूसरे दल की भलाई को कम करने के लिए कार्य करता है।'' जोहन गलतुंग जो एक अन्य विद्यालय का प्रतिनिधित्व करते हैं, इस बात पर कायम हैं कि ''अन्याय और सोची-समझी हिंसा'' संघर्षमय स्थिति का प्रतीक है। उनके अनुसार, दो अभिनेताओं के बीच शारीरिक हिंसा और प्रत्यक्ष मुकाबला न होने का अवश्यमेव यह तात्पर्य नहीं है कि सोची-समझी हिंसा का पूरी तरह अभाव है। आदम कर्ल एक अधिक व्यापक परिभाषा देते हैं। उनके लिए, संघर्ष वह स्थिति है जहाँ एक दल के 'संभाव्य विकास' में दूसरे दल द्वारा 'बाधा' पैदा की जाए। तथापि, सर्वाधिक व्यापक रूप से प्रयुक्त परिभाषा संघर्षमय स्थिति को दलों के 'परस्पर विरोधी लक्ष्यों' से जोड़ती है। माहकल निकल्सन के अनुसार, 'संघर्ष तब होता है जब दो आदमी ऐसे काम करना चाहते हैं जो परस्पर अननुरूप हों। (वे दोनों एक ही काम को करने के इच्छुक होते हैं, जैसे एक ही सेब खाना चाहेंगे, अथवा वे कुछ ऐसा भिन्न काम करेंगे जहाँ भिन्न काम वास्तव में प्रतिकूल हों, उदाहरण के लिए दोनों एक साथ रहना चाहेंगे परन्तु एक सिनेमा जाना पसन्द करेगा तथा दूसरा घर पर रहना।) संघर्ष की परिभाषा का विस्तार एक व्यष्टि से समूहों (जैसे राष्ट्र) तक किया जा सकता है और दो दलों से अधिक संघर्ष में अन्तर्ग्रस्त हो सकते हैं। सिद्धान्तों पर फर्क नहीं पड़ता है।'' सभी परिभाषाओं में विद्यमान सर्वनिष्ठ तत्त्व उन अभिनेताओं अथवा दलों के अपसारी लक्ष्य और हित हैं जो अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में विभिन्न उपायों का आश्रय लेते हैं।

संघर्ष की संकल्पना से निकट से जुड़ा हुआ शब्द संघर्ष समाधान है। जॉन बर्टन संघर्ष समाधान को एक राजनीतिक दर्शन का नाम देते हैं। इसे ऐसे परिणाम और शान्तिपूर्ण उपाय के रूप परिभाषित किया गया है जिसके द्वारा उस परिणाम की प्राप्ति होती है। हग मिआल के अनुसार संघर्ष समाधान ''उस स्थिति में बदलाव का सूचक है जो संघर्ष के अंतर्निहित स्रोत को अलग कर देता है। ऐसा उनके बीच संबंधों में परिवर्तन अथवा मूल दलों के विघटन और प्रतिस्थापन के कारण होता है। यदि संघर्ष एक पक्ष की सैन्य विजय के द्वारा निपटा दिया जाए और दूसरा पक्ष उस परिणाम को स्वीकार न करें तथा अन्य झगड़े के लिए संगठित होना शुरू कर दें तो उनका अन्तर्निहित संघर्ष पूरी तरह समाप्त नहीं होता है और वह संघर्ष का समाधान हुआ नहीं माना जाएगा।'' इस प्रकार संघर्ष समाधान के दो मौलिक सिद्धान्त हैं: दल परिणाम से सन्तुष्ट होने चाहिए जो उनकी अपेक्षित आवश्यकताओं और हितों को पूरा करे और उस परिणाम को प्राप्त करने के लिए कोई जोर-जबर्दस्ती नहीं होनी चाहिए। जॉन ग्रूम कहते हैं कि दलों की पूर्ण तुष्टि मात्रा तभी होती है यदि ''उन्हें विवादग्रस्त परिस्थितियों और अन्य दलों की महत्त्वाकांक्षाओं का पूर्ण ज्ञान हो, और वास्तव में हो।'' उनका यह भी कहना है कि संघर्ष समाधान ऐसा लक्ष्य है जो वस्तुतः दुर्लभ होता है।

संघर्ष समाधान के तरीकों का विश्लेषण करने से पहले, संघर्ष प्रबन्धन शब्द की परिभाषा देना आवश्यक है। यह संघर्ष समाधान की दिशा और प्रक्रिया में आवश्यक प्रारंभिक कदम के रूप में माना जाता है। दूसरे शब्दों में, संघर्ष समाधान की अवस्था में पहुँचता है अथवा नहीं यह अंशत: उन तरीकों पर निर्भर करता है जिनके अनुसार यह संभव होता है। संघर्ष प्रबन्धन प्रक्रिया में कई उपाय अपनाने पड़ते हैं जिनमें प्रतिपक्षियों के बीच संचार और पारस्परिक अन्तर्क्रियाएँ कायम करना, हिंसा को समाप्त/कम करने के लिए व्यवस्था करना और उनकी समस्या के राजनीतिक हल के लिए दलों की वचनबद्धता प्राप्त करना शामिल हैं। शान्ति प्रक्रिया के लिए अन्तिम उपाय मार्ग प्रशस्त करता है जिसकी सफलता कथित संघर्ष के समाधान का निर्धारण करेगी। जॉन बर्टन संघर्ष प्रबंधन में तीन महत्त्वपूर्ण संघटक पाते हैं – भागीदारी, संचार और तीसरा पक्ष। प्रथम, संघर्ष के प्रति उभय दलों द्वारा भागीदारी की ''कोटि और गुणवत्ता'' है। इसमें ''समझौता कराने की उपलब्ध शक्ति, निर्णय करने वाली सम्बद्ध संस्था अथवा फोरम पर प्रभाव, उपलब्ध ज्ञान और वार्तालाप की निपुणता, और सहभागियों के अन्य प्रभावी लक्षण'' शामिल हैं। दूसरे, ''दलों के बीच संचार की कोटि और गुणवत्ता'' है जिसमें ''स्थिति के बारे में उनका बोध और समझदारी, सूचना प्राप्त करने और उसे संचारित करने की योग्यता'' शामिल है। तीसरे, ''यदि कोई तीसरा दल अन्तर्ग्रस्त है, वहाँ निर्णय लेने की शक्ति की कोटि, तटस्थता की कोटि, विश्लेषण निपुणता का स्तर और तीसरे दल के अन्य लक्षण शामिल हैं।''

संघर्षों का कई प्रकार से समाधान किया जा सकता है। कुछ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तरीके, पंचायत, मध्यस्थता और प्रत्यक्ष वार्तालाप हैं। पंचायत न्यायनिर्णयन की एक लम्बी प्रक्रिया का अंश है। यह संघर्ष समाधान के पुराने तरीकों में से एक तरीका है। इस तरीके से, कथित संघर्ष एक निष्पक्ष न्यायाधिकरण (पंचायत न्यायाधिकरण अथवा अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय) को भेज दिया जाता है। पंचायत न्यायाधिकरण स्थायी न्यायालय से भिन्न एक तदर्थ मंच है जिसे प्रतिवादियों अथवा संघर्षरत दलों के बीच करार के द्वारा गठित किया जाता है। इसका अर्थ है कि यह एक मात्रा संघर्ष के लिए वैध है। न्यायाधिकरण का आकार हमेशा लघु होता है। इसके तीन, पाँच अथवा नौ सदस्य हो सकते हैं। तीन सदस्यीय न्यायाधिकरण के मामले में प्रत्येक प्रतिवादी अपना एक सदस्य चुनता है और तीसरा सदस्य तटस्थ विवाचक होता है जिसे दोनों राष्ट्रीय मनोनीत सदस्यों द्वारा चुना जाता है। यदि वे ऐसा नहीं कर पाते हैं वहाँ एक तीसरा दल जैसे अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय का अध्यक्ष किसी व्यक्ति को मनोनीत करता है। पाँच सदस्यीय न्यायाधिकरण में तीन निष्पक्ष सदस्यों का रखा जाना भी संभव है। कुछ अन्य मामलों में, दल एकमात्रा अथवा वकील अथवा राजदूत अथवा सेवानिवृत सरकारी कर्मचारी होते हैं। एक महत्त्वपूर्ण शर्त यह है कि राज्यों से उम्मीद की जाती है कि वे पंचाट (अभिनिर्णय) का अनुपालन करें और इसीलिए न्यायाधिकरण के निर्णय प्रतिवादियों पर बाध्यकारी होते हैं।

तृतीय दल की मध्यस्थता भी एक महत्त्वपूर्ण तरीका है। यह संघर्ष में एक बड़ी समझौता अथवा वार्तालाप प्रक्रिया का अनन्य हिस्सा है। विभिन्न प्रकार के अभिकर्त्ता जैसे प्राइवेट अस्पताल, सरकारें और क्षेत्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय संगठन मध्यस्थता करते हैं। मध्यस्थता का प्रमुख उद्देश्य प्रतिवादियों के व्यवहार, रुचि और अभिज्ञान में बदलाव लाना होता है ताकि उनके बीच निपटान किया जा सके। प्रत्येक मध्यस्थ भिन्न रणनीति अपनाता है। उसमें दलों के बीच संचार की सुविधा स्थापित करना और उन पर वार्तालाप के दौरान उनकी दृढ़ स्थिति को छोड़ देने के लिए दबाव कायम करना शामिल है। मध्यस्थ अस्पष्ट मुद्दों को स्पष्ट करता है, विरोधियों के लिए सुझाव प्रस्तुत करता है, वार्तालाप में भाग लेता है और प्रस्ताव तैयार करता है। मध्यस्थ पक्षपाती या निष्पक्ष होता है। मध्यस्थता की प्रक्रिया में बल प्रयोग की मनाही है परन्तु वास्तव में कुछ मध्यस्थ दबाव डालने की प्रक्रिया अपनाते हैं अथवा प्रतिवादियों को इस उद्देश्य के साथ विभिन्न प्रोत्साहन मुहैया कराते हैं जिससे समाधान किया जा सके।

संघर्ष समाधान के लिए एक अन्य प्रक्रिया द्विपक्षीय वार्तालाप भी है। यहाँ, विवादग्रस्त दोनों दल तीसरे दल की सहायता के बिना प्रत्यक्ष वार्तालाप करते हैं। यह एक द्विपक्षीय कार्य है क्योंकि दल

एक-दूसरे के साथ संचार स्थापित करते हैं, बातचीत का वातावरण बनाते हैं, कार्यसूची निर्धारित करते हैं, कठोर समझौता करते हैं और उनके बीच होने वाले करार के लिए अपनी वचनबद्धता पेश करते हैं। वार्तालाप प्रक्रिया लम्बी और मुश्किल हो सकती है। यह संभावना हमेशा बनी रहती है कि वार्तालाप कभी भी आसानी से रुक जाए क्योंकि उस स्थिति को अनुकूल बनाने के लिए कोई दल नहीं होता है।

२७.३ दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय अभिलक्षण

दक्षिण एशिया एक संघर्षग्रस्त क्षेत्रा है। इसने बड़े पैमाने पर तीन युद्ध (१९४७-४८, १९६२, १९६५ और १९७१) और एक सीमित युद्ध (कारगिल युद्ध) झेले हैं। दक्षिण एशिया में संघर्षों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इस क्षेत्रा के अभिलक्षणों का मूल्यांकन किया जाए क्योंकि इस क्षेत्रा की संरचना स्वयंमेव संघर्ष के लिए हालात् मुहैया कराती है। दक्षिण एशिया के प्रमुख अभिलक्षणों में एक अभिलक्षण ''भारत-आलोचना'' है। इसका तात्पर्य है भारत प्रत्येक अर्थ में – भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक, क्षेत्रीय उपव्यवस्था के मध्य में बना हुआ है। भौगोलिक रूप से, अपने विशाल भूमि क्षेत्रा के मध्य में अवस्थिति के कारण, भारत इस क्षेत्रा के अन्य राज्यों को जोड़ने वाला एक मात्रा बिन्दु है। सभी राज्यों के साथ इसकी सीमान्तक (भूमि अथवा समुद्र) सहभागिता है और अधिकांश को यह अपने से पृथक् करता है। अधिकांश राज्यों का इतिहास या तो भारत से जुड़ा हुआ है अथवा भारत में उसकी जड़ें हैं। इसका अर्थ है कि क्षेत्राीय इतिहास में इस तथ्य के कारण भारत विशालकाय दृष्टिगोचर होता है कि इसने कारगर ढंग से घटनाओं को प्रभावित किया और उन्हें मूर्त्तरूप दिया जो स्मरणातीत है। इसके अतिरिक्त, भारत सभी दक्षिण एशियाई राज्यों को सभ्यतामूलक गठजोड़ मुहैया करता है। इस प्रकार, इस क्षेत्रा के सामाजिक-आर्थिक और भाषाई मानचित्रा में 'भारतीयता' का मजबूत अंश है जो स्थानीय परम्पराओं से ओतप्रोत है और उनसे तालमेल रखता है। स्पष्टत:, इन राज्यों के सामूहिक व्यक्तित्व के विशाल संघटक भारतीय विरासत से आहरित हैं। अन्तत:, भारत की आर्थिक केन्द्रीयता इसकी सहायता करने और कुछ राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं को प्रभावित करने की क्षमता के संदर्भ में भी समझी जा सकती है। इस बेहतर उदाहरण से इसका तथ्य भी उजागर होता है कि भारत के पास क्षेत्राीय आर्थिक समूहन के रूप में दक्षेस (SAARC) की सफलता का रहस्य है। इस क्षेत्राीय संरचना का प्रभाव है कि भारत अपने उन पड़ोसियों द्वारा प्रतिस्पर्धा में प्रभुत्व स्थल है जिनके हित निरपवाद रूप से भारत के हितों से टकराते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अधिकांश संघर्ष भारत और उसके तुरन्त निकट पड़ोसियों के मध्य हैं।

दक्षिण एशिया का दूसरा महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण इसका 'असममित' और 'पदानुक्रम सत्ता स्वरूप' है। भारत अब तक दक्षिण एशिया में (जनसंख्या और क्षेत्रा में) सबसे विशाल तथा (आर्थिक, प्रौद्योगिकीय और सैन्य बल में) सबसे बड़ा राज्य है। भारत दक्षिण एशिया में अपने पड़ोसी राज्यों में प्रत्येक से अलग-अलग और ''सबको एक साथ मिलाकर'' भी सबसे विशाल और बड़ा है। वास्तव में, इसकी असममिति इतनी अभिभूत है कि भारत के अन्य पड़ोसियों के बीच 'सत्ता संभाव्यता के महत्त्वपूर्ण मतभेद' धूमिल पड़ जाते हैं। परिणामस्वरूप, पाकिस्तान जैसे देश भारत के साथ सत्ता की बराबरी के लिए प्रतिस्पर्धा चाहते हैं।

दक्षिण एशिया का तीसरा अभिलक्षण सदस्य राज्यों का ''आम उपनिवेशी अनुभव'' है। इस पर व्यापक रूप से सहमति है कि उपनिवेशवाद के उपरान्त काल में उपनिवेशी इतिहास ने कई संघर्षों के बीज बो दिए हैं। ऐसा उपनिवेशवाद को समाप्त करने की प्रक्रिया के कारण ही इतना अधिक घटित नहीं हुआ अपितु पृथक् समूहों और उनके राज्य-क्षेत्राों को आपस में जोड़ने की बल प्रयोग की प्रक्रिया के माध्यम से ब्रिटिश साम्राज्य के निर्माण के विशिष्ट तरीके के कारण हुआ। ब्रिटिश उपनिवेशी शासन ने उपमहाद्वीप की क्षेत्रीय एकता स्थापित की: भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश समेकित ब्रिटिश राज के मूल में थे जिससे नेपाल और भूटान के परिधीय सम्बन्ध बने रहे तथा

श्रीलंका और मालदीव इस राज से स्वतंत्रा थे परन्तु उपनिवेशी सरकार के नियंत्राण में थे। ये सभी एक सर्वनिष्ठ भाग्य के सहभागी थे और अपनी निजी लागत पर साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए विवश थे। परन्तु यह सहयोजित भाग्य उस समय प्रबल व्यष्टिपरक हो गया जब ब्रिटिश शासन का अन्त हुआ। उपनिवेशवाद के विखण्डन की प्रक्रिया से उपमहाद्वीप में क्षेत्रीय विखण्डन और बिखराव की प्रक्रिया आरंभ हुई। कई मामलों में, उपनिवेशवाद के उपरान्त राज्यों का गठन बकवास और अतर्कसंगत आधार पर हुआ, राज्यों का सीमांकन अपूर्ण रहा तथा कई जातियों और धार्मिक समूहों के हित और प्रास्थिति को परिभाषित नहीं किया गया। उपनिवेशवाद के उपरान्त दक्षिण एशिया इन उपनिवेशी पैतृक सम्पदाओं के साथ जीवित है जिनसे राज्यों के भीतर और इस क्षेत्रा के राज्यों के बीच विवादों और संघर्षों में बढ़ोत्तरी हो रही है।

२७.४ संघर्षों का स्वरूप

दक्षिण एशिया के देशों के बीच कई द्विपक्षीय समस्याएँ हैं। उनमें से कुछ सत्ता, सुरक्षा और प्रतिष्ठा के लिए प्रतिस्पर्धा के परिणामस्वरूप हैं। भारत और पाकिस्तान के बीच परम्परागत अस्त्रा निर्माण और परमाणुवीय प्रतिस्पर्धा को ऐसे उदाहरण के रूप में उद्धृत किया जा सकता है। इसके अलावा दक्षिण एशिया में क्षेत्रीय और जल संसाधनों के लिए मुक्त द्विपक्षीय संघर्ष है। महत्त्वपूर्ण रूप से, क्षेत्रा के भारतीय मूल के स्वरूप के कारण ये संघर्ष भारत और इसके दक्षिण एशियाई पड़ौसियों के मध्य हैं।

अवधि और प्रबलता के आधार पर, दक्षिण एशिया में क्षेत्रीय संघर्ष दो वर्गों में बाँटे जा सकते हैं: दीर्घकालिक और परिधीय संघर्ष। दीर्घकालिक संघर्षों में भारत के पाकिस्तान के साथ विशेष रूप से कश्मीर और सियाचीन पर विवाद शामिल हैं। परिधीय संघर्ष वे हैं जो भारत और उसके छोटे-छोटे पड़ोसी राज्यों जैसे श्रीलंका के बीच हैं। पुन: प्रतिस्पर्द्धी क्षेत्रा के स्वरूप के संदर्भ में इनका आगे और वर्गीकरण किया जा सकता है: अधिकांश संघर्ष सीमाओं के सीमांकन से जुड़े हुए हैं। मात्रा कश्मीर पुन: संयोजनवादी विवाद के कारण विशिष्ट स्वरूप का है। भारत-पाक सीमा-विवाद इस अर्थ में एक बहु-कंटक मामला है कि दोनों देश एक ही समय में क्षेत्रा के एकाधिक अंश के लिए स्पर्द्धा में जुटे हैं। पाकिस्तानियों के अनुसार, भारत और पाकिस्तान के बीच यदि कश्मीर एक 'मूल मुद्दा' है, वहीं सियाचीन, कच्छ और सर क्रीक के पास अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के स्थायित्व के लिए निर्णायक मुद्दे हैं। भारत और श्रीलंका के बीच कच्चातिवू विवाद पर, कम से कम भारतीय पक्ष की तरफ से कम स्पर्द्धा हुई। इससे इसके समाधान का कार्य आसान हो गया।

२७.४.१ भारत-पाकिस्तान के क्षेत्रीय विवाद

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर, सियाचीन, कच्छ की खाड़ी और सर क्रीक क्षेत्रा के ऊपर चार प्रमुख विवाद हैं। इनमें से केवल कच्छ विवाद का समाधान हुआ है। कश्मीर का संघर्ष सबसे पुराना है जो इस महाद्वीप से अंग्रेजों की वापसी और १९४७ में भारत के विभाजन के समय आरंभ हुआ। आज़ादी के समय, भारत संघ के पास दो प्रकार के राज्य थे। ये ब्रिटिश भारत और रजवाड़ों के राज्य थे। ब्रिटिश भारत के राज्यों के समेकन में कोई समस्या नहीं थी; वे या तो भारत का अथवा पाकिस्तान का हिस्सा बन गए। परन्तु रजवाड़ों से गंभीर समस्या मुखर हुई। जब ब्रिटिश क्राउन की परम सत्ता का सिद्धांत व्यक्त हुआ, लार्ड माउण्टबेटन ने रजवाड़ों से उनकी भौगोलिक संलग्नता और जनसांख्यिकीय संगठन के आधार पर भारत अथवा पाकिस्तान में शामिल होने का आग्रह किया। इसका अर्थ है कि हिन्दू बहुल क्षेत्रा भारत में शामिल हो सकते थे तथा मुस्लिम बहुल क्षेत्रा पाकिस्तान में जाने चाहिए। यहीं से कश्मीर समस्या का सूत्रापात हुआ। जम्मू एक कश्मीर के शासक हिन्दू (महाराजा हरी सिंह) थे परन्तु वहाँ की जनसंख्या का बहुमत मुस्लिम था। जहाँ तक क्षेत्रा का सम्बन्ध है, यह भारत और पाकिस्तान दोनों से जुड़ा हुआ था। महाराजा इनमें से किसी भी देश में शामिल होना नहीं चाहते थे। इस अस्थिर स्थिति को ध्यान में रखकर, पाकिस्तान ने अक्टूबर १९४७ में पुञ्छ में आरंभ हुए एक जनजातीय आन्दोलन की सहायता के लिए अपनी

सेनाएँ भेजीं। शीघ्र ही पाकिस्तान समर्थित विद्रोही बलों ने, महाराजा की विशेष प्रतिष्ठा और प्राधिकार को जोखिम में डालते हुए, राजधानी श्रीनगर की ओर प्रस्थान किया। चूँकि महाराजा के पास आक्रमण का प्रत्युत्तर देने के लिए कोई सैन्यबल नहीं था, अत: उन्होंने भारत से सैनिक सहायता की अपील की। प्रधानमंत्राी नेहरू ने इसके लिए दो शर्तें रखीं: प्रथम, उन्होंने महाराजा से कश्मीरी राष्ट्रीय कान्फ्रेंस के अध्यक्ष शेख मुहम्मद अब्दुल्ला से अनुमति माँगने को कहा। दूसरे, महाराजा को जम्मू एवं कश्मीर राज्य को भारत संघ में सम्मिलित करने की आवश्यकता थी बशर्ते अब्दुल्ला सम्मिलन विलेख को अपनी मंजूरी देते। इन दो शर्तों के पूरी हो जाने के बाद, नेहरू ने विद्रोहियों के दमन तथा पाकिस्तानी सेना को पीछे खदेड़ने के लिए अपनी सेनाएँ भेज दीं। तथापि, भारत की सफलता आंशिक थी। इसकी सेना विद्रोहियों को आगे बढ़ने से ही रोक पाई और उन्हें कश्मीर का एक तिहाई हिस्सा पाकिस्तान के लिए छोड़ना पड़ा। तत्पश्चात्, १ जनवरी १९४८ को, भारत ने यह मुद्दा संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के समक्ष प्रस्तुत किया जिसने अप्रैल १९४८ में यह आग्रह करते हुए संकल्प पारित किया कि दोनों देश शामिल होने के प्रति लोक इच्छा जानने के लिए जम्मू एवं कश्मीर में जनमत के माध्यम से विवाद को निपटाएँ। इसने संघर्ष प्रबन्धन और समाधान की दीर्घकालिक प्रक्रिया की शुरुआत की नींव रखी जो युद्ध, विद्रोह और हिंसा के साथ उभय पक्ष में मौजूद हैं। अभी तक इसका परिणाम नकारात्मक रहा है। अगले अनुभाग में हम इनकी जाँच करेंगे।

सियाचीन के ऊपर विवाद प्रमुखत: कश्मीर संघर्ष से जुड़ा हुआ है। मुद्दे की विशिष्टता इस तथ्य में सन्निहित है कि सियाचीन हिमखण्ड अपने कठोर मौसमी हालात, अधिक ऊँचाई और ऊबड़-खाबड़ भूभाग के कारण विश्व में अप्रीतिकर क्षेत्राों में से एक क्षेत्रा है। यहाँ लगभग ७ मीटर तक प्रतिवर्ष भारी बर्फ गिरती है, लगभग ३०० किमी प्रति घंटे की रफ्तार से बर्फीले तूफान आते हैं और तापमान शून्य से ४० डिग्री नीचे चला जाता है। इसकी उत्कृष्ट ऊँचाई इस तथ्य से समझी जा सकती है कि भारत का बेस कैम्प उस स्थान पर है जो समुद्र तल से १२,००० फीट की ऊँचाई पर है। इसका तात्पर्य यह है कि इसके आगे कुछ बेसों की ऊँचाई और अधिक है (यह १६,००० फीट से २२,००० फीट तक है)। यह क्षेत्रा हिमस्खलन के लिए संवेदनशील है। अनुमान लगाया जाता है कि ९५ प्रतिशत से अधिक भारतीय मौतें, उत्कृष्ट ऊँचाई, प्रतिकूल मौसम और अप्रीतिकर भूभाग के कारण होती हैं।

१९८०वें दशक के मध्य तक सियाचीन हिमखण्ड पर भारत अथवा पाकिस्तान का नियंत्राण नहीं था।१९४९ में सृजित भारत-पाकिस्तान युद्ध विराम रेखा ने स्पष्टत: किसी भी पक्ष को इस क्षेत्रा का निरूपण नहीं किया। नियंत्राण रेखा ने भी हिमखंड की स्थिति निर्धारित नहीं की। इस प्रकार इस क्षेत्रा का रेखांकन नहीं हो पाया। चूँकि यह क्षेत्रा वास्तविक नियंत्राण रेखा से परे 'अरेखांकित क्षेत्रा' में स्थित है, भारत और पाकिस्तान दोनों ने ही इस हिमखंड के ऊपर प्रतिस्पर्धात्मक दावे किए। यह स्पष्ट है कि पाकिस्तान NJ९८४२ से उत्तर-पूर्व दिशा में सीधी रेखा खींचने के लिए दबाव डाल रहा है। यह चीन के साथ अपनी सीमा पर काराकोरम दर्रा से गुजरती है। दूसरी तरफ, भारत काराकोरम रेंज के सुदूर दक्षिण में सालटोरो रेंज के साथ-साथ NJ९८४२ से उत्तर-उत्तर पश्चिम दिशा में यह रेखा खींचना चाहता है।

यूरोप और उत्तरी अमेरिका में प्रकाशित पर्वतारोहण मानचित्राों से १९७०वें दशक के अन्त में भारत को इस हिमखंड का पता चला। आरंभ में भारत ने किसी पर्वतारोहण अभियान की अनुमति नहीं दी जबकि पाकिस्तान ने इस क्षेत्रा के ऊपर वैधता प्राप्त करने के लिए ऐसे क्रियाकलाप की अनुमति दी और उसे प्रोत्साहित किया। तथापि, १९७८ में, भारत ने अपनी नीति में बदलाव किया। इसने पर्वतारोही अभियान के छद्म वेश में इस क्षेत्रा में अपनी सेना का ''सांग्रामिक टोही दल'' भेजा। पत्पश्चात् कई और अभियान किए तथा गर्मी में हिमखंड की गश्त की। आरंभ में पाकिस्तान ने भारतीय सेना के क्रियाकलापों का सैनिक विरोध नहीं किया परन्तु १९७८ से इसने इस हिमखंड में भारतीय मौजूदगी के प्रति कई विरोध किए। १९८३ में, पाकिस्तान ने हिमखंड में अपनी सैनिक टुकड़ियाँ रखे जाने का प्रयास किया। भारत ने १९८४ में हवाई मार्ग से अपनी सेनाओं की एक प्लाटून भेजकर पाकिस्तानी चाल से पहले उस पर कब्जा कर लिया और इस प्रकार हिमखंड पर कब्जा

करने वाला पहला देश बन गया। १९८४ से, पाकिस्तान नियमित रूप से भारतीय फौजों के ठिकाने नष्ट करने का प्रयास करता रहा है साथ ही, भारतीय सेना का उद्देश्य किसी भी कीमत पर इस क्षेत्रा पर नियंत्राण बनाए रखना रहा है। अनुघटित सैनिक भिड़न्त से भारी जन हानि हुई है और आर्थिक लागत भी बढ़ती जा रही है।

कच्छ की खाड़ी के ऊपर विवाद भारत और पाकिस्तान की आजादी के तुरन्त बाद खड़ा हो गया। कच्छ की खाड़ी पाकिस्तान के सिन्ध प्रदेश और भारत के गुजरात राज्य के बीच अवस्थित है। यह २३००० वर्ग किमी का दलदली क्षेत्रा है। "नौवहन के लिए न तो पर्याप्त गीला और कृषि के लिए न पर्याप्त शुष्क'' यह क्षेत्रा दो भिन्न खाड़ियों में बँटा हुआ है। बड़ी खाड़ी और छोटी खाड़ी। बड़ी खाड़ी गुजरात के मध्य में है और १८००० वर्ग किमी में फैली हुई है। छोटी खाड़ी लगभग ५००० वर्ग किमी है जो कच्छ की खाड़ी को सिन्ध प्रदेश तक पहुँचाती है। १९४७ में, सिन्ध और कच्छ के बीच सीमा अन्तरराष्ट्रीय सीमा बन गई। विवाद उस समय प्रारंभ हुआ जब पाकिस्तान ने बड़ी खाड़ी के एक-तिहाई हिस्से (जो लगभग ३५०० वर्ग मील है) के ऊपर दावा किया। दावित क्षेत्रा २४वें उत्तरी अक्षांश के समान्तर फैला हुआ है जिसके बारे में तर्क दिया गया था कि यह हमेशा सिंध के नियंत्राण और प्रशासन के अधीन रहा है। भारत ने पाकिस्तान का दावा इस आधार पर खारिज कर दिया कि कच्छ की सम्पूर्ण खाड़ी गुजरात के कच्छ क्षेत्रा का भाग थी। अपनी आजादी के कई साल बाद तक दोनों देशों ने कच्छ की खाड़ी पर अपने दावे और प्रतिदावे दुहराते हुए टिप्पणियाँ कीं और पत्रा विनिमय किए।

फरवरी १९५६ में विवाद को लेकर उस समय सैनिक हस्तक्षेप हुआ जब पाकिस्तानी बलों ने कच्छ की खाड़ी के आधे उत्तरी क्षेत्रा में छड बैट में प्रवेश किया। भारत ने अपनी सेनाएँ भेजकर इसका जवाब दिया। परन्तु पाकिस्तानी सैनिक पकड़ में नहीं आ सके। पाकिस्तान ने लुका-छिपी का खेल खेला। यह भारत का ध्यान विवाद की ओर खींचना चाहता था जिससे उसका कोई हल निकले। आगे चलकर विवादग्रस्त ऐतिहासिक तथ्यों का हवाला देकर अपने-अपने दावों और प्रतिदावों को दुहराते हुए पत्रा विनिमय होते रहे। अन्तत: एक पंचायत न्यायाधिकरण ने १९६८ में इस विवाद का समाधान किया।

सर क्रीक के ऊपर विवाद कच्छ की खाड़ी विवाद का हिस्सा बना रहा। जब अनुवर्त्ती विवाद का समाधान हुआ तो इस समाधान में सर क्रीक शामिल नहीं किया गया। क्रीक एक घटता-बढ़ता ज्वार-भाटीय जलमार्ग है तथा कच्छ की खाड़ी का एक १०० मीटर लम्बा नदमुख दलदल है। पाकिस्तान का मत था कि कच्छ-सिन्ध क्षेत्रा के सीमा विवाद में सर क्रीक शामिल था और उसने सम्पूर्ण सर क्रीक पर अपने क्षेत्रा के रूप में दावा किया। भारत ने पाकिस्तान का दावा इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि सर क्रीक के ऊपर कोई क्षेत्राीय विवाद नहीं था क्योंकि इसकी सीमा क्रीक के मध्य में सीमा स्तम्भ लगाकर भलीभाँति निश्चित हो चुकी थी। कच्छ विवाद के पंचाट के दौरान, भारत और पाकिस्तान दोनों न्यायाधिकरण के समक्ष उत्तर में सीमा विवाद को सीमित करने के लिए सहमत हो गए थे। दक्षिण में एक सहमतिप्राप्त सीमा थी। यह सर क्रीक से आरंभ होकर २४वें अक्षांश के समान्तर बढ़ती हुई पूर्वाभिमुख हो गई थी। तथापि, भारत का दृष्टिकोण था कि "यह रेखा कच्छ की उत्तरी सीमा निर्धारित करती हुई तेजी से समकोण पर मुड़ती थी।'' पाकिस्तान इस रेखा को कच्छ की आधी खाड़ी पर दावे के लिए पूर्व की ओर और बढ़ाना चाहता था। भारत और पाकिस्तान की ओर से कुछ प्रयासों के बावजूद विवाद का समाधान नहीं हुआ है।

२७.४.२ कच्चातिवू के ऊपर भारत-श्रीलंका विवाद

भारत और श्रीलंका के बीच क्षेत्राीय विवाद पॉक स्ट्रेट्स में एक छोटे उजाड़ द्वीप कच्चातिवू पर था। सभी ऐतिहासिक प्रमाणों से पता चलता है कि यह द्वीप तमिलनाडु के राजा रामनाद की जमींदारी का एक हिस्सा था। इसी के साथ श्रीलंका के पास यह दर्शाने के लिए कोई प्रमाण नहीं था कि द्वीप उससे संबंद्ध था। फिर भी श्रीलंकाई सरकार ने इस आधार पर दावा किया कि इस द्वीप

पर उसका स्वामित्व गुप्त रूप से ब्रिटिश भारतीय सरकार द्वारा स्वीकार कर लिया गया था। जबकि श्रीलंका के साथ असहमत होते हुए अनुवर्त्ती भारतीय नेताओं ने क्षेत्रीय विवाद के प्रति उदासीनता और नगण्यता जाहिर की। नेहरू और उसके अनुवर्त्ती नेताओं ने द्विपक्षीय सम्बन्धों के हित में विवाद की ओर पूरा ध्यान नहीं दिया। यह उनके विभिन्न कथनों से स्पष्ट है। नेहरू ने वस्तुत: श्रीलंकाई तर्काधार को उस समय ठुकरा दिया जब उसने कहा कि रामनाद के राजा के जमींदारी हक कच्चातिवू द्वीप पर संप्रभुता नहीं दर्शाते। उसने समस्या के प्रति अपनी अनभिज्ञता और नैमित्तिक दृष्टिकोण उस समय प्रदर्शित किया जब उसने कहा कि वह विवादग्रस्त द्वीप की अवस्थिति के बारे में आश्वस्त नहीं है। वह श्रीलंका की संवेदना के प्रति अति सतर्क प्रतीत हुआ जब उसने यह कहा कि इस मुद्दे में कोई 'राष्ट्रीय प्रतिष्ठा' नहीं थी। इसी प्रकार, द्विपक्षीय वार्ता पर प्रतिकूल प्रभाव की आशंका से, इन्दिरा गाँधी कच्चातिवू पर भारत के समर्थन में मुद्दे को उठाने की इच्छुक नहीं थीं जो उनके मतानुसार, "बिना सामरिक महत्व की विषम बाधा" थी। दो नेताओं के बीच अन्तर केवल इतना था कि यद्यपि नेहरू ने इस मुद्दे पर मुलायम रुख अपनाया, उन्होंने द्वीप के ऊपर अपनी संप्रभुता की मान्यता के लिए श्रीलंका के साथ कोई करार नहीं किया। परन्तु १९७४ में इन्दिरा गाँधी ने तमिलनाडु की इच्छाओं और हितों के विरुद्ध करार पर हस्ताक्षर किए थे।

२७.४.३ जल विभाजन पर संघर्ष

जल विभाजन को लेकर भारत और पाकिस्तान तथा भारत और बांग्लादेश के बीच संघर्ष पैदा हुए। यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि भारत और नेपाल के बीच जल विभाजन पर कोई संघर्ष नहीं हुआ है; इनके बीच प्रमुख मुद्दा जल संसाधनों के विकास (जल-विद्युत, सिंचाई का बाढ़ नियंत्राण, आदि) से जुड़ा हुआ है। इस प्रकार, संघर्ष समाधान के संदर्भ में, उन संघर्षों पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है जिनमें जल विभाजन का मुद्दा अन्तर्ग्रस्त था। पाकिस्तान और बांग्लादेश के साथ भारत के विवाद विद्यमान मामले हैं।

क्षेत्राीय संघर्ष के अलावा, भारत और पाकिस्तान के बीच सिन्ध नदी के जल विभाजन पर एक प्रमुख विवाद था। भारत के विभाजन के समय सिन्धु जल व्यवस्था के बँटवारे की आवश्यकता थी क्योंकि विभाजन रेखा सिन्धु जल तंत्रा के आर-पार गुजरती थी। सिन्धु जल तंत्रा अविभाजित पंजाब में कृषि विकास के लिए जीवन रेखा थी। सिन्धु जल तंत्रा में छह नदियाँ शामिल थीं: झेलम, चेनाब और पश्चिम में स्वयं सिन्धु; रावी, व्यास और सतलुज। भारत और पाकिस्तान के हितों का टकराव हुआ क्योंकि दोनों देशों ने जल तंत्रा के बड़े हिस्से की माँग की। यह मुद्दा उस समय और जटिल हो गया जब विभाजन के बाद भारत-पाकिस्तान के बीच युद्ध हुआ तथा बाद के वर्षों में दोनों देशों के बीच रिश्ते तनावग्रस्त होते गए। इस प्रकार, दीर्घकालिक द्विपक्षीय वार्ता से उस समय तक कोई हल नहीं निकला जब तक विश्व बैंक ने १९६० में एक सौदेबाजी तय करने के लिए अपने अच्छे कार्यालयों का विस्तार नहीं किया।

गंगाजल विवाद सिन्धु जल विवाद की तुलना में काफी अधिक जटिल तथा पेचीदा था तथा प्रतिद्वन्द्वी दलों – भारत और बांग्लादेश – ने वार्ता के विभिन्न चरणों में दुराग्रहपूर्ण रवैया अपनाया। मुद्दा महज गंगाजल बँटवारे का ही नहीं था बल्कि अनुत्पादनकारी मौसम में (जनवरी व मई के बीच) जब बहाव कम रहता है, उसका संवर्धन करने का भी था। यह ध्यातव्य है कि भारत एक उच्च तटवर्ती राज्य है और बांग्लादेश एक निचला तटवर्ती राज्य है। बांग्लादेश का तर्क था कि भारत हमेशा गंगा जल के फरक्का में एकपक्षीय दिक् परिवर्तन में अन्तर्ग्रस्त रहा जिससे निचले तटवर्ती राज्य के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

दूसरी तरफ भारत ने, यह मानते हुए कि गंगा एक भारतीय नदी है, बल दिया कि गंगा जल का एक अंश फरक्का बाँध से भागीरथी/हुगली का विपथन कोलकाता पत्तन को खराब होने से बचाने तथा कोलकाता को पेय और औद्योगिक जल आपूर्त्ति की गंदगी से संरक्षण के लिए आवश्यक था। बांग्लादेश ने हमेशा सम जल विभाजन सूत्रा पर बल दिया जिसे भारत में उपजाऊ क्षेत्रा और बांग्लादेश

की तुलना में अधिक जनसंख्या के होने के कारण भारत ने इसे तर्कसंगत नहीं माना। जहाँ तक संवर्धन का सवाल है, अनुत्पादन शील सत्रा के दौरान जल प्रवाह के संवर्धन के लिए रक्षा उपायों पर हमेशा तीव्र विरोध रहा। गत समय में, भारत का प्रस्ताव था कि जल-अतिरेक वाली ब्रह्म पुत्रा नदी से गंगा में जल प्रवाह बढ़ाने के लिए जोगीघोपा से फरक्का तक बांग्लादेश से होते हुए एक नहर का निर्माण किया जाए। दूसरी ओर, बांग्लादेश ने प्रस्ताव किया कि नेपाल में सात ऊँचे बाँधों के पीछे मानसून जल प्रवाह का भंडारण करके गंगाजल तंत्रा के भीतर जल संवर्धन किया जाए। दोनों पक्ष एक दूसरे से असहमत थे और इस प्रकार, कई राजनीतिक वार्तालापों के बावजूद समस्या का समाधान उस समय तक नहीं हुआ जब तक १९९६ में करार नहीं हुआ।

बोध प्रश्न १

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई-अंत में संकेत देखें।

१) हग मिआल के अनुसार संघर्ष समाधान के दो मौलिक सिद्धान्त हैं:

....

....

....

....

....

....

२) पंचाट क्या है?

....

....

....

....

....

....

२७.५ संघर्षो का प्रबन्धन और समाधान

दक्षिण एशिया में सरकारों ने अपने संघर्षो के विभिन्न मुद्दों पर सामयिक समाधान के तीन विकल्पों का अनुसरण किया है – पंचाट, मध्यस्थता और द्विपक्षीय वार्तालाप। पहले दो विकल्प गत समय में अपनाए गए थे और तीसरा विकल्प एकमात्रा विकल्प है जिसे भारत द्वारा प्राथमिकता दी गई है यद्यपि पाकिस्तान और बांग्लादेश जैसे देश अन्तरराष्ट्रीय मध्यस्थता चाहते हैं। अब, भारत में अपने किसी भी पड़ोसी के साथ अपने द्विपक्षीय विवादों पर किसी तीसरे दल द्वारा किसी भी तरह की मध्यस्थता अथवा पंचाट का विरोध किया जाता है और भारत द्विपक्षीय वार्तालाप पर बल देता है– संघर्ष समाधान का ऐसा मानदण्ड जिसमें अन्य बदलाव लाना चाहते हैं। ऐसा इस तथ्य के बावजूद है कि गत समय में कुछ विवादों के समाधान में पंचाट अथवा मध्यस्थ के रूप में तीसरे दल की अन्तर्ग्रस्तता एकबारगी सभी के लिए सफल रही।

२७.५.१ पंचाट

इस प्रयोजनार्थ गठित तीन सदस्यीय न्यायाधिकरण द्वारा कच्छ की खाड़ी के विवाद की मध्यस्थता की गई थी। भारत ने अपने प्रतिनिधि के रूप में एले बेबलर (पूर्ववर्त्ती यूगोस्लाविया के संवैधानिक न्यायालय के एक न्यायाधीश) को अपना प्रतिनिधि नामित किया था। पाकिस्तान ने नसरूल एन्तेज़म (एम ईरानी राजनयज्ञ) को नामित किया। संयुक्त राष्ट्र महासचिव ने गुन्नर लैगरग्रेन (स्वीडिश उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश) को न्यायाधिकरण का अध्यक्ष बनने के लिए चुना। न्यायाधिकरण ने लगभग १०,००० पृष्ठ के दस्तावेजों और ३५० मानचित्राों की जाँच की। अपने दावों के समर्थन में भारत ने २५० दस्तावेज तथा पाकिस्तान ने ३५० दस्तावेज पेश किए। न्यायाधिकरण ने १७१ बैठकें कीं और १९ फरवरी १९६८ को जेनेवा में अपना निर्णय दिया। निर्णय दो मतों के बहुमत से हुआ क्योंकि भारतीय नामिती ने विरोध में मत दिया। इस न्यायाधिकरण ने पाकिस्तान को खाड़ी के उत्तरी भाग में लगभग ९०० वर्ग कि.मी. क्षेत्रा दे दिया। यद्यपि विवादग्रस्त क्षेत्रा का बचा हुआ हिस्सा भारत के पास था फिर भी यह न्यायाधिकरण के पंचाट से खुश नहीं था। भारत ने इसे कानून सम्मत निर्णय की बजाए राजनीति प्रेरित बताया। चूँकि वचनबद्धता और प्रतिभूति के कारण, न्यायाधिकरण के निर्णय पर प्रश्नचिह्न नहीं लग सकता था, भारत ने काफी आत्मसंयम के साथ इसे स्वीकार कर लिया। इस अनुभव के आधार पर इसने अपने पड़ोसियों के साथ किसी भी अन्तरराष्ट्रीय विवाद के पंचाट के लिए कभी भी सहमति नहीं दी है।

२७.५.२ मध्यस्थता

दक्षिण एशिया में संघर्ष प्रबंधन के इतिहास में, १९६०वें दशक तक अन्तरराष्ट्रीय मध्यस्थता ने महत्त्वपूर्ण रणनीति तैयार की। यद्यपि अन्य दक्षिण एशियाई देशों का प्रथम रुझान तीसरे दल द्वारा मध्यस्थता का था, भारत ने अनिच्छापूर्वक इसे स्वीकार किया। चूँकि भूमंडलीय सत्ता प्रतिस्पर्धा ने दक्षिण एशिया में शान्ति बनाए रखने के लिए बाध्यताएँ लागू कीं, संयुक्त राज्य और सोवियत संघ दोनों ने भारत और पाकिस्तान क्षेत्राों को अपने संघर्षों के समाधान के लिए प्रेरित किया। १९६६ में, भारत-पाकिस्तान युद्ध के मद्देनज़र पूर्ववर्त्ती सोवियत संघ ने दो देशों के बीच ताशकंद समझौते की मध्यस्थता की। युद्ध समाप्ति के अलावा, करार में शान्तिपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने का प्रावधान किया गया था, तथापि, इससे शत्राुता का अन्त नहीं हुआ।

सर्वाधिक सफल मध्यस्थता भारत और पाकिस्तान के बीच सिन्धु जल विवाद के लिए की गई। १९६० में इसका समाधान करने के लिए विश्व बैंक ने अपने अच्छे कार्यालयों का विस्तार किया। दोनों देशों द्वारा की गई संधि के अनुसार, पाकिस्तान को तीन पश्चिमी नदियाँ – झेलम, चेनाब और सिंध मिलीं तथा भारत को तीन पूर्वी नदियाँ – रावी, व्यास और सतलुज। नदियों के समान बँटवारे ने विवाद हल करने का काम बहुत आसान बना दिया गया। महत्त्वपूर्ण रूप से, संधि में भारत और पाकिस्तान प्रत्येक के लिए एक आयुक्त वाले स्थायी सिंध आयोग का गठन किया गया था। आयोग भारत-पाकिस्तान सम्बन्धों में तनाव और परेशानियों के दौरान भी नियमित बैठक करता है और दोनों देशों का दौरा भी करता है। संधि के कार्यान्वयन पर सभी मतभेदों के समाधान के लिए आयोग को शक्ति प्रदान की गई है और यदि आयोग विफल रहता है तो मामला सरकारों के पास भेज दिया जाता है। यदि सरकारों के बीच कोई करार नहीं है तो मामले पर तृतीय दल द्वारा पंचाट के लिए कार्यवाही की जाती है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सन्धि के पंचाट उपखंड को अभी तक लागू नहीं किया गया है। संधि भारत और पाकिस्तान के बीच कई युद्धों और तनावों के बावजूद भली-भाँति कार्य कर रही है।

कश्मीर विवाद १९५० और १९५८ के मध्य संयुक्त राष्ट्र द्वारा असफल मध्यस्थता की स्थिति का प्रतीक है। १९४८ में, संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् ने शान्ति की बहाली और विवाद का समाधान करने के लिए जनमत की व्यवस्था करने के लिए एक पाँच सदस्यीय मध्यस्थता आयोग नियुक्त किया जिसे भारत और पाकिस्तान पर संयुक्त राष्ट्र आयोग के नाम से जाना जाता है। अगस्त १९४८ में भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध विराम और युद्ध बन्दी के क्षेत्रा से अपनी सेनाएँ वापस बुलाने

तथा पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में स्थानीय बलों के नि:शस्त्रीकरण पर सिद्धांतत: सहमत हो गए थे। संयुक्त राष्ट्र ने कश्मीर में लोगों की इच्छा जानने के लिए जनमत के लिए भारत की सहमति प्राप्त कर ली थी परन्तु १९४९ में भारत ने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। आयोग ने लगभग दो साल तक काम किया और सुरक्षा परिषद् को तीन अन्तरिम रिपोर्टें पेश कीं। तथापि, इससे भारत और पाकिस्तान विवाद को निपटाने में सहमति के लिए कहीं भी निकट नहीं आए। दोनों देशों ने जनमत और असैनिकीकरण प्रस्तावों की अलग-अलग व्याख्या की। इन हालातों में एक सुझाव दिया गया था कि विवाद को पंचाट के लिए भेज दिया जाना चाहिए। भारत इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हुआ। इसी समय, पाकिस्तान कश्मीर के विभाजन के विचार के पक्ष में नहीं था। मध्यस्थता में प्रगति न होने से निराश होकर, आयोग के कुछ सदस्यों ने समस्या को भारत और पाकिस्तान द्वारा द्विपक्षीय वार्ता के माध्यम से हल करने के लिए छोड़ देने का विचार किया। १९५८ तक संयुक्त राष्ट्र मध्यस्थता अप्रभावी रही और वस्तुत: उन्होंने इसे छोड़ दिया था।

२७.५.३ द्विपक्षीय वार्तालाप

संघर्ष समाधान के लिए भारत का सर्वाधिक प्राथमिकता वाला स्वरूप द्विपक्षीय वार्तालाप है। हाल ही में, यही सबसे प्रभावी तरीका रह गया है क्योंकि भारत ने,जो दक्षिण एशिया के लगभग सभी संघर्षों और प्रतिद्वन्द्विताओं में प्रमुख दल है, पंचाट और मध्यस्थताओं को ठुकरा दिया है। भारत के पड़ोसी इसे बदलने में असमर्थ हैं जिसे वे शान्ति प्रक्रिया के लिए उस भारतीय मन:स्थिति के रूप में वर्णन करते हैं जो व्यावहारिक रूप से क्षेत्रीय अभिगम बन चुकी है। शिमला समझौता १९७२ में सफल द्विपक्षीय वार्तालापों का परिणाम है। इसने संघर्ष समाधान के लिए द्विपक्षीयवाद की सुसंगतता पर जोर दिया है तथा भारत और पाकिस्तान से शान्ति प्रक्रिया के लिए किसी भी प्रकार की बाहरी अन्तग्रस्तता की माँग न करने की बात कही है। यह कहना ठीक होगा कि द्विपक्षीय अभिगम के बारे में भारत के पड़ोसियों की आपत्ति के बावजूद इसे सफलतापूर्वक अथवा विफलतापूर्वक कई संघर्षों में आजमाया गया है।

भारत-श्रीलंका के क्षेत्रीय विवाद और भारत की बांग्लादेश के साथ गंगाजल विवाद पर सफल वार्ताएँ हुईं। भारत और श्रीलंका के नेताओं के बीच दीर्घकालिक वार्ताओं के क्रम में दोनों देशों ने २६ जून १९७४ को एक करार पर हस्ताक्षर किए जिसके तहत भारत कच्चातिवू द्वीप पर श्री लंका के दावे को मानने को सहमत हो गया। संभवतया यह बहुत कम उदाहरणों में से एक था जहाँ भारत ने अपने उस क्षेत्रा के छोटे से हिस्से का अभ्यर्पण कर दिया था जिस पर ऐतिहासिक साक्ष्य के कारण उसकी मालिकयत का सही दावा था। भारत के पड़ोस की सरकार को परिष्कृत करने और मित्रा बनाने की यह एक असाधारण हलचल थी। यद्यपि कच्चातिवू विवाद का समाधान हो गया था तथापि भारत-श्रीलंका के आस-पास अधोजलीय मछलियों के भारी भंडार से आकर्षित होकर तमिलनाडु के कई मछुआरे अक्सर भारतीय सीमा के पार चले जाते हैं और श्रीलंका की नौसेना द्वारा या तो उन्हें गोली मार दी जाती है अथवा बन्दी बना लिया जाता है।

दीर्घकालिक वार्ताओं और कई अल्पकालिक करारों ने गंगाजल विवाद को विशेष रूप से प्रकट किया। अन्तत: इसका समाधान १२ दिसम्बर १९९६ को हुआ जब भारत और बांग्लादेश ने गंगाजल के बँटवारे के लिए एक संधि पर हस्ताक्षर किए। यह संधि ३० साल के लिए वैध है और इसका नवीनीकरण किया जा सकता है यदि दोनों देश ऐसा करने के इच्छुक हों। यदि वे चाहें तो प्रत्येक पाँच साल अथवा दो साल के अन्त में संधि की समीक्षा कर सकते हैं। इस संधि में किया गया समाधान प्रविधिज्ञ समाधान की बजाए राजनीतिक समाधान अधिक था। यह दोनों की कथित स्थितियों पर उनके द्वारा किए गए तालमेल का एक अनुभव था। संधि में अपनाया गया जल विभाजन सूत्रा निचले सिरे पर बराबर के सिद्धांत (५०:५०) अर्थात् अनुत्पादनशील सत्रा प्रवाह के बराबर विभाजन, पर आधारित है। ऊपरी सिरे पर हल्का सा अन्तर है। जब जल प्रवाह ७५,००० क्यूसैक हो, भारत को ४०,००० क्यूसैक जल मिलेगा और शेष बांग्लादेश को जाएगा। संधि में जल प्रवाह पर परामर्श और उसके अनुश्रवण के लिए यंत्रावत् प्रावधान है। यह दोनों देशों की संतुष्टि के लिए भली-भाँति कार्य कर रही है।

द्विपक्षीय वार्ताएँ भारत के पाकिस्तान के साथ क्षेत्राीय विवादों में विफल रही हैं। कई अवसरों पर, कश्मीर विवाद १९५३ से बिना किसी सफलता के द्विपक्षीय बातचीत में मुखर हुआ है। तीन प्रमुख उच्चस्तरीय बातचीत १९५० और १९६०वें दशक में हुईं। इनमें से पहली बातचीत जुलाई-अगस्त १९५३ में कराची और नई दिल्ली में आयोजित की गई। अगस्त १९५३ में दोनों नेताओं ने जम्मू एवं कश्मीर के लोगों की इच्छाओं के निर्धारण के लिए एक स्वच्छ और निष्पक्ष जनमत के लिए अपनी इच्छा दोहराई। इस संदर्भ में, उन्होंने जनमत प्रशासक की नियुक्ति की। तथापि, द्विपक्षीय सुरक्षा मुद्दे पर मतभेद होने के कारण, वार्ताएँ दिसम्बर १९५३ में बीच में ही बन्द हो गईं। पुन: दोनों देशों ने १४ मई को वार्ता शुरू की जो १८ मई तक चली। बातचीत के इस दौर में कोई प्रगति नहीं हुई। तथापि, सप्ताहों की वार्ता के भीतर, भारत और पाकिस्तान ने वार्तालाप आयोजित करने में गम्भीर न होने के कारण एक-दूसरे पर आरोप लगाए। तीसरे दौर में, दिसम्बर १९६२ और मई १९६३ के दौरान बातचीत के छह दौर चले। इन वार्तालापों की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि भारत कश्मीर में भारतीय कब्जे वाले क्षेत्रा का लगभग १५०० वर्ग मील छोड़ने को तैयार हो गया था। बदले में, उसने शेष क्षेत्रा के लिए पाकिस्तान की मान्यता की माँग की। पाकिस्तान ने पेशकश ठुकरा दी। यह सम्पूर्ण कश्मीर घाटी को चाहता था। तदोपरान्त, ताशकन्द (१९६६) और शिमला (१९७२) में वार्ताओं के दौरान कश्मीर मुद्दा संक्षिप्त में चर्चा में आया।

सियाचीन संघर्ष पर, १९८६ से उच्चस्तर पर वार्ताओं के कई दौर चले। १९८९ और १९९२ की वार्ताओं में कुछ प्रगति हुई परन्तु विवाद का समाधान नहीं हो पाया। जून १९८९ में भारत और पाकिस्तान के रक्षा मंत्रियों के बीच बातचीत में, दोनों पक्ष संघर्ष के अवसर कम करने तथा सेना के उपयोग से बचने के लिए बलों के पुनर्नियोजन पर निपटान तक पहुँचने के लिए सहमत हो गए। नवम्बर १९६२ में विशिष्ट प्रगति हुई जब यह सूचना दी गई कि भारत और पाकिस्तान ने एक करार का मसौदा तैयार किया था जिसमें सैनिकों को मुख्य दर्रों से नई तैनाती के लिए पारस्परिक वापसी तथा असैनिक क्षेत्रा के गठन पर बल दिया गया था। वस्तुत:, यह दोनों पक्षों की स्थिति में बदलाव किए बिना शान्ति क्षेत्रा गठित करने का विचार था। तथापि, आन्तरिक राजनीतिक दबावों और करार के मसौदे के कुछ उपबंधों में विवेचना के ऊपर असहमति से इसे पूरी तरह छोड़ दिया गया।

तत्पश्चात्, सभी मुद्दे संयुक्त वार्ता प्रक्रिया का मुद्दा बन चुके हैं जिससे संघर्ष समाधान की प्रक्रिया के रूप में पुन: एक बार द्विपक्षवाद अमल में आ चुका है। संयुक्त वार्ता इन्द्र कुमार गुजराल सरकार द्वारा ९०वीं सदी के मध्य में पेश की गई थी। दुर्भाग्य से, प्रक्रिया मूर्त रूप नहीं ले पाई और सितम्बर १९९८ तक इसकी भावना और गहरा गई जब दोनों प्रधानमंत्रियों वाजपेयी और नवाज शरीफ़ के बीच एक करार हुआ जिसमें शान्ति और सुरक्षा का वातावरण तैयार करने तथा जम्मू एवं कश्मीर सहित सभी लम्बित द्विपक्षीय मुद्दों के समाधान को रेखांकित करके विशेष महत्त्व दिया गया था। इससे नवम्बर १९९८ में द्विपक्षीय वार्ता को पुन: आरंभ किए जाने का मार्ग प्रशस्त हो गया। संयुक्त वार्ता का उद्देश्य व्यापक रूप से द्विपक्षीय सम्बन्धों में सुधार करना, विश्वास और भरोसे का निर्माण करना, सहयोग की स्थायी रूपरेखा तैयार करना और सभी लम्बित मुद्दों पर बातचीत करना था। इस संवाद प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण पहलू सियाचीन विवाद पर रक्षा सचिव स्तर की वार्ता थी जिसमें दोनों पक्षों ने अपनी ज्ञात स्थितियों को दोहराया। तनाव और शत्राुता को समाप्त करने की दृष्टि से, भारतीय पक्ष ने सियाचीन में युद्ध विराम पर करार का प्रस्ताव किया, तत्पश्चात् सेना को हटाने अथवा तैनात करने पर वार्ताएँ आरंभ हो सकीं। परन्तु पाकिस्तान का रुख प्रस्ताव के पक्ष में प्रतीत नहीं हुआ। बातचीत के लिए दूसरा मुद्दा सर क्रीक और सामुद्रिक सीमा निर्धारण था और यह भारत के महासर्वेक्षक और पाकिस्तान के बीच तय हुआ था। यह १९६९ से तकनीकी और सरकारी दोनों स्तरों पर की गई चर्चाओं के अनुसरण में था; अन्तिम दौर १९९२ में सम्पन्न हुआ। बातचीत के दौरान नाटकीय ढंग से दोनों देशों की विरोधी स्थितियाँ प्रकट हुईं: भारत सीमा के अविवादित हिस्से पर ध्यान केन्द्रित किया जाना था परन्तु पाकिस्तान ने इसके समाधान के लिए निश्चित मत की माँग की। भारत ने भी प्रस्ताव रखा कि सर क्रीक के ऊपर विवाद का समाधान करने से पहले भी समुद्र की ओर से सामुद्रिक सीमा का परिसीमन किया जा सकता था परन्तु पाकिस्तान इसके लिए सहमत नहीं हुआ।

लाहौर घोषणा में भी द्विपक्षीय अभिगम की सुसंगतता को रेखांकित किया गया है। इसमें शान्ति प्राप्ति के लिए कतिपय नियामक उपाय के लिए प्रावधान था। सभी द्विपक्षीय मुद्दों के समाधान के लिए अपने प्रयासों को आगे बढ़ाने के अलावा, भारत और पाकिस्तान एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में दखल न करने, अपनी संयुक्त और समेकित बातचीत प्रक्रिया को 'आगे बढ़ाने', आतंकवाद की उनकी भर्त्सना की पुन: पुष्टि करने तथा मानवीय अधिकारों और मौलिक स्वतंत्राताओं को प्रोत्साहित करने और उसके संरक्षण के लिए सहमत हो गए। मार्च १९९९ में, पाकिस्तान के विदेश मंत्राी सरफरान अजीज और भारत के विदेश मंत्राी, जसवंत सिंह ने ''लाहौर निर्णयों'' पर अमल करने के लिए व्यावहारिक रूपरेखा का परिकलन किया। परन्तु कारगिल में युद्ध से सम्पूर्ण शान्ति प्रक्रिया उलट गई। २००४ में प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी की पाकिस्तान यात्राा से संयुक्त बातचीत प्रक्रिया को पुन: एक अवसर दिया गया है। कहा जाता है कि जब तक कश्मीर मुद्दा रहेगा, संघर्ष समाधान के लिए द्विपक्षीय तरीके पर बल देने के लिए मानवीय प्रयासों को भारत और पाकिस्तान के बीच शान्तिनिर्माण प्रक्रिया में संयुक्त राज्य को शामिल किए जाने की पाकिस्तान की विशिष्ट इच्छा वाली बहुपक्षीय पहल की माँग द्वारा चुनौती दी जाती रहेगी।

बोध प्रश्न २

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के लिए इकाई-अंत में संकेत देखें।

१) कॉलम 'क' में सूचीबद्ध विवादों का उनके समाधान के लिए कॉलम 'ख' में सूचीबद्ध अपनाए गए तरीकों के साथ मिलान करें।

	क		ख
अ)	कच्छ खाड़ी विवाद	i)	द्विपक्षीय वार्तालाप
ब)	सिन्धु नदी विवाद	ii)	मध्यस्थता
स)	गंगाजल विवाद	iii)	पंचाट

२) संघर्ष समाधान के लिए भारत का सबसे पसंदीदा तरीका क्या है और क्यों?

....

....

....

....

....

....

२७.६ सारांश

इस इकाई में हमने देखा है कि दक्षिण एशिया एक संघर्षग्रस्त क्षेत्रा है। इस क्षेत्रा की विशेष लाक्षणिक स्थिति के परिणामस्वरूप, ये संघर्ष भारत और उसके दक्षिण एशियाई पड़ोसियों के बीच हैं।

जैसा कि हमने देखा, इस क्षेत्रा में क्षेत्रीय और जल विभाजन को लेकर मुक्त द्विपक्षीय संघर्ष है। १९६० से, जबकि संघर्ष प्रबन्धन के सभी तीनों तरीकों पंचाट, मध्यस्थता और द्विपक्षीय वार्तालाप को कुछ सफलता के साथ आजमाया गया है, भारत ने पंचाट और मध्यस्थता को अस्वीकार कर दिया

है और अपने पड़ोसियों के साथ द्विपक्षीय वार्तालाप के माध्यम से संघर्षों के समाधान को प्राथमिकता दी है। शान्ति निर्माण के लिए भारतीय मनोस्थिति व्यावहारिक तौर पर क्षेत्रीय सोच बन चुकी है। भारत-श्रीलंका क्षेत्राीय विवाद और भारत-बांग्लादेश गंगाजल विवाद का द्विपक्षीय वार्ता के माध्यम से सफलतापूर्वक समाधान हो गया था। तथापि, क्षेत्राीय विवादों को निपटाने के लिए पाकिस्तान के साथ द्विपक्षीय वार्ता का अभी तक कोई परिणाम नहीं निकला है। परन्तु झुंझलाहट में आकर शान्ति निर्माण प्रयासों को नहीं छोड़ा जा सकता है। इन उद्धृत समस्याओं का तुरन्त कोई समाधान नहीं है तथा शान्ति निर्माण की प्रक्रिया उस समय तक जारी रहनी चाहिए जब तक लक्ष्य प्राप्त नहीं हो जाते। विश्वभर का अनुभव है कि सफलता मात्रा प्रक्रिया से तथा कटु विफलताओं के फलस्वरूप प्राप्त होती है। दक्षिण एशियाई देश इस वास्तविकता को महसूस करते हैं; शान्ति प्रक्रियाओं में रुकावटें सामान्यत: संघर्ष प्रबन्धन में उनके हित को कम नहीं आँक सकती हैं।

२७.७ कुछ उपयोगी पुस्तकें

बोस, सुनन्दा (१९९७), *दि चेलेन्ज इन कश्मीर: डिमोक्रेसी, सेल्फ डिटरमिनेशन एण्ड इण्टरनेशनल पीस,* दिल्ली, सेज़ पब्लिकेशन।

गांगुली, सुमित (१९८६), *दि ऑर्गिन्स ऑफ वॉर इन साउथ एशिया: इण्डो-पाकिस्तान कॉनफ्लिक्ट सिंस १९४७,* बाउल्डर, वेस्टव्यू प्रेस।

गुलाटी, निरांजन,(१९७३), *इण्डस वाटर ट्रीटी: एन एक्सर्साइज़ इन इण्टरनेशनल मीडिएशन,*बम्बई, एलाइड पब्लिशर्स।

राघवन, वी.आर. (२००२), *सियाचीन: कॉनफ्लिक्ट विदआउट एण्ड,* न्यू दिल्ली, पैंग्विन बुक्स।

सहादेवन, पी. (२००१), *कॉनफ्लिक्ट एण्ड पीसमेकिंग इन साउथ एशिया,* दिल्ली, लांसर्स

२७.८ बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न १

१) प्रथम, दोनों दलों को उस परिणाम से संतुष्ट नहीं होना चाहिए जो उनके द्वारा महसूस की जाने वाली जरूरतों और हितों की पूर्ति करता है और दूसरे, किसी प्रकार का बल प्रयोग नहीं होना चाहिए।

२) पंचाट न्यायनिर्णयन की विशाल प्रक्रिया का एक अंग है। संघर्ष समाधान के इस तरीके से, संघर्ष करने वाले दल विवाद को निष्पक्ष-न्यायाधिकरण या अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय के पास भेजते हैं और उसके निर्णय के अनुपालन के लिए सहमत होते हैं।

बोध प्रश्न २

१) अ - iii, ब - ii, और स - प।

२) यद्यपि, १९६०वें दशक से, भारत अपने पड़ोसियों के साथ संघर्षों के समाधान के लिए सभी तरीके अपनाने को इच्छुक था, अब इसने संघर्षों के समाधान के लिए द्विपक्षीय वार्तालापों पर बल दिया है। कच्छ की खाड़ी पर न्यायाधिकरण का निर्णय भारत को रास नहीं आया। पचासवें दशक में भारत और पाकिस्तान के बीच विवाद हल करने में अन्तरराष्ट्रीय मध्यस्थता की विफलता के चलते भारत ने अपने पड़ोसियों के साथ संघर्षों के साथ समाधान के लिए पंचाट और अध्यक्षता को अस्वीकार कर दिया।

EPS -15, दक्षिण एशिया: अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति

खंड १ दक्षिण एशिया: क्षेत्रीय स्वरूप

इकाई १ दक्षिण एशिया में राष्ट्रवाद और स्वतंत्राता-संग्राम

इकाई २ मानव विकास का पार्श्व-चित्रा

खंड २ राज्य रूपरेखा: भारत

इकाई ३ भारत विश्व सत्ता ढाँचे में

इकाई ४ भारत विश्व आर्थिक व्यवस्था में

इकाई ५ भारत और उसके पड़ोसी

खंड ३ राज्य रूपरेखा: पाकिस्तान

इकाई ६ पाकिस्तान की राजनीति की संरचनाएँ एवं प्रक्रियाएँ

इकाई ७ पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था एवं समाज

इकाई ८ पाकिस्तान में सैनिक शासन एवं राजनीति

खंड ४ राज्य रूपरेखा: बांग्लादेश

इकाई ९ बांग्लादेश में राजनीतिक संरचना एवं प्रक्रियाएँ

इकाई १० बांग्लादेश की अर्थव्यवस्था एवं समाज

खंड ५ देश जीवन-परिचय: नेपाल, भूटान

इकाई ११ नेपाल में राजनीतिक प्राधार एवं प्रक्रियाएँ

इकाई १२ नेपाल में अर्थव्यवस्था और समाज

इकाई १३ भूटान: अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति

खंड ६ राज्य रूपरेखा: श्रीलंका, मालदीव

इकाई १४ [illegible]

इकाई १५ श्रीलंका में अर्थव्यवस्था और समाज

इकाई १६ श्रीलंका की राजनीति में जातीयता का समावेशन

इकाई १७ मालदीव में अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति

खंड ७ दक्षिण एशिया में लोकतंत्र

इकाई १८ मानवाधिकार

इकाई १९ नागरिक समाज

इकाई २० दक्षिण एशिया में बहुवाद नियंत्राण के समक्ष चुनौतियाँ

खंड ८ भूमंडलीकृत होती दुनिया में दक्षिण एशिया

इकाई २१ उदारीकरण और संरचनात्मक समंजन कार्यक्रम

इकाई २२ भूमंडलीकरण और राज्य

खंड ९ क्षेत्रीय संगठन

इकाई २३ गरीबी उन्मूलन एवं ग्रामीण विकास

इकाई २४ दक्षिण एशियाई क्षेत्राीय सहयोग संघ

खंड १० क्षेत्रीय सुरक्षा

इकाई २५ दक्षिण एशियाई सुरक्षा

इकाई २६ आणविक मुद्दे

इकाई २७ संघर्ष, समाधान और प्रबंधन